समाधितंत्र प्रवचन भाग-५

(श्री समाधितंत्र शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के १९७४-७५ के समाधिभाव प्रेरक अक्षरश: प्रवचन)

श्री महावीरस्वामी

श्री सीमंधरस्वामी

श्री समाधितंत्र

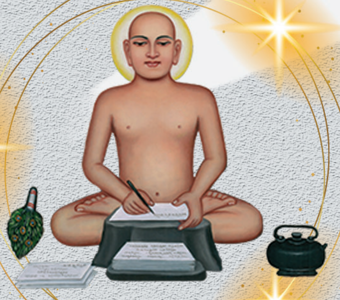

श्री पूज्यपाद आचार्य

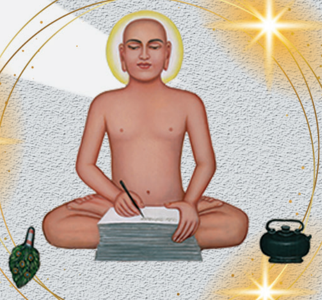

श्री प्रभाचंद्र आचार्य

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

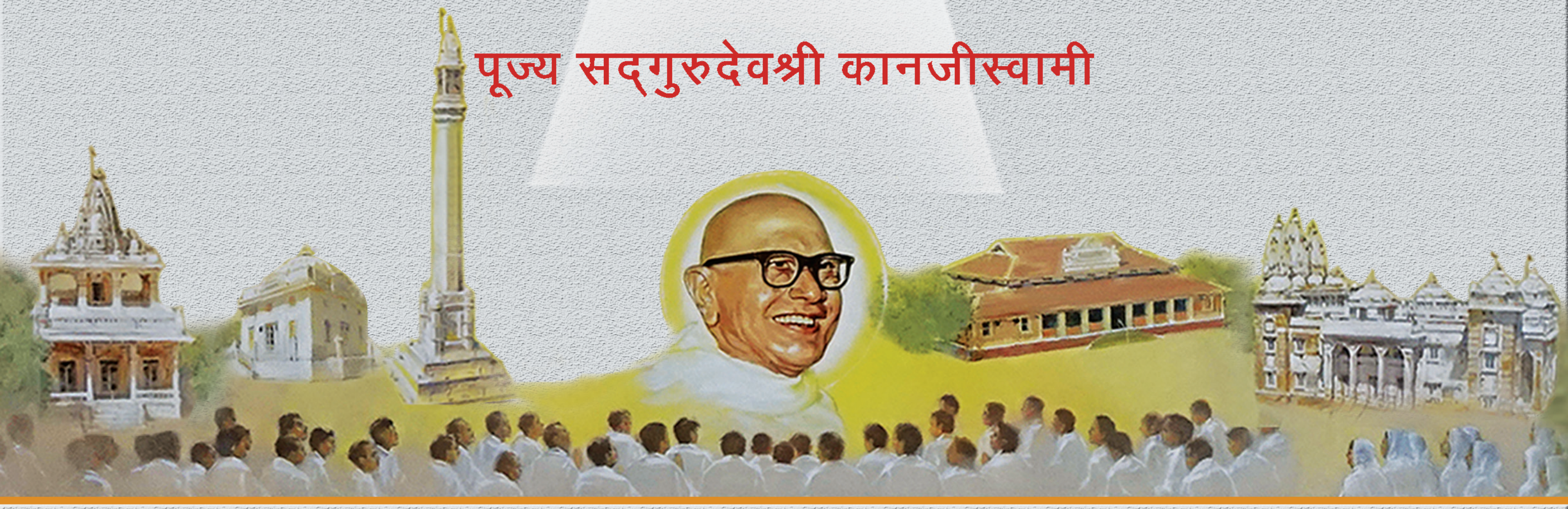

प्रकाशक :-श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विले पार्ले, मुंबई

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग-5)

(**श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी** विरचित **श्री समाधितन्त्र शास्त्र** पर **अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के शब्दशः प्रवचन)
(गाथा – 78 से 100, प्रवचन – 91 से 115)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250
फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2077

वीर संवत
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—

भगवान श्री पार्श्वनाथ मोक्षकल्याणक दिवस

श्रावण शुक्ल सप्तमी, 15 अगस्त 2021 के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846–244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई–400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

प्रकाशकीय निवेदन

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं।

महावीर भगवान, गौतम गणधर तत्पश्चात् जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात् सदेह विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करके भरत में आये हुए, श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं, यह जगत विदित है। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों का आधार देते हैं। इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं। ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के भरतक्षेत्र पर महान उपकार हैं। उन्हीं आचार्यदेव की परम्परा में हुए श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ समाधितन्त्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'समाधितन्त्र प्रवचन', भाग-5 पाठकवर्ग के हस्तकमल में प्रदान करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि में जो कहा जा रहा है, उसे प्रत्यक्ष झेलनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके अनन्य भक्त, कि जिनकी विद्यमानता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विदेहगमन के समय साक्षात् थी, ऐसे प्रियवर पूज्य कहान गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का क्या कहना! जो विषय वचनगोचर नहीं, विकल्पगोचर नहीं, उसे कथंचित् वक्तव्य करना वह कहान गुरुदेवश्री की समर्थ प्रचण्ड शक्ति के दर्शन कराते हैं, और भावि में ॐकार ध्वनि खिरने की सूचक है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचन अध्यात्म के अनेकविध रहस्यों को व्यक्त कर रहे हैं। आचार्य पूज्यपादस्वामी के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों को स्पष्ट करने का सामर्थ्य प्रस्तुत प्रवचनों में व्यक्त होता है। अनन्त काल से मिथ्यात्वदशा में भ्रमण करता अज्ञानी जीव बहिरात्मदशा को नष्ट करके, अन्तरात्मपना प्रगट करके परमात्मदशा किस प्रकार प्राप्त करता है, उसका रोचक

विवेचन पूज्यपादस्वामी ने समाधितन्त्र में तो किया है परन्तु वर्तमान मुमुक्षु समाज को सादी और सरल भाषा में पूज्य गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक प्रवचनों में भावभासनपूर्वक की समझ को अधिक महत्ता दी है। ऐसी शैली भी व्यक्त हो रही है। प्रत्येक प्रवचन भेदज्ञानपूर्ण है। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय ज्ञाताधारा के दर्शन भी प्रत्येक प्रवचनों में हो रहे हैं। अखण्ड एकरूप स्वरूपाश्रित परिणतिपूर्वक समझाने का सामर्थ्य प्रवचनों में उभरकर बाहर आ रहा है। जिनके एक प्रवचन श्रवणमात्र से जिनके भव का अन्त आया, ऐसे पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी का उल्लेख अनेक प्रवचनों में आता है। यहाँ इस बात का उल्लेख इसलिए किया गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना का सामर्थ्य तो महापवित्र है ही, परन्तु प्रवचन सम्बन्धित विकल्प के निमित्त से मुमुक्षु जीव के भव का अन्त आ सकता है वह इस बात का प्रमाण है। जिनके विभावअंश में इतना सामर्थ्य है तो उनकी पवित्र ज्ञानदशा के दर्शन से मुमुक्षुजीव का आत्मकल्याण न हो, यह बात अस्थानीय है। ऐसे सबके प्रिय पूज्य गुरुदेवश्री का जितना गुण संकीर्तन किया जाये, उतना कम ही है, इसलिए इस प्रसंग पर उनके चरणों में भक्तिभावपूर्वक शत-शत वन्दन हो, वन्दन हो!

पूज्य गुरुदेवश्री के आन्तरिक जीवन और भावितीर्थाधिनाथपने की प्रसिद्धि करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री की अनन्य भक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री को भी इस ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर भाववन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग में आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस महान कार्य को अविरत धारा से चालू रखा और सुरक्षित रखा, तदर्थ उसके भी आभारी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की सुरक्षा सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा किया जा रहा है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का विशेष लाभ जनसामान्य ले कि जिससे यह वाणी शाश्वत् सुरक्षित बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरश: ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप समाधितन्त्र ग्रन्थ पर हुए प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के करकमल में सादर समर्पित करते हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती भाषा में पूजा इम्प्रेशन द्वारा किया गया है। जिसे जाँचने का कार्य श्री सुधीरभाई सूरत, और श्री अतुलभाई जैन, मलाड द्वारा किया गया है।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का विशेष लाभ प्राप्त हो, इस उद्देश्य से इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण और सी.डी. से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। हम अपने सभी सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है तथापि प्रकाशन कार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं। ट्रस्ट मुमुक्षुजनों से निवेदन करता है कि यदि कोई अशुद्धि दृष्टिगोचर हो तो हमें अवगत कराने का कष्ट करें, जिससे आगामी आवृत्ति में उसे सुधार किया जा सके।

यह प्रवचन ग्रन्थ (www.vitragvani.com) तथा वीतरागीवाणी ऐप पर उपलब्ध है।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

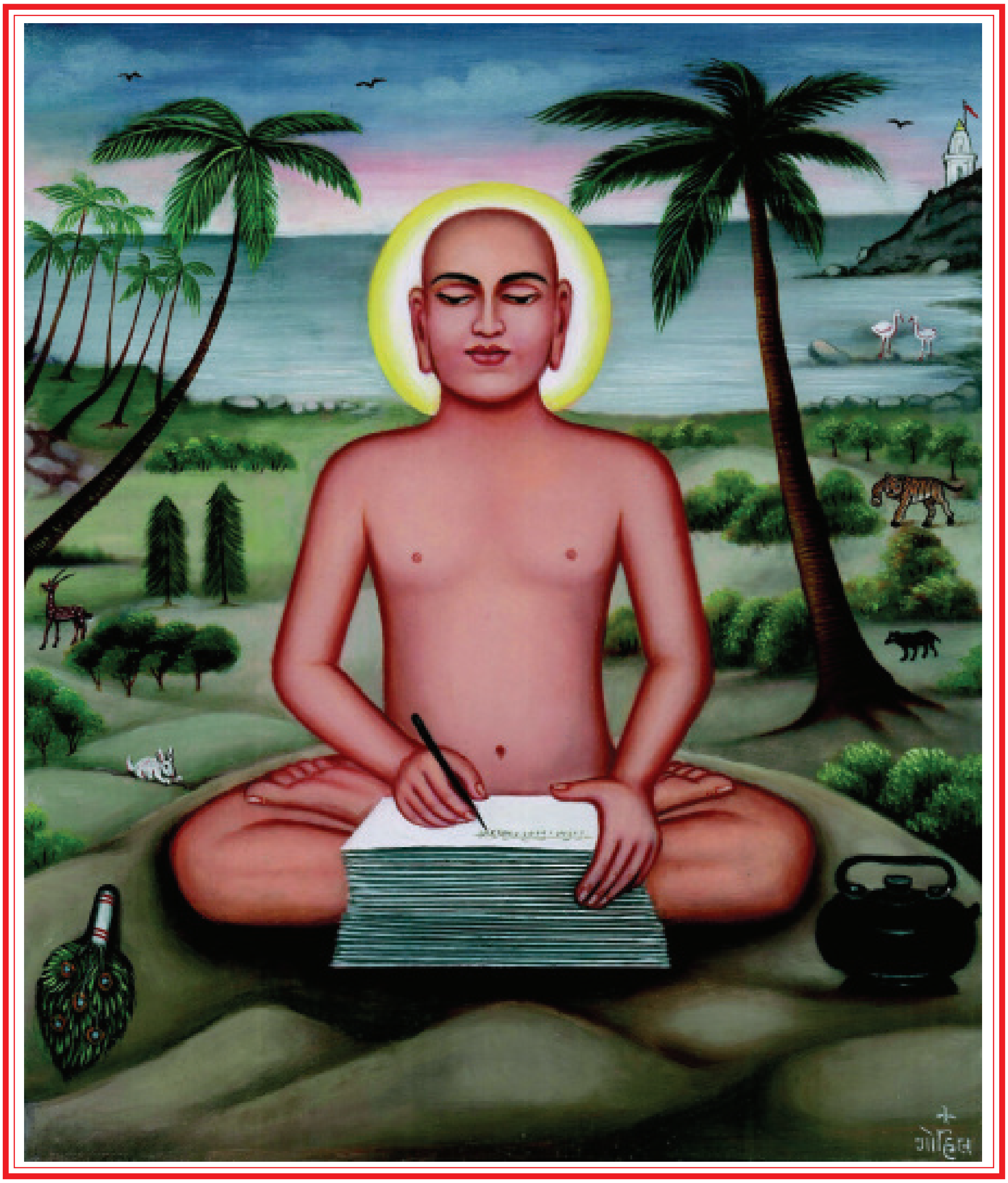

श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी

ૐ સચ્ચિદાનંદ સહજ સ્વરૂપાય નમઃ

प्रस्तावना

समाधितन्त्र ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पूज्यपादस्वामी आचार्य, मूलसंघ अन्तर्गत नंदिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध, बहुप्रतिभाशाली, प्रखर तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेखानुसार पूज्यपादस्वामी श्री समन्तभद्राचार्य के पश्चात् हुए हैं और वे उनके मतानुयायी थे। शिलालेख और उपलब्ध जैन साहितत्य से विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य ईस्वी सम्वत् पाँचवीं शताब्दी में और विक्रम की छठवी शताब्दी में हो गये हैं।

आप कर्नाटक देश के निवासी थे। कन्नडा भाषा में लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थों में आपके पिता का नाम 'माधवभट्ट' और माता का नाम 'श्रीदेवी' दिया है और लिखा है कि वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उपलब्ध शिलालेखों से यह बात प्रसिद्ध है कि आप देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपादस्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। देवनन्दी—यह उनके गुरु ने दिया हुआ दीक्षा नाम है, बुद्धि की प्रकर्षता—विपुलता के कारण उन्हें बाद में जिनेन्द्रबुद्धि नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की इसलिए बुधजनों ने उन्हें पूज्यपाद नाम से विभूषित किया।

उपलब्ध शिलालेखों से उनके जीवन काल दौरान घटित अनेक अद्भुत घटनाये द्रव्यव्य हैं। श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पादपूजन किया, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्याविशारद गुणों का कीर्तिगान करते हैं। उन्होंने कामदेव को जीता था, इसलिए कृतकृत्यभावधारी उच्च कोटि के योगियों ने उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि नाम से वर्णन किया है।

और वे औषधऋद्धि के धारक थे। विदेहक्षेत्रस्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हुआ था। उनके पादोदक (चरण-जल) के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना हो गया था। तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनके आँख का तेज नष्ट हुआ था परन्तु 'शान्त्यष्टक' के एकाग्रतापूर्वक पाठ से नेत्र-तेज पुनः प्राप्त हुआ था। महान योगियों के लिये ऐसी घटनायें असम्भवित नहीं हैं।

आपश्री ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की है। जैसे कि 'जैनेन्द्र व्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'जैनाभिषेक', 'छन्दशास्त्र', 'समाधितन्त्र-समाधिशतक', 'इष्टोपदेश'। इनमें इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र

आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, जो मुमुक्षुजीवों को आत्मकल्याण होने में महानिमित्तभूत है। समाधितन्त्र ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति अनुसार ग्रन्थ के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र (प्रभेन्दु) इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार वे श्री समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के भी संस्कृत टीकाकार हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों में समाधितन्त्र ग्रन्थ के मूल श्लोक, हिन्दी अन्वयार्थ, भावार्थ आदि तथा श्री प्रभाचन्द्र विनिर्मित संस्कृत टीका के गुजराती अनुवाद के हिन्दी अनुवाद सहित पाठक वर्ग की सुविधा के लिये लिये गये हैं।

अन्ततः पूज्य गुरुदेवश्री के सातिशय दिव्य प्रवचनों का भावपूर्वक स्वाध्याय करके पाठकवर्ग आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावनासहित विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित

सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	श्लोक	पृष्ठ नम्बर
91	16.07.1975	78	01
92	17.07.1975	78, 79	21
93	18.07.1975	79, 80	39
94	19.07.1975	80, 81	56
95	20.07.1975	81, 82	73
96	21.07.1975	82, 83	91
97	22.07.1975	84	108
98	23.07.1975	85	125
99	24.07.1975	85, 86	145
100	25.07.1975	86–87	165
101	26.07.1975	87	182
102	27.07.1975	88, 89	199
103	28.07.1975	89, 90	220
104	29.07.1975	91	236
105	30.07.1975	91, 92	256
106	31.07.1975	92, 93	276
107	01.08.1975	93	296
108	02.08.1975	93, 94	313
109	03.08.1975	95	330
110	04.08.1975	96, 97	346
111	05.08.1975	97, 98	365
112	06.08.1975	98	381
113	07.08.1975	99	398
114	09.08.1975	99, 100	417
115	10.08.1975	100	437
संकलित प्रवचन		101–105	453

ॐ

श्री परमात्मने नमः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग - ५)

(श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः प्रवचन)

श्लोक - ७८

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरः स न बुध्यत इत्याह -

***व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।**
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥

व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे॥७८॥

ऐसा ज्ञान उसको ही होता है कि जो व्यवहार में अनादर रखता है परन्तु जिसको वहाँ (व्यवहार में) आदर है, उसको वैसा ज्ञान नहीं होता — यह कहते हैं —

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥
अर्थात् - जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काय में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है।
(श्री मोक्षप्राभृत, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, ३१)

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥ ७८॥

अन्वयार्थ - (यः) जो कोई (व्यवहारे) व्यवहार में (सुषुप्तः) सोता है, (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्मा के विषय में (जागर्ति) जागता है-आत्मानुभव में तत्पर रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस व्यवहार में (जागर्ति) जागता है, वह (आत्मगोचरे) आत्मा के विषय में (सुषुप्तः) सोता है।

टीका - व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप (व्यवहार में) जो सोता है — प्रयत्न परायण नहीं है, वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है अर्थात् संवेदन में (आत्मानुभव में) तत्पर होता है परन्तु जो इस उक्त प्रकार के व्यवहार में जागता है, वह आत्मविषय में सोता है (अर्थात् आत्मदर्शन नहीं पाता)।

भावार्थ :- ज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूप सांसारिककार्यों में अनासक्त तथा अप्रयत्नशील होता है और आत्मानुभव के कार्य में सजग रहता है-तत्पर रहता है; जबकि अज्ञानी, प्रवृत्ति -निवृत्तिरूप संसार के कार्यों में प्रयत्नशील रहता है-जागृत रहता है और आत्मानुभव के कार्य में अतत्पर रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

यहाँ आचार्य ने यह बताया है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार में अर्थात् अहिंसा, भक्ति, व्रत, नियमादि शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहार में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभकार्य से निवृत्तिरूप व्यवहार में — इस प्रकार दोनों व्यवहारों में जो अतत्पर होता है, वही आत्मानुभव कर सकता है परन्तु भक्ति आदि शुभकार्यों की प्रवृत्ति से और अशुभकार्यों की निवृत्ति से आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रवृत्ति विकल्पारूढ़ है-रागयुक्त है। राग, भले ही शुभ हो तो भी उससे आत्मज्ञान नहीं होता।

ज्ञानी तो आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है; इसलिए उसको व्यवहारधर्म से स्वयं निवृत्ति हो जाती है। उसकी वह प्रवृत्ति, विकल्पारूढ़ नहीं है, अपितु निर्विकल्प है और उससे धर्म होता है।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पूजा-भक्ति आदि का शुभराग आता

है परन्तु वह उसको भला नहीं मानता, उसका उसे स्वामित्व अथवा कर्ताबुद्धि नहीं है; वह राग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है; इसलिए उसकी प्रवृत्ति उसमें दिखने पर भी, वह वास्तव में निवृत्तिमय ही है।

अज्ञानी, शुभरागमय प्रवृत्ति में धर्म मानकर, उससे सन्तुष्ट होता है और आत्मस्वरूप की भावना के लिए अतत्पर होता है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' (पृष्ठ २२२ में) कहा है कि:—

'तथा कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ, परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी, भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्यनिमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु वहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते है।'

पञ्चास्तिकाय (गाथा-१३६ की टीका) में कहा है कि :—

'वह भक्ति, केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ, कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।'

आशय यह है कि जब ज्ञानी, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब उसको ऐसी भक्ति हेयबुद्धि से होती है॥७८॥

आषाढ़ शुक्ल ८, बुधवार, दिनांक १६-०७-१९७५, श्लोक-७८, प्रवचन-९१

समाधितन्त्र, ७८ गाथा। **टीका - व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है,...** ऐसा व्यवहार, ऐसा। व्यवहार की व्याख्या की। बहुत सरस। विकल्प जिसका लक्षण, उसका नाम व्यवहार। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प हो, यात्रा का हो, वाँचन का हो, श्रवण का हो; यह विकल्प है, वह व्यवहार है।

आहाहा! सूक्ष्म बात बापू! भगवान का मार्ग सूक्ष्म है। विकल्प अर्थात् जिसका लक्षण, ऐसा जो व्यवहार, उसमें जो तत्पर नहीं है, उसके ऊपर जिसका रस नहीं है, ऐसे शुभ विकल्प—दया, दान, व्रत, पूजा आदि के। ऐसे भाव में जिसे तत्परता, रस नहीं, वह आत्मा के अनुभव को कर सकता है। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात, बापू! वीतराग का मार्ग ऐसा है। अभी तो उसे डहोली डाला है सब मार्ग। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जो पर की दया पालने का भाव, भगवान की पूजा का भाव, यात्रा का भाव, भगवान के स्मरण का भाव, सुनने का भाव, कहने का भाव.. आहाहा! वह सब व्यवहार है और उसका लक्षण विकल्प है। आहाहा! राग। उस राग में जो तत्पर नहीं, राग का जिसे रस नहीं और राग का जिसे आदर नहीं। आहाहा! **वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है...** आहाहा! वह आत्मा आनन्दस्वरूप सहजानन्द मूर्ति प्रभु सहजानन्द।

पंचास्तिकाय में लिया है न? पहला श्लोक लिया है। सहज आनन्दमय प्रभु है आत्मा और सहज चैतन्य प्रकाशमय होने से वह अति महान पदार्थ है। यहाँ सुना भी न हो कि यह क्या कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा उसे आत्मा कहते हैं कि जिसमें अन्दर सहज आनन्द भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द। सहज आनन्दमय और सहज चैतन्य के प्रकाश, चैतन्य के प्रकाशमय। ऐसा होने से अति महान पदार्थ है। आहाहा! ऐसे पदार्थ में तत्परता किसे होगी? कि जिसे व्यवहार के क्रियाकाण्ड के राग में रस नहीं। जिसे व्यवहार की दया, दान, भक्ति, पूजा के भाव में आदर नहीं, वह ऐसे आत्मा का आदर कर सकता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : निश्चय और व्यवहार प्रतिपक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रति विरोध है न? आहाहा! एक तो यह न्याय आया है। वह अभी आया था न अपने? कि आत्मा में शरीर का अभाव है। भगवान आत्मा में यह शरीर, यह जड़-मिट्टी का तो अभाव है। तो जिसका अभाव, उसे करे क्या? अकर्ता है।

दूसरे प्रकार से सहज आनन्दस्वरूप और सहज चैतन्यप्रकाशस्वरूप भगवान आत्मा में राग व्यवहार विकल्प का अभाव है। आहाहा! तो जिसका अभाव, उसे करे

क्या? आहाहा! इसलिए आगे जाने पर उस पर्याय का द्रव्य में अभाव है तो पर्याय को करे क्या द्रव्य? आहाहा! जादवजीभाई! सुनते नहीं लगते बराबर। कम सुनते लगते हैं। सुनते हैं कम। भाई! यह मृत्यु के महोत्सव की बात की है कि ज्ञानी को तो ऐसा करना, परन्तु हमारे अज्ञानी को क्या करना? ऐसा पूछता है। क्या कहा? दिलीप की काकी पूछती है। सुनते कहाँ हैं ये? भाई! यह तो मृत्यु महोत्सव की बात आयी, वह तो ज्ञानी के लिये है। परन्तु अब हमारे क्या करना? बात सच्ची। तुम्हारे यह करना। कि परवस्तु है, उसका मैं कर्ता नहीं, क्योंकि परवस्तु मुझमें नहीं। मुझमें हो, उसे मैं करूँ। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग!

मुमुक्षु : तब तो घर का कुछ काम न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कर सकता है घर के काम? पकाने का और चावल, दाल बनाओ, खिचड़ी बनाओ। आत्मा करे? भारी कठिन! महिलायें शाम को खिचड़ी बनावे, कढ़ी बनावे, पापड़ गर्म करे। पापड़। आहाहा!

भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि तेरी चीज़ में यह शरीर और यह परचीज़ नहीं तो उसका तू कर्ता नहीं हो सकता। आहाहा! इसका निर्णय तो करे। आहाहा! अब अपने तो यहाँ व्यवहार चलता है। जो आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, अपवास आदि करूँ, पूजा करूँ, यात्रा करूँ, सम्मेदशिखर की, शत्रुंजय की (यात्रा करूँ), ऐसा जो विकल्प उठता है, वह व्यवहार है। व्यवहार का लक्षण ही विकल्प है, ऐसा कहते हैं। ऐई... शान्तिभाई!

तो उस विकल्प का जिसे रस है, प्रेम है, रुचि है, उसे आत्मा की रुचि नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! मार्ग ऐसा। वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर, इन्द्रों और गणधरों के बीच ऐसा कहते थे, वह यह बात है। आहाहा! कहते हैं कि यहाँ तो अपने व्यवहार की बात आयी है। पर का तो कर सकता नहीं, परन्तु व्यवहार जो राग है, वह भी जीव का, आत्मा का कर्तव्य नहीं। क्योंकि उसे कर्तव्य माने, तब तो मिथ्यादृष्टि होता है। उसका रस आता है व्यवहार का और निश्चय का अनादर होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार करते-करते निश्चय होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही एकदम झूठी है। व्यवहार करते-करते, विकल्प करते-करते निर्विकल्प हो, इसीलिए तो कहते हैं। अरेरे!

कहते हैं, **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है,...** आहाहा! निश्चय अर्थात् निर्विकल्प जिसका लक्षण है। आहाहा! मार्ग, बापू! दुनिया ने माना है और यह किया। वह जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! यह नहीं खबर साधु को, नहीं खबर नामधारी श्रावक को। ऐई..! मार्ग ऐसा, बापू! मार्ग अलग प्रकार का है। आहाहा! कहते हैं **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है,...** व्यवहार में अर्थात् विकल्प जिसका लक्षण अर्थात् कि विकल्प में, ऐसा। अर्थात् कि शुभराग की वृत्ति में। आहाहा! उसमें जिसका तत्परपना नहीं।

प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप (व्यवहार में) जो सोता है.... अर्थात् ऐसे विकल्प में जो सा रहा है। अर्थात् कि उन्हें जागृतरूप से मेरे हैं, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाई! धर्म वीतरागमार्ग, बापू! ऐसा मार्ग कहीं अन्यत्र है नहीं। आहाहा! अरे! दुनिया को ऐसा लगे कि यह तो हाय... हाय... यह सब व्यवहार करे तो लोप हो जाता ह।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो यहाँ कहा जाता है। आहाहा!

भगवान आत्मा सहज आनन्द और सहज चैतन्यमूर्ति प्रभु है। ऐसा जिसे स्वभाव का आदर होकर, स्वभाव में एकाग्रता हो, उसे व्यवहार का आदर नहीं रहता। होवे सही व्यवहार। समझ में आया? कठिन बातें, भाई! पश्चात् निश्चय निकाल डाले। यह तो सोनगढ़ का है। अरे... परन्तु सोनगढ़ का है या यह उस वस्तु का है? यह तो भगवान कहते हैं। आहाहा! लोगों को बेचारों को मिला नहीं और ऐसे के ऐसे अन्ध दौड़ से (चलते जाते हैं)। ऐई! यह सब सेठिया हो, और स्थानकवासी में। उनके प्रमुख होकर चलते हैं। यह मार्ग ऐसा है... यह मार्ग ऐसा... मिथ्यात्व का पोषण है, ऐसा कहते हैं। कहो, सुजानमलजी! आहाहा! भारी गजब बात है। समाधितन्त्र है न?

अर्थात् कि जो व्यवहार अर्थात् जिसका विकल्प राग लक्षण। यह राग है, चाहे

तो दया का, दान का, भक्ति का, पूजा का, व्रत का, अरे... सुनने के समय का, वह भी अन्दर विकल्प राग है। आहाहा! उस राग में जिसे रस है, अर्थात् कि राग का जिसे आदर है, उसे भगवान रागरहित स्वभाव का उसे आदर नहीं। आहाहा! यह तो सीधी बात है। यह पहले समझने के लिये यह समझना है, ऐसा। आहाहा! यहाँ तो और आगे गया था विचार में। यहाँ तो यहाँ तक आया न!

परन्तु पर्याय जो है, वह भी एक समय की दशा है और उस दशा का अंश त्रिकाल में नहीं। तो जिसमें नहीं, उसे किस प्रकार करे? आहाहा! कठिन मार्ग, बापू! वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ के यह सब कथन हैं। खबर नहीं। जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाती है। मिथ्यात्वसहित जिन्दगी जाती है। जाये चार गति में भटकने। आहाहा! नरक और पशु-ढोर (में) अवतरित होगा मिथ्यात्वसहित है वह।

यहाँ कहते हैं कि एक बार तू सुन तो सही, प्रभु! जिसे व्यवहार अर्थात् विकल्प का जिसे लक्षण ऐसे विकल्प में जो तत्पर नहीं, अर्थात् विकल्प में सोता है अर्थात् कि विकल्प मेरे हैं और विकल्प मुझे हितकर है, ऐसी दृष्टि जिसे नहीं है, वह आत्मा की दृष्टि कर सकता है। आहाहा! समझ में आया? है? **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है,...** परन्तु गजब! आचार्य भी भिन्न-भिन्न, टीका में भिन्न-भिन्न लक्षण बाँधते हैं। आहाहा! **उसमें (विकल्प के-राग के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप..** शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति ऐसा जो व्यवहार, वह विकल्प है। आहाहा!

उसमें **जो सोता है—प्रयत्न परायण नहीं है,...** अर्थात् कि व्यवहार के राग में जिसे आदर नहीं, **वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है....** आहाहा! वह आत्मा के संवेदन में तत्पर होता है। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है। जिसे व्यवहार का रस नहीं, उसे आनन्द का रस है और आनन्द में तत्पर है, उसे आनन्द का स्वाद आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग कहाँ का कहाँ से निकाला? कितने ही ऐसा कहें। बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर महाविदेह में विराजते हैं। सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकररूप से विराजते हैं। वहाँ मुनि गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे।

समाधिशतक, योगीन्द्रदेव कहते हैं न, पूज्यपादस्वामी गये थे, ऐसा कहते हैं। कहते हैं, वहाँ गये थे। परन्तु यों न भी गये हों तो पूज्यपादस्वामी... सब एक ही बात है। आहाहा! यह तो प्रत्येक सन्त दिगम्बर मुनियों की तो एक ही प्रकार की बात है। कोई मुनि हो, द्रव्यसंग्रह कर्ता हों, उनकी एक ही बात है। इसके अतिरिक्त मार्ग जो दूसरे निकले, वे सब तत्त्व से विरुद्ध होकर निकले हैं। समझ में आया? जिसमें ऐसी तत्त्व की बात सत्य चीज़ है नहीं। असत्य की बातें। व्यवहार करो, दया पालो, भक्ति करो, यात्रा करो, तुम्हारा कल्याण होगा, यह सब असत्य की-मिथ्यात्व की बातें हैं। आहाहा! चेतनजी!

मुमुक्षु : हमारे तो भगवान की भक्ति और आगम....

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम और मूर्ति दो, ऐसा कि पंचम काल में आधार। यहाँ तो इनकार करते हैं। सुन न, भाई! मूर्ति और आगम, वह परवस्तु है। उसकी ओर का भाव वह शुभराग है और उस शुभराग में रस है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ऐसा मार्ग का स्वरूप, बापू! तीर्थंकरों, केवलियों ने दिया, उसकी खबर नहीं होती और ऐसा का ऐसा संसार, जिन्दगी पूरी हो जाती है। आहाहा!

मुमुक्षु : तो रस कब छूटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह माने तब छूटे।

मुमुक्षु : मान लिया .... प्रगट ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ माना है अन्दर से? अन्दर से मानना चाहिए न? आहाहा!

जिसे व्यवहार का लक्षण विकल्प अर्थात् राग, उसका जिसे अन्तर्दृष्टि में आश्रय नहीं और जिसका इसमें आदर नहीं। आहाहा! (भले राग) हो, वह जीव आत्मदर्शन में जागता है। वह सम्यग्दर्शन उसे होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! लोगों को कठिन लगे। पकड़ में न आया हो, दूसरा पकड़ा हो, इसलिए यह बात उसे ठीक (नहीं लगती)। अपन चलते हैं, उसे चलने दो। वह तो अनादि से चलता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

वह **संवेदन में (आत्मानुभव में) तत्पर होता है...** उसे आत्मा के स्वभाव की सन्मुखता में वह तत्पर है और राग से विमुखरूप से वह तत्पर है। आहाहा! समाधि का

अधिकार है न? ऐसा तो बोले सब लोगस्स में—'समाहिवरमुत्तंदिंतु' अर्थ की कुछ खबर नहीं होती। पहाड़े बोलते जाते हैं। 'समाहिवरमुत्तंदिंतु' अर्थात् क्या? वे बाबा समाधि चलाते हैं, वह समाधि होगी? कुछ खबर नहीं होती।'समाहिवरमुत्तंदिंतु' आता है न? 'चदेसु निम्मलयरा आईचेस्सु'। आहाहा! समाधि अर्थात् जिसे राग का रस उड़ गया है और आत्मा के रस में जो एकाग्र है। उसे समाधि और उसे सम्यग्दर्शन की समाधि कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : बोधि और समाधि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस बोधि में तीनों आ जायें—दर्शन-ज्ञान-चारित्र। यहाँ तीनों आ गये समाधि में। आहाहा! अर्थात् कि जिसे व्यवहार में जिसकी पीठ है और स्वभाव में जिसका आदर है, वह चैतन्यस्वभाव का वेदन कर सकता है। आहाहा! रतिभाई!

परन्तु जो इस उक्त प्रकार के व्यवहार में जागता है,... इस व्यवहार के रस में जिसकी तत्परता है और वीर्य वहाँ ही रुक गया है। आहाहा! शुभराग की रचना में रुका है वीर्य, **वह आत्मविषय में सोता है।** वह आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करने में वह सो गया है। उसे कुछ भान नहीं। आहाहा! परन्तु यह आत्मा कौन है, अन्दर क्या है? इसकी उसे खबर नहीं होती। यह तो इस पर्याय में ज्ञान का उघाड़ देखे और राग, वह आत्मा। आहाहा! परन्तु उस ज्ञान की पर्याय के पीछे अन्दर पूरा तत्त्व पड़ा है। सहजानन्द का मूर्त स्वरूप, पूर्ण चैतन्य प्रकाश की मूर्ति को यहाँ आत्मा कहते हैं। उस आत्मा में जिसे रस नहीं, उसे व्यवहार में रस है। आहाहा! है न?

व्यवहार में जागता है, वह आत्मविषय में सोता है। आहाहा! एक चोट और दो टुकड़े, कहते हैं यहाँ तो। चोट तो एक ही लगे न, टुकड़े दो हों। आहाहा! इसी प्रकार व्यवहार के रस में से हट गया है। हो, आदर नहीं। उसे अन्तर निश्चय स्वभाव का संवेदन और आदर है और जिसे संवेदन का आदर नहीं अर्थात् कि स्वभाव की ओर का आदर नहीं, उसे व्यवहार का आदर, वह असमाधि में पड़ा है। आहाहा! कठिन, भाई! अभी तो इसे सुनने को मिलता नहीं, वह विचारे कब, बैठाये कब, रुचि कब करे? आहाहा! बहुत दुर्लभ वस्तु है। **(अर्थात् आत्मदर्शन नहीं पाता)।**

भावार्थ। अधिकार बहुत सरस है। यह अष्टाह्निका का पहला दिन है। अष्टाह्निका अर्थात् ? भगवान की मूर्तियाँ बावन जिनालय नन्दीश्वरद्वीप में हैं। आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप है। उसमें बावन जिनालय जिनमूर्तियाँ हैं बावन मन्दिर हैं। अनेक मूर्तियाँ हैं। एक-एक मन्दिर में १०८ रत्नमय मूर्तियाँ हैं। उसे अष्टाह्निका कहा जाता है। अष्ट, अनिक अर्थात् दिन। यह आठ, इस बुधवार से उस बुधवार तक आठ दिन के नन्दीश्वरद्वीप के दिन कहलाते हैं। देव वहाँ पूजा करने जाते हैं। है शुभभाव। समकिती हैं, परन्तु उन्हें शुभभाव में आदर नहीं। हेयबुद्धि से उस शुभभाव में आते हैं। आहाहा! बावन जिनालय हैं नन्दीश्वरद्वीप में।

मुमुक्षु : इतना करे तो भी आदर नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं ? शुभभाव में आदर नहीं, हेयबुद्धि है। हर्ष नहीं। हर्ष आत्मा में है। आहाहा! होता है। अस्थिरता के कारण होता है, परन्तु हेयबुद्धि है। अज्ञानी को उपादेयबुद्धि है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

भगवान आत्मा सहजानन्दस्वरूप का दल है। वह जिसे उपादेय नहीं। सहज आनन्द और सहज चैतन्यमय वह वस्तु है। चैतन्यभाव नहीं, चैतन्यमय, सहज आनन्दमय वह वस्तु है। उस वस्तु की जिसे खबर नहीं, आदर नहीं, खबर नहीं कि यह क्या आत्मा, वह चीज़ है ? आहाहा! ऐसों को व्यवहार के रस में जिन्दगी व्यतीत करते हैं बेचारे। वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं। उसे जैन की दृष्टि की खबर नहीं। आहाहा! वीतराग तीर्थंकरदेव जिसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसकी उसे खबर नहीं। खबर नहीं होती। सम्यग्दर्शन तो नहीं, परन्तु खबर भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू!

भावार्थ :- ज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूप सांसारिककार्यों में अनासक्त तथा अप्रयत्नशील होता है... यह शुभभाव। यह सब सांसारिक कार्य है। आहाहा! सच्चे मुनि सन्त हों, सच्चे साधु। जो अन्दर आत्मा का अकषायभाव प्रगट हुआ है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति, आनन्द का वेदन है। वे मुनि जंगल में बसते हैं। सच्चे सन्त दिगम्बर मुनि जंगल में बसते हैं। उनकी नग्नदशा होती है। उन्हें वस्त्र का धागा होता नहीं। उन्हें भी जब पंच महाव्रत का विकल्प उठता है। आहाहा! समझ में आया ? तो वे जानते हैं

कि संसार है। आहाहा! मेरा लक्ष्य शुभराग-पर के ऊपर गया है। इतना भाव भी संसार है। आहाहा! बहुत कठिन काम जगत को।

जैन में जन्में, उन्हें भी खबर नहीं होती। वाडा में ५०-६०-७० (वर्ष) हुए। ऐई! जादवजीभाई! तुम्हारा लड़का तो यह सब हाँ करता है, हों! कहाँ गये जयन्तीभाई! बैठे हैं। वह तुम्हारा दिलीप तो हाँ करता है यह। वह संस्कार लेकर आया है पूर्व भव में से। १६ वर्ष की उम्र है, १७वाँ लगा होगा भाद्र (माह) में। बहुत लाखोंपति है। यह पिता हैं, इनका वह लड़का, इनका लड़का है वह दिलीप।

मुमुक्षु : पिता को भाग मिले न, लड़का कमाये तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं मिलता इसे। परन्तु उसे यह रस पड़ता है। यह बात सुनकर ऐसा कहे, हों... आहाहा! नहीं तो अभी १७ वर्ष चलता है। इस बार महीने रह गया है प्रवचनसार सुनकर। आहाहा! तुम्हारे बहुत लाखों रुपये की उसे दरकार नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इनका कर्तव्य है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्तव्य है तो और पूछा था उसे एक बार कि तू धन्धा नहीं करेगा तो क्या करेगा? ऐसा पूछा था उसे।

मुमुक्षु : यह प्रश्न तो अनुचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुचित प्रश्न है। ऐई... जयन्तीभाई! यह तुम्हारे पिता ने पूछा था दिलीप से। कि तू जब धन्धा नहीं करेगा। अब मुझे विवाह नहीं करना, जाओ। १६-१७ वर्ष। और धन्धा करने में आनेवाला नहीं आजीवन। तुम्हारे हुण्डी का व्यापार वहाँ कलकत्ता में चलता है। मैं करनेवाला नहीं। तब पूछा कि तब क्या करेगा? जवाब ऐसा दिया कि मैं पाठशाला पढ़ाकर मेरी रीति से कर लूँगा। आहाहा! परन्तु इतने अधिक लखपति तुम। अब उस लड़के को चाहिए कितना? दो सौ रुपये कदाचित् महीने में। अच्छी प्रकार से खर्च करे तो। ऐई... जयन्तीभाई! परन्तु तुम्हारे वे छोटे हैं, दो लड़के छोटे। उन्हें मैंने पूछा था कि भाई! यह निवृत्ति लेनेवाला है। विवाह करनेवाला नहीं और धन्धा करनेवाला नहीं। क्या करोगे तुम? हम हैं, देंगे। छोटा लड़का तुम्हारा।

पौत्र। फिर दूसरे दिन पूछा। वापस दूसरे दिन पूछा। कहे, हम देंगे। हमारे पास पैसा बहुत है, हमारे पिता के पास। हम कमायें तो ही देंगे ऐसा है नहीं कुछ। ऐई! जादवजीभाई! ऐसा छोटे लड़के बोले थे। दिलीप से दो छोटे हैं न?

बापू! यह तो आत्मा की बात बापू! किसे न जँचे? आहाहा! जिसे आत्मा की गरज हो, उसे बापू! यह जन्म-मरण का फेरा टालने के लिये... चौरासी के अवतार में यह दुःखी है। यह राजा दुःखी, सेठ दुःखी, दुःखी के सरदार हैं बेचारे। आहाहा! यह राग की क्रीड़ा में रंग गये हैं, ये सब। यह तो शुभ की बात चलती है। वह तो अशुभ में अभी तो। यह कमाऊँ और यह खाना, यह करूँ और ऐसा करूँ। अशुभभाव में एकाकार है। आहाहा! उसका तो कहीं अन्त है नहीं। कान्तिभाई!

यहाँ तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ तत्त्व सन्त जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। भाई! कहते हैं, जिसे इन सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति-निवृत्ति। शुभ की प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति। सब एक का एक अशुभ है। **सांसारिककार्यों में अनासक्त...** धर्मी तो उसकी रीति, उसमें उसे प्रेम होता नहीं। **तथा अप्रयत्नशील होता है...** अर्थात्? उसमें तत्पर नहीं है। धर्मी को आदर नहीं है। आहाहा! भाव होता है। **और आत्मानुभव के कार्य में सजग रहता है**- आहाहा! धर्मी तो उसे कहते हैं, जो आत्मा के आनन्दस्वरूप में जागृत रहता है, जिसके वेदन में अतीन्द्रिय आनन्द होता है, उसे धर्मी-समकिती कहते हैं। आहाहा!

आत्मानुभव... अर्थात् आत्मा का अनुभव अर्थात् आनन्द का अनुभव। आहाहा! आत्मा सहजानन्दस्वरूप और उसका अनुभव, उस आनन्द का वेदन जिसे हो। आहाहा! भारी कठिन काम। जगत को एक तो सुनने को मिलता नहीं, यह तो उसे मुश्किल पड़ता है। **आत्मानुभव के कार्य में सजग रहता है**- सम्यग्दृष्टि जीव—धर्मी जीव जो आत्मा का स्वभाव रागरहित है, ऐसे स्वभाव में वह जागृत रहता है, अर्थात् आनन्द के वेदन में होता है। आहाहा! बहुत टोटल करके सार कह दिया है। हैं?

तत्पर रहता है; जबकि अज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसार के कार्यों में... शुभभाव करूँ और अशुभ से निवृत्त होऊँ। यह दुकान का धन्धा छोड़ा, अमुक छोड़ा, अमुक

छोड़ा, वह तो अशुभ छोड़ा और शुभ किया, ऐसा। वे सब अज्ञानी शुभभाव में तत्पर हैं। वहाँ ही उनका लक्ष्य है। आहाहा! मार्ग भारी कठिन भाई! सोनगढ़ के छोटे गाँव में पादर में ऐसा! मार्ग तो यह है, बापू! समझ में आया?

मुमुक्षु : छोटा गाँव नहीं, पूरे भारत में प्रसिद्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी, प्रवृत्ति -निवृत्तिरूप संसार के कार्यों में प्रयत्नशील रहता है-जागृत रहता है और आत्मानुभव के कार्य में अतत्पर रहता है। अन्तर में स्वभाव का वेदन करना, उसमें उसकी तत्परता अज्ञानी की नहीं है। आहाहा! वह तो यह व्यवहार के क्रियाकाण्ड के राग में तत्पर है। आहाहा!

विशेष - यहाँ आचार्य ने यह बताया है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार में अर्थात् अहिंसा,... के भाव में। पर की दया पालना, पर को न मारना, ऐसा अहिंसाभाव, **भक्तिभाव।** भगवान की तीर्थयात्रा, भक्ति आदि, पूजा आदि हमेशा करे, वह भक्तिभाव, वह शुभभाव। **व्रत...** यह बारह व्रत और पंच महाव्रत, यह व्रत, वह शुभभाव-राग है, वह विकल्प है, वह व्यवहार है। आहाहा! **नियमादि...** नियम ले कि इतना चले और इतना न चले, रस का त्याग है, मुझे दो रस चलते हैं, पाँच रस नहीं चलते इत्यादि। यह सब शुभभाव है। आहाहा!

प्रवृत्तिरूप व्यवहार में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभकार्य से निवृत्तिरूप... हिंसा का भाव, झूठ, चोरी, विषय-मैथुन का भाव छूटा, ब्रह्मचर्य का हुआ, परन्तु वह शुभभाव है। आहाहा! **व्यवहार में — इस प्रकार दोनों व्यवहारों में जो अतत्पर होता है,...** यह पंच महाव्रतादि के परिणाम में और अव्रत के परिणाम में, अशुभ में तत्पर नहीं। आहाहा! **वही आत्मानुभव कर सकता है...** कहो, समझ में आया? कहो, प्रेमचन्दभाई! जिसे राग का प्रेम है, उसे आत्मा का प्रेम नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा कठिन। ऐसा राग किया अनन्त बार और प्रेम किया अनन्त बार। भगवान की भक्ति अनन्त बार की है। शास्त्र में तो यहाँ तक लेते हैं कि साक्षात् समवसरण में अनन्त बार गया है। भगवान महाविदेह में विराजते हैं। शाश्वत् तीर्थंकर। वहाँ जहाँ अवतार था, वहाँ उस समवसरण में गया, पूजा की, मणिरत्न के दीपक और हीरा के थाल और कल्पवृक्ष के

फूल। जय भगवान, नारायण सत् प्रभु। परन्तु वह तो सब शुभभाव है। प्रभु! कठिन पड़े ऐसा है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग सर्वज्ञ का, परमेश्वर वीतराग जिनेश्वर के यह तो कथन और मार्ग है। आहाहा!

इसे पहले रुचे तो सही, कहते हैं। समझ में आया? इसकी रुचि तो कर। आहाहा! जो राग की रुचि है, उसे बदलकर सहजानन्द मूर्ति प्रभु है, उसे पोषाण में तो ले, उसे रुचि में तो ले। आहाहा! अभी तो यह पोसाता नहीं इसे। शुभराग के पोषाण में यह पोसाता नहीं। आहाहा! बनियों को माल पोसावे, वह लेने जाये न? पाँच रुपये का बाजरा मिले और साढ़े छह में बेचा जाये तो लेने जाये। परन्तु पाँच में मिले और साढ़े चार में बेचा जाये तो लेने जायेगा? इसी प्रकार जिसे राग का रस है, उसे आत्मा का रस नहीं आता। आहाहा! बात बहुत कठिन, भाई! अब इसमें वाद-विवाद करना, चर्चा करो। क्या करे? किसके साथ? आहाहा!

इस प्रकार दोनों व्यवहारों में... दोनों कौन? **अहिंसा, भक्ति, व्रत, नियमादि शुभप्रवृत्तिरूप...** और हिंसा छोड़ना, **झूठ, चोरी आदि अशुभकार्य से निवृत्तिरूप व्यवहार में—इस प्रकार दोनों व्यवहारों में जो अतत्पर होता है, वही आत्मानुभव कर सकता है...** आहाहा! शुभ-अशुभ में जिसकी रुचि न हो, रस न हो, वह आत्मा का अनुभव और आनन्द का स्वाद ले सकता है। यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव कहते हैं। या यह सोनगढ़ का है? बहुत से ऐसा कहते हैं (कि) यह सोनगढ़ की बात है। अरे... भगवान! तुझे खबर नहीं, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : चेतनगढ़ की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतनगढ़ है। बात सच्ची।

यह तो आत्मा प्रभु आत्मा की बात है। भगवान त्रिलोकनाथ ने... इन्द्रों और गणधरों के समक्ष में सीमन्धर परमात्मा विराजते हैं, वे वहाँ इस प्रकार कहते हैं। यह कहे हुए का माप उनका सन्देश आया है। आहाहा! इनकार न कर, इनकार न कर। उस सन्देश को इनकार न कर भाई! तुझे... आहाहा! कन्या के लिये, कन्या नहीं वर—लड़के के लिये लो न, अच्छी कन्या अच्छे घर की आती हो, बड़े का सम्बन्ध। वह

नारियल स्वीकार लेता है या नहीं ? जादवजीभाई ! बड़े का सम्बन्ध हो तो स्वीकार लेता है। भले फिर लड़की जरा कमजोर हो, परन्तु अब करोड़पति है और दस-बीस लाख देनेवाला है। यह अभी नहीं दिये तीस लाख ? सर्वोदय कान्तिलाल नहीं ? लड़की का विवाह किया न ! करोड़पति है। सर्वोदय मन्दिर नहीं मुम्बई। सर्वोदय, लींबडी का है न। वहाँ अभी व्याख्यान पढ़ा था न। दस हजार व्यक्ति। अभी पढ़ा था वहाँ अपने जाकर। बहुत लोग। व्यक्ति स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी बहुत है घाटकोपर। सब सुनने आते हैं। मार्ग तो यह है, बापू ! आहाहा !

उसकी लड़की का विवाह किया तो तीस लाख देनेवाला था। एक करोड़पति है। उसे मिल गया होगा कोई। और फिर वापस मन में ऐसा रहे कि पैसे तो आयेंगे, और मर जायेगा तो पैसे सब अपने आयेंगे। वहाँ कहाँ है उसके पास कुछ। ऐसे का सम्बन्ध... और यह तीन लोक के नाथ महापुरुष का सन्देश आया तेरे घर में, भाई ! आहाहा ! कि शुभराग का रस छोड़ दे, और हमारे सत्पुरुषों के, ज्ञानियों के सन्देश हैं और अन्तर आत्मा के रस में आ जा, उसे स्वीकार ले, इनकार न कर, अरुचि न कर, उकताहट न ला। आहाहा ! प्रेमचन्दाई ! ऐसा है।

गाथा बहुत ऊँची है। उसमें और उसका लक्षण बाँधा। आहाहा ! विकल्प जिसका लक्षण है। आहाहा ! द्रव्यसंग्रह में व्यवहार को शुभराग कहा है, भाई ! शुभ उपयोग। उसे यहाँ शुभ उपयोग कहो या विकल्प कहो या व्यवहार कहो। आहाहा ! भाई ! व्यवहार और निश्चय की चीज़ पूरी दोनों भिन्न है। आहाहा ! दोनों नय का विषय विरुद्ध है। व्यवहारनय का विषय पर के लक्ष्यवाला शुभभाव होता है। आहाहा ! निश्चय का विषय शुभ से छोड़कर पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव है, वह उसका विषय है। आहाहा !

भले पर्याय विषय करती है, परन्तु पर्याय का विषय वह पूर्ण सहज आनन्दस्वरूप का दल, पूर्ण शुद्ध चैतन्य ध्रुव का दल, वह पर्याय का विषय है। आहाहा ! (वहाँ) जा, तू उसका विषय कर, भाई ! आहाहा ! यह पर को विषय-ध्येय बनाया है, अब इस स्व को विषय बना, बापू ! तेरा कल्याण करना हो तो मार्ग यह है। आहाहा !

लोगों को बेचारों को 'द्रव्य क्रियारुचि जीवड़ा भाव धर्मरुचि हीण। उपदेशक

पण तेहवा, शुं करे जीव नवीन ?' आहाहा! यह देवचन्दजी ने कहा है। खरतरगच्छ में हुए हैं। 'द्रव्य क्रियारुचि जीवड़ा..' यह तो एक तो भक्ति, पूजा, दान, दया, व्रत और रुचिवाले। 'भावधर्म रुचि हीण...' राग से भिन्न क्रिया आत्मा का स्वभाव, आनन्द की रुचि और उसकी श्रद्धा की खबर नहीं। 'उपदेशक पण एवा...' मिले इसे। माळी मकवाणी और वह कहते हैं न। जहलो जोगी और माळी मकवाळी दोनों इकट्ठे हो गये। आहाहा! एक तो इसे रुचि और इसे उपदेशक ऐसे मिले। 'शुं करे जीव नवीन प्रभु ?' भगवान को कहते हैं, हे नाथ! जीव क्या करे बेचारा ? आहाहा!

'चन्द्रानन जिन सुनिये अरज यह नाथ।' भगवान चन्द्रानन विराजते हैं न। बीस विहरमान भगवान में एक चन्द्रानन भगवान है। महाविदेह में विराजते हैं। पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है, वर्तमान समवसरण में विराजते हैं। आहाहा! छोटाभाई! आता है न यह ? 'द्रव्य क्रिया रुचि जीवडा भावधर्म रुचि हीण, उपदेश पण तेहवा...' ऊपर बैठे हों और वे उपदेश दे, यह वह उसको अच्छा लगे। आहाहा! अब वह कहे व्यवहार का रस, वह मिथ्यादृष्टि। मार डाला। कुछ व्यवहार करे तो अच्छा, फिर करते-करते निश्चय होगा या ऐसे का ऐसे होता होगा ? आहाहा! व्यवहार का शून्य रख तो निश्चय होगा, ले। आहाहा! वह तो विकल्प है। विकल्प करते-करते निश्चय सम्यग्दर्शन होगा ? वह तो निर्विकल्प दृष्टि है अनुभव की। आहाहा! ऐसी बात है, बाबूभई! दहेगाम में। आहाहा!

भक्ति आदि शुभकार्यों की प्रवृत्ति से और अशुभकार्यों की निवृत्ति से आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती,... बहुत सरस गाथा है। नन्दीश्वरद्वीप का पहला दिन है आज, अष्टाह्निका। इन्द्र नन्दीश्वरद्वीप में पूजा के लिये आठ दिन जाते हैं। जानते हैं कि शुभभाव है। परन्तु स्वरूप का आदर स्थिरता अन्दर न हो तो अस्थिरता में ऐसा भाव आता है। परन्तु उसमें हेयबुद्धि से उसे जानते हैं। आहाहा! अज्ञानी उसे उपादेयबुद्धि से, आदरबुद्धि से (करे), दोनों में इतना अन्तर है।

क्योंकि वह प्रवृत्ति विकल्पारूढ़ है- भक्ति, व्रतादि के भाव, वह सब प्रवृत्ति विकल्प रागरूप है। फिर विकल्प का अर्थ किया, **रागयुक्त है।** ऐसा। **राग, भले ही शुभ**

हो तो भी उससे आत्मज्ञान नहीं होता। उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! **ज्ञानी तो आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है;...** धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि आत्मस्वरूप जो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें स्थिरता करता है। आहाहा! उसमें स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है। वह प्रवृत्ति है परिणति। आनन्द और ज्ञानस्वरूप में प्रवृत्ति अर्थात् स्थिरता करता है। आहाहा! भाषा भी कठिन और भाव भी कठिन। क्या हो, बापू! मार्ग तो यह है, भाई! कपूरभाई!

कलकत्ता में तो और यह लड़के जगे हैं। जाते हैं शनिवार या रविवार कुछ। ऐसा सुना है। रविवार-रविवार वहाँ जाते हैं। तुम्हारा लड़का दिलीप और सब। शनि और रवि, ऐसा सुना है। शनिवार दोपहर को और रविवार को। बड़ा कोई घर हो बुलावे वहाँ जाते हैं। भक्ति करते हैं और फिर ऐसा करे। यह तो बहुत स्पष्ट कहे। आहाहा! यह रागादि क्रिया बन्ध का कारण है। वह लड़का कहता है तुम्हरा। ऐई... जयन्तीभाई! तुमको कुछ भान भी नहीं होगा कुछ। क्योंकि उस ओर का लक्ष्य नहीं न! वह तो अभी से पुकार करता है (कि) नहीं, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव शुभराग है। राग से धर्म नहीं होता, देखो!

मुमुक्षु : पुस्तक भी प्रकाशित की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाशित की है। पुस्तक प्रकाशित नहीं की? लड़कों ने प्रकाशित किया था, यह कहते हैं। उसे दिया था न। भाई लाये थे न जयन्तीभाई। कितनी ही लाये थे। कितने ही दूसरे ऐसे हैं इन्होंने कोटा में दिये थे। शशीभाई आये थे न खारा-खारा। कोटा में हम रहे न आठ दिन, वहाँ पाँच-पाँच हजार लोग आठ दिन। वहाँ बड़ा लाये थे। दो सौ, तीन सौ पुस्तकें। मैंने कहा साथ में हम कहाँ ले जायेंगे ऐसा बोझ। फिर यहाँ बहिन आये, वे लाये थे। जयकुंवरबहिन। चीतलवाले, वे लाये थे। भाई भी थोड़ा लाये थे साठ लगभग। जयन्तीभाई लाये थे। उसमें यह सब लिखा हुआ है। लड़कों ने प्रकाशित किया है, वहाँ बाल मण्डल है। आहाहा! अरे... बापू! इस बात की गन्ध कहाँ है, भाई! आहाहा!

कहते हैं, ज्ञानी स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है। आहाहा! आत्मा के आनन्द में

जिसके परिणाम घुस गये हैं। आहाहा! है तो परिणाम, परिणाम में। इस ओर ढल गया है, ऐसा। **इसलिए उसको व्यवहारधर्म से स्वयं निवृत्ति हो जाती है।** स्वयं निवृत्ति हो जाती है। **उसकी वह प्रवृत्ति, विकल्पारूढ़ नहीं है,...** आनन्दस्वरूप के ध्यान में एकाकार होने पर उसे राग का आरूढ़पना वहाँ नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वह रागरहित क्रिया। आहाहा! वह स्वभाव-सन्मुख हुई है। राग से विमुख हुई है; स्वभाव से सन्मुख हुई है।

निर्विकल्प है और उससे धर्म होता है। आहाहा! शुद्ध सहज आनन्द और सहज ज्ञानमय वस्तु, वस्तु है न। सत् है न? सत् का सत्व स्वभाव है न? आहाहा! सत् को हेतु क्या? आहाहा! राग हो तो धर्म प्राप्त होगा, निर्विकल्प होगा—ऐसा हेतु है नहीं, कहते हैं। आहाहा! राग की उपेक्षा करके और निश्चय स्वभाव की अपेक्षा करके जो परिणति खड़ी होती है, उसे धर्म और निर्विकल्पदशा कहते हैं। आहाहा! उसे परमात्मा धर्म कहते हैं। गजब!

यहाँ तो पाँच-पचास मन्दिर बनावे, दो-पाँच-दस लाख खर्च करे। धर्म किया। धूल में भी धर्म नहीं। तेरे अरब रुपये खर्च कर तो भी क्या? और लाख करोड़ मन्दिर बना, तो भी क्या? वह कौन बनावे? वह तो जड़ की क्रिया पर की है। कठिन पड़े, भारी काम। आत्मा में वह चीज़ नहीं, उसे वह करे किस प्रकार? अपनी सत्ता में वह चीज़ नहीं। यहाँ नहीं तो उसे करे किस प्रकार? आहाहा! क्या न्याय! और जिसकी सत्ता में राग नहीं... आहाहा! जिसके स्वभाव में राग नहीं, ऐसा भगवान आत्मा उस राग को करे किस प्रकार? आहाहा!

यहाँ तो तीसरे नम्बर पर ले जाने से जिसके द्रव्य में पर्याय नहीं। आहाहा! वह द्रव्य, पर्याय को क्या करे? जो उसमें नहीं, उसे क्या करे? आहाहा! कहो, कान्तिभाई! यह चिमनभाई को अभी भाई हमारे चेतनजी और जयन्तीभाई आये थे। शान्तिभाई आये थे वहाँ। मुझे कहते हैं कि क्या बात है? यह तीन बोल है, देखो! यह तीन मक्खन है। शान्तिभाई! तुम आये थे अन्दर।

बापू! पर का सत् है, उसे यह सत् क्या करे? इसी प्रकार राग का सत् है, उसे

निर्मल सत्ता (और) निर्मल पर्याय क्या करे? इसी प्रकार निर्मल पर्याय की सत्ता है, यह द्रव्य उसे क्या करे? सत् है न वह? पर्याय भी सत् है। उस समय की वह सत् है। सत् को द्रव्य क्या करे? आहाहा! जिसकी दृष्टि द्रव्य पर गयी है... आहाहा! उस पर्याय को वह द्रव्य करता नहीं, कहते हैं। पर्याय तो द्रव्य को करे नहीं, वह तो वस्तु है त्रिकाल। परन्तु यह तो परिणति नयी होती है... आहाहा! वह सत् है, त्रिकाल सत् है, तो यह पर्याय त्रिकाल सत्... पर्याय सत् त्रिकाल को करे नहीं तथा त्रिकाल सत् है, वह पर्याय को करे नहीं। आहाहा! भाई! अन्दर वस्तुस्थिति ऐसी है न! ज्ञान में ऐसा भासन होना चाहिए। इसे यह करना चाहिए। समझ में आया?

अरे! चौरासी के अवतार में दुःखी है। मनुष्य हो, मरकर जाये कौवा, कुत्ता हो। आहाहा! भान नहीं आत्मा कौन है। यहाँ अरबोंपति कहलाता हो और देह छूटे वहाँ कौवे के गर्भ में अवतरे। आहाहा! ममता की होती है न! बनियों को तो शराब-माँस होता नहीं तो ऐसे तीव्र अशुभभाव तो होते नहीं। ऐसे भाव हों अशुभ। कमाने के, इसके-स्त्री के, भोग के, इज्जत के। आहाहा! वह आत्मा को आड़ा कर दिया विकार से। यह वक्रता वक्रता में जन्मेगा। यह मनुष्य है, वह ऐसे खड़े हैं और तिर्यंच हैं, वे ऐसे आड़े हैं। गाय, घोड़ा, भैंस, कुत्ता आड़े हैं। इस वक्रता में आड़े में उपजेंगे। तिर्यंच आड़े हैं। आहाहा! गजब, बापू! आहाहा!

हमारे कुँवरजीभाई को कहा था न, भाई! कुँवरजीभाई को, दुकान के ऊपर थे न हम वहाँ पालेज। भागीदार थे। दो दुकानें थीं। दो दुकानें अलग थीं। हमारी और उनकी। यह तो बात है (संवत्) १९६६ की। ६६। (तब) २० वर्ष की उम्र थी। इस दुकान से मैं उस दुकान में गया। मैं तब भगत कहलाता था। क्योंकि रात्रि में आहार नहीं, अथाणा नहीं। बिल्कुल रात्रि में आहार-पानी का त्याग। ६६ के वर्ष से। आहार-पानी की बूँद नहीं। तब फिर भगत कहे, इसलिए मेरे सामने देखे, बोले (नहीं), सुनें। उन्हें ममता बहुत थी।

भाई! कुँवरजीभाई (को) कहा। मुझसे चार वर्ष बड़े थे। यह तुम इतनी ममता करते हो, मुझे तो ऐसा लगता है भाई! ६६ की बात है, हों! मानो हम बनिया हैं तो माँस

और शराब खाते (-पीते) नहीं, इसलिए अपने ऐसे तो पाप नहीं। नरक में तो नहीं जायेंगे। ६६ के वर्ष। २० वर्ष की उम्र थी। ४६ में जन्म। (अभी) ८६ चलता है न। ८० और ६, शरीर को। आत्मा को कुछ नहीं होता। आत्मा तो अनादि का है। आहाहा! मरकर पशु होओगे, कहा, हों! देव में जाने के लक्षण दिखते नहीं, कहा। मनुष्य-मनुष्य हो, ऐसे भाव भी नहीं दिखते, कहा। आहाहा! तब तो अभी बहुत पैसा (नहीं थे)। पाँच-पाँच हजार की आमदनी थी वर्ष की। दुकान में। पाँच हजार की आमदनी थी। मर गये, तब दो लाख की आमदनी। दस वर्ष पहले मर गये हैं। मरते हुए ममता... ममता... ममता... ममता... दुकान में ले जाओ। दुकान में ले जाओ। नहीं तो मर जायेगा। लड़के कहे परन्तु काम क्या है ? दस लाख की पूँजी तब थी। दो लाख की आमदनी थी। दस वर्ष पहले मर गये। आहाहा! यह दिमाग घूम गया। जाओ गर्त में। आहाहा! लड़के कहे, परन्तु तुम किसके लिये कमाते हो ? तुमको इनकार किया, हमारे बहुत है अब। तब दस वर्ष पहले, हों! यह जगत की दशा। बनिया जैन में जन्मे, परन्तु धर्म की खबर नहीं होती, नहीं पुण्य की खबर होती।

यहाँ कहते हैं कि पुण्य के रसिक इस आत्मा के धर्म को नहीं कर सकते। आहाहा! वह **परन्तु वह (ज्ञानी) उसको भला नहीं मानता, उसका उसे स्वामित्व अथवा कर्ताबुद्धि नहीं है;...** राग का स्वामीपना धर्मी को नहीं है। आहाहा! ऐसा **कर्ताबुद्धि नहीं है; वह राग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है; इसलिए उसकी प्रवृत्ति उसमें दिखने पर भी, वह वास्तव में निवृत्तिमय ही है।** आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ९, गुरुवार, दिनांक १७-०७-१९७५, श्लोक-७८-७९, प्रवचन-९२

समाधितन्त्र, ७८ गाथा। ११७ पृष्ठ पर नीचे से दूसरा पेरेग्राफ। **अज्ञानी, शुभरागमय प्रवृत्ति में धर्म मानकर,...** पर के लक्ष्य से हुआ शुभभाव। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि भाव, उस **प्रवृत्ति को धर्म मानकर उससे सन्तुष्ट होता है...** हम धर्म करते हैं। **और आत्मस्वरूप की भावना के लिए अतत्पर होता है।** बाहर के क्रियाकाण्ड के शुभभाव में उसकी लीनता होती है। आहाहा! हम शुभभाव करते हैं तो उससे शुद्धता होगी, ऐसा अज्ञानी मान्यता के कारण शुभ उपयोग में तत्पर रहता है। वह आत्मस्वरूप की भावना के लिये अतत्पर है। आहाहा! स्व का आश्रय लेकर स्व के आत्मा में तत्पर होना, वह अज्ञानी को नहीं होता।

मुमुक्षु : प्रश्न का जवाब आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न हो तो सब में जवाब आता है न! आहाहा! व्यवहार कहा विकल्प नाम जिसका लक्षण। आहाहा!

मुमुक्षु : पहला निश्चय लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस व्यवहार का अर्थ ही विकल्प और विकल्प का अर्थ राग। आहाहा! **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है,...** ऐसा। व्यवहार से कहा है न पाठ में। तो व्यवहार से अर्थात् क्या? कि **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति...** आहाहा! शुभ की प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति। सब विकल्प का स्थान है। आहाहा! कठिन काम, भाई! जगत को यह बात बैठना...

मुमुक्षु : किसी काल में जगत को बैठती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पात्र जीव को बैठे, ऐसी है यह। जिसका संसार का अन्त निकट है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! दुनिया तो उसे ऐसा कहे कि यह तो निश्चयाभासी व्यवहार के भाव को एकदम झटक देता है। देखो न, उसे कहे। विषय भी परद्रव्य है या नहीं? वाणी, वह परद्रव्य है या स्वद्रव्य? और परद्रव्य के अनुसार हो, वह राग होता है

या वीतरागता होती है? और इसीलिए तो कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा '**परदव्वादो दुग्गइ**' आहाहा! होवे सही, वह बात अलग है, परन्तु वह स्वयं राग है, स्वभाव चैतन्य का निर्मल शुद्ध पिण्ड है। उससे विरुद्धभाव है।

इसलिए कहते हैं, **तथा कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर,...** पंचास्तिकाय में है। मोक्षमार्गप्रकाशक में... मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है। **कितने ही जीव, भक्ति...** भगवान की भक्ति। आहाहा! भगवान की पूजा। अरे! ऐसा कठिन काम भारी। अब बड़े मन्दिर बनाना और यह २५-२६ लाख का परमागममन्दिर बनाना। ऐसा लोग कहते हैं न! तो बनाया किसलिए तुमने इसे? कौन बनावे? बापू! सुन न, भाई! कौन बनावे? रामजीभाई ने वहाँ ध्यान रखा, इसलिए उनसे बना है? रामजीभाई बहुत ध्यान देते थे। व्याख्यान के बाद बाहर निकले। सब पूछे, इसका कैसे करना? वहाँ से दिखाई भी दे इनको। लो!

मुमुक्षु : वहाँ सामने ही था न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ सामने ही था न। रास्ते में पूछते थे न सबको। रास्ते में पूछते, ऐ... अमुक कैसे हुआ? अमुक कहाँ तक? यह तो विकल्प हो, वह अलग बात है। परन्तु इससे यह होता है, ऐसा नहीं है, इतनी बात है। आहाहा! अरेरे! जगत को यह मूल वस्तु। दर्शनभ्रष्ट... भ्रष्ट ज्ञान में और चारित्र में सर्वत्र भ्रष्ट है। चारित्रभ्रष्ट हो, उसे दृष्टि में श्रद्धा में है कि यह खोटा। समझ में आया? आहाहा! तो चारित्रभ्रष्ट, वह तिरेगा परन्तु दर्शनभ्रष्ट तो सबमें भ्रष्ट होकर... आहाहा! ऐसी बात बैठना जगत को...

भगवान पूर्ण आनन्द और सहजानन्द और सहज चैतन्य प्रकाश का पुंज प्रभु, ऐसा चैतन्य के महाप्रभु की अस्तित्व की स्व आश्रय प्रतीति छोड़कर, पराश्रय की प्रतीति में लाभ मानना, वह आत्मा की हिंसा करता है। अर्थात् कि आत्मा ऐसा पर के अवलम्बनरहित और पर के आश्रय बिना निरपेक्ष निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, यह बात वह मानता नहीं, इसलिए उसने आत्मा ही नहीं माना और उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वभाव से ज्ञात हो, प्रत्यक्ष दृष्टा हो। आहाहा! जिसके स्वरूप को जानने के लिये

राग की, व्यवहार की... आहाहा! यह सुनने की भी अपेक्षा जिसे नहीं। पोपटभाई! ऐसा भारी मार्ग! सवेरे-शाम सुनाना।

मुमुक्षु : कलकत्ता से यहाँ सुनने आवे और आप कहो सुनता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शान्तिभाई कहाँ से आये, लो। धनबाद से, इतने यह कलकत्ता से। बापू! यह हो भले परन्तु वह अन्दर परलक्ष्यीभाव वह शुभराग है। आहाहा! उसमें परलक्ष्यीभाव में इतना ख्याल आवे उसे कि यह सुनाई देता है, इससे लाभ नहीं होगा। उसे स्वभाव—सन्मुख जाने से लाभ होगा। ऐसा ख्याल सुननेवाले को इस प्रकार से आवे, इतनी बात है। यह भी वह ख्याल आया कब कहलाये?—कि स्व का आश्रय करके अनुभव में निर्णय करे, धारणा का निर्णय नहीं। आहाहा! पूरे जन्म-मरण को उत्थाप डालने की बात है, बापू! यह कहीं पोपाबाई का राज नहीं है। आहाहा!

पूर्ण वीतराग मूर्ति प्रभु 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।' विकल्प से लेकर सब कर्म परचीज़ है। आहाहा! आहाहा! अति तीव्र मिथ्या है, ऐसा सिद्ध किया अन्त में। अभी क्रमशः है। लिखते हैं न दृष्टान्त, शास्त्र में व्यवहार के आधार ऐसे बहुत आते हैं। श्वेताम्बर में तो यही आवे गाथा पूरी भगवती (सूत्र) में। 'श्रवणे णाणे ज्ञाने' गाथा है। श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, ज्ञान से पच्चक्खाण होता है, ऐसा आता है। 'श्रवणे नाणे ज्ञाने पच्चखाणे संजमे' ऐसा आता है। पूरा श्लोक आता है भगवती (सूत्र) में। यह महिलायें जो पूच्छीसूणं करे, वह यह मुखाग्र करे। आहाहा! कठिन मार्ग! तीन लोक के नाथ की वाणी सुनना, वह वाणी परद्रव्य है।

मुमुक्षु : अनन्त रजकण।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! उसके ऊपर सुनने के लक्ष्य से तो विकल्प है, तथापि एक जगह कहा है न, भाई! आचार्य के शब्दों (में) रस—आनन्द का रस टपकता है। वह किस अपेक्षा से? स्वभाव का आश्रय लेकर जो वाँचन करे-समझता है... आहाहा! उसे वहाँ आनन्द झरता है, ऐसा कहना है। वह वाँचन-श्रवण के समय भी धर्मी को तो स्वभाव की शुद्धि की वृद्धि होती ही जाती है। आहाहा! यह उसके कारण नहीं। उस काल में अपनी शुद्धि के ऊपर जोर है न वहाँ? आहाहा!

परिणाम मेरा ध्यान करे तो करो, मैं किसका करूँ? आहाहा! लोगों को कठिन पड़ता है। यह जाने कौन? कि वापस पर्याय। जानती है पर्याय। परिणाम... ध्रुव का ध्यान करे तो करो परिणाम। पर्याय ऐसा जानती है। परन्तु मैं किसका ध्यान करूँ? मैं अर्थात् ध्रुव, ऐसा। आहाहा! ऐसी अटपटी बात का समाधान न समझे तो उसे शान्ति नहीं मिलती और अशान्ति की खदबदाहट रहा ही करती है। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि तू मेरे सन्मुख देखता है, इसकी अपेक्षा तेरे सन्मुख देख न! यह सुनने के लिये सुनता है। आहाहा! क्योंकि जहाँ तुझे लाभ हो, वह चीज़ तो तेरे पास पड़ी है। प्रत्यक्ष वस्तु आनन्द का नाथ प्रत्यक्ष पड़ी है चीज़। आहाहा! मात्र तेरे स्वीकार की श्रद्धा बिना वह नहीं, ऐसा तुझे हो गया है। पर्याय में और राग के स्वीकार में प्रत्यक्ष वस्तु नित्यानन्द, सहजानन्द मूर्ति स्वभाव का सागर पूरा। ओहो! यह उसका सत्कार और सन्मुख बिना 'वह है'—ऐसी प्रतीति तुझे नहीं आती। आहाहा! काम ऐसा है और यह...

यह प्रवचनसार में लिया है न, वह नहीं कि भाई! ऐसा सुनकर कोई असुर में भी जन्मे और फिर वैभव मिले, ऐसा है न? वह भी इसके ख्याल में बात रखी है। दृष्टि का जोर है और राग की मन्दता में आ गया, तथापि जरा हट गया। मुनि होकर तू। तब यह असुरकुमार में अवतरित होता है। यह पाठ है न? प्रवचनसार। ७वीं गाथा, कौन सी? आहाहा! यह छठवीं। यह सातवीं बाद में आयेगी। '**संपज्जदि णिव्वाणं**' मोक्ष को पायेगा परन्तु '**देवासुरमणुयुवरायविहवे हिं**' आहाहा! इतना भी ख्याल रखते हैं कि कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, चारित्र प्राप्त हुआ है, तो किसी समय उसे जरा हट जाता है तो वह असुर में उपजता है। भवनपति आदि असुर में उपजता है। तो असुर में उपजे, वह मिथ्यादृष्टि उपजता है।

तथापि छठवीं गाथा में। '**चारित्तं खलु धम्मो**' सातवीं में लिया है। उसके पहले जरा अन्दर सब ख्याल रखकर बात की है। आहाहा! '**देवासुरमणुयुवरायविहवे हिं जिवस्स चरितादो**' पश्चात् बात यह है। वह चारित्र से '**दंसणणाणप्पहाणादो**' जिसमें दर्शन-ज्ञान प्रधान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और उस चारित्र से उसकी मुक्ति होगी, परन्तु किसी जीव को इस प्रकार से भी होता है। ऐसा कहा कहो, बाद में भाषा ऐसी ली।

असुर में उपजे, उस जीव को भी चारित्र से दंसणणाण प्रधान से सम्यग्दर्शन-ज्ञान की मुख्यता से उस जीव को भी मुक्ति होगी। आहाहा! समझ में आया? जरा हट गया है, ऐसा ख्याल रखकर भी उसे जोर तो चारित्र और दर्शन-ज्ञान के ऊपर था। परन्तु जरा कुछ हट गया किसी प्रसंग में। इसलिए उसे कहते हैं ऐसे जीव को। **'चरितादो दंसणणाणप्पहाणादो संपज्जदि णिव्वाणं'** निर्वाण को प्राप्त करेगा। आहाहा! छठवीं गाथा। पाँच पहले शुरु की है न? पश्चात् यह छठवीं।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥

ओहोहो! भाई! यह तो विवाद और वाद-विवाद करके बैठे, यह बात-विषय नहीं, बापू! यह तो धीरे से सत्य की शरण में कैसे जाना? आहाहा! परम सत्य साहेबो पड़ा है अन्दर। परमात्मस्वरूप साहेब आत्मा है। आहाहा! **'णाण दंसण प्रधानात्'** आता है न उसमें? जिसका आचरण। मुख्य तो दर्शन-ज्ञान-आचरण है। उसमें यह (प्रवेश) होने के बाद अन्दर स्थिरता हो सकती है। आहाहा! ऐसे जीव को भी कोई असुरकुमार में जाये, वहाँ से मनुष्य का वैभव पाकर मोक्ष जायेगा, कहे। समझ में आया? ऐसा लिया। कुन्दकुन्दाचार्य।

मुमुक्षु : यह तो चारित्र भ्रष्ट हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा दर्शन से भ्रष्ट हुआ था। परिणाम में सहज वह हो गया। तब असुरकुमार में जाये न? चारित्र भ्रष्ट समकिती असुरकुमार में नहीं जाता। आहाहा! ओहोहो! कैसी कुन्दकुन्दाचार्य की तीखी, सूक्ष्म वाणी। उसमें ऐसा जरा कुछ उसे ख्याल में रखकर कहते हैं, बापू! अन्दर कोई परिणाम सहज जोर से हट गये हैं। असुर में उत्पन्न हुआ। परन्तु उस वैभव में से मनुष्य होकर वैभव पाकर केवल(ज्ञान) पाकर मोक्ष जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

यह तो मध्यस्थ से सत्य को ग्रहण करे तो यह तो ऐसी बात है। हमने माना, ऐसा उसमें से निकलना चाहिए, हमने माना उसमें से लाभ हो, ऐसा इसे नहीं होता। यह तो सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ की वाणी सुननेवाले सर्वज्ञ की सभा कहलाती है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ की वाणी सुने, बापू! सर्वज्ञ की सभा में, उसका व्यवहार कैसा होगा? आहाहा! रामजीभाई ने कहा न थोड़ा-थोड़ा कहते रहना, कहे। सवेरे कहा था। सुनने के समय इसे ध्यान रखना चाहिए, भाई! हिम्मतभाई जैसा जिसने अर्थ किये हैं, उन्हें सब ख्याल है परन्तु उनकी सुनने की कैसी शैली है, देखी? यह सब चार के अर्थ उन्होंने किये हैं गुजराती।

मुमुक्षु : इसके अतिरिक्त भी बहुत किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत किया है। बात सच्ची।

मुमुक्षु : समवसरण की स्तुति बनायी है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्तुति बनायी है। समवसरण की स्तुति बनायी है।

मुमुक्षु : अष्टपाहुड़ का नहीं किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : अष्टपाहुड़ का किया, स्तुति बनायी। हाँ, इन्होंने किया। दूसरे शब्दों का सुधार किया। परन्तु इन्हें ऐसा नहीं कि यह सुनते हुए मुझे क्या सुनना? मुझे तो आता है। ऐसा नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि बापू! पर्याय प्रत्येक पर्याय बदले और उसके भाव जो आवे अन्दर से। आहाहा! बापू! उन्हें समझना चाहिए, उन्हें सुनना चाहिए। सुना हुआ हो तो भी सुनने में ध्यान रखना चाहिए। श्रीमद् ने कहा न एक जगह कि यह बात तुमको बैठी हो और सुनी हुई हो तो भी तुम्हारी पर्याय दूसरी है और मेरी पर्याय कहने के समय दूसरी है। आहाहा! उनकी शैली तो अलौकिक है। वह तो यह जरा दो में बहुत विचार नहीं था। श्वेताम्बर-दिगम्बर की भिन्नता नहीं हुई। नहीं तो दोनों की भिन्नता... फिर अन्त में कर डाली है। लो, सूत्र के नाम दिये परन्तु वे लोग उनके भक्त अब नहीं मान सकते। बहुत वर्ष से आग्रह में पड़े हों। वहाँ अन्त में सूत्र के नाम दिये, वहाँ १९ तो दिगम्बर शास्त्र के नाम। श्वेताम्बर के एक शास्त्र का नाम नहीं। एक ग्रन्थ है उसका नाम दिया २०वाँ। १९ तो सिद्धान्त। उसमें कोई दशवैकालिक, उत्तराध्ययन यह नाम नहीं। बाद में बात ख्याल में आ गयी उन्हें कि वह वस्तु सच्ची (नहीं है)। श्वेताम्बर के

शास्त्र सत्य नहीं हैं। सूक्ष्म बात है, हों! किसी को श्वेताम्बर हो-दुःख हो, उसके लिये बात नहीं। यह तो सत्य की स्थिति कैसे खड़ी हो, ऐसी बात है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं।** उन्होंने उसमें एक में लिखा है कि निश्चय अध्यात्म की बात वह हो जायेगी, इसलिए इसे भक्ति में आना। ऐसा लिखा है एक पत्र में। वह तो व्यवहार आवे, उसे बतलाते हैं। बाकी आना अर्थात् कहीं फर्ज है और कर्तव्य है, ऐसा नहीं है। परन्तु ऐसा भाव आये बिना रहता नहीं। पूर्ण वीतराग न हो, उसे द्रव्य का जोर दृष्टि में होने पर भी जिसके द्रव्य में पर्याय नहीं, ऐसा भान होने पर भी, वह द्रव्य पर्याय को भी कर्ता नहीं, ऐसा भान होने पर भी... आहाहा! शुभभाव आवे, परन्तु उसे हेयरूप से जानकर उसमें लक्ष्य रखा है, वह भी हेयरूप से लक्ष्य रखा है। ऐसा कठिन मार्ग।

अरे... दुःखी है अनन्त काल से। आहाहा! इसकी उसे खबर नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, आनन्द के पाट से हट गया। वह पाट पर बैठा हो न, मनुष्य हट जाये। आहाहा! एक बाई पाट पर बैठी थी और रसोई बनाती थी। वैष्णव थी। एक कपड़ा पहने हुए, उसमें अन्दर बिच्छू काटा। पीठ में बिच्छू किया वहाँ बराबर। पाट में छिद्र होगा कुछ और एक ही वस्त्र पहने। वैष्णव सही न? पकाते समय। अधिक कपड़े नहीं पहने, एक ही। पतला और पाट में से छिद्र से नीचे से बिच्छू ने डंक मारा। हाय... हाय... उस दरार में से आया न? सलंग हो तब तो न आवे। इसी प्रकार अखण्ड चैतन्य के ध्रुव पाटले अखण्डरूप से जो बैठे, तब तो कहीं रागादि आवे नहीं। आहाहा! परन्तु वहाँ से हटे तो वह राग बिच्छू का डंक है वह। आहाहा! कठिन काम।

राग विषकुम्भ कहा है न? जहर का घड़ा कहा है। आहाहा! विषकुम्भ कहा है, देखो न यह तो। आहाहा! वीतरागी सन्तों की वाणी तो देखो। कहते हैं कि हमारी भक्ति का राग तुझे आवे, त्रिलोक के नाथ का राग आवे, उसे जहर का घड़ा कहते हैं। अरेरे! यह वीतरागी मुनि कहते हैं, हों! आहाहा! सत्य की स्थिति ही ऐसी है, वहाँ क्या हो? सत्य का स्वरूप ही ऐसा है। आनन्द का नाथ पूर्ण आनन्द के लक्ष्य में दृष्टि थी वहाँ तक तो उसे आदर अखण्डानन्द पूर्ण का था। आहाहा! और उसके आदर में रहकर भी राग

आवे, परन्तु उसे वह जहर समान, दुःख समान जानता है। आवे, इसलिए अच्छा है— ऐसा नहीं। यह तो कह गये न?

उसको भला नहीं मानता,... ऊपर के पेरेग्राफ में। तीन। **उसका उसे स्वामित्व अथवा कर्ताबुद्धि नहीं है; वह राग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है;...** आहाहा! ऐसा विवाद करे। आहाहा! सोगानी की दृष्टि का जोर द्रव्य के ऊपर बहुत था। दो जगह लिखा हुआ है या नहीं? दो जगह नहीं? यह हमारी पद्धति द्रव्य प्रधान का कथन है। शुरुआत में है। है न कहीं। पत्र में? हाँ, यह है। यह है। आया। 'अपनी तो यही दृष्टिप्रधान शैली है' ऐसी शैली। उन्हें कोई उपदेश करना नहीं था। उन्हें कहीं दुनिया में प्रसन्न हो और सभा भरे, ऐसा कुछ नहीं था। है न?

प्रश्न है कि 'आप शुद्धपर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हो कि ज्ञान की अपेक्षा से?' 'दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं। ज्ञान की अपेक्षा से तो नहीं।' क्योंकि ज्ञान जानता है ऐसा। दृष्टि में भेद नहीं न। 'दृष्टि करने का प्रयोजन में भिन्नता का जोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; तो दृष्टि की अपेक्षा से भी भिन्न कहते हैं; और अपनी यही दृष्टिप्रधान शैली है, सो ऐसा ही कहते हैं।' (बोल) ४३५ में है। प्रश्न में। ४३५, हों!

'मुझे द्रव्य का बहुत पक्ष हो गया है।' अर्थात् मेरा लक्ष्य—अधिक जोर वहाँ है। 'इसलिए कथन में द्रव्य में...' लालभाई ने फिर कोष्ठक में लिखा है। 'द्रव्य की प्रधानता से ही सब बात आती है।' दो जगह आया न? पहला, दूसरा और यह। ४३५। यह तो यथार्थ है।

तथा कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर,... भगवान की भक्ति और पूजा। ओहो! मोक्ष का कारण है। उसमें से धीरे-धीरे आगे बढ़ूँगा। शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है, बापू! अरे! लोगों को सत्य सुनने को मिलता नहीं। वह सत्य के विचार को और सत्य की रुचि में कब जाये? अरे! दुर्लभ पड़ा। और संसार चौरासी लाख (योनियाँ)। भवसिन्धु के तल जाकर पड़ा है। आहाहा! राग को एकत्व माननेवाला भवसिन्धु के तल में गहरा पड़ा है। आहाहा! उसका उद्धार सहज स्वभाव सागर सिन्धु का आश्रय बिना उसका उद्धार हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

देखो न निगोद के भव अठारह एक श्वास में। यह क्या कहते हैं यह? इसे विचार करके अस्तिरूप से इसे श्रद्धा में आना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? लो, साढ़े तीन में आये। लालभाई आये? नहीं आये? ठीक। आनेवाले थे, ऐसा पत्र था। आहाहा!

अज्ञानी, शुभरागमय... कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर... बस, अनुरागी। धर्म अनुरागी, धर्म अनुरागी, ऐसा। धर्म के प्रेम में अनुराग, वह तो राग है। आहाहा! **प्रवर्तते हैं। परन्तु वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ,...** आहाहा! **भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है;...** यह मोक्षमार्ग(प्रकाशक) का है। **इसलिए वह मोक्ष का कारण नहीं है।**

जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो;... वह (भक्ति) धर्म अनुराग शुभ। है शुभ। आहाहा! **इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी, भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्यनिमित्तमात्र भी जानते हैं...** वह तो निमित्त है। निमित्त है इसका अर्थ कि उससे होता नहीं। मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्त। भाषा ऐसी ली है न? आहाहा! निमित्त है एक राग मन्द, इतना। उससे यहाँ शुद्धता प्रगटे, या उससे— शुभराग से शुद्ध उपयोग प्रगटे, शुभराग करने से, विशेष करने से शुद्धता प्रगटे (यह) एकदम विपरीत मान्यता है। यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। आहाहा! ऐसा कठिन काम।

अरे... चौरासी के आताप में तप रहा है, बापू! उसकी आकुलता के दुःख की इसे खबर नहीं। आनन्द के अनुभव बिना इसे आकुलता का दुःख कहाँ लगे? किसके साथ मिलान करे? शुभ-अशुभभाव कषाय है। भट्ठी है, अग्नि है। आहाहा! भगवान आनन्द और शान्ति की भट्ठी है। उसके विरुद्ध का यह शुभभाव दुःखरूप है। **परन्तु वहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते;...** आहाहा! **शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते है।** शुद्ध उपयोग जो स्वभाव-सन्मुख होकर शुद्ध हो, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

अब, पंचास्तिकाय की १३६ गाथा की टीका। **वह भक्ति, केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके,...** जिसे इस भक्ति की अन्दर मुख्यता हो गयी है जिसे दृष्टि में। आहाहा!

ऐसे अज्ञानी जीव के होती है... यह भक्ति **केवल भक्ति ही है प्रधान...** आहाहा! स्व के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टापना जिसे है नहीं। **ऐसे अज्ञानी जीव के ही होती है...** आहाहा! **तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ...** तीव्र रागज्वर-अशुभ मिटाने के लिये। व्यवहार से कथन है न? बाकी तो उसी समय शुभ आवे, परन्तु विकल्प में ऐसा आवे न कि शुभ हो, अशुभ न हो ऐसा। ऐसा विकल्प आवे। होता है उसकी योग्यता के काल में उसके कारण से। परन्तु व्यवहार में ऐसा विकल्प अशुभभाव नहीं होता। वह अशुभभाव वंचनार्थ। है? रागज्वर मिटाने के लिये। **या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ,...** दूसरे में राग न जाये, इसके लिये वहाँ **कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।** भक्ति।

आशय यह है कि जब ज्ञानी, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता,... उपयोग दृष्टि में तो दर्शन शुद्धता पूर्ण, वह वर्त ही रही है निरन्तर। परन्तु उपयोग उसमें नहीं जमता, चारित्र की अपेक्षा से उपयोग अन्दर नहीं जमता। तब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, **तब उसको ऐसी भक्ति हेयबुद्धि से होती है।** कहो, समझ में आया? बात का झुकाव दूसरा, शरीर का झुकाव दूसरा। आहाहा! अन्तर का झुकाव दूसरा।

अज्ञानी इच्छा से निरुच्छक शुद्ध उपयोग का माप नहीं कह सकते। तो यह शुद्ध लब्धि है, प्राप्त जीव के उपयोग को प्राप्त होने के योग्य। ऐसी लब्धि का तो माप साधारण इच्छावाले नहीं कर सकते। आहाहा! समझ में आया? तब उसे होता है।

श्लोक - ७९

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह -

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥ ७९॥

आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेहयोरन्तरविज्ञानात् भेदविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत्। ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात्॥७९॥

जो आत्मस्वरूप में जागता है, वह मुक्ति पाता है, यह कहते हैं —

अन्तर देखे आतमा, बाहर देखे देह।
भेदज्ञान अभ्यास जब, दृढ़ हो बने विदेह॥ ७९॥

अन्वयार्थ - (अन्तरे) अन्तरङ्ग में (आत्मानम्) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (दृष्टवा) देखकर और (बहिः) बाह्य में (देहादिकं) शरीरादि परभावों को (दृष्टवा) देखकर, (तयो:) आत्मा और शरीरादि दोनों के (अन्तरविज्ञानात्) भेदविज्ञान से तथा (अभ्यासात्) अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञान में दृढ़ता प्राप्त करने से (अच्युतो भवेत्) (यह जीव) अच्युत अर्थात् मुक्त हो जाता है।

टीका - आत्मा को अन्तर में-अभ्यन्तर में देखकर और देहादि को बाह्य देखकर, इन दोनों के अर्थात् आत्मा और देह के अन्तर विज्ञान से अर्थात् भेदविज्ञान से (जीव) अच्युत अर्थात् मुक्त होता है; इसलिए अकेले भेदज्ञान से ही अच्युत होता है-ऐसा नहीं; परन्तु उसके (भेदज्ञान के) अभ्यास से — भेदज्ञान की भावना से अच्युत होता है।

भावार्थ - आत्मा और देह के भेदविज्ञान से और उसके निरन्तर अभ्यास से अर्थात् भेदज्ञान की निरन्तर भावना से, इन दोनों से ही संसार से मुक्त हुआ जाता है क्योंकि अभ्यास से भेदज्ञान में दृढ़ता आती है और दृढ़ता से आत्मस्वरूप में स्थिरता पाकर, मुक्त हुआ जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जब जीव, अन्दर में आत्मा को और बाह्य शरीरादि परपदार्थों को उनके लक्षणों द्वारा एक -दूसरे से भिन्न-भिन्न समझता है-दोनों का भेदविज्ञान करता है, तब उसकी परिणति में परिवर्तन आता है। वह बाह्यविषयों से हटकर, अन्तर्मुख होता है और अपने उपयोग को इन्द्रियों के विषयों में नहीं भ्रमाकर, उसे स्वसन्मुख झुकाकर, आत्मसाधना का अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते, उसको आत्मस्वरूप में इतनी दृढ़ता-स्थिरता प्राप्त होती है कि वह फिर से आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता और आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास होने पर, मोक्षपद प्राप्त करता है।

भेदविज्ञान, मुक्ति का प्रथम सोपान है; उसके बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती; इसलिए भेदविज्ञान करके उसका अभ्यास वहाँ तक जारी रखना कि जहाँ तक ज्ञान का उपयोग परपदार्थों से हटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर हो।[1]

'जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बँधे हैं, वे उसके ही (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।'[2]

'भेदविज्ञान ज्योति को, केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।'[3]

अविचल आत्मानुभूति का मूलकारण, भेदविज्ञान है॥७९॥

श्लोक - ७९ पर प्रवचन

जो आत्मस्वरूप में जागता है, वह मुक्ति पाता है, यह कहते हैं— ७९। उसमें तो ऐसा कहा था ७८ में। '**व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।**' व्यवहार के राग का रस जिसे उड़ गया है। जिसे रस का आदर नहीं, वह आत्मा में, आत्मा के स्वभाव सन्मुख हो सकता है। जागता व्यवहार में भी, राग के रस में जाग गया है, जागृत रहता है। सुषुप्त आत्मगोचरे। वह आत्मा के अन्तर झुकाव में जागृत नहीं होता। आहाहा! बहुत संक्षिप्त में भी...

---

१. श्री समयसार, कलश १३०
२. श्री समयसार, कलश १३१
३. श्री समयसार, गाथा २ की टीका

व्यवहार के रस में जागता है, वह निश्चय के रस में सोता है। निश्चय के रस में जागता है, वह व्यवहार में सोता है। होता अवश्य है, परन्तु उसकी जागृतता अर्थात् एकाग्रता नहीं होती। आहाहा! ७९।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥ ७९॥

टीका - आत्मा को अन्तर में-अन्तरङ्ग में देखकर... अन्तरात्मा कहा न वह? वस्तु जो अन्तर में शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु वर्ते, वह अन्तरात्मा। उसकी जिसे दृष्टि हुई है, वह अन्तरात्मा। ... अन्तरात्मा जो पर्याय के पीछे पूरा आत्मा पूर्ण ध्रुव शुद्ध अभेद अखण्ड आनन्द का नाथ, उसे जिसने देखा, माना, जगा और **देहादि को बाह्य देखकर,...** जो जीव देहादिक बाह्य देखकर। आहाहा! **दोनों के अर्थात् आत्मा और देह के अन्तर विज्ञान से अर्थात् भेदविज्ञान से (जीव) अच्युत अर्थात् मुक्त होता है;...** भेदविज्ञान से च्युत नहीं होता, ऐसा। अर्थात् मुक्त होता है। आहाहा!

आत्मा अभ्यन्तर में वस्तु है। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप वह अन्तर अभ्यन्तर दृष्टि का विषय है, वह अभ्यन्तर देखकर। आहाहा! **देहादि को बाह्य देखकर,...** देह, वाणी, मन, रागादि **इन दोनों के अर्थात् आत्मा और देह के अन्तर विज्ञान से अर्थात् भेदविज्ञान से (जीव) अच्युत अर्थात् मुक्त होता है;...** आहाहा! **अकेले भेदज्ञान से ही अच्युत होता है-ऐसा नहीं; परन्तु उसके (भेदज्ञान के) अभ्यास से...** आहाहा! **'अभ्यासात्'** शब्द है न पाठ में? उसका अभ्यास भेद होने के बाद भी बारम्बार भेद का अभ्यास हो, ऐसा। आहाहा!

(भेदज्ञान के) अभ्यास से—भेदज्ञान की भावना से अच्युत होता है। अर्थात् मोक्ष को पाता है। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर आत्मा के अभ्यन्तर आनन्द के स्वरूप का अनुभव करके वह मुक्ति को पाता है। राग से भिन्न पड़ा हुआ और राग से भिन्न पड़ने के अभ्यासवाला। पहला भी राग से भिन्न पड़ा, पश्चात् भी राग है, उससे भिन्न पड़ता जाता है, वह अच्युत मोक्ष को पाता है। राग में रहा हुआ, वह मुक्ति को नहीं पाता, उसे व्यवहार से मुक्ति का कारण नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल कारण-फारण है नहीं। अशुभ टाला है न। (शुभ) टालेगा, इस अपेक्षा से कथन आवे परम्परा, परन्तु राग तो परम्परा अनर्थ का मूल है। बाहर में आया है बारह भावना का। कुन्दकुन्दाचार्य का। वाँचन हो गया है। राग तो परम्परा अनर्थ का मूल है। वर्तमान दुःखदायक और भविष्य में भी राग के फलरूप से पुण्य बँधे और पुण्य के फलरूप से संयोग मिले। संयोग पर लक्ष्य जाता है, इसलिए उसे राग ही होता है। आहाहा! भारी कठिन काम। यह वीतराग की वाणी मिले, वह भी संयोग है। संयोगी चीज़ है न वह? उससे संयोगी भाव ही उत्पन्न होगा उसके लक्ष्य से तो। उसके लक्ष्य से स्वभावभाव नहीं होगा।

और इसमें चर्चा-वार्ता कहाँ करे? जो मानकर बैठा हो, अब उसकी मान्यता न बदले, वहाँ तक यह बात उसे कैसे गले उतरे? आहाहा! क्या कहते हैं, यह तो एकान्त निश्चय की ही बात है। श्रीमद् भी ऐसा कहत हैं कि अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त बिना... आता है न? यह व्यवहार की उपेक्षा हुई, वह व्यवहार आ गया। उपेक्षा हुई, वही व्यवहार आ गया। कि व्यवहार कारण है नहीं। आहाहा! परन्तु अकेले निश्चय से ही मुक्ति होती है। उसमें व्यवहार की उपेक्षा आ गयी, अपेक्षा नहीं। आहाहा! उपेक्षा अर्थात् व्यवहार जाना है, राग जाना है। कहा न, यहाँ नहीं कहा?

देहादि को बाह्य देखकर,... रागादि भी व्यवहार से बाहर देखकर। देखो, दोनों आ गये हैं अन्दर। उस समय कहा था। यह तो देहादिक नहीं, रागादि भी, ऐसा। **आत्मा को अन्तर में-अभ्यन्तर में देखकर और देहादि को बाह्य देखकर, इन दोनों के अर्थात् आत्मा और देह के अन्तर विज्ञान से...** अन्तर विज्ञान से **अर्थात् भेदविज्ञान से...** मोक्ष पाता है। आहाहा! अकेले भेदविज्ञान से अच्युत होता है, ऐसा नहीं। परन्तु उसके अभ्यास से भेदविज्ञान की भावना से अच्युत होता है। '**पुनर्भेदविज्ञानमात्रात्**' ऐसा है न संस्कृत में। '**भवन्नप्यभ्यासाद्भेदज्ञानभावनातो भवति**' यह आता है न '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**' (श्लोक १३१, समयसार) ठेठ भेदविज्ञान करते... करते... करते... पर से हटकर अन्दर जाता है, तब उसे मुक्ति होती है।

मुमुक्षु : भेदज्ञान पूर्ण हो तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा हो तब। पूरा तो कब होगा? कि रागरहित होकर स्थिर हो, तब पूरा होगा। आहाहा! यह ऐसा मार्ग। इसकी अपेक्षा ऐसा था न, कपूरभाई! एकेन्दिया, बेइंदिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाईया, तस्स मिच्छामि दुक्कडं। कुछ है इसमें? और तस्सउत्तरी करणेणं ताव कायं ठाणेणं माणेणं जाणेणं अप्पाणं वोसिरामि। लो, हो गयी सामायिक। आहाहा! अरे... बापू! यह सामायिक ऐसे नहीं होती। सामायिक तो समता का लाभ मिले, वीतरागता का लाभ मिले, सामायिक हो। वीतरागता का लाभ कब मिले? जिनस्वरूपी प्रभु शुद्धदल आत्मा है वह अभ्यन्तर, उसका आश्रय करे, तब उसे आत्मा में वीतरागता का लाभ होता है। आहाहा! तब उसे सच्चा कायोत्सर्ग होता है। राग और काया के लक्ष्य को छोड़कर और पूर्णानन्द के नाथ में स्थिर हो, तब उसे कायोत्सर्ग होता है। यह तो ... यह भगवान को वन्दन करे और तब जरा खड़े रहकर चैत्यवन्दन करे तब थोड़ी देर, परन्तु वह तो अभी विकल्प है। आहाहा!

भावार्थ - आत्मा और देह के भेदविज्ञान से और उसके निरन्तर अभ्यास से... दो बात है न? **भेदज्ञान की निरन्तर भावना से,...** अभ्यास की व्याख्या। **इन दोनों से ही संसार से मुक्त हुआ जाता है क्योंकि अभ्यास से भेदज्ञान में दृढ़ता आती है...** राग से भिन्न पड़ने से भान हुआ, तथापि ऐसा का ऐसा भिन्न पड़ने पर दृढ़ता विशेष स्थिरता भेदज्ञान से होती है। **और दृढ़ता से आत्मस्वरूप में स्थिरता पाकर, मुक्त हुआ जाता है।** आहाहा! यह बड़ी शोभायात्रा, गजरथ और २५-२५ हजार लोग हों। एक-एक हजार लोगों में एक-एक बैण्डबाजा हो। २५ हजार हो तो २५ बैण्डबाजा। आहाहा! यह जयपुर में कहा था न अन्त में। २१ हाथी। वे तो एक साथ हों। एक साथ बाहर सामने २१ हाथी चलें। पीछे ४० हजार लोग।

मुमुक्षु : बहुत लाभ हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पर की क्रिया हुई। और उसमें लक्ष्य रहे तो वह शुभभाव है। उसमें आत्मा कहाँ आया?

मुमुक्षु : वह धर्म की प्रभावना....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धर्म की प्रभावना अन्दर होती होगी या बाहर?

मुमुक्षु : निश्चय और व्यवहार दो प्रकार के....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार का अर्थ उसे शुभभाव हो, वह व्यवहार। बाहर में दूसरा समझे तो व्यवहार, ऐसा व्यवहार है? शुद्धता का लाभ, वह निश्चय और शुभ का होना, वह व्यवहार। परन्तु शुभ हुआ; इसलिए दूसरा धर्म पाया, धर्म प्रभावना हुई, उसका यहाँ लाभ है—ऐसा है? आहाहा! कठिन काम, भाई! मुझे भले एकाध-दो भव करने पड़ें परन्तु मैं जगत को तारने के लिये रुकूँ। दृष्टि ही मिथ्या है। आहाहा! यह विकल्प में जोर है अभी भव करने का और दूसरे का कर दूँ। आहाहा! यह व्यवहार के अकेले रसिक, उसे आत्म-आश्रय का भान नहीं है। आहाहा!

विशेष -जब जीव, अन्दर में आत्मा को... अन्दर के आत्मा को अर्थात् ध्रुव। सहज आनन्ददल, सहजज्ञान प्रकाश का सत्त्व ऐसा जो अभ्यन्तर आत्मा, उसे **और बाह्य शरीरादि परपदार्थों को...** आया न? आत्मा का लक्षण चैतन्य और बन्ध का लक्षण राग। सर्वविशुद्ध में आया था। राग लक्षण है वह। आहाहा! यहाँ आया, व्यवहार का लक्षण विकल्प। आहाहा! लक्षण कहा, देखो। आहाहा! '**विकल्प अभिधान लक्षणे**' व्यवहार अर्थात् विकल्प जिसका नाम ऐसा जिसका लक्षण है, अर्थात् विकल्प जिसका ऐसा लक्षण। आहाहा!

जीव, अन्दर में आत्मा को और बाह्य शरीरादि परपदार्थों को... स्व अभ्यन्तर आत्मा को जाना, वह जीव रागादि बाह्य को उसके लक्षण से जानता है। **एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न समझता है...** अपना आनन्दस्वरूप, उससे राग भिन्न है, राग से आत्मा आनन्दस्वरूप भिन्न है। उससे यह भिन्न और उससे यह भिन्न। व्यवहार से निश्चय भिन्न, निश्चय से व्यवहार भिन्न। यह **दोनों का भेदविज्ञान करता है, तब उसकी परिणति में परिवर्तन आता है।** तब उसकी परिणति द्रव्य पर जाती है। पर्याय में कार्य होता है न? कार्य तो पर्याय में होता है न? अर्थात् पलटा खाता है। पर्याय ऐसे (जाती थी), वह ऐसे जाती है। आहाहा! जो पर्याय राग के ऊपर जाती है, उस पर्याय को द्रव्य के ऊपर रखा।

अन्तर में झुकाया, तब पलटा खाया। परिणति में पलटा आता है।

वह बाह्यविषयों से हटकर,... लो! विषयों में तो सब आ गया। वीतराग की वाणी (और) वीतराग स्वयं बाह्य विषय है। आहाहा! **बाह्यविषयों से हटकर, अन्तर्मुख होता है और अपने उपयोग को इन्द्रियों के विषयों में नहीं भ्रमाकर,...** लो! **उसे स्वसन्मुख झुकाकर, आत्मस्वरूप में एकाग्र होने का अभ्यास करता है। आत्मसाधना का अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते,...** अन्तर में एकाग्रता की सन्मुखता को बढ़ाने से, **बढ़ाते, उसको आत्मस्वरूप में इतनी दृढ़ता-स्थिरता प्राप्त होती है कि वह फिर से आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता....** च्युत नहीं होता अर्थात् मुक्ति होती है। आहाहा!

और आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास होने पर, मोक्षपद प्राप्त करता है। बात बहुत ही सरल और सीधी। अभ्यन्तर भगवान आत्मा जो विकल्प में भी नहीं, एक समय की पर्याय में भी अभ्यन्तर तत्त्व है नहीं। आहाहा! अभ्यन्तर द्रव्यस्वभाव के सन्मुख दृष्टि को, पर्याय को झुकाने से। **आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास...** होता है और उसमें अभ्यास से आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता।

भेदविज्ञान, मुक्ति का प्रथम सोपान है;... लो! भगवान आत्मा और राग से लेकर परचीज़, सबसे भेदज्ञान, यह पहला सोपान है। व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा सोपान है नहीं। उससे भिन्न करना, यह सोपान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जो बहिर्लक्ष्य से हुआ राग और अन्तर लक्ष्य से हुई अरागदशा, दोनों भिन्न दशा है। आहाहा! वह मुक्ति का पहला सोपान है। मुक्ति का पहला उपाय भक्ति, व्रत और तप करो, करते-करते निश्चय होगा। ऐसा यहाँ निषेध किया है। वह सोपान ही नहीं है। आहाहा! मंजिल पर जाने के लिये भोंयरे में उतरा है वह तो।

मुमुक्षु : दूर रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर पड़े। बीच में कमरा हो, नीचे भोंयरा हो, ऊपर मंजिल हो। अब मंजिल में जाना है तो वह पहले नीचे उतरे, अभ्यास हो नीचे उतरने का तो ऊपर चढ़ने का अभ्यास होगा, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! नीचे उतरने में तो पग पड़ते रखना है पूरा उसे। इसलिए उसमें कोई जोर नहीं। ऊपर चढ़ने में तो पैर को पूरा उसमें

जोर देना पड़ता है। यह गिरनार जो जाये न, वह चढ़ते हुए उसे बहुत मेहनत पड़ती है, परन्तु उतरते हुए फिर कुछ, सीढ़ियों पर शरीर पड़ते रखना है ऐसे फट... फट... फट... वह तो उठाना है ऐसा सब। इसी प्रकार आत्मा में अन्दर ऊर्ध्वरूप से जाने पर अन्दर पुरुषार्थ की वहाँ उग्रता है और राग में जाना, वह तो नीचे भोंयरे में जाना, नीचे पड़ते रखने जैसा है। आहाहा!

इसलिए भेदविज्ञान करके उसका अभ्यास वहाँ तक जारी रखना कि जहाँ तक ज्ञान का उपयोग परपदार्थों से हटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर हो। है न, यह कलश और वह ? विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १०, शुक्रवार, दिनांक १८-०७-१९७५, श्लोक-७९-८०, प्रवचन-९३

समाधितन्त्र, गाथा ७९। संवर अधिकार का आधार दिया है। **जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं;...** यह संवर की गाथा (कलश) है। कहा था न? भेदविज्ञान हुआ। 'भेदज्ञान वह ज्ञान है, बाकी बुरो अज्ञान, धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तू मान।' पूनमचन्द नहीं? कहाँ गये? दिखते नहीं। वहाँ बैठे। यह गाथा कल की। थी, वह थी। साथ में थे। आहाहा! राग से शरीर तो भिन्न है, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, राग का लक्ष्य छोड़कर और पर्याय में अंशबुद्धि है, उसे छोड़कर, उससे भिन्न चैतन्य ध्रुव, उसका जो ज्ञान करता है, वह भेदज्ञान है। तो उस भेदज्ञान से जितने समकित पाये, ज्ञान पाये, चारित्र पाये और केवल(ज्ञान) पाये, वे उससे पाये हैं।

मुमुक्षु : किसी जगह ऐसा कहा कि सम्यग्दर्शन से पाये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शन का ही अर्थ हुआ न यह? सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान-चारित्र होता है। भेदज्ञान हुआ न यह भेद। सम्यग्ज्ञान से बात चलती है, तब यह भेदज्ञान है। प्रतीति की बात हो, तब ध्रुव की प्रतीति। एक समय के अंश की ओर का झुकाव तो अनादि का है। शास्त्र का ज्ञान, परन्तु वह पर्याय में होता है। और उस पर्याय पर बुद्धि है, तब तक आत्मा क्या है, वह इसने जाना नहीं। आत्मा तो उसे कहते हैं, जो पर्याय से भी भिन्न शुद्ध अखण्ड अभेद चैतन्य वस्तु को आत्मा कहते हैं। उस आत्मा पर दृष्टि पड़ने से पर्यायबुद्धि, रागबुद्धि, निमित्तबुद्धि छूट जाती है। ऐसी बात है।

अब यह तो अभी सुनने से दिक्कत निकालता है। आहाहा! सुनना तो कहीं रह गया। भगवान की वाणी सुनना, वह कहीं सम्यग्दर्शन का साधन नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें बापू! क्योंकि जब तक पर्यायबुद्धि में होता है। सुनना, वह तो एक ओर रह गया, परन्तु सुना है, उसका जो ज्ञान स्वयं से हुआ है, उसमें भी जब तक बुद्धि रहती है, तब तक उसे आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता। वहाँ तक उसे दुःख का स्वाद है। ऐसी बात है, भाई! जयन्तीभाई!

जब यह भेदज्ञान करता है अर्थात् पर से भिन्न पड़कर, पर्याय में से भी भिन्न

पड़कर। आहाहा! पर्याय स्वयं पर्याय से भिन्न पड़कर ऐसे स्वभाव को पकड़ती है। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! उन लोगों को यह भाई सब एकान्त लगे ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : लोगों को लगता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : लोगों को लगता है। पात्र जीव को नहीं लगता। आहाहा! अर्थात् यह झगड़ा उसका खड़ा रहे।

मुमुक्षु : लोक का स्वभाव ही....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान की वाणी से ज्ञान होता है, यह तो है नहीं। आहाहा! सुनने से ज्ञान होता है, यह तो है नहीं, परन्तु सुनने से जो ज्ञान का अपने कारण से जो क्षयोपशम हुआ, उसके कारण से भी धर्म नहीं होता। आहाहा!

यहाँ तो वस्तुस्थिति एक समय में भगवान ध्रुव आनन्द का कन्द प्रभु है। उसके सन्मुख होकर जब तक स्पर्श न करे, तब तक उसे धर्म नहीं होता, तब तक उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आता और स्वाद न आवे, तब तक उसे धर्म नहीं होता। आहाहा! ऐसी गजब बात! यह स्वाद तो जो वस्तु में पड़ी है चीज़, उसके सन्मुख होकर एकाग्र हो, तो स्वाद आवे। वह भगवान के सामने देखकर ज्ञान हो उसमें यह... वहाँ सुख है? आहाहा!

मुमुक्षु : आपने सब व्यवहार उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार को उड़ाये बिना निश्चय में जायेगा नहीं। कान्तिभाई! वस्तु ऐसी है, भाई! आहाहा!

जिसे चैतन्यदल जो आनन्दकन्द प्रभु, उसकी ओर जाना, तब तो उसकी दृष्टि में पर से सर्वत्र से हट जाना पड़े। समझ में आया? तब उसे भेदज्ञान कहा जाता है और पर से भिन्न, इस अपेक्षा से। ऐसे स्वभाव में एकता हुई, वह तो अभेद हुआ, परन्तु पर की अपेक्षा से उसे भेदज्ञान कहा। आहाहा! अरेरे! भेदविज्ञान से सिद्ध हुए इतने सब, उससे (भेदविज्ञान से) सिद्ध हुए हैं। कहो, सिद्ध हुए अर्थात् सम्यग्दर्शन पाकर केवलज्ञान को जो प्राप्त हुए वे सब भेदविज्ञान से प्राप्त हुए हैं। इसलिए अकेले सिद्ध हुए, ऐसा नहीं, परन्तु नीचे से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शुक्लध्यान या केवलज्ञान, वह

सब पर का आश्रय छोड़कर, स्व के आश्रय से प्राप्त हुए हैं। कान्तिभाई! ऐसी बात है, बापू! सरल करके दूसरे प्रकार से कहेंगे तो यह मार्ग ऐसे हाथ नहीं आयेगा। आहाहा! लोग प्रसन्न हों। लोग, हों! आहाहा! व्यवहार कुछ साधन तो चाहिए न, ऐसा वहाँ श्रीमद् में कहते थे। अगास में जब गये थे न तब। कहे कि, परन्तु इसका कुछ साधन?

मुमुक्षु : भक्ति करे वह साधन।

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति, यह वाँचन, बखबखिया करना, बाहर में स्तुति करना, लय खींचना, (यह) कुछ साधन नहीं? भाई! साधन तो पर से भिन्न करना, ऐसी प्रज्ञा ज्ञान, वह साधन है। आहाहा! यह शास्त्र के लाख ज्ञान किये हों, ग्यारह अंग और नौ पूर्व। वह ज्ञान भी कहीं ज्ञान नहीं। आहाहा! भेदज्ञान, वह ज्ञान है। बाबूभाई! आहाहा! ऐसी बात है, बापू! यह शास्त्र के पठन किये, लाख-करोड़ श्लोक कण्ठस्थ किये और शास्त्र....

मुमुक्षु : ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र किये, बनाये, देखो न! परन्तु क्या है वह? वह वस्तु कहीं सम्यग्दर्शन या भेदज्ञान नहीं है वह चीज़। आहाहा!

इसलिए कहते हैं, **जो कोई सिद्ध हुए हैं,...** अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं (अभी तक)। आहाहा! छह महीने और आठ समय में ६०८ सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं। संसार का अन्त लाकर, उदयभाव का अन्त लाकर स्वभावभाव को प्रगट करे। आहाहा! वे **जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बँधे हैं,...** भाषा तो देखो! ओहोहो! **वे उसके ही (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।** कर्म से बँधे हैं और अमुक से बँधे हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! जिन्होंने पर्यायबुद्धि छोड़ी नहीं, रागबुद्धि छोड़ी नहीं, वे बँधे हैं। समझ में आया?

प्रभु एक समय में परमात्मस्वरूप विराजमान है। उसे आत्मा कहते हैं न? ३८ गाथा में तो यह लिया है न? नहीं? नियमसार। यह आत्मा ध्रुव, अभेद शुद्ध चैतन्यघन वह आत्मा। पर्याय की यहाँ नहीं लिया है। आहाहा! ऐसा जो भगवान पूर्णस्वरूप चैतन्यदल, वह पर्याय में नहीं आता। भाई ने दृष्टान्त दिया है न? निहालभाई ने। दर्पण का, नहीं?

दर्पण का दृष्टान्त दिया है। दर्पण है, उसकी पर्याय में यह सब भासित होता है। उसका दल जो रहता है, वह पर्याय में आता नहीं। आहाहा! और वह पर्याय जो है, वह उसमें भासित हो न? सर्प, कोयला, अग्नि, बर्फ। है तो उसकी पर्याय। वह नहीं, परन्तु उस पर्याय में ऐसे भासित होता है। परन्तु उस पर्याय में पूरा दल चैतन्य आया नहीं। क्योंकि यह तो पलटती दशा है और वह (चैतन्य दल), तो एकरूप दशा है—वस्तु है। आहाहा! तो उस पर्याय में दल नहीं, दल तो दल में है। आहाहा! ऐसा जिसे भेदज्ञान नहीं, वे बँधे हुए हैं, ऐसा कहते हैं। कर्म के कारण बँधे हैं, अमुक के कारण बँधे—ऐसा यहाँ नहीं कहा। आहाहा! जिसने राग और पर्याय से भिन्न भगवान को भेद पाड़कर अनुभव नहीं किया। आहाहा! वे जीव संसार में बँधे हुए हैं। कहो, रतिभाई! आहाहा! ऐसी बात है।

वे उसके ही (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं। यह पहला और दूसरा दो श्लोक है न? १३०-१३१। १३० में ऐसा भेदज्ञान तब तक कहा है कि जब तक पूर्ण न हो तब तक। यह १३० कलश है। यह १३१ है। आहाहा! एक-एक श्लोक में, ओहोहो! एक और एक =दो बात। अर्थात् कि पर से भिन्न करना, यह दो हो गये। दो में से एक पृथक् पाड़कर एक के ऊपर दृष्टि देना... आहाहा! उससे सम्यग्दर्शन और उससे सम्यग्ज्ञान, उससे चारित्र, उससे शुक्लध्यान, उससे केवलज्ञान। और इस भेदविज्ञान का अभाव, राग में और पर्याय में प्रसन्नता, ज्ञान की पर्याय में ज्ञान हुआ शास्त्र का और उसमें उसे कुछ राग की मन्दता जैसा दिखाई दे, इससे सन्तोषपना माने, वह सन्तोष नहीं, वह तो दुःख है। आहाहा!

जैसे लक्ष्मी के लक्ष्य से ममता और दुःख है, उसी प्रकार परसन्मुख के ज्ञान के जानपने में भी दुःख है। आहाहा! क्योंकि जहाँ सुख नहीं आया, पर के लक्ष्य से सुख कहाँ से आवे? ऐसा उसमें सुख कहाँ था? आहाहा! शास्त्र के ज्ञान की पर्याय में सुख कहाँ था? आहाहा! ऐसी बात है। आनन्द और सुख तो ध्रुवस्वरूप में है। पर्याय में आवे तो वह ध्रुव के स्वरूप में जाये, तब पर्याय में आनन्द आवे। कोई पर्याय में रहकर पर्याय में सुख का आनन्द आवे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! क्या परन्तु संवर की क्रिया! यह

संवर। वे पाँच आहार देवे न भाई! लो, कोई पूछे कितना घटा, अमुक को कितना घटा? क्या घटे? धूल घटे। सुन न! आहाहा!

जिसने '**णाणसहावाधियं**' पर्याय और राग से भी भिन्न—पृथक्, (स्वयं से) पूर्ण, ऐसा जिसे भेदज्ञान नहीं, वे बँधे हुए नरक और निगोद के भाव को वे करते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। सुजानमलजी! ऐसी बात है। दुनिया को समझाना आया, लाख-दो लाख लोग इकट्ठे हों और प्रसन्न हों, इससे तुझे क्या? आहाहा! जब तक तेरी बुद्धि पर्याय में और राग के ऊपर पड़ी है, वहाँ तक वह बँधा हुआ है और जिसकी बुद्धि राग और पर्याय से हटकर पर्याय द्रव्य में जाती है, उसे सुख की अंकुरदशा सुख का (अंकुर) फूटता है। आहाहा! अब यहाँ तो अभी कहे जिनवाणी से सुख होगा, धर्म होगा। अरे.. भाई! तूने बात सुनी नहीं, प्रभु! जिनवाणी तो परद्रव्य है, भगवान परद्रव्य है, जिनवाणी परद्रव्य है। आहाहा! और परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से विकल्प ही होता है। व्यवहार नहीं आया?

व्यवहार अर्थात् अभिधान विकल्प जिसका लक्षण है। आहाहा! व्यवहार अर्थात् विकल्प जिसका लक्षण है, अर्थात् कि राग जिसका लक्षण है, अर्थात् कि बन्ध जिसका भाव है। आहाहा! राग, वह बन्धभाव है न? बन्ध लक्षण है न? समझ में आया? आहाहा! बहुत सरस आ गया है। व्यवहार नहीं? कितने में? व्यवहार से। ७८ गाथा। व्यवहार से विकल्प अभिधान लक्षण। आहाहा! व्यवहार अर्थात् राग का नाम लक्षणवाला, जिसका राग लक्षणवाला स्वरूप है। आहाहा! अब वह व्यवहार से जीव को निश्चय हो, बहुत मिथ्याबुद्धि! आहाहा! भाई! यह तो अन्तर का मार्ग है, यह कहीं बाहर की विद्वत्ता और पण्डिताई और बाहर के सब त्याग के खोखे, व्रत और तप को ले, वह कोई धर्म का साधन नहीं है। समझ में आया?

'**भेदविज्ञान ज्योति को, केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।**' दूसरी गाथा में, समयसार की दूसरी गाथा। उसमें '**भेदविज्ञान ज्योति को, केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।**' आहाहा! परन्तु ठीक मिलाया है भाई ने, हों! छोटाभाई ने मेहनत अच्छी की है। सब मिलाया है। आता है न, दूसरी गाथा में आता है। केवलज्ञान उत्पन्न

करनेवाली भेदज्ञान ज्योति है। आहाहा! यह भेदज्ञान, वह ज्ञान है और इससे राग और पर्याय में से बुद्धि हटकर पर्याय द्रव्य में जाती है, यह बुद्धि। पर्याय में रहकर द्रव्य को जाने, वह नहीं। आहाहा! पर्याय में रहकर द्रव्य को किस प्रकार जाने?

यह द्रव्य है और यह पर्याय है, यह तो भेद हो गया। अब ज्ञान की पर्याय ज्ञायक में जो स्पर्श करे, ज्ञायक में एकरूप हो। एकरूप का अर्थ? रागरूप से एकरूप तो है, वास्तव में तो पर्याय में एकत्वबुद्धि है, वही मिथ्यात्व और संसार है। वह यहाँ कहते हैं, भेदज्ञान-ज्योति, उससे भिन्न पड़कर, यह तो अन्तर की भावना की बात है या नहीं? कहीं बाहर से मिले, ऐसा है यह? आहाहा!

'भेदविज्ञान ज्योति को, केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।' समयसार की दूसरी गाथा। टीका है न, यह बात आ गयी है। है न अपने? **सर्व पदार्थों स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से...** आहाहा! **यह (जीव),...** ऐसा वापस। जीव का है न? सवेरे यह आया था न? यह कहते थे। आत्मा रस के अभावस्वभावरूप आत्मा, यह नास्ति से पहली बात की है। फिर यह आत्मा... आहाहा!

चेतन लक्षण से लक्षित जो चेतनपना स्वद्रव्य के आश्रय से है। वहाँ जीव (शब्द) रखा है। पहले वह आत्मा कहा था, इसलिए कोई ऐसा कहता है कि आत्मा और जीव भिन्न, ऐसा नहीं, इसलिए भाषा ऐसी रखी है, पहला आत्मा (शब्द) रखा है। आत्मा, रस के अभावस्वभाववाला, ऐसा कहकर अन्त में यह आत्मा अर्थात् कि जीव, चैतन्य लक्षण से लक्षित, यह चैतन्यपना जीव के आश्रय से है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ यह कहा था। **जब यह (जीव), सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ...** कौन? केवलज्ञान। **सर्व पदार्थों के स्वभाव को... स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शनज्ञानस्वभाव में नियत...** दर्शन-ज्ञान स्वभाव, उसमें नियत, यह चारित्र। **वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है...** आत्मतत्त्व के साथ। पर्याय की एकत्वबुद्धि छोड़कर **आत्मतत्त्व के साथ**

एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है, तब ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित होने से युगपद् स्व को एकत्वपूर्वक जानता... परिणमता हुआ स्वसमय है। ओहो! कितना भरा है!

व्यवहार के रस में पड़ा है, उसे यह कठिन पड़ता है, लोगों को। क्योंकि अन्तर में गहरे जाना है, उसे बाहर की कोई अपेक्षा नहीं है। गहरे अर्थात् कि अन्दर ध्रुव तत्त्व में जाना है न? उसे बाह्य की पर्याय जो बाह्यरूप है, उसमें से (हटकर) अन्तर में ध्रुवस्वभाव में उसे जाना है। आहाहा! वह कहीं प्रयत्न और पुरुषार्थ कम है? आहाहा! इसलिए कहते हैं कि **भेदविज्ञान ज्योति को, केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।** आहाहा!

तब ऐसा कहे, परन्तु जब तक हमारे यह न हो, तब तक हमारे क्या करना? और ऐसा पूछे। पर से भेद करने का प्रयत्न करना। आहाहा! हिम्मतभाई! ऐसी बातें हैं। दुनिया तो... कहेंगे आगे, हों... धर्मी को दुनिया पागल दिखती है पहले। जब तक विकल्प की... दृष्टि हुई परन्तु विकल्प है वहाँ तक। आहाहा! फिर तो स्थिर होने पर तो उसे दुनिया लकड़ी जैसी अर्थात् कि अचेतन वस्तु है। पूरी दुनिया। यह चेतन वहाँ नहीं। ऐसा कहेंगे। ८० में। आहाहा!

अविचल आत्मानुभूति का मूलकारण, भेदविज्ञान है। योगफल किया। अविचल —चलित नहीं, ऐसी आत्मानुभूति। आत्मा को अनुसरकर होनेवाला ज्ञान, वेदन और अनुभव, वह मूल कारण विज्ञान है। उसका मूल कारण भेदविज्ञान है। आहाहा! ऐसा का ऐसा साधारण बुद्धि में जिन्दगी व्यतीत करे, व्यापार में होशियार गिना जाये, हिम्मतभाई! पाँच-पचास हजार पैदा करता हो, पूँजी हो दो-पाँच लाख, दस लाख, बीस लाख की, बस हो गया अब यह तो। कुछ आगे बढ़ा, ऐसा कहे। कुछ दूसरे से... बाबूभाई! बाबूभाई ने तो सौंप दिया है, ऐसा कोई कहता था। इनके भाई को सौंपा है कुछ। व्यापार-ब्यापार। तुम्हारे बाबूभाई की बात है। कौन करता था, वह सौंपे? वह तो उसके कारण से... आहाहा!

भोंयरा में माल हो, वहाँ जाये तो माल मिले न? मंजिल पर रहकर भोंयरे का माल मिले इसे? आहाहा! इसी प्रकार अन्तर में भोंयरे में भगवान अन्दर स्थित है। उसे

ऊपर जाने पर, पर्याय में और राग में जाने से वह प्राप्त होगा? आहाहा! एक व्यक्ति ने यह मँगाया है अभी उसका यह क्षमासागर का पत्र आया है। है न? खम्भात से आया है कि हमको टोडरमलजी की हिन्दी। उसने लिखा है वह, हों! कि 'अध्यात्म पुरुष टोडरमल' ऐसा लिखा है। उन्होंने लिखा है। अध्यात्म पुरुष टोडरमल यह हिन्दी और इसका गुजराती अनुवाद संस्था की ओर से प्रकाशित हुआ है तो भेजो, ऐसा। यह तो जिज्ञासा हो उन लोगों को। भले श्वेताम्बर हो परन्तु ऐसा कि यह क्या है, यह वह? सब यह दिगम्बर की बातें करते हैं और टोडरमल को... और अब तो कुछ बात गुप्त रही नहीं। आहाहा!

अविचल आत्मानुभूति का मूलकारण,... आहाहा! अर्थात् आत्मद्रव्य की अनुभूति, अनुभव होना, इसका मूलकारण पर से भेदविज्ञान है। पर से भेद होने पर स्वरूप का अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहार के विकल्प भी जहाँ मददगार नहीं... आहाहा! पर्याय में इतने ग्यारह अंग और नौ पूर्व का जानपना किया, वह भी ऊपर का ऊपर रहा, अन्दर में काम नहीं करता, यह कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का और जैन के नाम से लोगों ने दूसरा कर डाला। मार्ग तो मार्ग है, वह कहीं दूसरा मार्ग नहीं होता, परन्तु इसने कल्पित किया इस प्रकार से। आहाहा! दूसरा इसने माना है। यह व्यवहार से होता है और राग से होता है।

व्यवहार साधन कहा है न? निश्चय साध्य और व्यवहार साधक कहा है न! बापू! यह तो ज्ञान कराने की बात है, भाई! निश्चय की दृष्टि और अनुभव है, वहाँ राग की मर्यादा कितनी है, उसका ज्ञान कराया है। साधक-फाधक वह है ही नहीं। आहाहा! जो-जो वहाँ साधक है, वह-वह वहाँ बाधक है। आता है न? राग-द्वेष की बातें क्या करना, कहते हैं, भाई! आहाहा! नय-निक्षेप और प्रमाण से जो वस्तु का निर्णय करने जाता है, वह विकल्प भी (पहले) जहाँ साधक कहा, वह (अनुभव में) वहाँ बाधक है। आहाहा! तो राग और द्वेष के स्थूल शुभ विकल्प और शुभ उपयोग की क्या बात करना? वह साधन है ही नहीं। आहाहा!

यह सब तुम क्या करते हो तब यह? यह अष्टाह्निका, आठ दिन। लो, यह तीसरा

दिन है न आज? आठ, नौ, दशम, तीसरा दिन है। प्रवीणभाई की ओर से है न? मूलशंकरभाई के प्रवीणभाई बेचारे गुजर गये। लगनवाले थे, हों! यहाँ रहे थे बेचारे बारह वर्ष। छोटी उम्र, पचास वर्ष की उम्र इस देह से। उनकी ओर से है नहीं कुछ? यह दस, आठ दिन। आठ-आठ न? दस दिन तो उन पर्यूषण के दस दिन।

ओहोहो! भाई! ऐसा शुभराग होता है, परन्तु वह शुभराग है, वह हेय है। आहाहा! ऐसी बात! (उससे) भेद करे तो लाभ हो, वह स्वयं चीज़ से लाभ हो, ऐसा नहीं है। गिरधरभाई! इन गिरधरभाई के यहाँ बड़ा मन्दिर बनता है अभी।

मुमुक्षु : स्वयं बनाते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही बनाते हैं। गिरधरभाई ही हैं न कर्ता वहाँ तो! सेठिया घर के-गाँव के थे और फिर इसमें इन्हें प्रेम हो गया, इसलिए यह कर्ता तो यही हैं न अभी! आहाहा! परन्तु वह तो होने के काल में होता है, उसमें शुभभाव आवे, होता है शुभभाव। परन्तु वह निश्चय से तो हेय है। आहाहा!

ऐसा मार्ग वीतराग का, सीमन्धर भगवान के पास गये थे और सुना। अनुभव तो था, चारित्र था, परन्तु यह विशेष स्पष्ट हो गया। यह भी गये थे—पूज्यपादस्वामी भी वहाँ भगवान के पास गये थे। भरतक्षेत्र के मानव, साधुरूप से... आहाहा! जिन्हें देह से, इस देह से वहाँ यात्रा हुई। ऐसे सन्तों ने यह शास्त्र रचे हैं। उसमें यह स्पष्ट रखा है। कोई समाज को समतोल रहे या नहीं, उसे ठीक पड़े या नहीं... आहाहा! यहाँ तो उड़ा दिया। व्यवहार से भगवान की भक्ति और व्यवहार और सब, उससे भेदज्ञान कर तो होगा। उसे रखकर होगा (नहीं)। आहाहा! दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है इन दिगम्बर सन्तों को कि यह समतोल रहेंगे या नहीं लोग? समाज में यह बात रहेगी, संघरशे या नहीं? विरोध होगा या नहीं? वह स्वतन्त्र जीव है। मार्ग तो यह है। आहाहा! समझ में आया?

श्लोक - ८०

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह -

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥ ८०॥

पूर्वं प्रथमं दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य प्रारब्धयोगिनः विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नानाबाह्य-विकल्पैरूपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते। पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः सुष्टुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणरूपवत्प्रतिभाति। न तु परमौदासीन्यावलम्बात्॥८०॥

जिसको देह और आत्मा का भेददर्शन है, उसको प्राथमिक योगावस्था में और पूर्ण (सिद्धि) योगावस्था में जगत कैसा प्रतिभासित होता है ?-वह कहते हैं —

ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण॥ ८०॥

अन्वयार्थ - (दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसे आत्मदर्शन हो गया है — ऐसे योगी जीव को (पूर्वं) योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में, (जगत्) जगत (उन्मत्तवत्) उन्मत्त-सरीखा / पागलवत् (विभाति) ज्ञात होता है किन्तु (पश्चात्) बाद को जब योग की निष्पन्नावस्था हो जाती है, तब (स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व हुए अन्तरात्मा को (काष्ठपाषाणरूपवत्) यह जगत, काठ और पत्थर के समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

टीका - प्रथम, जिसने आत्मतत्त्व जाना है अर्थात् देह से आत्मस्वरूप भिन्न है — ऐसा जिसको प्रथम ज्ञान हुआ है, वैसे योग का आरम्भ करनेवाले योगी को, जगत उन्मत्तवत् (पागलवत्) लगता है अर्थात् स्वरूप चिन्तन के विकलपने के कारण, शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त यह जगत, विविध बाह्यविकल्पयुक्त उन्मत्त जैसा लगता है। तत्पश्चात् अर्थात् जब योग की परिपक्व अवस्था होती है, तब जिसको आत्मबुद्धि का अच्छा अभ्यास हुआ है, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप की अच्छी तरह से भावना की है, उस निश्चल आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को, जगत सम्बन्धी चिन्ता के अभाव

के कारण अर्थात् परम उदासीनपने के अवलम्बन के कारण, वह (जगत) काष्ठपाषाणवत् प्रतिभासित होता है।

भावार्थ - जिसको स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, उस अन्तरात्मा को, आत्मानुभव की प्रथम भूमिका में अर्थात् योग के आरम्भकाल में यह अचेष्ट और विकल्पारूढ़ जगत, उन्मत्तवत्-पागलवत् लगता है परन्तु बाद में जब वह योग के परिपक्व अभ्यास द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब उसको इस जगत सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक कुछ विकल्प उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उस समय उसको निर्विकल्पदशा वर्तती है।

विशेष स्पष्टीकरण -

प्रथम भूमिका में अर्थात् सविकल्पदशा में ज्ञानी का उपयोग, बाह्यपदार्थों की ओर जाता है और इससे विविध विकल्प होते हैं परन्तु जैसे-जैसे वह स्वरूपस्थिरता का अभ्यास बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उपयोग का परसन्मुखता का झुकाव छूटता जाता है और वह स्वरूप में स्थिर होता जाता है। अभ्यास के बल से अन्त में आत्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता इतनी जमती है कि उसको उस समय जगत का विचार बिलकुल भी नहीं आता।

'तथा जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान, सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ, क्योंकि वह ज्ञान, क्षयोपशमरूप है; इसलिए एक काल में एक ज्ञेय ही को जानता है। वह ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ, तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार हों तो भी स्वरूपध्यानी को कुछ खबर नहीं..... ।[१]'॥८०॥

श्लोक - ८० पर प्रवचन

जिसको देह और आत्मा का भेददर्शन है, उसको प्राथमिक योगावस्था में और पूर्ण (सिद्धि) योगावस्था में जगत कैसा प्रतिभासित होता है?-वह कहते हैं— ८०-८०।

---

१. रहस्यपूर्ण चिट्ठी, (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-३४३), पण्डित टोडरमलजी

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥ ८०॥

ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण॥ ८०॥

पत्थर। '**दृषद्**' पत्थर है न? हाँ, पत्थर। पाषाण है न? काष्ठपाषाण। दृषद् शब्द पड़ा है, किसके श्लोक हैं यह? उन्होंने किया यह नीचे? इन छोटाभाई ने? यह तो वह दृषद् शब्द रखा है न? पत्थर के अर्थ में, पत्थर पड़ा है ऊपर। पाषाण रखा है। उसमें दृषद् शब्द है। व्याकरण पढ़े हुए हैं न? व्याकरण।

टीका - प्रथम, जिसने आत्मतत्त्व जाना है अर्थात् देह से आत्मस्वरूप भिन्न है... भिन्न है, ऐसा अनुभव किया है, उसने जाना कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा देह से भिन्न है, ऐसी धारणा की है, वह भिन्न नहीं। आहाहा! यह आत्मा देह से भिन्न है, ऐसा जिसने अनुभव किया है। जाना है अर्थात् अनुभव किया है। **ऐसा जिसको प्रथम ज्ञान हुआ है, वैसे योग का आरम्भ करनेवाले योगी को,...** आहाहा! देखो! समकिती भी एक योगी है।

स्वरूप में जुड़ान करे, वह योगी; योग करे वह योगी। ऐसे स्वरूप योगी को **जगत उन्मत्तवत् (पागलवत्) लगता है...** आहाहा! यह क्या करते हैं? यह क्या बोलते हैं? विकल्प के कोलाहलवाला जगत। विकल्प के कोलाहल से पुष्टि में पड़ा है जगत। वह तो पाषाण। उन्मत्त, पागल जैसा है, कहते हैं। उसे खबर नहीं। वह आत्मा विकल्प से भी पार है और विकल्प से प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। उसे यह विकल्प से प्राप्त करेगा और विकल्प के जाल में खड़ा है, ज्ञानी को कहते हैं कि प्रथम शुरुआतवाले को विकल्प होता है न अभी? अर्थात् उसे पागल जैसा दिखता है, कहते हैं। आहाहा!

दिगम्बर साधु हो, परन्तु वह विकल्प से लाभ मानता हो तो वह भी पागल जैसा दिखता है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? व्यवहार से बात लेते आये हैं न? ७८, ७९ और ८०। व्यवहार अर्थात् जिसका अभिधान विकल्प लक्षण है। अर्थात् जो विकल्प हैं, उसमें पड़े हैं और उसे आत्मा का साधन करते हैं, ऐसा माननेवाल धर्मी को

पागल जैसे (लगें)। शुरुआत में विकल्प उठते हैं, इसलिए उसे दिखता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा है।

अर्थात् स्वरूप चिन्तन के विकलपने के कारण, शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त यह जगत, विविध बाह्यविकल्पयुक्त... स्वरूप चिन्तवन के विकलपने के कारण। राग के कारण। **शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त यह जगत, विविध बाह्यविकल्पयुक्त उन्मत्त जैसा लगता है।** आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक कहा। पहले आ गया है कि उपदेश का विकल्प उठता है, वह पागल जैसा है। आहाहा! मुनि को, हों! सम्यग्दृष्टि को, पागल जैसा दिखता है, पागल। आहाहा! क्योंकि वस्तु है वह तो ज्ञानमूर्ति, वीतरागमूर्ति, और यह सब विकल्प की जाल... आहाहा! वह उपदेश देने का उत्साह करे, यह कहते हैं कि उपदेश देने में विकल्प आया, वह पागलपन है। आहा! बहुत अन्तर।

विकल्प है न? स्वरूप का चिन्तवन करते हुए जब तक पूर्ण स्थिर नहीं हुआ, उसमें विकल्प आता है ज्ञानी को, उसकी चिन्तवना में विकल्प के कारण, वह विकल्पवाला जैसा जो है... आहाहा! वह उसे पागल जैसा दिखता है। कहाँ भगवान तीन लोक का नाथ आनन्द का सागर, जिसमें तीर्थंकरगोत्र बाँधने का भाव प्रवेश नहीं करता। बन्ध का कारण, नुकसान का कारण है। आहाहा! कान्तिभाई! कहो, भाव वह शुभ है न? तीर्थंकर (गोत्र) बाँधने का शुभराग है। वह विकल्प आता है, कहते हैं। परन्तु उस विकल्प के काल में उसे विकल्प से लाभ माननेवाले और विकल्प में ही पड़े हैं, उसे वे पागल जैसे दिखते हैं, ऐसा कहते हैं।

जगत को समझाने में बड़े होशियार हों और बड़े पण्डित कहलायें, परन्तु जो विकल्प के जाल से उसमें रुक गये हैं, वे सब पागल हैं। भगवान ने तो ऐसा कहा कि हमारी भक्ति के राग में रुका हुआ है। आहाहा! वही हमको लाभदायक (माने वह) पागल है, कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं। सन्त ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा कहते हैं न? आहाहा! हमारी भक्ति और हमारी पूजा का भाव जो तुझे होता है, उसमें से तू लाभ मानता है, ज्ञानी को चिन्तवन में विकल्प आया परन्तु वह तो भिन्नरूप से आया है। समझ में आया? और अज्ञानी के जो विकल्प हैं, वे तो उसके एकत्वबुद्धि से हैं।

इसलिए चिन्तवन के काल में विकल्प आया, उसे वह पागल जैसी दुनिया दिखती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

सन्निपातिया हँसता है न, इसलिए वह सुखी है? वह तो पागल है, पागल। क्योंकि दु:ख की पराकाष्ठा बढ़ गयी है, इसलिए बेभान हो गया है। आहाहा! इसी प्रकार अज्ञानी शुभ के विकल्प में लीन हुए, वह अनात्मा में लीन हुए हैं, उन्हें ज्ञानी को शुरुआत में विकल्प है अभी, भिन्न पड़ने पर भी स्थिरता पूर्ण चारित्र की नहीं है, उस काल में उसे (अज्ञानी) पागल जैसे दिखाई देते हैं, ऐसा कहते हैं। बाद में बदलेंगे। आहाहा!

देखो, सन्तों की वाणी तो देखो! ओहोहो! जहाँ वीतरागता घोलन जहाँ है वीतरागता का, उसमें जो विकल्प उठा है, कहते हैं। एकदम स्थिर नहीं हुआ। ऐसे विकल्प का जाल, चिन्तवन में जगत के जीव राग से हर्ष और उत्साह में पड़े हैं। उससे हमारा कल्याण होगा। आहाहा! वे पागल हैं। आहाहा! और मुनि को कुछ पड़ी नहीं ऐसे को पागल कहते हुए। वह पागल का स्वरूप समझाया न! आहाहा! महाप्रभु चैतन्य वस्तुरूप से महाप्रत्यक्ष है। पर्याय की अपेक्षा से अप्रगट कहलाता है, परन्तु वस्तु की अपेक्षा से प्रगट प्रसिद्ध है। आहाहा! पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त कहा है न वह छठवाँ बोल, छह बोल, अव्यक्त। वह तो इसकी—ऐसे पर्याय में आया नहीं बाहर, इसलिए उसे अव्यक्त कहा, परन्तु वस्तु में है, वह तो स्वयं प्रगट ही है, प्रसिद्ध ही है। आहाहा!

ऐसे आत्मा को आत्मारूप से नहीं जाननेवाले और विकल्प की जाल दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव में लवलीन और हर्ष का सन्निपात है उसे, वह ज्ञानी को पागल दिखता है। क्या करते हैं यह? आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! परमात्मप्रकाश में तो ऐसा भी कहा है, जगत को ज्ञानी पागल जैसा देखता है, जगत धर्मी को पागल देखता है। यह क्या बातें करते हैं? परमात्मा पूर्णानन्द को अभी... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... ध्रुव पूर्णानन्द का नाथ। आहाहा! वह शुद्ध ही है। त्रिकाल शुद्ध है। निगोद में हो या सिद्ध में हो, वस्तु तो शुद्ध ही है। आहाहा! ऐसा शुद्ध का जहाँ भान हुआ है, उस भानवाले को अभी कुछ विकल्प तो आवे, अस्थिरता है, पूर्ण स्थिर नहीं, इसलिए (विकल्प आता है)। उसमें ऐसा कहे कि इस जगत के प्राणी को देखकर... आहाहा! उसे पागल जैसे दिखते हैं। समझ में आया?

शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त... ऐसा कहा न? '**विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतन-विकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत्** ऐसा। संस्कृत है। अच्छा किया है। योग का आरम्भ करनेवाले योगी-धर्मी जीव को जगत उन्मत्त जैसा **स्वरूप चिन्तन के विकलपने के कारण, शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त यह जगत, विविध बाह्यविकल्पयुक्त...** आहाहा! **उन्मत्त जैसा लगता है।** आहाहा!

तत्पश्चात् अर्थात् जब योग की परिपक्व अवस्था होती है,... अर्थात् स्थिर हो अन्दर। **तब जिसको आत्मबुद्धि का अच्छा अभ्यास हुआ है, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप की अच्छी तरह से भावना की है,...** भावना शब्द से (आशय) एकाग्रता। **उस निश्चल आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को,...** चलित नहीं, ऐसी स्थिरता जहाँ जमी है। आहाहा! अकेले आनन्द के घूँट जहाँ पीता है। भाई ने यह दृष्टान्त दिया है न? गन्ने के रस का। निहालभाई ने। गन्ना-गन्ना। गन्ने का रस ऐसे गन्ने का, प्यास लगी हो। गट... गट... गट... गट... गट... गट... आहाहा! अनुभव के काल में आनन्द का गन्ने के रस की भाँति गट... गट... अनुभव। आहाहा!

जिसे स्वरूप की तृषा आनन्द की पिपासा लगी है, उसे स्वरूप में जाने पर उसे आनन्ददशा जगती है। उसकी वह पिपासा टूट जाती है। आहाहा! वस्तु तो यह है। इसके अतिरिक्त सब बातें जितनी शास्त्रों में चरणानुयोग की आवे। चरणानुयोग की आवे तब वह और ऐसा कहे कि भाई! कि कुन्दकुन्दाचार्य को तुम करने जाओगे, दूसरे आचार्यों का बलिदान होगा। अरे.. प्रभु! दूसरे आचार्य भी यही कहते हैं। व्यवहार का स्वरूप ही बतलाते हैं, परन्तु बतलाते हुए उसका निषेध करके आत्मा पर लाना, ऐसा बताते हैं। आहाहा! चरणानुयोग में यह बतावे तो सही न व्याख्या तो। ऐसे व्रत होते हैं, उसका अतिचार ऐसे टालना। यह सब बताते हैं, परन्तु उसका प्रयोजन अन्तर में जाना, वीतरागता प्रगट करना, यह उसका प्रयोजन है। यह बताकर उसमें रखने का प्रयोजन नहीं है। आहाहा!

जिसने आत्मस्वरूप की अच्छी तरह से भावना की है, उस निश्चल आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को, जगत सम्बन्धी चिन्ता के अभाव के कारण... ऐसा। फिर

विकल्प नहीं न, इसलिए। पहले जो स्वरूप का चिन्तवन विकल्प होता है, तब यह जगत उन्मत्त जैसा दिखता है। परन्तु जब चिन्ता के अभाव के कारण **अर्थात् परम उदासीनपने के अवलम्बन के कारण,...** आहाहा! **वह (जगत) काष्ठपाषाणवत् प्रतिभासित होता है।** जिसे चैतन्य की जागृति का अभाव है, ऐसे पत्थर और लकड़ी जैसे जगत दिखता है, कहते हैं। आहाहा!

जिसे चैतन्य की जागृति का अभाव है। आहाहा! चलता मुर्दा दिखता है, ऐसा नहीं आया मोक्ष अधिकार में (मोक्षपाहुड़ में) अष्टपाहुड़ में? चलता शव है, चलता मुर्दा। वह अर्थी में बाँधकर उठावे। आहाहा! जिसे आनन्द का नाथ जगा नहीं, आनन्द की शरण ली नहीं, जिसे आनन्द का स्वाद आया नहीं। आहाहा! अर्थात् कि जीव जाना नहीं, ऐसा। आहाहा! जीव तो ऐसा है। आहाहा! ऐसे जीव विकल्प के जाल में पड़े हैं, उन्हें ज्ञानी को प्रथम कल्पना की चिन्ता के अवसर में वह उन्मत्त जैसे दिखते हैं। फिर आनन्द में अन्दर रहते हैं, इसलिए फिर पत्थर और लकड़ी जैसे हैं सब। आहाहा!

ऐसा सब कहने से जगत को ठीक नहीं लगे, ऐसा मुनियों को नहीं है। करुणाबुद्धि है, उसमें विकल्प से। भाई! आहाहा! तेरा चैतन्य जागृतस्वभाव का पिण्ड, उसे यह जगाया नहीं और राग के पुण्य और पाप के विकल्प के जाल में फँस गया है, भाई! पत्थर जैसे, लकड़ी जैसे हैं। आहाहा! वे सब अनात्मा हैं। ऐसा कहते हैं। आत्मा को आत्मा होकर जिसने जाना नहीं। ऐसे विकल्प में रुके हुए जीव लकड़ी और पत्थर जैसे दिखते हैं। ऐई! आहाहा! जैनदर्शन ऐसा कहता है और अमुक दर्शन ऐसा कहते हैं, ऐसा कहकर कितने ही लिखते हैं। परन्तु जैनदर्शन कहता है, जैनदर्शन वस्तु का स्वरूप यह है। अमरचन्दजी लिखें वहाँ तो यह लिखते हैं। जैनदर्शन में ऐसा कहा गया है, जैनदर्शन ऐसा कहता है। वस्तु का स्वरूप ही यह है, वहाँ जैनदर्शन अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : वे ऐसा कहे, हम ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसका अर्थ क्या? महावीर को चीतर्या है इसमें बड़ा। ऐसे थे और वैसे थे और अमुक था न! महावीर स्वयं समकिती और तीन ज्ञान लेकर आये हैं, अब उन्हें... वह मात्र स्वरूप का साधन अन्तर में करना था, वह बाकी था, वह यहाँ

किया। वह किया, उन्होंने दूसरा कुछ किया नहीं। उपदेश भी दिया नहीं और समवसरण रचा नहीं। आहाहा! वह तो सब पर में हो गया।

ज्ञान में उपदेश की वाणी निकलने पर ज्ञान में खबर नहीं? जब से केवलज्ञान हुआ, तब से खबर है कि इस समय यह वाणी निकलेगी। कुछ नया जानना रहा है? आहा! उन्होंने ऐसा उपदेश दिया, मैंने ऐसा किया, जगत में बहुत हिंसा थी, इसलिए बौद्ध और महावीर दोनों ने हिंसा को शान्त किया। अरेरे!

मुमुक्षु : स्त्रियों को हक दिलवाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्त्रियों को हक दिलवाया। सबको समान। स्त्रियों को और सबको समान हक। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **परम उदासीनपने के अवलम्बन के कारण, वह (जगत) काष्ठपाषाणवत् प्रतिभासित होता है।**

भावार्थ - जिसको स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, उस अन्तरात्मा को,... ऐसा। **आत्मानुभव की प्रथम भूमिका में अर्थात् योग के आरम्भकाल में यह सचेष्ट और विकल्पारूढ़ जगत,...** चेष्टावाला और विकल्पवाला जगत **उन्मत्तवत्-पागलवत् लगता है...** उत्साह और हर्ष विकल्प में करता है, वे सब पागल जैसे, पत्थर जैसे हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

परन्तु बाद में जब वह योग के परिपक्व अभ्यास द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है,... अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द के स्वाद में जहाँ आ जाता है, **तब उसको इस जगत सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक कुछ विकल्प उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उस समय उसको निर्विकल्पदशा वर्तती है।** ऐसा। पाषाण का अर्थ कि उस चीज़ में आत्मा नहीं और वह चीज़ आत्मा में नहीं, ऐसा सहज ज्ञान हो जाता है। पत्थर जैसे हैं। आहाहा! विशेष है, कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ११, शनिवार, दिनांक १९-०७-१९७५, श्लोक-८०-८१, प्रवचन-९४

समाधितन्त्र। इसका विशेष। टीका और भावार्थ हो गये हैं। कहते हैं कि धर्मी जीव को पहला धर्म कैसे प्राप्त हो? यह बात तो आ गयी है कि आत्मा जो द्रव्यस्वभाव नित्य त्रिकाल है। उसमें उसकी दृष्टि पसरने पर उसे द्रव्यस्वभाव का लाभ पर्याय में होता है, उसे धर्म कहा जाता है। प्रथम करनेवाले को क्या करना? कि द्रव्यस्वभाव सन्मुख होना। जो पर्याय वर्तमान पर की ओर झुकी हुई है, उसे पर्याय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि उसे अन्तर में झुकाना। आहाहा! यह उसे प्रथम में प्रथम करने का है। क्योंकि जिसमें अनन्त शक्तियों का संग्रह पड़ा है, ऐसा परमात्मस्वरूप, उसमें दृष्टि दिये बिना और श्रद्धा को उसमें पसराये बिना, उसका लाभ—आत्मलाभ पर्याय में होगा नहीं। वस्तु तो वस्तु है। परन्तु पर्याय में उसका लाभ कब होगा? कि उसके सन्मुख में एकाग्र होने पर संयोग, राग और पर्याय के ऊपर का भी लक्ष्य छोड़कर... क्योंकि पर्याय की एकता तो अनादि की मानी हुई है, परन्तु द्रव्यस्वभाव की एकता इसने कभी नहीं की। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए इसे प्रथम आत्मा को दृष्टि में लेकर अनुभव करना चाहिए। अब यह अनुभव करनेवाले को **प्रथम भूमिका में अर्थात् सविकल्पदशा में...** हो जब। अन्तर का अनुभव छूटकर राग के विकल्प में आवे, तब बाह्य पदार्थों की ओर विकल्प जाता है। स्वरूप का उपयोग अन्तर में न हो, तब विकल्प आवे तो विकल्प का लक्ष्य तो बाहर के ऊपर जाता है। विकल्प के लक्ष्य से अन्तर में जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। इसलिए धर्मी को भी द्रव्यदृष्टि—वस्तु की दृष्टि, वस्तु की पर्याय में उसका भावभासन, भाव में उसका भासन-ज्ञान हुआ। आहाहा! उसे भी जब विकल्प उठता है, तब बाह्य की ओर जाता है। **और इससे विविध विकल्प होते हैं...** आहाहा! मार्ग ऐसा बहुत सूक्ष्म। यह कुछ करने का कहे... यह करने का नहीं? आहाहा! ऐसा करे, दया पाले, व्रत करे, अपवास करे, भक्ति करे, यात्रा करे।

मुमुक्षु : बहुत वर्ष .... कोई ऐसा न कहे कि ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा करने का हो, वह तो नहीं परन्तु करना है, यह मान्यता है, वही स्वरूप का मरण है।

मुमुक्षु : करना, वह मरना।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानानन्दस्वरूप में करना, राग करूँ, यह तो दृष्टि विपरीत है। क्योंकि जो वस्तु स्वभाव में नहीं। यह तो बात आ गयी है न अनेक बार? कि शरीर आत्मा में नहीं, उसका अभाव है। तो अभाव का कर्ता किस प्रकार होगा? और ऐसा राग तथा विकार का भाव भी स्वभाव में अभाव है, तो उसका अभाव है, उसका कर्ता किस प्रकार होगा यह? आहाहा! आगे ले जाने पर बात एक समय की पर्याय भी द्रव्य में तो अभाव है। जिसका अभाव है, उसे करे क्या? आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! बहुत सूक्ष्म, भाई! और इसका फल भी आनन्द है न? आहाहा!

जिसने अतीन्द्रिय आनन्द अनन्त काल में जाना नहीं, देखा नहीं, वेदन नहीं किया, वह संसार के कल्पना के सुख जहर जैसे दुःख, उसे इसने वेदन किया है। नरक में भी दुःख को वेदन किया और स्वर्ग में भी दुःख को वेदन किया है। यह सेठाई पाँच-पचास लाख, दस, लाख, बीस लाख हों, वह भी दुःख को वेदन करनेवाला है। आहाहा! उस लक्ष्मी को नहीं। उस लक्ष्मी की ओर के झुकाववाला (भाव कि) यह मेरी चीज़ है, मैं रहा, मेरा पैसा ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... आहाहा! उसका इसे वेदन है। उसमें इसे भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, जो इसका धर्म और स्वभाव है, उस स्वभाव सन्मुख होकर धर्म की प्रगट दशा के आनन्द का स्वाद तो कभी लिया नहीं।

इसलिए कहते हैं कि स्वरूप में भान हुआ, दृष्टि हुई, तथापि उस ओर विकल्प उठे, तब परसन्मुख झुकाव जाये, वह संसार है। आहाहा! **परन्तु जैसे-जैसे वह स्वरूपस्थिरता का अभ्यास बढ़ाता जाता है,...** अब राग घटाऊँ, विकल्प घटाऊँ, ऐसा नहीं। परन्तु जैसे-जैसे स्वरूप में स्थिर होता जाता है, वैसे-वैसे राग की उत्पत्ति घटती जाती है। स्थिर होता जाता है। आहाहा! **वैसे-वैसे उपयोग का परसन्मुखता का झुकाव छूटता जाता है...** अन्तर स्वरूप का अनुभव और दृष्टि होने पर भी, अस्थिरता के कारण जो विकल्प उठे, इससे उसका लक्ष्य तो पर के ऊपर जाता है, उसे स्वभाव सन्मुख की

विशेष दशा प्रगट करने पर वह राग घट जाता है। विकल्प मन्द पड़ जाते हैं, कम हो जाते हैं। आहाहा!

और वह स्वरूप में स्थिर होता जाता है। ऐसी बात है। आहाहा! जानपने का विशेषपना हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह वस्तु के स्वरूप का—भाव द्रव्यभाव का—भासन ज्ञान में प्रत्यक्ष हुआ... आहाहा! उसे अन्तर में स्थिर होते-होते विकल्प घट जाते हैं। आहाहा! **अभ्यास के बल से अन्त में आत्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता इतनी जमती है कि उसको उस समय (बाह्य) जगत का विचार बिलकुल भी नहीं आता।** आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र को सुनने का भी विकल्प नहीं आता। आहाहा!

और... अब मोक्षमार्ग का दृष्टान्त देते हैं, रहस्यपूर्ण चिट्ठी का। **जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था,...** ज्ञान की जो अवस्था—पर्याय पाँच इन्द्रिय और छठवें मन द्वारा प्रवर्तती थी, **वह ज्ञान, सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ,...** आहाहा! पाँच इन्द्रिय और मन में प्रवर्तता था न? सुनने में, भगवान के दर्शन में, आहाहा! जो विकल्प प्रवर्तते थे, जो ज्ञान। उसे **सब ओर से सिमटकर...** अन्तर सन्मुख होता है। **निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ,...** यह उसकी क्रिया और यह उसका धर्म—उपाय। आहाहा!

पहली बात यह है कि जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा है, ऐसा जिसे भान भासन में आया, वह पश्चात् आनन्द में रहने के लिये बारम्बार प्रयास करता है। समझ में आया? वह बारम्बार अभ्यास करते आनन्द में स्थिर होता है, तब राग के विकल्प घट जाते हैं, एकदम उपयोग स्थिर होता है, तब विकल्प रहता नहीं। आहाहा! इसलिए वहाँ जगत के ऊपर लक्ष्य भी नहीं रहता।

क्योंकि वह ज्ञान, क्षयोपशमरूप है;... रहस्यपूर्ण चिट्ठी की यह बात है। टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी। कल पत्र आया है न कोई खम्भात से आया है। क्षमासागर कोई साधु मन्दिरमार्गी है। पत्र यहाँ आया है। अध्यात्मपुरुष टोडरमलजी की हुण्डी। हुण्डी का अर्थ यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी। ऐसा लगता है न, भाई? और इसका गुजराती

अनुवाद हुआ है संस्था की ओर से। तो एक प्रति भेज दें। क्या कहा? भेजना....। घटतुं अर्थात् जैसे बने वैसे। इसका अर्थ। उनकी भाषा नरम है। और वह भी अध्यात्म(पुरुष) टोडरमल, ऐसा शब्द प्रयोग किया है। श्वेताम्बररूप से है तथापि... अध्यात्मी पुरुष टोडरमलजी की हुण्डी और उसका गुजराती अनुवाद संस्था की ओर से हुआ है। संस्था के मुख्य व्यक्ति को हम कहते हैं, एक यह भेजने के लिये। वह यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी। इस रहस्यपूर्ण चिट्ठी को भाई हुण्डी कहते हैं, उन्होंने हुण्डी, ऐसा लिखा लगता है। उस रहस्यपूर्ण चिट्ठी का यह बोल है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आते होंगे। परन्तु यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी है न। वह तो आता है हुण्डी लेखन... हुण्डी में लेखन। समवाय में आता हैं। परन्तु उन्होंने यह हुण्डी। उसमें कहीं हुण्डी शब्द नहीं है परन्तु उसे रहस्यपूर्ण चिट्ठी है, यह हुण्डी का आया हुण्डी का। कहाँ गये, जयन्तीभाई गये? भावनगर गये। ठीक। हुण्डी का धन्धा है न तुम्हारे? आहाहा!

उसमें भी वापस रहस्यपूर्ण चिट्ठी। इस चिट्ठी को हुण्डी कहते होंगे, हों! चिट्ठी को। मन्दिरमार्गी साधु है। खम्भात के हैं। क्षमासागर नाम। इतना भी बेचारा पढ़ने के लिये माँगते हैं न! अध्यात्मीपुरुषरूप से टोडरमल दिगम्बर के, जिन्होंने श्वेताम्बर को गृहीत मिथ्यात्व सिद्ध किया है, अन्यमति सिद्ध किया है। उन्हें अध्यात्मपुरुष कहे, इतना तो...

मुमुक्षु : उसके ऊपर का विवेचन....

पूज्य गुरुदेवश्री : विवेचन। यह गुजराती अपने हुआ है न, अध्यात्मसन्देश। वह मँगाते हैं। मूल तो वह मँगाते हैं। अध्यात्मसन्देश अपने वह प्रकाशित है न। आहाहा! ठीक, परन्तु अब इतना विचार करे। पढ़ने का भाव है। जेठाभाई! कोई क्षमासागर है। श्वेताम्बर है कोई। क्षमासागर।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें होगा। कहाँ है? खम्भात।

मुमुक्षु : सिहोर थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सिहोर थे कैलाशचन्द। यह अपने वहाँ आये थे न। भाई गये थे न चिमनभाई। दो महीने गये थे नहीं चिमनभाई वहाँ? यह योगफल वापस कुछ निकला नहीं। यहाँ आये। ऐसी बात श्वेताम्बर में है। श्वेताम्बर हो तो दो महीने सुना क्या? तुम्हारे में हो वहाँ सुना क्या? और तुम बड़ा आचार्य नाम धराते हो। परन्तु लोगों को आग्रह छोड़ना भारी (कठिन है)।

मुमुक्षु : आग्रह छोड़ दे तो रोटियाँ कौन दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटियाँ। वह तो जिसके नसीब में दाने-दाने पर नाम लिखा है, वह तो आयेगा ही वह। आहाहा! प्राणजीवन मास्टर ने वहाँ ऐसा कहा था। कैसा गाँव कहा? घण्टेश्वर। तब रामजीभाई का था न! लोगों को सबको जीमण रामजीभाई की ओर से था तब। वे वहाँ घण्टेश्वर में बोले, महाराज! यह (सम्प्रदाय) छोड़ोगे फिर रोटियों का क्या होगा? अरे... भगवान! ऐसी भाषा है, भाई! रोटियाँ और आहार दे। वह भी कहता था, आया था वह। दो दिन पहले कहे। यह सब रोटी के दुकानदार हैं। मैंने भी यह धन्धा लगाया है, कहे। मैंने भी दुकानदारी का धन्धा लगाया है, ऐसा कहता था। अरे.. बापू! आहाहा! लोग मान दे। पुस्तक छपावे ऐसे, मासिक निकाले स्वयं अम्बर। सर्वाम्बर। ऐसा मासिक निकाले, लोग दें। उसमें आत्मा को क्या हुआ? भाई! आहाहा!

भाई ने दृष्टान्त नहीं दिया? निहालभाई ने। कि बाग में या जंगल में या गाँव में फूल हो और उस फूल को कोई सूँघे या न सूँघे, इससे उसकी कीमत है? कोई सूँघे तो वह ऊँचा कहलाये और न सूँघे तो नीचा कहलाये, ऐसी उसकी कीमत है? बाबूभाई! उसमें है वह। इसी प्रकार आत्मा को कोई पसन्द करे कि वाह! तुम्हारी दृष्टि की बात बहुत अच्छी है, तो इसकी कीमत है? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान जो पर में प्रवर्तता था, एक काल में एक ज्ञान को जान सके क्षयोपशमज्ञान है तो। आहाहा! अब विकल्प कैसे घटे, उसकी बात करते हैं। कि **वह ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ, तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार हों तो भी स्वरूपध्यानी को कुछ खबर नहीं.....।** लो, यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी। टोडरमलजी की। गृहस्थ थे। गृहस्थ थे तो

क्या? वस्तु में कहाँ गृहस्थपना है? आहाहा! श्री मोक्षमार्गप्रकाशक-श्री टोडरमलजी रहस्यपूर्ण चिट्ठी - पृष्ठ ३४५ (गुजराती आवृत्ति), ऐसा लिखा है।

क्योंकि ज्ञान का क्षयोपशमभाव एक ज्ञेय में प्रवर्ते, तब जब आत्मा के उपयोग में प्रवर्ता, तब बाहर के उपयोग में से हट गया। ऐसा सिद्ध किया है। इसलिए उसे फिर विकल्प नहीं रहते।

श्लोक - ८१

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम्। शरीराद्‌भेदेनात्मनस्तत्तत्स्वस्वरूपविद्‌भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह -

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥ ८१॥

अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं श्रृणवन्नपि कलेवराद्भिन्नमात्मानमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत्। तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत्॥८१॥

स्वभ्यस्तान्मधियंः - यह पद व्यर्थ है क्योंकि 'शरीर से आत्मा भिन्न है' — ऐसे उनके स्वरूप को जाननेवालों के पास से सुनने से अथवा स्वयं दूसरों को उसका स्वरूप समझाने से, मुक्ति हो सकती है — ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —

सुने बहुत आतम-कथा, मुँह से कहता आप।
किन्तु भिन्न-अनुभूति बिन, नहीं मुक्ति का लाभ॥ ८१॥

***अन्वयार्थ* - आत्मा का स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओं के मुख से (कामं) बहुत ही (शृण्वन्नपि) सुनने पर तथा (कलेवरात्) अपने मुख से (वदन्नपि) दूसरों को बतलाते हुए भी (यावत्) जब तक (आत्मानं) आत्मस्वरूप की (भिन्नं) शरीरादि परपदार्थों से भिन्न (न भावयेत्) भावना नहीं की जाती, (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) यह जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता।**

टीका - अन्य के पास से अर्थात् उपाध्यायादि के पास से बहुत ही सुनने पर भी अर्थात् शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसा श्रवण करने पर भी, उनसे (शरीरादि से) वह (आत्मा) भिन्न है—ऐसा स्वयं अन्य के प्रति (दूसरों को) कहने पर भी, जब तक 'शरीर से आत्मा भिन्न है'—ऐसी भावना न करे, तब तक जीव, मोक्षभाजन--मोक्षपात्र नहीं हो सकता।

भावार्थ - 'शरीरादि से आत्मा भिन्न है'—यह बात बहुत बार गुरुमुख से सुने तथा अन्य को वैसा उपदेश भी बारम्बार दे, तो भी जब तक आत्मा को शरीरादि से दृढ़रूप से भिन्न अनुभव नहीं करे अर्थात् जब तक स्वसन्मुखतापूर्वक उसको उसका भावभासन न हो, तब तक जीव, मुक्तियोग्य नहीं बन सकता।

विशेष स्पष्टीकरण -

भेदविज्ञान द्वारा स्वसन्मुखतापूर्वक जीव-अजीवादि तत्त्वों का भावभासन होना—सच्ची प्रतीति होना ही निश्चयसम्यक्त्व है। इसके बिना जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता।

इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं —

''तथा शास्त्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' (तत्त्वार्थसूत्र १/२) ऐसा वचन कहा है, इसलिए शास्त्रों में जैसे जीवादितत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है, औरों को उपदेश देता है परन्तु उन तत्त्वों का भाव भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना, तत्त्वार्थश्रद्धान कैसे होगा ?''

'तथा किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है परन्तु अन्तरङ्ग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है; इसलिए जिस प्रकार मतवाला, माता को माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; इसी प्रकार इसको सम्यक्त्वी नहीं कहते।'

'तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ'—ऐसा भाव भासित नहीं होता।'

'तथा जैसे किसी और का और से भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और

शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है परन्तु मैं, इन शरीरादि से भिन्न हूँ — ऐसा भाव भासित नहीं होता।[१]

श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं —

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः॥

अर्थात्, 'शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसा सुनने तथा बोलने पर भी, जब तक वह (दोनों के) भेदाभ्यास में परिपक्व नहीं होता, तब तक वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।' *(ज्ञानार्णव, शुद्धोपयोगाधिकार, गाथा-८५)*

इसलिए, 'आत्मा, शरीर से भिन्न है'—ऐसा जानने पर भी, यदि उसका भावभासन न होवे अर्थात् अनुभव में न आवे तो यह जानना कार्यकारी नहीं है॥८१॥

श्लोक - ८१ पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है। **'स्वभ्यस्तात्मधियः' यह पद व्यर्थ है... 'स्वभ्यस्तात्मधियः'** अपने अभ्यास से आत्मा का ज्ञान होता है। यह तुम्हारा पद व्यर्थ है। शिष्य प्रश्नकार कहता है। **क्योंकि 'शरीर से आत्मा भिन्न है'—ऐसे उनके स्वरूप को जाननेवालों के पास से सुनने से...** जाननेवालों से सुनने से जाना। उसमें फिर **'स्वभ्यस्तात्मधियः'** आया था न ८० का शब्द है। ८० का यह शब्द है। **'स्वभ्यस्तात्मधियः'** तीसरा पद है। आहाहा! भगवान आत्मा को—आनन्द के नाथ को जिसने अभ्यास में लिया, अन्तर का अनुभव हो, उसे आत्मज्ञान होता है। सुना, इसलिए उसे आत्मज्ञान हुआ है... आहाहा! (ऐसा नहीं है)।

ऐसे उनके स्वरूप को जाननेवालों के पास से सुनने से अथवा स्वयं दूसरों को उसका स्वरूप समझाने से,... दूसरों को कहे कि आत्मा ऐसा है और आत्मा ऐसा है और आत्मा ऐसा है। इससे क्या हुआ? कहते हैं। आहाहा! **मुक्ति हो सकती है**- ऐसा

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२२४ व २२५

शिष्य कहता है। स्व के अभ्यास का क्या काम वहाँ फिर? आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के सन्मुख होकर उसका ज्ञान करना, उसे ध्यान में लेना, उसका क्या काम है? समझानेवालों से सुना और सुनकर जाना और दूसरों को बतलाने का भी ऐसा उपदेश करे तो उसकी मुक्ति हो। आहाहा! मुद्दे की बात ली है।

जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका राग से, शरीर से, भिन्नपने का अनुभव करना, यह तुमने जो कहा, वह बात ऐसी नहीं। शिष्य प्रश्न करता है। यह तो दूसरों से सुना कि आत्मा राग से और शरीर से भिन्न है और स्वयं भी शरीर से भिन्न है, ऐसा समझाने में होशियार है। आहाहा! इससे उसे आत्मज्ञान हुआ, उसे स्व का अभ्यास करे तो आत्मज्ञानी कहना, यह बात मुझे बैठती नहीं, कहता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत मुद्दे की रकम की बात ली है।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥ ८१॥

आहाहा! **टीका - अन्य के पास से अर्थात् उपाध्यायादि के पास से बहुत ही सुनने पर भी...** सुना, लो, कहते हैं। आहाहा! अरे! भगवान से समवसरण में सुना। इससे क्या हुआ? **अर्थात् शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसा श्रवण करने पर भी, उनसे (शरीरादि से) वह (आत्मा) भिन्न है—ऐसा स्वयं अन्य के प्रति (दूसरों को) कहने पर भी,...** और कथन में यही बात रखे। भाई! शरीर से आत्मा भिन्न है। इससे क्या हुआ? कहते हैं। उसे स्व का अभ्यास नहीं है, वह तो पर का अभ्यास है। आहाहा! समझ में आया?

स्व चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ द्रव्यस्वभाव, उसका जिसे आत्मधी—आत्मज्ञान हुआ नहीं, वह सुनने को यह कहे और सुने, दूसरे से सुने और जगत को कहे, इससे वह आत्मज्ञान नहीं। वह आत्मधी नहीं, आत्मा की बुद्धि नहीं, आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? कि **अन्य के पास से अर्थात् उपाध्यायादि...** आदि में सब लेना। उपाध्याय समझानेवाले हैं सही न? **बहुत ही सुनने पर भी...** वापस ऐसा। बहुत बार सुना। सैकड़ों बार सुने। **बहुत ही सुनने पर भी...** भाषा यहाँ वजन है। बहुत सुनने

पर भी। आहाहा! **शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसा श्रवण करने पर भी,...** आहाहा! और **वह (आत्मा) भिन्न है—ऐसा स्वयं अन्य के प्रति (दूसरों को) कहने पर भी,...** आहाहा!

जब तक 'शरीर से आत्मा भिन्न है'—ऐसी भावना न करे,... अर्थात् कि अन्तर आनन्दस्वरूप में एकाग्रता न करे। आहाहा! वहाँ तक उसे भिन्न जाना नहीं। समझ में आया? देह से लक्ष्य छोड़कर, कथन से और राग से लक्ष्य छोड़कर और जो पर्याय के लक्ष्य में पड़ा है, उसने यह सब सुना होने पर भी, वह पर्याय को द्रव्य सन्मुख झुकाकर भगवान शुद्ध चैतन्य के अभ्यास से भावभासन नहीं, उसकी मुक्ति नहीं। वह कहे कि सुना और कहे, इसलिए उसकी मुक्ति हो जायेगी।

उसमें आता है नहीं नियमसार में? वह गाथा। किसमें आती है, नहीं? दूसरे को कहता है। यह एक गाथा आती है। लालभाई ने... की थी। नियमसार, हों! ... कहते हैं ऐसा। ऐसा आता है। कहने का कथन शब्द है, यहाँ है, इस ओर है। यह आया लो। ७४वाँ कलश। ५०वीं गाथा का (कलश)। कहा यहाँ है। 'शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं—ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है, वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।' कहा, कहते हैं इसका अर्थ ऐसा नहीं। यह चर्चा हुई थी लालभाई के साथ। ऐसा कि तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है, वह अति अपूर्व सिद्धि को पाता है। तो यहाँ तो आया कि तो तत्त्व कहता है, तथापि मुक्ति को पाता नहीं। कहता है अर्थात् भाता है। भाई! यह गाथा। यह ७४-७४ कलश। ७४वाँ कलश। कहा, उसे हाथ आना हो, तब आये न? आया बराबर। इस जगह है, कहा।

न ह्यमास्कं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥७४॥

'इत्थं व्यक्तं वक्ति' ऐसा है, जो ऐसा कहता है, वह मुक्ति को प्राप्त करेगा। इसका अर्थ कि इस भाव को अन्दर में परिणमता है। कहने का एक शब्द है। समझ में आया?

वह मुक्ति को पायेगा। ऐसा उसका अर्थ है। लो, आ गया ७४वाँ (कलश)। है ५०वीं (गाथा) का। श्लोक भी ७४वाँ है, लो! '**वक्ति**' शब्द है न? '**इत्थं व्यक्तं वक्ति**' जो स्पष्टरूप से कहता है, वह मुक्ति को पाता है। कहा, कहते हैं का अर्थ ऐसा नहीं है। इस प्रकार जो अनुभव करता है। समझ में आया? कहते हैं तो यहाँ आया। है न? अवसर पर ठीक याद आ गया।

मुमुक्षु : उसे ऐसा भाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव की रमणता जिसे है। आहाहा! यह रमणता है। जो कहते हैं, वह तो यह विकल्प आवे, वह तो अलग वस्तु है। अन्दर कहते हैं, ऐसा वाच्य जो है, उसे वह अनुभव करता है, निर्विकल्परूप से। उसे मुक्ति होती है। समझ में आया? स्वयं सुने और सुना हुआ है, इसलिए उसे भेदज्ञान हुआ और दूसरे को कहता है; इसलिए भेदज्ञान है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। भाग्यशाली हो। बापू! आहाहा!

मूल को स्पर्श किये बिना, बापू! कुछ है नहीं, ऐसा कहते हैं। चाहे जैसी प्ररूपणा करना आवे, बोलना आवे, लाखों लोग कहे और सुनने से उसे ख्याल में भी आया हो, वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा!

'**शरीरादि से आत्मा भिन्न है'...** ऐसी भावना न करे, ऐसा। अन्तर में चैतन्य को और शरीर से भिन्न अशरीरी भगवान आत्मा का अनुभव न करे... आहाहा! तब तक उसकी मुक्ति अर्थात् धर्म नहीं और मुक्ति नहीं, ऐसा। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह समाधितन्त्र है न? समाधि प्राप्त न करे, तब तक मुक्ति नहीं है। बात भले करे, लाखों लोगों को कहे और शास्त्र वाँचने करे और धारणा करे, धारणा से बात करे। आहाहा! भगवान आत्मा निज अभ्यास से... आहाहा! सुनने का अभ्यास, वह नहीं और कहने का अभ्यास, वह नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कठिन पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन वस्तु ऐसी है वहाँ। कठिन अर्थात् क्या? जैसा सत् है, वैसा इसे राग से, शरीर से भिन्न करके जाना, अनुभव किया नहीं, उसे मुक्ति कहाँ से

होगी? चाहे जितना सुना और चाहे जितनों को समझावे... आहाहा! अर्थात् कि उसे धर्म नहीं, ऐसा कहना है। मुक्ति नहीं, वह यहाँ भी सम्यग्दर्शन होने पर, भिन्न होने पर वहाँ मुक्ति का अंश प्रगट होता है। उसकी मुक्ति की शुरुआत उसे हो गयी। वह मुक्ति की शुरुआत दूसरे से सुनकर धारे और दूसरों को सुनावे, इससे यहाँ मुक्ति की शुरुआत हो, ऐसा नहीं है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! कठिन बात की, भाई!

निहालभाई ने एक जगह लिखा है। सुननेवाले की लगन तो बहुत है सुनने की और उसकी। है एक जगह। परन्तु अन्तर में उतरने का ठिकाना नहीं। ऐसी बात है। जहाँ प्रभु है पूर्ण आनन्द, वहाँ दृष्टि गयी नहीं, अभेद हुई नहीं, तब तक उसकी मुक्ति कहाँ है? अर्थात् उसे धर्म कहाँ है? ऐसा। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! यह तो मूल चीज़ है। समझ में आया?

तब तक जीव, मोक्षभाजन-मोक्षपात्र नहीं हो सकता। देखा! मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता। '**यावत्तावन्न मोक्षभाक्**' ऐसा शब्द है न? वहाँ तक नहीं शिवलाभ, ऐसा। मोक्षपात्र नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ किया है। '**मोक्षभाक्**' मोक्षभाजन। संस्कृत में है न। '**भाक्**' का अर्थ है भाजन। सच्ची बात है। यह ठीक है। वहाँ से मोक्ष के भाजन की शुरुआत ही नहीं है। आहाहा! मोक्ष हो सके, ऐसा वह पात्र ही नहीं हुआ। आहाहा! समझ में आया?

शरीर से भिन्न चैतन्य का अभ्यास नहीं। चैतन्य का अभ्यास नहीं। सुनने का अभ्यास और कहने का अभ्यास, यह नहीं। आहाहा! ऐसा शब्द है न मूल? '**पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्। स्वभ्यस्तात्मधियः**' अपना अभ्यास आत्मा का। आहाहा! पूर्ण ध्रुव शुद्ध आनन्द का धाम भगवान, ऐसे आनन्द का जिसने अन्तर में प्रयत्न का अभ्यास नहीं किया तो वह मोक्ष का पात्र नहीं, उसे मोक्ष नहीं हो सकता और वह मोक्ष का पात्र नहीं। आहाहा! कि भाई! बहुत समझाना आया जगत को और स्वयं बहुत सुना हुआ हजारों वर्ष, इसलिए वह मोक्ष का पात्र होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

समाधितन्त्र है न? यह समाधिभाव प्रगट नहीं हुआ, उसे मुक्ति का पात्र कैसे कहा जाये? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कहाँ गया तुम्हारा रसिक? यह बहुत

सुननेयोग्य है, हों! ऐसे का ऐसा निकाल डालना कि बहुत ऊँचा है और हम तो छोटे बालक हैं (ऐसा नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : संस्कार पड़ते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह संस्कार पड़ते हैं, वे किस प्रकार के वे पड़ते हैं तो उसे साक्षी में अन्दर आना चाहिए न? आहाहा! यह तो दूसरा कहे, परन्तु उसे होना चाहिए कि यह संस्कार स्वसन्मुख ढलने का पड़ता है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : सुने तो संस्कार पड़े और संस्कार पड़े तो सन्मुख हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। ऐसा नहीं। यह संस्कार नहीं कहे जाते। संस्कार तो...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो अन्दर में परिणमित हुआ है, उसे यहाँ संस्कार कहा जाता है। आहाहा!

अन्तर आनन्द का धाम प्रभु, ऐसा जो परम स्वरूप, उसमें जिसकी दृष्टि अन्दर जमी है, पहली शुरुआत से, उसे जानते... जानते... जानते... उसे अनुभव होता है। और अनुभव होने पर फिर यहाँ मुक्ति का पात्र होता है और फिर स्थिरता होती है, तब मुक्ति होती है। आहाहा! यहाँ तो समाधितन्त्र है न! कहते हैं कि यह सुना, इसलिए समाधि प्रगट हुई, और सुनाया, इसलिए समाधि प्रगट हुई... समाधि अर्थात् धर्म (प्रगट हुआ), आहाहा! ऐसा नहीं है।

भावार्थ - '**शरीरादि से आत्मा...** आदि शब्द पड़ा है न? अर्थात् राग से भिन्न। ऐसा। कलेवर आदि है न शब्द संस्कृत में। कलेवर आदि भिन्न नहीं? है? कलेवर है नहीं? कलेवरात् भिन्न। परन्तु वह तो शरीर से भिन्न, इसका अर्थ। इसमें राग से भिन्न आ गया। वह तो शरीर का लक्ष्य छोड़कर भिन्न यहाँ हुआ तो राग से भी भिन्न हो गया। ऐसा जिसने भिन्न किया नहीं, आहाहा! ऐसा कहना है यहाँ तो। भले शरीर से तो... छठवीं गाथा में ऐसा कहा न? परद्रव्य के भाव... द्रव्य और द्रव्य के भाव से लक्ष्य छोड़कर; उस राग से छोड़कर, ऐसा नहीं वहाँ। (समयसार) छठवीं गाथा में। परद्रव्य और उसके भाव अर्थात् यह राग के भाव, ऐसा नहीं। कर्म के उदय का भाव, उसका लक्ष्य छोड़कर

जिसने आत्मा की उपासना की, अर्थात् वह तो यहाँ लक्ष्य छोड़ा, इसलिए यहाँ लक्ष्य गया, इसलिए वह राग से भी लक्ष्य छूट गया है। आहाहा! परन्तु ऐसा क्यों कहा? कि वह सर्वथा राग से अस्थिरता से छूटा नहीं, इसलिए उसे शरीर के लक्ष्य में से छोड़ने पर यहाँ लक्ष्य गया तब उसे द्रव्य की उपासना हुई। (परन्तु) राग से सर्वथा छूटता नहीं, अस्थिरता से, ऐसा। परन्तु राग से भिन्न हूँ, ऐसा भान हुआ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह तो अन्तर अध्यात्म की रचना अलौकिक बात है। कोई साधारण शब्दों से पकड़ ले और समझ में आये, ऐसी बात नहीं है, बापू! जेठाभाई! आहाहा! ऐसी बातें। ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए कि आत्मा का अन्तर अभ्यास हुए बिना यह सुननेमात्र से और कहनेमात्र से मेरा कल्याण हो जायेगा या समकित होगा... आहाहा! ऐसा नहीं है। वह तो संसार का भाजन रहेगा। ऐसा कहते हैं। और भिन्न किये हुए अभ्यास के भानवाला वह मोक्ष के लिये पात्र हो गया। संसार का भाजन हट गया। आहाहा! कहो, सुजानमलजी! ऐसी बात है, बापू! मूल तो यह बात है।

'**कलेवरात्**' ऐसा है न? '**कलेवरात्**' ठीक। यह भी इसमें आ गया। '**भिन्नमात्मान**' अजीव से भिन्न जाना, ऐसे आस्रव से भिन्न ज्ञात हो गया उसमें। आहाहा! अन्तर के चैतन्य के ज्ञायकभाव के अन्तर अभ्यास से अजीव से भिन्न भास हुआ, ऐसा आस्रव से भिन्न भास हुआ अन्दर। भासन हुआ। भिन्न स्वरूप का ज्ञान हुआ। वह धारणा थी, वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? और धारणा होकर मान लिया कि अब हम कुछ समझे हैं, आगे बढ़े हैं। वह तो वहाँ अटक गया। वह तो वहाँ रुक गया।

'**शरीरादि से आत्मा भिन्न है'...** भाई ने अधिक स्पष्टीकरण किया है। **यह बात बहुत बार गुरुमुख से सुने...** लो, ठीक! '**अत्यर्थं**' ऐसा है न? '**उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं**' बहुत बार। '**अत्यर्थं**' अर्थात् बहुत बार। बहुत। बहुत सुने। '**कामं अत्यर्थं**' आहाहा! देखो न, सम्यग्दृष्टि है, सर्वार्थसिद्धि के देव। तैंतीस सागर तक स्वर्ग के देव चर्चा करते हैं—सर्वार्थसिद्धि के देव। तथापि उन्हें स्थिरता नहीं होती। और वहाँ से छूटकर मनुष्य होने पर आत्मज्ञान पाकर जहाँ अन्तर्मुहूर्त स्थिरता करते हैं, वहाँ केवल

(ज्ञान) होता है। तैंतीस सागर तत्त्व की चर्चा में रुकने पर भी आगे नहीं बढ़ते। आहाहा! समझ में आया?

तैंतीस सागर किसे कहते हैं? एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम। और एक पल्योपम के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष। इतना बोलना आना मुश्किल पड़े सामने। एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम, दस कोड़ाकोड़ी। एक कोड़ाकोड़ी, एक करोड़, ऐसा भी नहीं। एक कोड़ाकोड़ी नहीं, दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागर और एक पल्योपम के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। इतने तैंतीस सागर उन्होंने ऐसी चर्चा की। आहाहा! परन्तु गुणस्थान बदला नहीं। क्योंकि अन्दर का आश्रय बदले बिना गुणस्थान नहीं बदलता। आहाहा!

बाहर के आश्रय से इतनी चर्चा तैतीस सागर तक की। आहाहा! तैतीस सागर कितनी चर्चा करते होंगे? कैसी? और उन्हें कुछ पकाना नहीं, खाना नहीं, दुकान नहीं, व्यापार नहीं, स्त्री नहीं, कुछ नहीं। तैतीस सागर। इसे तो अभी धन्धे में-पाप में कितना रुकना पड़े। २०-२२ घण्टे। ८ घण्टे नींद में और दस घण्टे धन्धे में। एक-दो घण्टे दिशा-पानी में। एक घण्टा हो, यह सुनने में आवे। उसमें भी वह बैठा हो, वह सुनावे। जय नारायण। बस। प्रमाण वचन। कुछ भान नहीं होता।

'दस बोघा दस बोघली दस बोघा का बच्चा' इकट्ठे हुए हों। 'माथे कहे गप्पा, यह कहे है सच्चा।' प्रमाण वचन। परन्तु क्या प्रमाण वचन? क्या कहा और क्या कहते हैं, इसकी तुझे कुछ खबर नहीं। ऐई! सुजानमलजी! आहाहा! तुझे प्रमाण हुआ है या नहीं? आहाहा! राग से भिन्न पड़कर चैतन्य का भान होकर प्रमाण होता है। तब कहा न स्वयं पाँचवीं गाथा में? '**तं एयत्तंविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' मेरे वैभव से मैं कहूँगा। कहूँगा, तथापि तू सुनेगा। आहाहा! तथापि तू अनुभव से प्रमाण करना। आहाहा! भाषा तो देखो, समयसार के एक-एक पद की! '**तं एयत्तंविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' मेरा भगवान एकत्वस्वभाव से है, और राग से भिन्न है, मुझे अनुभव है, ऐसे मेरे निज वैभव से (कहूँगा)। भगवान ने कहा, इसलिए कहूँगा, ऐसा नहीं। आहाहा! मेरा भगवान ही अन्दर से जगा है। आहाहा! और ऐसे जागने के भाव की भूमिका से मैं तुमको कहूँगा। आहाहा!

'**तं एयत्तंविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज**' और वापस कहा।

वापस दिखलाने में आवे। वक्त-समय और वाणी का सब योग हो न? '**जदि दाएज्ज पमाणं**' आहाहा! पहले ऐसा कहा '**तं एयत्तंविहत्तं दाएहं अप्पणो**' मेरे वैभव से दिखाऊँगा। परन्तु वापस दिखाने का समय कितना रहे और कैसे है? ऐसा कहकर कहा '**जदि दाएज्ज**' दिखाने के प्रसंग में ऐसा? आहाहा! प्रमाण करना। '**जदि दाएज्ज पमाणैं**' यह तीसरा पद है। '**जदि दाएज्ज**' आहाहा! जब से यह तूने सुना। आहाहा! तब से अन्दर उतरना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन बात! कुन्दकुन्दाचार्य ने गजब काम किया।

'**जदि दाएज्ज**' दिखाऊँ तो प्रमाण करना। '**चुक्केज्ज छलं ण धेत्तव्वं**' भाषा के किसी प्रसंग में भूतकाल और भविष्यकाल और ऐसे भंग में भूल पड़ जाये (और), तुझे उस प्रकार के व्याकरण का ज्ञान हो, इससे तू ऐसा लक्ष्य मत रखना। मुझे जो कहना है, उस पर लक्ष्य रखकर प्रमाण करना। आहाहा! क्योंकि व्याकरण का जाननेवाला वह सुननेवालाव, उसमें कहीं बहुत प्रकार व्याकरण के। बहुत है न, देखो न व्याकरण बनाया है न? ...नहीं? कितना, एक तो बड़ा ग्रन्थ बनाया। २० हजार श्लोक का। व्याकरण के इसके ऐसे रूप और इसमें इस रूप को। रामः रामौ रामः आता है न? बहुत स्पष्टीकरण। परन्तु उसमें आत्मा को क्या? ऐसे व्याकरण के जाननेवाले प्रोफेसर हों और यह बात मैं कहता हूँ प्रभु आत्मा आनन्द के स्वभाव से एकत्व है और राग से वह विभक्त है। अनुभव से प्रमाण करना। वाणी सुनकर हाँ, (ऐसा कहना नहीं), ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखा! वाणी सुनने का तो विकल्प है। विकल्प में तुझे ख्याल में आया कि ऐसा कहते हैं, यह वस्तु नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'**चुक्केज्ज छलं ण धेत्तव्वं**' चूकना अर्थात् मूल चीज़ से नहीं। परन्तु व्याकरण आदि, व्युत्पत्ति आदि के बोलों में आ जाये भाषा में और तू उसका जाननेवाला संस्कृत का—व्याकरण का (हो), वहाँ अटकना नहीं, कहे यदि इसमें अन्तर पड़ा... यदि इसमें अन्तर... अब सुन न अन्तर क्या? शिवभूति मुनि, लो। शब्द भी याद नहीं रहते थे। भावभासन हुआ था। मा रुष, मा तुष, ऐसा गुरु ने कहा, वे शब्द याद नहीं रहे। मा रुष और मा तुष। वह महिला उड़द की दाल पलाळेली धुली दाल, छिलके निकालती थी, दूसरी महिला पूछती है, बहिन! क्या करती हो? तुषमाष। छिलके से दाल को अलग करते हैं। तो उसे इतने शब्दों में से। भावभासन तो था। तुष अर्थात् छिलका उसमें से

माष अर्थात् उड़द का कस हो—दाल, वह अलग। ओहो! यह विकल्प है, यह छिलका है। माल भगवान का आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर है। बस, उसमें गये तो केवलज्ञान हो गया, लो! आहाहा!

तैंतीस सागर तक चर्चा करे विकल्प से तो गुणस्थान नहीं बदलता। क्योंकि स्व का आश्रय बढ़ना चाहिए न? पर के आश्रय की चाहे जितनी चर्चा हो, परन्तु स्व का आश्रय बढ़े बिना गुणस्थान बढ़ता नहीं। आहाहा! पर के आश्रय से गुणस्थान बढ़े, पाँचवाँ या सातवाँ हो, फिर छठा आता है न? आहाहा! बात बहुत अलौकिक बात है। पद्धति-पद्धति। अमृत के सागर को खोलकर रखा है। आहाहा! बापू! तू अमृत का सागर है, प्रभु! तेरे आनन्द का धाम तू है। श्रीमद् ने कहा न? 'स्वयं ज्योति सुखधाम।' चैतन्य स्वयं ज्योति वस्तु है न? किसी से नहीं की हुई और सत्‌रूप है न! आहाहा! और स्वयं ज्योति सुखधाम, वह आनन्द का स्थल है। आहाहा! हवा-पानी करने के लिये नहीं जाते बाहर? अमुक क्या कहलाता है कुछ?

मुमुक्षु : काश्मीर जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : काश्मीर। हवा बदलने के लिये काश्मीर जाये, आबू जाये। इसी प्रकार बापू! (आत्मा) आनन्द का धाम है, वहाँ जा न तू! आहाहा! यह संसार की थकान उतारनी हो तो वहाँ जा अन्दर। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, शरीर से गुरुमुख से बहुत बार सुना। **अन्य को वैसा उपदेश भी बारम्बार दे,...** दसलक्षण पर्व में जाकर ऐसा आत्मा... ऐसा आत्मा... इसमें है। बातें करे। आहाहा! तथापि जब तक आत्मा को शरीरादि से दृढ़रूप से भिन्न अनुभव नहीं करे, अन्तर में अनुभव नहीं करे, **जब तक स्वसन्मुखतापूर्वक उसको उसका भावभासन न हो,...** द्रव्यस्वभाव का भावरूपभासन। द्रव्यस्वभाव का भासन पर्याय में, ज्ञान में। उस ज्ञान में यह शुद्ध चैतन्य है, ऐसा भासन न हो, **तब तक जीव, मुक्तियोग्य नहीं बन सकता।** आहाहा!

द्रव्य का भाव, वस्तु का भाव, उसका भासन। कहना, यह नहीं; धारना, यह नहीं। यहाँ तो भासन। उसकी ज्ञान की दशा में वह भासित हो। आहाहा! तब वह मुक्ति के योग्य होता है, ऐसा कहते हैं। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १२, रविवार, दिनांक २०-०७-१९७५, श्लोक-८१-८२, प्रवचन-९५

समाधितन्त्र, ८१ गाथा, इसका विशेष। **भेदविज्ञान द्वारा...** अर्थात् कि अजीव और राग से (भिन्न) आत्मा चिदानन्दस्वरूप, उसे राग और शरीर से भेदज्ञान द्वारा, पर से भिन्न द्वारा **स्वसन्मुखतापूर्वक...** स्व में अभेद द्वारा। अभेद अर्थात् स्वसन्मुखता। चैतन्य ज्ञायकस्वभाव, ध्रुवस्वभाव में तत्परता... प्रयत्न की तत्परता कहो, स्वसन्मुख कहो, या वस्तु के साथ पर्याय की अभेदता कहो। ऐसे **स्वसन्मुखतापूर्वक जीव-अजीवादि तत्त्वों का भावभासन होना—सच्ची प्रतीति होना ही निश्चयसम्यक्त्व है।** सच्चा समकित यह कहलाता है कि स्वसन्मुख होकर पर से भिन्न करके अपने स्वभाव सन्मुख होकर... परन्तु बहुत सूक्ष्म बातें! मार्ग तो ऐसा है, अनादि का अभ्यास नहीं। इसलिए चीज़ जो है वस्तु नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्दस्वभाव जिसका, उसके सन्मुख होकर और पर पर्याय राग और निमित्त से भी विमुख होकर, स्वस्वभाव में अभेदता को पावे अर्थात् कि स्वसन्मुख होकर वह पर्याय उसमें रमे। आहाहा! ऐसी बात है। शशीभाई!

ऐसा भाव-भासन होना। अर्थात्? भाव अर्थात् स्वभाव जो चैतन्य शुद्ध अखण्ड आनन्द ऐसा भाव, उसका भासन होना। ज्ञान में उस भाव का भान होना। ओहोहो! ... प्रभु चिदानन्द नित्य आनन्द है, ऐसी वर्तमान पर्याय में से स्वसन्मुख को करते हुए जो स्व है, वह पर्याय में भासन-भान हुआ, उसकी जो सच्ची प्रतीति होना... आहाहा! यह सच्चा समकित है। यह निश्चय समकित है। ऐसा कठिन, भाई!

यह जो धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है। आहाहा! कि जो वस्तु भगवान पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञायकभाव प्रभु ध्रुव, उसे पर से भिन्न करके अर्थात् पर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर के त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य करके पर्याय को अभेद किया अर्थात् कि पर्याय को वस्तु की ओर सन्मुख किया। आहाहा! जो भाव अर्थात् ज्ञायकभाव, आनन्दभाव, शान्तभाव, शुद्धभाव, उसका ज्ञान में भासन अर्थात् ज्ञान होना, भाव का भासन अर्थात् ज्ञान होना और उसमें प्रतीति होना कि यह वस्तु जो ज्ञायक ... ज्ञात हुआ, उसकी प्रतीति होना, इसका नाम सच्चा समकित है। आहाहा! यह मार्ग है। इसके बिना इसके ज्ञान और वर्तन और व्रत-फ्रत सब बिना एक के शून्य हैं। आहाहा! समझ में आया?

इसके बिना जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता। देखा! .... डाला है सर्वत्र। तब तो मोक्ष होने का यह पात्र होता है। भगवान आत्मा बाहर से वृत्ति को समेटकर अन्तर स्वभाव में परिणति को अभेद करे। आहाहा! कितनी धीरज और कितनी वहाँ निवृत्ति चाहिए! आहाहा! यह कुछ बाहर से मिले, ऐसी चीज़ नहीं। जयन्तीभाई! यह सब क्या लगाया था तब तुमने सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण किये थे न!

मुमुक्षु : गुरु ने सिखाया ऐसा किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

कहते हैं कि, यह वस्तु ऐसी है और राग से भिन्न पड़कर स्वसन्मुख होना, ऐसी धारणा की हो तो भी वह निष्फल है। वह तो स्वसन्मुख होकर आत्मा आनन्दस्वरूप और ज्ञायकस्वरूप ऐसा उसकी पर्याय में भासन, भाव का भासन; भाव तो द्रव्य को कहा जाता है, गुण को कहा जाता है और पर्याय को भी कहा जाता है। परन्तु यहाँ भाव अर्थात् वस्तु त्रिकाली, उसका ज्ञान की वर्तमान दशा में स्वसन्मुख होकर यह वस्तु शुद्ध अखण्ड अभेद है, ऐसा जो पर्याय में भान होना, उसकी सच्ची प्रतीति होना, इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन है। वह अब मोक्ष का पात्र हुआ। आहाहा!

तथा शास्त्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' पहला सूत्र है न? पहले (अधिकार) का दूसरा सूत्र। **ऐसा वचन कहा है, इसलिए शास्त्रों में जैसे जीवादितत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है...** आहाहा! शास्त्र में लिखे, तद्नुसार सीख ले। **वहाँ उपयोग लगाता है,...** अर्थात् कि जीव, अजीव आदि क्या है? ऐसा। अकेले जीव में, उसकी बात नहीं अभी। **जीवादितत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है...** और नव तत्त्व में उपयोग लगावे। यह आस्रव कहलाता है और यह संवर कहलाता है और यह जीव कहलाता है। समझ में आया? आहाहा!

वहाँ उपयोग... अर्थात् जीवादि नौ जैसे हैं, वैसे लिखे, वैसे जाने और वहाँ उपयोग नौ में लगावे। **औरों को उपदेश देता है...** अन्य को उपदेश भी दे, आहाहा! **परन्तु उन तत्त्वों का भाव भासित नहीं होता...** परन्तु उसे वह चीज़ क्या है? नौ क्या है? कैसे है? ज्ञायकभाव का भासन होकर, उसमें यह पर्यायों का अभाव है, ऐसे एक ज्ञायकभाव का

भासन होने पर, उसकी दूसरी पर्याय का अभाव है, ऐसा इसे ज्ञान में स्वभाव का भासन होने पर इस प्रकार से इसे सच्चा ज्ञान और सच्ची प्रतीति होती है। आहाहा! तब तो इसे धर्म की शुरुआत होती है। यह पूजा और भक्ति को लाख करे, लाख यात्रायें करे, अरबों रुपये खर्च करे और मन्दिर बनावे। क्या कहलाती है वह पूजा? ऐई... चेतनजी!

मुमुक्षु : शान्ति पूजा।

पूज्य गुरुदेवश्री : शान्ति पूजा, सिद्ध की पूजा, कर्म (दहन) पूजा, वह सब आती है न? लाख करे नहीं? और अरबों रुपये खर्च करे न, उसमें धर्म नहीं है। आहाहा! शान्तिभाई! यह तुम्हारे दिगम्बर को बैठता नहीं वहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : बात अलौकिक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, बापू! आहाहा! अभी जिसके ज्ञान में इस अनुसार नहीं, उसका तो ज्ञान सच्चा होगा ही नहीं। जिसके ज्ञान में कि आत्मा के सन्मुख हो, भावभासन हो, उसकी प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन, ऐसा जिसके अभी ज्ञान भी नहीं परलक्ष्यी। समझ में आया? विकल्प के रागमिश्रित विचार में भी यह बात इस प्रकार से जानी नहीं, उसे तो निर्विकल्प निश्चय सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। और ऐसा विकल्प से जाना, इसलिए होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! परन्तु प्रथम विकल्प से ऐसी बात यह क्या चीज़ है? वस्तु क्या है? गुण क्या है? उसकी अवस्था क्या है? विकार क्या है? यह नौ तत्त्व आ गये इसमें। समझ में आया? ऐसा विकल्प से रागमिश्रित, स्वसन्मुख बिना रागमिश्रित विचार में ऐसा जिसे निर्णय नहीं, वह तो अन्दर का निर्विकल्प सम्यग्दर्शन कर सकेगा ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो अभी धर्म की पहली सीढ़ी। आहाहा! धर्म का पहला सोपान।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग। आहाहा! आज एक लेख आया है भाई उसमें! वाँचनकार को ऐसा नहीं करना। ठीक अच्छा लिखा है हरिभाई ने। हरिभाई ने लिखा है। अच्छा लिखा है। यह है न, क्या कहलाता है? आत्मधर्म। अन्तिम पेरेग्राफ में आया है। हरिभाई नहीं आये? पीछे हैं। यह लिखा है वह। वाँचनकारों को आक्षेप करना या और साधारण सुननेवाले हों और स्वयं कुछ हो इसलिए तोछडाई करना, ऐसा नहीं होता,

ऐसा नहीं होता। समझ में आया? और ऐसे व्यक्तियों को नीचे गिराना, ऐसा नहीं (होता)। सत्य कहना, वह सत्य की रीति से मीठी मधुर भाषा से कहना, परन्तु तिरस्कार की दृष्टि से, ऐसा नहीं होता। किसी व्यक्ति के साथ विरोध नहीं होता, वह भी भगवान आत्मा सत्त्वेषु मैत्री। सब आत्मा के प्रति मैत्री होती है। उसे द्वेष से नहीं देखना चाहिए। समझ में आया? वाँचनकार को शिक्षा, ऐसा कुछ है। क्या लिखा है भाई ने? वाँचनकार को....

मुमुक्षु : वाँचनकारों की जवाबदारी।

पूज्य गुरुदेवश्री : जवाबदारी। ठीक कहा, आया है। कहीं होगा किसी का अन्दर। आया होगा। आहाहा!

यह तो बापू! मार्ग अपना अन्दर स्थिर हो जाने का मार्ग है। उसमें ऐसे वेग और जोर आकर वस्तु का स्वरूप बतलाते हुए मीठी भाषा से बोले। किसी व्यक्ति के प्रति वैर-विरोध बिना। आत्मा है, भूला है। भूला वह...

मुमुक्षु : वक्ता हो तो जोर देना चाहिए न पर्याय में?

पूज्य गुरुदेवश्री : जोर, परन्तु किस प्रकार जोर?

मुमुक्षु : हरिभाई ने स्पष्टीकरण किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया है। चेतनजी! पढ़ा? अभी यह मैंने पढ़ा। कल सवेरे का आया है, कल आया है? कल आया है।

मुमुक्षु : मैंने कल शाम को पढ़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मैंने अभी आज पढ़ा। अच्छा लिखा है। देखो, ऐसे देखो। तुम्हारे पास। 'आत्मधर्म अपनी प्रिय अध्यात्म पत्रिका।' यह?

मुमुक्षु : अन्तिम पृष्ठ में अन्दर।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तिम पृष्ठ में। हाँ, हाँ। 'जिनवाणी वाँचनकारों की जवाबदारी' बहुत अच्छा आया है। कड़वे शब्दों को... यह आत्मा है, वस्तु समझाते हुए कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को समझावे, और सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्र को समभाव से समझावे, इससे किसी का तिरस्कार या द्वेष नहीं होता।

मुमुक्षु : ऐसा जोर है, इसलिए ऐसे शब्द आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जोर, वह किसमें जोर है? वाणी में? आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टि की तीक्ष्णता होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि की तीक्ष्णता वह अन्दर के लिये होती है या बाहर के लिये? कहीं आया होगा, उसे सुनने में। आया था कहीं? आया होगा, ऐसा लगता है। वाँचनकारों में से किसी ने कड़वाहट भाषा को... ऐसा नहीं होता। यह तो मीठा महेरामण भगवान चिदानन्द का नाथ, उसकी बात करते हुए भी उसमें कड़वाहट या तिखाश नहीं आनी चाहिए। आहाहा! यह कहना है, वह कहीं दूसरे को समझाने के लिये है? विकल्प आया है, वाणी निकलती है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी वाणी निकले इसमें उसे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो समझाने के लिये विकल्प आया और वाणी निकले, ऐसा कहा। परन्तु कड़वाहट से कहना और ऐसा विकल्प आवे, वह कहीं वस्तु है? समझ में आया? किसी के प्रति, अरे! भले अभव्य जीव हो, इससे क्या? जीव है। सर्व जीव है सिद्धसम। उसका स्वरूप तो परमात्मस्वरूप ही विराजमान है। जिसकी पर्यायदृष्टि गयी, वह दूसरे को पर्याय का जोर किसलिए दे?

मुमुक्षु : द्रव्यदृष्टि से जीवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य से देखे। उसका भगवान आत्मा है। भगवान भूला है, वह भूल को टालकर भगवान होगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **भाव भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम तत्त्व कहा है।** तत्त्वार्थ कहा है न? तत्त्वार्थ। अर्थ अर्थात् वस्तु और तत्त्व अर्थात् उसका स्वरूप, उसका भाव। तत्त्वार्थ, ऐसा कहा न? '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**' तो तत्त्व, वह भाव और अर्थ वह द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसी वस्तु। उसका भाव, उसका भाव भासन... आहाहा! उसका स्वरूप ही ऐसा है, वस्तु का ज्ञायकभाव का स्वरूप है। उसके गुण का स्वरूप है।

अपने प्रवचनसार की १५४ गाथा में आ गया था कि पर्याय को अन्तर में झुकाने से... क्योंकि पर्याय है, वह बाह्य है और वस्तु है, वह अन्तर है। समझ में आया? आहाहा! पर्याय प्रगटरूप बाह्य है। वास्तव में तो पर्याय की एकताबुद्धि, वह भी मिथ्यात्व है। आहाहा! उसे द्रव्य के साथ एकत्व करना है पर्याय को अब यहाँ। आहाहा! तो पर्याय है, वह वस्तु अन्दर है, वहाँ जाती है, ऐसे पर्याय अन्दर, तब वह तो द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब द्रव्य का ज्ञान होता है, गुण का ज्ञान होता है और वह पर्याय स्वयं भी कैसे है, उसका ज्ञान में तो है न? श्रद्धा में, निर्विकल्पता में अकेला ध्येय द्रव्य है। परन्तु उसके साथ जो ज्ञान होता है, वह तो सबको जानता है। ज्ञान का बहुत जानना, वह कहीं राग का कारण नहीं। आहाहा! यह वस्तु है, वह तो अपने आत्मा के लिये बात है। दुनिया को समझाना, उसे कहूँ, इसलिए धारणा करे, तो मुझे आता है, ऐसा दूसरे से तुझे प्रसिद्ध होना है बाहर? आहाहा! यह तो अपने आत्मा के लिये करने की बात है यहाँ तो। समझ में आया?

कहते हैं, '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**' ऐसा जो उमास्वामी का दूसरा सूत्र। पहला सूत्र '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणी मोक्षमार्गः**' उस काल का देखा भाई आज, हों! काल का। चन्दुभाई लाये थे। कालश एक में।

मुमुक्षु : कालश एक।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह दिगम्बर में काल बस इतना है। और यह श्वेताम्बर में कालश एक।

मुमुक्षु : कितने ही मानते हैं और कितने ही नहीं मानते।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होगा? ऐसी बात है यहाँ वह।

मुमुक्षु : परन्तु भगवान ने क्या कहा, यह आश्चर्य की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ही संशय। संशय के लिये, इसके लिये कहा है। आहाहा! कालद्रव्य मानते नहीं न श्वेताम्बर? कोई काल कहते हैं, ऐसा उनमें तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र बदल डाला है। यहाँ तो काल है, वह यहाँ अपने बहुत लिखा है। प्रवचनसार में बहुत सिद्ध किया है कि जो पर्याय है एक समय की... यह जो परमाणु है, एक प्रदेश

से। प्रदेश अर्थात् आकाश का, वहाँ से दूसरे प्रदेश में ऐसे जाता है, उसमें एक समय का माप आ जाता है। समय का, काल का माप आ जाता है, तो वह समय का माप आता है, वह पर्याय है, वह पर्याय है। जितने में पर्याय है, उतने में उसका द्रव्य है। यह काल नाम का पदार्थ है, वस्तु है। काल एक एक कोई कहता है, ऐसा नहीं। है? आहाहा!

अरे... कहाँ जगत को। सत्य क्या है, उसे कैसे अन्तर में शोधना? यह अपने लिये बात है यहाँ। मुझे ऐसा आयेगा, इसलिए मैं दूसरे को सिखाऊँगा और उसे विस्मयता प्राप्त कराऊँगा कि ओहो! गजब बात भाई तुम्हारी! यह तो सब लक्षण दूसरे प्रकार के हैं। शशीभाई! जरा ऐसी बात है, हों! ऐसा कि ऐसी बात मैं करूँ कि उसे ऐसा लगे कि आहा! तुम्हारा गजब ज्ञान, हों! और गजब थोड़े में बहुत निकालते हो तुम। ऐई... छोटाभाई! यह दृष्टि में विपरीतता है।

दूसरे ऐसा कहे और विस्मय पावे, इसके लिये कहना, इसके लिये धारण करना, यह तो दृष्टि विपरीत है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! यहाँ तो भावभासन... तत्त्व-अर्थ, द्रव्य, गुण और पर्याय यह अर्थ कहलाते हैं और इनका स्वरूप जो भाव, ज्ञायकभाव, ज्ञानभाव, पर्यायभाव... आहाहा! उसका... यह तो मार्ग ऐसा, बापू! तीर्थंकर केवली का मार्ग अर्थात् आहाहा! जिनकी सभा में सौ-सौ इन्द्र इकट्ठे हों, एकावतारी इन्द्र और सिंह और नाग... आहाहा! ऐसे केसरिया सिंह सैकड़ों आकर सभा में खड़े रहें। वह कैसी वाणी होगी वहाँ? आहाहा! शान्त... शान्त... शान्ति से सुने। आहाहा!

कहते हैं कि उसे भाव का भासन होना चाहिए। यहाँ ऐसा है वचन है न? **परन्तु स्वयं को उनका भाव भासित नहीं होता...** आहाहा! ज्ञायकस्वरूप वस्तु यह, उसका ज्ञानादिगुण और पर्याय यह। ऐसा भाव का अन्दर भासन अर्थात् उस सन्मुख होकर अभेद हुई नहीं दशा। आहाहा! उसे भाव-भासन नहीं। आहाहा! बापू! यह तो धर्म की बात है, भाई! यह कोई संसार की कथा नहीं। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर जगत के वीतरागमूर्ति प्रभु। आहाहा! यह वीतराग की दशा, जिसे पूर्ण दशा प्रगट हुई है, जिसे ज्ञान एक समय में पूर्ण तीन काल जाने। बापू! यह भाषा है वह अलग बात है। उसे लक्ष्य में लेकर ऐसा भाव जगत में है... आहाहा! ऐसा कब हो? कि अपने सामर्थ्य के

भाव का जिसे भासन हो। आहाहा! उसके गुण का भासन हो कि यह शक्तियाँ इतनी सामर्थ्यवाली है कि उसे प्रतीति में लेने से वह शक्ति व्यक्तरूप होकर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करेगी। समझ में आया? आहाहा!

लोग ऐसा कहते हैं कि यह सोनगढ़वालों ने समकित को महँगा कर दिया। बापू! सस्ता-महँगा तो जैसे है, वैसे है। सब्जीवाले होते हैं न! पूरे दिन बेचे। मण लेकर आया हो गाँव में से। उसमें ३५ सेर समाप्त हो गयी हो, ५ सेर रही हो दागवाली। दागवाली यह भिण्डी या करेला ऐसा होता है न जरा ऐसा कुछ। तो यह बनिया शोधकर ले, छोटाभाई जैसे हों।

मुमुक्षु : हिम्मतभाई जैसे हों तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, इनके पिता का नाम मैंने तो लिया है। बराबर देख-देखकर लेते हैं न? आहाहा! उसमें वह पाँच सेर रह गयी दागवाली। एक लोभी बनिया आया। उसने कहा कि देखो भाई! हम मण लेकर आये हैं और यह पाँच सेर बचा है। यह लेकर घर में जाना, इसकी अपेक्षा यह हमने चार आने सेर दिया है। तुमको तीन आने सेर देंगे। वह दाग तो है जरा। वह लोभी। सस्ता मिला न? पाँच सेर लिया पन्द्रह आने का। घर में जाये वहाँ पूरा दाग। पूरी भिण्डी और करेला। यह सस्ता मिला उसे। सस्ता और महँगा तो बापू! जैसा है, वैसा भाई! आहाहा! वस्तु जहाँ ऐसी है, वहाँ उसे महँगा और सस्ता क्या कहना? उसे ऐसे से तुम मानो, तुमको ऐसे हो जाता है और इसे ऐसे हो जायेगा। शत्रुंजय की यात्रा करो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। सम्मेदशिखर की यात्रा करो तो तुम्हारे ४९ भव में... एक व्यक्ति—साधु कहता था। मेरे पास एक लेख है। कहा, वह शास्त्र भगवान का नहीं। सम्मेदशिखर और परद्रव्य की यात्रा से भव घटे, वह शास्त्र का वचन वीतराग का नहीं। तो फिर कहे, नहीं, नहीं बराबर बात है। वह गया अब कहा। जो आशय था, वह आ गया इसमें।

भगवान चिदानन्द का नाथ जिसमें भव का भाव और भव नहीं, ऐसी चीज़ के अनुभव बिना भव घटे—तीन काल में नहीं घटते। यह करोड़बार सम्मेदशिखर जाये और शत्रुंजय कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा और चैत्र शुक्ल पूर्णिमा और बारम्बार हमेशा जाये।

कितने ही केसरियाजी जाते हैं। ऐई! जयन्तीभाई! वे नहीं तुम्हारे भोगीभाई है न? अपने कान्ट्रेक्टर के पिता वे जाते हैं। केसरिया एक बार जाये, दो बार जाये। केसरियाजी क्या, साक्षात् समवसरण में जाये न अनन्त बार, उससे क्या धर्म होता है? आहाहा! क्योंकि जहाँ परद्रव्य का आश्रय है, वहाँ तो विकार ही उत्पन्न होता है। लोगों को कठिन लगता है।

यहाँ तो स्वद्रव्य का भान होना, चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्णानन्द का नाथ। आहाहा! ऐसी चीज़ आत्मा है। अनन्त सिद्ध की पर्याय से भी जिसमें अधिकपना, ऐसी अनन्त सिद्ध की पर्याय जिसे शक्ति में पड़ी है। ऐसा यह भगवान आत्मा... आहाहा! अरे.. जगत को कहाँ समकित कैसे मानना और कैसे? इसकी खबर नहीं होती। और इसके बिना व्रत लेकर बैठे और तपस्यायें की, वह निर्जरा-चारित्र लिया, वह संवर। धूल भी नहीं, सब बिना एक के शून्य हैं। रण में रुदन मचाने जैसा है। वह शोर कोई सुनेगा नहीं और इसका रुदन बन्द रहेगा नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम तत्त्व कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान में वस्तु का स्वभाव जैसा भाव, जैसी अस्ति है, उसका ज्ञान में भान होना, उसे तत्त्व कहा है। **सो भाव भासित हुए बिना, तत्त्वार्थश्रद्धान कैसे होगा?** यह मोक्षमार्ग (प्रकाशक) की बात है। गुजराती आवृत्ति-२२८, २२।

तथा किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है... आहाहा! शास्त्रानुसार। **सच्ची बात भी बनाता है परन्तु अन्तरङ्ग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है;...** अन्तरंग निश्चयरूप स्वभाव के भानवाली जो निश्चयरूप श्रद्धा, वह उसे नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात! **इसलिए जिस प्रकार मतवाला, माता को माता भी कहे...** अफीम के नशे में माँ को माँ कहे, **तो वह सयाना नहीं है;...** क्योंकि उसमें माँ कह देता है और किसी समय स्त्री कह दे। उसे कहाँ भान है? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा होता है कि यह तो मेरी माँ है। यह माता है, ऐसा यथार्थ ज्ञान नशेबाज को कहाँ होता है? आहाहा!

एक मोढ की बात नहीं की? बोटाद की? मोढ बनिया था। उसकी नयी माँ थी, नयी माँ। फिर उसकी पत्नी गयी थी नहाने, परन्तु बहू के वस्त्र पहनकर उसकी नयी माँ

सो रही थी। बहू के वस्त्र। इसलिए उसे विषय की भावना हुई और वह मानो कि यह मेरी बहू है (नयी माँ ने) बहू के वस्त्र पहने हुए थे। ठल्ला लगाया उठाने के लिये। वह बाई कहे, क्यों बेटा? क्यों? बहू नहाने गयी है।

मुमुक्षु : शर्मा जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वृत्ति एकदम खिंच गयी। आहाहा! क्यों भाई? बहू नहाने गयी है। आहाहा! एकदम अभिप्राय बदल गया। ऐसे स्त्री मानकर जो ठल्ला मारा। अरे... यह तो माँ। भले नयी माँ परन्तु माता है न? अरे... भाई ! बहू नहाने गयी है। इतना जहाँ कहा, एकदम वृत्ति बदल गयी। भाव का ख्याल आ गया कि यह तो माँ है। मेरी स्त्री के वस्त्र पहने है। क्योंकि वस्त्र धोने गयी थी, रख गयी है और इसने पहने हैं। इसके कपड़े वह धोने गयी होगी। आहाहा!

इसी प्रकार आत्मा में राग और भेद के विकल्प को छोड़कर... आहाहा! और जीव ने राग का वेश पहना है। राग के विकल्प का वेश है। उसे यह अज्ञानी अनादि से आत्मा मान रहा है। परन्तु जब इसे भान हुआ, अरे! राग का वेश, वह तो परवस्तु है, यह वेश कहा न पहले? आहाहा! वह तो विकारी वेश है, वह वस्तु की पर्याय नहीं। आहाहा! वस्तु की दशा तो निर्विकल्प और निर्विकारी होती है, ऐसा जहाँ भाव का भान अन्दर हो, उसमें प्रतीति हो, उसे समकित कहा जाता है। आहाहा!

इसलिए जिस प्रकार मतवाला, माता को माता भी कहे... नशे में। वहाँ लिया है न तत्त्वार्थसूत्र में, नहीं? पहले अध्याय में लिया है। **तो वह सयाना नहीं है; इसी प्रकार इसको सम्यक्त्वी नहीं कहते।** आहाहा! शास्त्रानुसार सच्ची बात बतावे, परन्तु अन्तर में ज्ञायकभाव पूर्णानन्द का नाथ, उसके भाव का, उसके भाव का ज्ञान तो अन्दर आया नहीं। आहाहा! इसलिए उसे समकिती नहीं कहते। आहाहा!

तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो,... यह मोक्षमार्गप्रकाशक का है। **जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ'...** ऐसी जो ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु, वह मैं हूँ, ऐसा उसके सन्मुख होकर प्रतीति नहीं करता। ऐसा भाव उसे भासित नहीं होता। आहाहा! बहुत अच्छी

बात ली है। छोटाभाई ने भी बहुत अच्छा मिलाया है, मिलाया है। अभ्यासी थे या नहीं? कैसे थे? बी.ए.।

मुमुक्षु : बी.ए.

पूज्य गुरुदेवश्री : बी.एस.? तुम्हारी तरह?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बी.एस नहीं? तुम बी.एस. नहीं? ठीक, होगा कुछ। परन्तु दिमागवाला व्यक्ति। छोटाभाई अपने यहाँ व्याख्यान में आते थे। अन्तिम स्थिति थी, वहाँ गये थे न डेला में नहीं? बीमार थे न। हम गये थे। अन्तिम स्थिति थी। आहाहा! अच्छा मिलान किया है।

जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है... आहाहा! परन्तु वह आनन्द का नाथ और पूर्ण शुद्ध, वह मैं हूँ—ऐसा इसे अन्तर में भासित नहीं हुआ। आहाहा! आत्मा में आनन्द है, पर में आनन्द नहीं—ऐसी बातें करे परन्तु आनन्द है, वह भासित तो हुआ नहीं। यह कल्पना से, ऐसा कहता है। समझ में आया? आहाहा! **परन्तु यह आत्मा...** यह आनन्द, वह यह मैं हूँ—ऐसा उसकी पर्याय में उसे भाव भासित नहीं हुआ। आहाहा! जैसे रिकॉर्ड बोले, उसे भाव की खबर है? नहीं तो बराबर बोलता है। आहाहा! यह वाणी की वह रिकॉर्ड है, परन्तु उस रिकॉर्ड में आता है तो वह आत्मा, यह जो कहता हूँ मैं वह यह आत्मा, ऐसा (स्व) सन्मुख होकर निर्धार नहीं किया, भाव भासित नहीं हुआ। आहाहा! समझ में आया?

तथा जैसे किसी और का और से भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है... शरीर भिन्न है, भाई! वाणी भिन्न है, कर्म भिन्न है। इससे क्या हुआ? कहे। अन्तर में चैतन्यमूर्ति से शरीर भिन्न है, ऐसा भाव का तो भासन हुआ नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु .... छोड़ दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! तीन लोक का नाथ कहे तो भी इसे भासित नहीं हुआ। यह तो ग्यारह अंग को अनन्त बार धारण किया है, वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। स्व के भाव

के भासन का ज्ञान नहीं। आहाहा! एक जाना, उसने सर्व जाना। आहाहा! भले दूसरा ज्ञान थोड़ा हो, समझाना न आता हो। समझ में आया? आहाहा! इसलिए कितनों को ऐसा कि इसे समझाना आता नहीं, बोलना आता नहीं। परन्तु समझाना और बोलना वह तो परचीज़ है। सुन न! उसके साथ क्या सम्बन्ध है? समझाना आया, इसलिए ज्ञानी है और धर्मी है, ऐसा है? और समझाना न आवे, इससे अनुभवी नहीं, ऐसा सिद्ध होता है? समझ में आया? यह तो मुद्दे के रकम की बात है भाई यह तो! आहाहा!

किसी और का और से भिन्न बतलाता हो,... यह लड़का इसके पिता का यह है। ऐसा बताता हो। परन्तु यह शरीर भिन्न है, (ऐसा) भाव अन्दर भासित नहीं हुआ। आहाहा! **शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है परन्तु मैं, इन शरीरादि से भिन्न हूँ...** मेरी चीज़ में यह शरीर ही नहीं। अरे! मेरी चीज़ में राग भी नहीं। ऐसे स्व अस्तित्व में राग की नास्ति है, ऐसा अनुभव किये बिना इसने धारणा में बात ली, परन्तु इसे भाव भासित नहीं हुआ। आहाहा! यह तो गर्व उतार डाले, ऐसी सब बात है। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : आपकी बात ग्रहण करे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो स्वयं के लिये है या यह बात पर को समझाने के लिये है?

मुमुक्षु : हमारे ऐसा करना कि .... इतने वर्ष से हमको समझाते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना होने के बाद का विकल्प आवे, तब वाणी में आवे तो आना हो वह आवे। ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा!

अभी जिसे अशुभ में भी रस रहता है, वह जो शास्त्र की बातें करे कि ऐसा है, वह उसे कैसे यह बात अन्दर बैठे? आहाहा! समझ में आया? यह संसार के धन्धे, हिंसा, झूठ, चोरी, धन्धा, व्यापार, ऐसे पाप, ऐसे अशुभभाव में भी जिसे विषयवासना, उसमें जिसे रस है। उसे यह बात किस प्रकार बैठे? भले बात करे परन्तु इसे अभी बैठी नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? दूसरे महिमा करे, प्रशंसा करे, ओहो! तुमने तो गजब! आहाहा! और लोग फिर उसकी जन्मजयन्ती मनावे।

मुमुक्षु : जन्म हुआ करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कुछ नहीं होता। यह बहुतों को अभी यह हुआ है न, देखो न! हम ऐसे हैं, इसलिए लोग फिर जन्मजयन्ती मनावे। ओहोहो! आहाहा! सब दशा बापू! ऐसी बातें हैं। जन्मजयन्ती तो जिसे आनन्द का भान हुआ है और मोक्ष का निश्चय हो गया है। यहाँ तो शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि जिसे मोक्ष हो गया है, उसकी जन्मजयन्ती होती है। समझ में आया? जिसने जन्म को सफल किया। तथापि किसी को मोक्ष हुआ नहीं, परन्तु मोक्ष होने को सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि अन्तर से अनुभव में आया है, तो उसे अल्पकाल में मोक्ष होना है (ऐसा) जिसे निश्चित हो गया है। समझ में आया? आहाहा! जैसे कुन्दकुन्दाचार्य लो। जिन्हें संसार आसन्न का (अन्त) निकट आया है। संसार का किनारा जिन्हें निकट है। पैर रखे तो जब भव से अभाव होनेवाला है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य स्वयं, मुनि, पंच महाव्रतधारी, हजार वर्ष पहले सन्त की बात करते हुए उनका हृदय देख लिया। आहाहा! जिन्हें संसार का किनारा सिन्धु - भवसिन्धु... चौरासी के डुबकी मारते-मारते अनन्त भव किये, अब उनका किनारा आ गया है, कहे। आहाहा!

देखो न, कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा! है न उसमें? प्रवचनसार में पहली गाथा में। आहाहा! भव का किनारा दिखाई दिया अब, कहते हैं। यह एक या दो भव में सिद्धपद है। आहाहा! ऐसा जिसे भावभासन हुआ, उसे सच्चा समकित कहा जाता है। आहाहा!

परन्तु मैं, इन शरीरादि से भिन्न हूँ... शरीरादि, रागादि, ऐसा। **ऐसा भाव भासित नहीं होता।... इसलिए, 'आत्मा, शरीर से भिन्न है'—ऐसा जानने पर भी, यदि उसका भावभासन न होवे...** वह अजीव है, राग है, वह जीव के स्वभाव में नहीं—ऐसा ज्ञान का भाव का भासन न हो। **अनुभव में न आवे तो यह जानना कार्यकारी नहीं है।** तो वह जानना कार्यकारी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? हीराभाई! ऐसी बातें हैं।

श्लोक - ८२

तद्भावनायां च प्रवृत्तौऽसौ किं कुर्यादित्याह -

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ ८२॥

देहाद्व्यावृत्य शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत्। यथा पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देहमात्मतया नाध्यवस्येत्॥८२॥

इस भावना में प्रवृत्त होकर उसको (अन्तरात्मा को) क्या करना चाहिए ? सो कहते हैं —

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास।
जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास॥ ८२॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा, (देहात्) शरीर से (आत्मानं) आत्मा को (व्यावृत्य) भिन्न अनुभव करके, (आत्मनि) आत्मा में ही (तथैव) उस प्रकार से (भावयेत्) भावना करे, (यथा पुनः) जिस प्रकार से फिर (स्वप्नेऽपि) स्वप्न में भी (देहे) शरीर की उपलब्धि होने पर, उसमें (आत्मानं) आत्मा को (न योजयेत्) योजित न करे अर्थात् आत्मा न समझ बैठे।

टीका - देह से आत्मा को व्यावृत्त करके (भिन्न अनुभव करके) — शरीर से पृथक् करके (अनुभव करके), आत्मा में स्थित स्वस्वरूप को इस प्रकार भाना (अनुभवना) अर्थात् शरीर के भेद करके (भिन्न करके) दृढ़तर भेदभावना के प्रकार से (इस प्रकार) भाना कि फिर से स्वप्न में भी-स्वप्न अवस्था में भी देह की उपलब्धि (प्राप्ति) हो तो भी, उसमें (देह में) आत्मा का जुड़ान नहीं हो अर्थात् देह को आत्मस्वरूपपने मानने में नहीं आवे।

भावार्थ - शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर अर्थात् आत्मा को आत्मारूप ही जानकर; शरीररूप नहीं जानकर, उसकी ऐसी दृढ़ भावना करनी कि स्वप्न में भी फिर से देह को आत्मा मानने का अध्यवसाय नहीं हो।

विशेष स्पष्टीकरण -

स्व-पर को भिन्न जानने का चिह्न तो ज्ञान-वैराग्यशक्ति है। भेदविज्ञान की भावना से यह वैराग्यभाव अर्थात् राग से विरुद्धभाव — परपदार्थों में उपेक्षाभाव, यदि श्रद्धा और ज्ञान में भी न हो, तो वह भाव कार्यकारी नहीं है।

कहा भी है —

सम्यग्दृष्टे र्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥

अर्थात्, सम्यग्दृष्टि को नियम से ज्ञान और वैराग्यशक्ति होती है क्योंकि वह (सम्यग्दृष्टि जीव), स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि द्वारा, अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिए, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है'—ऐसा भेद, परमार्थ से जानकर, स्व में रहता है (टिकता है) और पर से-राग के योग से-सर्व प्रकार विरमता (रुकता) है।

(श्री समयसार, कलश १३६)

अन्तरात्मा, भेदविज्ञान की दृढ़भावना से शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव का सेवन करता है॥८२॥

श्लोक - ८२ पर प्रवचन

इस भावना में प्रवृत्त होकर उसको (अन्तरात्मा को) क्या करना चाहिए ? तब अब क्या करना इसे ? यह बात है। ८२।

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ ८२॥

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास।
जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास॥ ८२॥

क्या शब्द है यह? व्यावृत्त है, ठीक। आहाहा!

स्वप्न में भी न आवे इसे कि यह शरीर मैं हूँ। स्वप्न में भी ऐसा आवे कि मैं तो चैतन्य चमत्कार भिन्न हूँ। आहाहा! समझ में आया? ऐसी कहते हैं कि इसे अन्दर की लगन लगना चाहिए। आहाहा!

नीचे ज्ञानार्णव का श्लोक दिया है। **शरीर से आत्मा भिन्न है, ऐसा सुनकर...** ऊपर के साथ मिलाना। **तथा बोलने पर भी...** है? **'शरीराद्भिन्नमात्ममानं शृणवन्नपि वदन्नपि।'** बोलने पर भी और सुनने पर भी **भेदाभ्यास में निष्ठित नहीं होता...** उससे भिन्न पड़कर आत्मा के आनन्द में आता नहीं। **(परिपक्व) नहीं होता...** अर्थात् अनुभव नहीं होता। **वहाँ तक वह मुक्ति को नहीं पाता।** आहाहा! ग्यारह अंग पढ़ा होगा अनन्त बार। उसके आत्मा की खबर नहीं हो उसे? उसे माहात्म्य आया है परन्तु धारणा में आया है। स्पर्श करके आया नहीं। त्रिकाली को स्पर्श नहीं किया। आहाहा! वैसे तो छहों द्रव्यों को जानता है या नहीं? उसमें जीवद्रव्य नहीं आता? यह ज्ञान में शास्त्र में कहा, तत्प्रमाण उसे धारणा ज्ञान में आया है। कि यह जीव तो अभेद है, शुद्ध है, अखण्ड है, ऐसी धारणा हुई, परोक्ष रीति से ऐसी महिमा भी आयी। यह जीव अखण्ड पूर्ण अनन्त गुण का पिण्ड है, ऐसा अनन्त अचिन्त्य सामर्थ्य, परोक्ष रीति से माहात्म्य भी आया है। इतना पढ़े न! परन्तु अन्दर प्रत्यक्ष वेदन में इसे नहीं आया। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

वह मुक्ति को नहीं पाता। ८२, **टीका - देह से आत्मा को व्यावृत्त करके...** व्यावृत्त शब्द भाई ने कहा था न? व्यावृत्त शब्द है। **'देहाद्व्यावृत्त्य'** है। देह से भगवान आत्मा को पृथक् करके, आहा! भिन्न अनुभव करके। राग और शरीर से प्रभु आनन्द का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, ऐसा जिसने अनुभव किया। आहाहा! **शरीर से पृथक् करके (अनुभव करके), आत्मा में...** करके, अब अन्दर बात आयी यह तो। बोलकर, धारणा करके, समझाकर—ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

देह से आत्मा को व्यावृत्त करके (भिन्न अनुभव करके)—शरीर से पृथक् करके (अनुभव करके), आत्मा में स्थित स्वस्वरूप को इस प्रकार भाना... आत्मा आनन्दस्वरूप के विषय में स्थित स्वस्वरूप को इस प्रकार से भाना, अनुभव करना कि

शरीर के भेद करके (भिन्न करके) दृढ़तर भेदभावना के प्रकार से... दृढ़तर। पर से भेद और स्व में एकाग्रता के प्रकार से; भेदभावना है न? राग और शरीर से भिन्न पड़कर स्व की एकाग्रता। यह भावना। यह भेदभावना। आहाहा! ऐसी बातें, लो! उसमें तो अकेली एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया इसकी तो कहीं बात भी आयी नहीं। प्रेमचन्दभाई! ऐई... चिमनभाई! क्या किया था तब यह अभी तक तब तुमने सब? एकेन्द्रिया... आहाहा!

ऐसा है। अनादि वस्तु का अभ्यास नहीं। स्व का माहात्म्य इसे अन्दर में आया नहीं। ऐसा शास्त्र महिमा करे आत्मा ऐसा है... ऐसा है... ऐसा करके धारणा में तो माहात्म्य आया, परन्तु अन्दर भाव भासित हुए बिना माहात्म्य यथार्थ नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश, लो, अब यह। अब मुश्किल-मुश्किल से समझे। हमारे एक लड़का कहता था वहाँ, अपने बोर्डिंग का—कि महाराज! बहुत सूक्ष्म। मैंने कहा, बात तो सच्ची है, बापू! सूक्ष्म तो है, भाई! आहाहा! सूक्ष्म मोती पकड़ने में संडासी काम आवे? यह लड़कियाँ करती हैं न यह तोरण बनावे, मोती के नारियल भरे।

नारियल भी आता है हमारे, हों, वहाँ किसी के भरे हुए। मोती-बोती के आते हैं न? आते हैं। रखे हैं। मोती के भरे हुए रखे न, उसमें चित्र होते हैं, स्वस्तिक होता है। तो वह संडासी से मोती रखे जाते हैं उसमें? स्वस्तिक ऐसे पूरना हो तो ऐसे लाल... लाल... लाल... ऐसा करे, फिर ऐसा करे और फिर रखे, टपका करे। तो सूक्ष्म मोती भी संडासी से पकड़ में नहीं आते, तो यह सूक्ष्म बातें विकल्प से कैसे पकड़ में आये? आहाहा! ऐसी बातें, बापू! यह तो जन्म-मरण के अन्त लाने की बातें हैं। बाहर से प्रसन्न-प्रसन्न होकर सब घूमे। आहाहा! दो-पाँच लाख खर्च करे, धर्म धुरन्धर का पद दे देवे उसे। और तख्ती लगावे संगमरमर में। वह स्वयं तख्ती लगाने के लिये बहुत मेहनत ले। आहाहा! देखो, हमने पाँच लाख खर्च किये हैं। स्वयं दूसरे न करे, दूसरे को खड़ा करे। उसके प्रमाण में कुछ करना चाहिए न तुम्हारे? उपाश्रय में दो लाख खर्च किये, देखो! डालो इसके नाम की तख्ती भाई! इसने मेहनत की है। इसकी तख्ती लगाओ। उसमें उसका क्या हुआ? आहाहा!

जिसने आत्मा में अनुभव की उत्कीर्णता नहीं की, उसने लक्ष्मी अपनी अनन्त गुणवाली लक्ष्मी है, उसकी उसने सम्पदा की प्रतीति नहीं की, उसे प्रयोग करना आया नहीं। आहाहा! अनन्त गुण का धनी जिसे एकाग्र होकर प्रयोग करना आवे उसे... अपनी लक्ष्मी को अनुभव में प्रयोग करना आवे। समझ में आया? ऐसी कठिन बातें भाई! लो, भावनगर यह सब आते हैं तो रविवार को भावनगरवाले। ऐसी बातें सूक्ष्म आवे। चिमनभाई! बापू! मार्ग ऐसा है, हों! दूसरे कोई ठगेंगे। उल्टा-हल्का करके बतायेंगे, ठगा जायेंगे, भाई! जिन्दगी चली जायेगी। आहाहा!

वह अन्ध का नहीं कहा था? हमारे हीराजी महाराज दृष्टान्त देते थे। भरूच से उस ओर जाना हो नर्मदा को उल्लंघकर, कोई यात्रा का कुछ होगा कि यह लड़का और उसकी माँ, दो व्यक्ति। उनका पिता मर गया, लड़का अन्ध। फिर जहाज फूटे पड़े हुए। कागज चिपकाकर अच्छा किया। और पाँच रुपये इस किनारे से उस किनारे ले जाने के पाँच रुपये लेते थे, दूसरे अच्छे (नाववाले)। यह कहे कि दो रुपये। बैठा और वह जहाँ वह जहाज कागज चिपकाकर छिद्र को व्यवस्थित किया था तो पानी आने लगा। जहाँ आगे, भाई! तुम जानते नहीं। वह पाँच और हम दो (लेते हैं)। इसमें कुछ दगा है, इसकी खबर तुम्हें नहीं। मैं तो अन्ध हूँ, देखो! यह चश्मा निकाल डाला। मैं तो अन्ध हूँ, तुम भी अन्ध? कि पाँच रुपये इस किनारे से उस किनारे के लेते हैं और मैं दो लेता हूँ। इसी प्रकार यह सस्ता बताते हैं लोग दूसरे को। दया पालो, भक्ति करो, दान करो, व्रत करो, अपवास करो, तुम्हारा कल्याण होगा, वे सब अन्ध के जहाज में बैठे हैं। ऐई... कपूरभाई! आहाहा!

(इस प्रकार) भाना कि फिर से स्वप्न में भी... आहाहा! देह की उपलब्धि हो तो भी। अर्थात् देह भले मिले, ऐसा कहते हैं। शरीर दूसरा मिले एक-दो, **तो भी, उसमें (देह में) आत्मा का जुड़ान नहीं हो अर्थात् देह को आत्मस्वरूपपने मानने में नहीं आवे।** ऐसा दृढ़तर आत्मा के अन्दर में स्वभाव का भान करके दृढ़ हो तो स्वप्न में भी देह फिर से मिले तो वह मेरा है, ऐसा स्वप्न में भी नहीं होता। उसे भेदज्ञान कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १३, सोमवार, दिनांक २१-०७-१९७५, श्लोक-८२-८३, प्रवचन-९६

समाधितन्त्र। ८२ गाथा का भावार्थ। **शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर...** आत्मा के अवयव-अवयवों से भी भगवान आत्मा को भिन्न जाने। यह सब अवयव हैं, वे भी शरीर है न? कान, नाक, आँख। वे सब शरीर से (भिन्न) ध्रुव स्वभाव का लक्ष्य करके, नित्यानन्द के ध्यान में आकर, जो शरीर से भिन्न आत्मा को जानता है। **आत्मा को आत्मारूप ही जानकर;...** ज्ञायकभाव चैतन्यभाव ऐसा जो स्वभाव, उसे शरीर से भिन्न जानकर, वह **शरीररूप नहीं जानकर,...** आत्मा को आत्मारूप से जानकर और शरीररूप नहीं जानकर। आहाहा!

उसे ध्रुव का अन्दर बहुमान आना चाहिए। पर्याय से पर्याय में एकत्वबुद्धि है। शरीर में एकत्वबुद्धि, वह तो एक ओर रखो। परन्तु एक समय की पर्याय में भी जिसकी एकत्वबुद्धि है, वह शरीर से भिन्न नहीं जान सकेगा। ऐसी वस्तु जो है, उसमें दृष्टि को पसारकर, शरीर से आत्मा का भिन्न जानकर और आत्मा से शरीर को भिन्न जानकर। आहाहा! ऐसा गुण है। **उसकी ऐसी दृढ़ भावना करनी...** अपना जो अस्तित्व है, वह शरीर से तो उसकी अस्ति भिन्न है। शरीर की अस्ति, शरीर के कारण से है, आत्मा की अस्ति के कारण से शरीर की अस्ति नहीं है। आहाहा! मूल पर चोट आये बिना भिन्न पड़ सके, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। यह कठिन पड़े न लोगों को। परन्तु कठिन पड़े वह अभ्यास नहीं इसे।

मुमुक्षु : अनाभ्यास के कारण कठिन लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास से कठिन नहीं पड़ता। आहाहा!

ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप वह अतीन्द्रिय आनन्द का दल है। प्रदेश-प्रदेश में अनन्त आनन्द पड़ा है उसमें। आहाहा! जिसे आनन्द की पिपासा है, वह जहाँ आनन्द है, वहाँ उसे खोजे—ढूँढ़े। आहाहा! उसे ढूँढ़ने से शरीर से भिन्न से आत्मा को जाने और आत्मा से भिन्न शरीर को जाने। आहाहा! बहुत मार्ग ऐसा, बापू! नहीं तो वर्तमान लोगों को तो क्रियाकाण्ड में ऐसे दौड़ गये... आहाहा! उन्हें यह सुनना भी कठिन पड़े ऐसा है।

वस्तु ऐसी सूक्ष्म है, तत्त्व है न!

कहते हैं कि **स्वप्न में भी फिर से देह को आत्मा मानने का अध्यवसाय नहीं हो।** आहाहा! जिसने भगवान आत्मा को शरीर से भिन्न जाना, तो मेरे ज्ञायकभाव के अस्तित्व में शरीरपने की नास्ति है। अभाव आया था न! शरीर का तो उसमें अभाव है। भाववान को अनुभव करने पर शरीर का अभाव, उसमें अनुभव में आ जाता है। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! आहाहा! वस्तुस्थिति ही ऐसी है वहाँ। भले एक क्षेत्र में यह सब दिखाई दे। परन्तु रजकण-रजकण की अवस्था भगवान आत्मा से भिन्न है। आहाहा! ऐसा जानकर **स्वप्न में भी फिर से...** देह, वह मैं और देह मेरा, ऐसा अध्यवसाय नहीं आता, ऐसी दृढ़ श्रद्धा और दृढ़ अनुभव करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

विशेष— यह समयसार का जरा डालते हैं। **स्व-पर को भिन्न जानने का चिह्न...** आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है और यह शरीर, वह जड़ और अजीव है, ऐसे भिन्न जानने का लक्षण, निशान, चिह्न क्या? **ज्ञान-वैराग्यशक्ति है।** आहाहा! स्वरूप के अस्तित्व का ज्ञान और राग से अभावस्वभावरूप का भान, वह वैराग्य। **भेदविज्ञान की भावना से यह वैराग्यभाव अर्थात् राग से विरुद्धभाव...** आहाहा! आत्मा राग से भिन्न भासित होने पर राग आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा अन्दर में भान होता है। आहाहा! ऐसा वैराग्य करना कि भेदविज्ञान की भावना से वैराग्यभाव इतना हो कि राग से विरुद्धभाव (अर्थात्) परपदार्थ में उपेक्षाभाव (हो)। आहाहा!

यदि श्रद्धा और ज्ञान में भी न हो,... परपदार्थ की उपेक्षा ऐसे श्रद्धा और ज्ञान में न हो और शरीरादि और वाणी आदि पर, वह मैं, उनकी अपेक्षा से मैं हूँ—ऐसी जिसे भावना है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! राग से विरुद्ध भाव परपदार्थों में उपेक्षा भाव जो श्रद्धा और ज्ञान में भी न हो **तो वह भावना कार्यकारी नहीं है।** भावना तो स्वभाव पूर्ण है, उसमें एकाग्र होने पर परपदार्थ की उपेक्षा उसमें आ जाती है। आहाहा!

इन्द्र के इन्द्रासन, इन्द्रपद हो, चक्रवर्ती के चक्रवर्तीपद हो, तो भी स्वभाव का भान-ज्ञान होने पर और पर से-राग से एकत्व छूटने पर उसे पर की उपेक्षा हो जाती है। छह खण्ड के राज में चक्रवर्ती का राज... सम्यग्दृष्टि को अन्तर के स्वरूप का अस्ति का

ज्ञान है और राग के अभाव का वहाँ नास्तिपने का वैराग्य है। आहाहा! राग मुझमें नहीं तो फिर यह चक्रवर्ती पद कहाँ से आया मुझमें? आहाहा! ऐसी बात है, भाई! मुद्दे की रकम की दृष्टि और पर से वैराग्य, यह मूल चीज़ है।

पर में उल्लसित वीर्य होकर उल्लासता आवे, उसे चैतन्य के स्वभाव का पर से (भिन्न) भान नहीं। समझ में आया? एक बार ऐसा विचार आया कि भगवान के शरीर को हजार नेत्रों से देखते इन्द्र....

मुमुक्षु : भगवान के शरीर को हजार नेत्रों से देखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो एक विकल्प काल हो तब उसे। बाकी अन्दर के ज्ञान नेत्र से अनन्त चक्षु खोलकर आत्मा को अन्दर देखे। आहाहा! वह तो भगवान का शरीर इतना सुन्दर और इतनी कोमलता और इतनी एक शरीर के एक-एक अवयव शान्तरस के परिणमनवाले उसमें उस प्रकार के ऐसे ही परमाणु वहाँ आये हैं। उसे देखने को इन्द्र हजारों आँखें करता है। उनका रूप, उस विकल्प का काल कैसा! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुण का पिण्ड, उसका रूप देखने के लिए आत्मा के नेत्र की बहुत खिलावट करके उसे आत्मा को अन्दर देखना, उसे जानना। आहाहा! जिससे उसे ज्ञान और वैराग्य शक्ति दोनों साथ में प्रगट हो। यह लोग कहते हैं, ऐसा भी भाई! हमारे यह संसार में रहना, स्त्री-पुत्र में रहना, अब ऐसे धन्धे करना, अब ऐसी तुम बात करो। आहाहा! भाई! तू बाहर का कर कहाँ सकता है? तेरे भाव में उसका अस्तित्व कहाँ है? इससे वहाँ रुककर क्या किया तूने? तेरी दृष्टि वहाँ रोकी है। किया तो कुछ नहीं पर का। आहाहा! उस दृष्टि को राग से भी छोड़कर और दृष्टि का विषय जो परमात्मस्वरूप भगवान स्वयं, उसमें दृष्टि को पसारकर, ज्ञान हुआ तब, यहाँ प्रसारी ज्ञान हुआ तो राग के अभाव-स्वभावरूप वैराग्य हुआ। आहाहा! इसका नाम वैराग्य।

दृष्टि के विषय को पूर्णरूप से प्रतीति में, अनुभव में लिया, उसे परसन्मुख का वैराग्य हुआ, उसे वैराग्य कहा जाता है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव। है न? **राग से विरुद्धभाव—परपदार्थों में उपेक्षाभाव, यदि श्रद्धा और ज्ञान में भी न हो, तो वह भावना कार्यकारी नहीं है।** वह स्वरूप की भावना ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अब यह क्या कहते हैं? श्लोक है न? कलश-१३६, समयसार। **सम्यग्दृष्टि को...** वस्तु पूर्ण आनन्द का नाथ जिसे पकड़ में आ गया अन्दर में, अर्थात् कि उसे पकड़ हुई, अनुभव हुआ, ग्रहण किया, वह जैसी जितनी जिस प्रकार से स्वभाव के माहात्म्यवाली चीज़ है, उसी प्रकार से उसकी दृष्टि में आ गयी चीज़, वह सम्यग्दृष्टि अर्थात् सच्ची दृष्टिवाला **नियम से ज्ञान और वैराग्यशक्ति होती है...** आहाहा! स्वरूप का ज्ञान और राग से अभावरूप वैराग्य। आहाहा!

उसमें तो डाला है, नहीं? राग की मैत्री। जयसेनाचार्य ने डाला है। वह तो निमित्तरूप से ऐसा राग होता है, ऐसा कहा। उसके अर्थ में तो फिर भाई ने कलश में से यह निकाल डाला। पूर्ण शुद्ध है, उसका अनुभव, प्रतीति, वह ज्ञान। और अशुद्धता का अभावरूप परिणमन, वह वैराग्य। आहाहा! ऐसी व्याख्या है, भाई! इसने अनन्त काल गँवाया, उल्टी श्रद्धा। बहुत तो यह जानपने के भाव हो शास्त्र में और उसमें यह सन्तुष्ट हो जाये, अटक गया वहाँ। सन्तोष कि हमको कुछ जानना है। धारणा हुई है। आहाहा! यह पर्याय की एकत्वबुद्धि में रुक गया है।

क्षयोपशमज्ञान के अंश की भी जिसे अधिकता लगे, उसे पूर्णानन्द के नाथ की क्षयोपशम से अधिकता उसे नहीं लगती। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्म कैसा! ऐई! गोपाणी! कहाँ इसमें पालियाद में कुछ था नहीं ऐसा। यह और भाग्यशाली को (मिले)। पालियाद तो पक्का। विशाश्रीमाली। उनके दादा थे, सेठ थे। स्थानकवासी के सेठ पालियाद में। बेचारे खानदानी व्यक्ति, हों! परन्तु यह बात वहाँ नहीं थी। आहाहा!

मुमुक्षु : यह बात हो, उसे सम्प्रदाय में रहने दे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रहने दे नहीं। इनके पिता के पिता बहुत खानदानी भाई है। स्थिति साधारण परन्तु सेठिया उसे सेठ माना जाए। स्थानकवासी के प्रमुख। परन्तु यह चीज़ वहाँ नहीं थी। हीराजी महाराज स्वयं, उन्होंने जहाँ सुनी नहीं। वह तो यह क्रिया करे—दया, व्रत, भक्ति और पूजा। भक्ति-पूजा तो कहाँ थी? और दया, व्रत, तप, अपवास, बस यह धर्म। आहाहा! अरेरे! भगवान आत्मा पूर्ण शक्ति का पर्याप्त से भरपूर। यह छह पर्याप्ति दूसरी चीज़ है। यह तो परिपूर्ण पर्याप्त.... अनन्त गुण से परिपूर्ण पर्याप्त

वस्तु अन्दर है। आहाहा! छह पर्याप्ति बाँधी न हो, तब तक अपर्याप्त कहलाता है और छह पूरी बाँधे, तब पर्याप्त। वह तो जड़ की अपर्याप्त और पर्याप्त। आहाहा!

परन्तु भगवान आत्मा पूर्ण एक-एक प्रदेश में अनन्त आनन्द की खान, खान है वह। ऐसे असंख्य प्रदेश से व्यापक, अतीन्द्रिय आनन्द के रस से परिपूर्ण भरपूर प्रभु, उसकी दृष्टि में वह जब तक न आवे, तब तक उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता और उसे राग से अभावरूप वैराग्य भी नहीं हो सकता। आहाहा! छह खण्ड के राज में रहा, तथापि वह वैरागी हो। निहालभाई ने तो कहा है न, चक्रवर्ती छह खण्ड साधता (नहीं)। ऐई... रतिभाई! फिर? अखण्ड को साधता है। याद है। वह छह खण्ड को नहीं साधते। आहाहा! अखण्ड को साधते हैं। आहाहा!

जिसकी दृष्टि में परमात्मा अखण्ड स्वरूप जहाँ अन्दर अनुभव में आ गया। आहाहा! वह तो अखण्ड को साधता है। ऐसे भले प्रसंग हों बाहर लड़ाई आदि में। परन्तु वहाँ तो अखण्ड पर ही जिसका साधकपना हुआ है। आहाहा!

क्योंकि वह (सम्यग्दृष्टि जीव), स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग... देखो यह। स्वरूप का ग्रहण, वह ज्ञान; पर का त्याग, वह वैराग्य। आहाहा! राग का त्याग, वह वैराग्य, हों! यह बाहर का त्याग नहीं। आहाहा! **स्वरूप का ग्रहण...** अर्थात् पकड़ना। **और पर का त्याग करने की विधि द्वारा,...** राग के अभाव-स्वभावरूप विधि द्वारा। आहाहा! **अपने वस्तुत्व का...** अपना वस्तुत्व। वस्तु के स्वरूप का। वस्तु है न? उसका वस्तुपना, ऐसा। आनन्दपना, ज्ञानपना, शान्तिपना, वीतरागतापना, स्वच्छ, स्वतन्त्रपना आदि अनन्त गुणों का स्वरूप **अभ्यास करने के लिए,...** यह उसका अभ्यास। शास्त्र का अभ्यास, वह नहीं। आहाहा!

'यह स्व है और यह पर है'... ऐसा अन्दर भासन होना, भाव का भासन होना। स्व चैतन्य ज्ञायकस्वभाव, ऐसे भाव का ज्ञान होना, ज्ञान की पर्याय में यह पूर्ण आनन्द है, पूर्ण स्वरूप है, उसका ज्ञान होना। उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता, परन्तु पर्याय में द्रव्य का जितना सामर्थ्य है, उसका ज्ञान आता है। समझ में आया? और वह **'यह स्व है और यह पर है'—ऐसा भेद, परमार्थ से जानकर,...** रागादि का विकल्प भी पर है, त्रिकाल

स्वभाव की अपेक्षा से राग, वह अत्यन्त भिन्न चीज़ है। राग, वह अजीव है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ऐसा विकल्प है, वह अजीव है। अजीव आता है न? पहले जीव-अजीव अधिकार में। ऐसा ही आता है न, परन्तु वह जीव नहीं।

जीव तो अनन्त आनन्द और अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, शुद्धस्वभाव से भरपूर, उसका आश्रय लेकर जो शुद्ध उपयोग हो, उस पर्याय में उस द्रव्य का ज्ञान आता है। और वह पर्याय राग से विरक्तरूप परिणमती है। आहाहा! चाहे जिस प्रसंग में श्रद्धा और ज्ञान हुए, वह श्रद्धा और ज्ञान का कार्य तो हुआ करता है या नहीं? भले राग हो, युद्ध हो, विषय-वासना का विकल्प हो, परन्तु उस समय श्रद्धा-ज्ञान का कार्य—परिणमन है या नहीं? आहाहा! उस समय भी मैं तो पूर्णानन्द हूँ, ऐसी श्रद्धा और उस रागरूप नहीं, ऐसी श्रद्धा और ऐसा ज्ञान। आहाहा! श्रद्धा और ज्ञान का कार्य, श्रद्धा और ज्ञानरूप परिणमना, वह परिणमन कार्य तो सदा निरन्तर होता है। आहाहा! समझ में आया? यह उसकी वस्तु की स्थिति यह है। आहाहा!

स्व यह है। आहाहा! यह तो जिसे स्व का हित करना हो, उसकी बात है। आहाहा! जिसे यह बातें करनी हो और जगत में दिखाव करना हो, उसके लिये तो यह बात है नहीं। आहाहा! ऐसा है यह। भाई ने दृष्टान्त नहीं दिया? निहालभाई ने दिया था। यह जंगल में या बाग में फूल हो, उसे कोई सूँघे तो उसकी कीमत होती है? तो सुगन्धपने रहे? और सूँघे नहीं तो सुगन्धपने नहीं रहेगा? वह तो सुगन्धस्वरूप ही है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और राग के अभाव-स्वभाव का वैराग्य, उसे कोई जाने कि यह ऐसा है तो ही वह वहाँ रहे वस्तु? और कोई उसे न जाने तो इससे वस्तु वहाँ से चली जाये? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **'यह स्व है और यह पर है'—ऐसा भेद, परमार्थ से जानकर, स्व में ही रहता है...** भले राग हो, परन्तु उस राग से अभाव-स्वभावरूप में ही होता है। राग के भाव में वह होता नहीं। आहाहा! ऐसा धर्म और यह रीति है। लोगों को सुनते हुए ऐसा लगे नये को तो, (कि) यह क्या नये प्रकार का धर्म निकाला है यह? वीतराग का मार्ग ही यह है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव ने इस मार्ग को जाना और

ऐसा अनुभव करके पूर्ण किया, तब यह वाणी आयी। आहाहा! तीर्थंकर छद्मस्थ हों, तब तक उपदेश नहीं देते। कोई साधारण भाषा कहे, उपदेश तो केवलज्ञान हो, तब देते हैं। तब उपदेश का विकल्प और उपदेश... विकल्प तो टूट गया है, परन्तु उपदेश की वाणी का योग तब उन्हें होता है।

कहते हैं कि **पर से-राग के योग से-सर्व प्रकार विरमता (रुकता) है।** आहाहा! परमार्थ से स्व और यह पर, ऐसा भेद परमार्थ से जानकर... परमार्थ से जानकर। आहाहा! स्व में रहता है और पर से राग के योग से सम्बन्ध से सर्व प्रकार से विराम पाता है। आहाहा! स्वभाव को और राग को सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! ऐसा जो वैराग्यरूप से परिणमना, उसका नाम पर से उदासीन और अपने में स्थिर होता है, यह उसका नाम (वैराग्य) कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

भेदविज्ञान की दृढ़भावना से... शरीर और राग से भिन्न करने की दृढ़ एकाग्रता से। आहाहा! भावना अर्थात् एकाग्रता, हों! विकल्प से ऐसे भाना, ऐसा नहीं। वह भावना नहीं। वस्तु जो है महाप्रभु, जिसकी कीमत पर्याय के एक समय के समक्ष महाकीमती चीज़ है वह। एक समय की पर्याय की कीमत से—निर्मल पर्याय, सिद्ध की पर्याय। आहाहा! उससे भी प्रभु महा हीरा कीमती में कीमती वह चीज़ है। जिसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। ऐसी बेहद चीज़ को पर से भिन्न करके, अपनी दृढ़ भावना अर्थात् स्वभाव में एकाग्रता से, **अन्तरात्मा, शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव का सेवन करता है।** आहाहा! इसका नाम समाधि। राग से उपेक्षा और पूर्ण स्वरूप की अपेक्षा। आहाहा!

पूर्ण ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द की अपेक्षा और राग की उपेक्षा। यह ज्ञान और वैराग्य। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! लोगों को ठीक पड़े, न पड़े। पण्डितों को... वस्तु तो इस प्रकार से है। यह ८२ हुई।

८३। आत्मा के अतिरिक्त बाहर चीज़ें रागादि या पर, उनकी कोई भी स्वच्छता और अनुकूलता या उसका माहात्म्य जिसे आवे। ओहो! सुन्दर शरीर, वाणी सुन्दर। आँख (आदि) पाँचों इन्द्रियाँ कोमल, रूपवान। आहाहा! उसकी जिसे विस्मयता,

कुतुहलता आवे, उसे आत्मा की खबर नहीं है। समझ में आया? ऐसी बात है। इसमें क्या करना हमारे? ऐसा कितने ही कहते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा करते हैं, उसे तो तुम धर्म कहते नहीं। अब करने का हमारे क्या तब? यह करने का नहीं, भाई? पूर्णस्वरूप को श्रद्धा में लेना, वह कार्य नहीं? और राग के अभाव-स्वभावरूप परिणमन करना, वह वैराग्य का कार्य नहीं? आहाहा! परन्तु उस कार्य की सूझ नहीं पड़ती और बाहर के कार्य में सूझ पड़कर कुछ हम करते हैं... आहाहा! ऐसा करना है, उसमें रागादि को करके मानता है। स्वयं का घात हो जाता है उसमें, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा!

श्लोक - ८३

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि यतः -

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३॥

अपुण्यमधर्मः अव्रतैर्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति। पुण्यं धर्मो व्रतैः हिंसादिविरतिविकल्पैः परिणतस्य भवति। मोक्षः पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो विनाशो। यथैव हि लोहश्रृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णश्रृङ्खलाऽपि। अतो यथोभय-श्रृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति। ततस्तस्मात् मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि॥८३॥

जैसे - परम उदासीन अवस्था में स्व-पर का विकल्प त्यागनेयोग्य है, वैसे ही व्रत का विकल्प भी (त्यागने योग्य है) क्योंकि —

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश।
अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश॥८३॥

***अन्वयार्थ* - (अवत्तैः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतों से (अपुण्यम्) पाप का बन्ध होता है और (व्रतैः) अहिंसादिक व्रतों से (पुण्यं) पुण्य का बन्ध होता है। (तयोः) पुण्य और पाप दोनों का (व्ययः) जो विनाश है, वही**

(मोक्षः) मोक्ष है; (ततः) इसलिए (मोक्षार्थी) मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (अव्रतानि इव) अव्रतों की भाँति, (व्रतानि अपि) व्रतों का भी (त्यजेत्) त्याग करना।

टीका **- अव्रतों से अर्थात् हिंसादि विकल्पों से परिणत (जीव) के अपुण्य—अधर्म होता है और व्रतों से अर्थात् अहिंसादि विकल्पों से परिणत (जीव) के पुण्य—धर्म होता है। मोक्ष तो, इन दोनों को अर्थात् पुण्य और अपुण्य का व्यय अर्थात् विनाश, वह मोक्ष है। जैसे - लोहे की बेड़ी, बन्ध का कारण है (अर्थात्, उससे बन्ध होता है); उसी प्रकार सुवर्ण की बेड़ी भी (बन्ध का कारण है); इसलिए जैसे दोनों बेड़ियों के अभाव से, व्यवहार में मुक्ति (छुटकारा) है; उसी प्रकार परमार्थ में भी (पुण्य-पाप के अभाव से मोक्ष है); इसलिए मोक्षार्थी को अव्रत की तरह, व्रतों को भी छोड़ना। (इव शब्द यथा के अर्थ में है)।**

भावार्थ - मोक्षमार्ग में हिंसादि पाँच अव्रतभावों की तरह, पाँच अहिंसादि व्रतभाव भी बाधक हैं क्योंकि अव्रतभाव, अशुभभाव है; वह पापबन्ध का कारण है, और व्रतभाव शुभभाव है; वह पुण्यबन्ध का कारण है; दोनों बन्ध के कारण हैं। पुण्य और पाप इन दोनों का नाश हो, तभी मुक्ति होती है; इसलिए मोक्षार्थी को लोहे और सोने की बेड़ी के समान, अव्रतभावों का तथा व्रतभावों का भी त्याग करना चाहिए।[1]

पुण्य और पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न होने से, दोनों बन्धरूप ही हैं, दोनों संसार का कारण होकर एकरूप ही है; इसलिए मोक्षार्थी को इन दोनों का त्याग करके, निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना भाकर, आत्मस्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करना योग्य है॥८३॥

श्लोक - ८३ पर प्रवचन

यहाँ तो अब विशेष कहते हैं। **जैसे - परम उदासीन अवस्था में स्व-पर का विकल्प त्यागनेयोग्य है,...** आत्मा के आनन्द में लीन होने पर उसे राग के अभावरूपी अवस्था हो जाती है, इसलिए वहाँ विकल्प का त्याग हो जाता है। **वैसे ही व्रत का**

१. श्री समयसार, गाथा १४५ से १५० (सारांश)

विकल्प भी (त्यागने योग्य है)... आहाहा! कहो, यह व्रत-व्रत। बारह व्रत और समकित होने के बाद की बात है।

आत्मा पूर्ण आनन्द का नाथ का अनुभव हुआ? सम्यक् अर्थात् सत्यता ऐसी प्रतीति में सत्य का स्वरूप है, वैसा प्रतीति में आया, उसे अब कहते हैं कि आगे बढ़ने पर, जब व्रत का विकल्प आवे, पाँचवें में हो, छठवें (गुणस्थान) में हो व्रत का विकल्प, वह भी त्यागनेयोग्य है। व्रत का विकल्प भी आदरणीय नहीं है। आहाहा! **क्योंकि—**

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३॥

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश।
अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश॥८३॥

टीका - अव्रतों से अर्थात् हिंसादि... झूठ, चोरी, विषयभोग और परिग्रह की मान्यता। ऐसे **विकल्पों से परिणत (जीव) के अपुण्य—अधर्म होता है...** अपुण्य अर्थात् अधर्म। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय की वासना और परिग्रह के त्याग की वृत्ति शुद्ध; त्याग का अभाव, उस विकल्प परिणत जीव को अधर्म होता है। आहाहा! अव्रत में यह परिग्रह मेरा आदि जो भाव, वह सब अधर्म-अपुण्य है। अपुण्य अर्थात् अधर्म। पुण्य को यहाँ धर्मरूप से व्यवहार से गिनकर उसे (पाप को) अधर्म कहा है।

और व्रतों से अर्थात् अहिंसादि... सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आहाहा! अभी यह बहुत बातें करते हैं न? भगवान का मार्ग अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त। तीन के ऊपर बातें चारों ओर।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थ मानो कल्पना से करे। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त। अहिंसा की व्याख्या की कि परजीव को नहीं मारना, अपरिग्रह-परिग्रह का संग्रह न करना, जिससे परिग्रह दूसरे को मिले। आहाहा! अनेकान्त। ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है। आहाहा! इतनी सब बातें अभी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। वह बेचारा श्रुतसागर साधु है। पहले आचार्य के संघ में रहते थे, नहीं? धर्मसागर में रहते थे। उनके

गुरु थे वीरसागर, शिवसागर। उसमें रहते थे। फिर अलग हो गये। उन्होंने एक जगह लिखा है। अभी की पुस्तकें ऐसी प्रसिद्ध हुई है कि सब कथन विरोध आता है। आहाहा! जो हो, वह पुस्तक बाहर प्रकाशित करके अपना नाम प्रसिद्ध करने, हमने ऐसा किया है... हमने ऐसा किया है... और हमने ऐसा किया है। उसके पैसे... आज बड़ा आया है एक जगह। कहाँ से कहा यह? आबू-आबू। आबू है न आबू? वहाँ से एक बड़ा पत्र आया है।

यहाँ हम एक मानस्तम्भ बनाते हैं, यहाँ एक शिक्षण (संस्था) निकालते हैं और गरीबों को कैसे मदद करना, यह सब बड़ा फण्ड करते हैं। बीस हजार का हुआ है और सबके पास हम पैसे की माँग की है, ऐसे पैसे की। ऐसा माने कि यह सब २५०० वें वर्ष में मनाया, उसका यह धर्म। अरे...! आहाहा!

यहाँ तो महावीर भगवान का आता है न यह उदय क्या? एकम। दिव्यध्वनि का दिन। एकम को दिव्यध्वनि का दिन। गुरुवार-गुरुवार। मंगल और बुध दो दिन बाद अष्टाह्निका (के बाद)। तो दिव्यध्वनि में तो यह कहा, दिव्यध्वनि में तो कहते हैं कि जैसे अव्रत पाप है अर्थात् अधर्म है, उसी प्रकार व्रत का विकल्प भी पुण्य है, वह छोड़नेयोग्य है। निश्चय व्रत जो स्वरूप में रमणता की स्थिरता, वह अलग वस्तु है। परन्तु यह जो विकल्प उठता है, मैं व्रत पालन करूँ, अव्रत छोड़ूँ और यह करूँ, वह सब राग का भाग है। आहाहा! समकिती को जो व्रत का विकल्प उठे, उसकी बात है। मिथ्यादृष्टि को तो वह होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन और श्रद्धा-ज्ञान के परिणमन काल में भी आगे बढ़े हुए हैं, उन्हें ऐसा विकल्प आता है, परन्तु वह व्रत का विकल्प भी छोड़ने योग्य है। यह लोग तो ऐसा ही माने। यह व्रत का विकल्प है, वही संवर है। आहाहा! दीक्षा ली, व्रत है अब, स्त्री-पुत्र छोड़े, परिवार छोड़ा, दुकान का धन्धा छोड़ा, और महिलायें हों तो पकाना छोड़ा।

मुमुक्षु : छह काय का कूटो से बचे।

पूज्य गुरुदेवश्री : छह काय के कूटो से बचे। धूल भी बचा नहीं, सुन न! तेरा कूटो क्या होता है, इसकी तुझे खबर नहीं। ओहो! अकेला ज्ञायकस्वभाव से भरपूर,

आनन्द के स्वभाव से छलाछल पूर्ण भरपूर प्रभु, को जहाँ आनन्द को खोजने पर में जाता है, वह बड़ी हिंसा है। जीव का जीवन ऐसा है, उसका इसने नकार किया, यह तो पर में सुखबुद्धि है, उसकी महिमा हो, वहाँ प्रसन्न हो। निन्दा हो तो अप्रसन्न हो। आहाहा! यह सब आत्मा की हिंसा है।

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा भान हुआ, उसे पंचम गुणस्थान में जाने से शान्ति, स्थिरता बढ़ी, उसे जो व्रत का विकल्प आवे और इससे आगे जाने पर मुनि को शान्ति, स्थिरता बढ़ी अन्दर, ऐसे काल में उसे पंच महाव्रत का विकल्प आवे। लो! वह द्रव्यलिंग और भावलिंग ग्रहण करना, ऐसा आवे। चरणानुयोग में, प्रवचनसार में आता है। हमको द्रव्यलिंग, भावलिंग दो, प्रभु! और वे देते हैं, ऐसा कहे। वह तो सब व्यवहार की बातें हैं। चरणानुयोग की बातें। वह व्यवहार कहलाता है। उसे विनय है प्रभु का, फिर गुरु ने दिया। क्या दिया उसे?

उसे ऐसा कहे, तू तेरे स्वरूप में स्थिर हो, अनुभव की दृष्टि तो है, उसके लिये नहीं, मुनिपने की बात है न! उसमें स्थिर हो, वह तेरा चारित्र है और वह तेरा निश्चय व्रत है। ऐसा जो व्यवहार का व्रत द्रव्यलिंगरूप से आवे, उसे ग्रहण करना, ऐसा कहे। परमार्थ से दृष्टि में से श्रद्धा और ज्ञान का जो कार्य है, वह तो राग को छोड़ने का कार्य है, ऐसा कहे। आहाहा! बहुत बातों में अन्तर। अरे... जिन्दगियाँ जाये जगत की। आहाहा! सत्य के पन्थ में आवे नहीं और सत्य के पन्थ में आये बिना सत्य का पूर्ण फल उसे मिले नहीं। पूर्ण फल अर्थात् मोक्ष। आहाहा!

अव्रतों से अर्थात् हिंसादि... झूठ आदि विकल्प से, हों! **परिणत (जीव) के अपुण्य—अधर्म होता है और व्रतों से अर्थात् अहिंसादि...** सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (अपरिग्रह), ऐसा पंच महाव्रत और बारह व्रत का विकल्प **(जीव) के पुण्य—धर्म होता है।** व्यवहार धर्म। वह निश्चय स्वभाव का भान हुआ है न? ऐसा धर्म वीतरागी दशा, वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान, वीतरागी आंशिक स्थिरता आयी है, उसे जो यह व्यवहार राग आवे, उसे व्यवहार धर्म कहा जाता है।

मोक्ष तो, इन दोनों को अर्थात् पुण्य और अपुण्य का... व्रत का विकल्प और

अव्रत का विकल्प। **व्यय अर्थात् विनाश, वह मोक्ष है।** लो, यह आया। '**व्रतैर्मोक्षस्त-योर्व्ययः**' उसे व्यय? **तो, इन दोनों को अर्थात् पुण्य और अपुण्य का व्यय अर्थात् विनाश, वह मोक्ष का कारण है।** आहाहा! व्रत को तो शास्त्र में आस्रव में डाला है। छठवें अधिकार तत्त्वार्थसूत्र में। अब उसे वापस है तो वह तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर का बनाया हुआ। वह श्वेताम्बर का बनाया हुआ नहीं है, तथापि उसे लेकर वापस, उसमें ही अधिकार स्पष्ट है कि व्रत, वह आस्रव का अधिकार है। अब उसे वापस संवर बनाया। और ठाणांग में पाठ है कि पंच महाव्रत, वह निर्जरा का कारण है। अब वहाँ उसे सिद्ध किया।

मुमुक्षु : निश्चय में उतारने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो यह व्रत की बात है। तो यह तत्त्वार्थसूत्र को मान्य रखे तो व्रत के विकल्प को आस्रव कहा है, पुण्यास्रव। बन्ध का कारण व्रत का विकल्प है वह तो। आहाहा! चारित्र का कार्य नहीं। चारित्र तो स्वरूप में जो पूर्ण स्वरूप श्रद्धा में आया है परिणमन में, और पूर्ण स्वरूप का जो ज्ञान हुआ है, उसमें स्थिर होता है, उसमें स्थिर होता है, स्थिरता होती है, वह चारित्र है। व्रत का भाव, वह कहीं चारित्र नहीं। आहाहा!

जैसे... दृष्टान्त देते हैं। **लोहे की बेड़ी, बन्ध का कारण है (अर्थात्, उससे बन्ध होता है); उसी प्रकार सुवर्ण की बेड़ी भी (बन्ध का कारण है); इसलिए जैसे दोनों बेड़ियों के अभाव से, व्यवहार में मुक्ति (छुटकारा) है;...** सांकल का बन्धन नहीं तो वह छूटा अकेला, ऐसा व्यवहार से कहलाये। **उसी प्रकार परमार्थ में भी...** आहाहा! **(पुण्य-पाप के अभाव से मोक्ष है);...** श्रद्धा-ज्ञान में तो पूर्णानन्द की श्रद्धा की है, ज्ञान ने पूर्णानन्द को स्वीकार किया है। अब उसमें स्थिर होना, तब तो व्रत का विकल्प भी छोड़े, तब स्थित होता है। आहाहा! और वह चारित्र, फिर मुक्ति है। व्रत के विकल्प से तो बन्ध है। आहाहा!

और एक आर्यिका कहती हैं कि दिगम्बर में उन्होंने आस्रव कहा है। हमारे शास्त्र में तो उन्हें संवर कहा है। आहाहा! अरे... मारकर क्या करते हैं यह? कहाँ जायेंगे? बोलना कुछ आवे बोलना, भाषा कुछ। आहाहा! मकोड़े को पंख आवे और

उड़कर पड़े समुद्र में। वह पंख मरने के लिये आया है। इसी प्रकार यह शास्त्र की धारणा और बातें, सब उल्टी श्रद्धा, पंख फूटे सही जानने को परन्तु वह डूबने के लिये है उसे। आहाहा! भाई! वहाँ कोई कुदरत के नियम में सत्य होगा, वह रहेगा। तुम सम्प्रदाय से मान बैठो कि हमारे व्रत और संवर हैं। दिगम्बर में ऐसा है कि व्रत को आस्रव कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो श्वेताम्बर के तत्त्वार्थसूत्र में है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें ही है न! परन्तु उन्हें मान्य नहीं न। स्थानकवासी को माने... वह मिलान करने लगे हैं। स्थानकवासी उसे नहीं मानते।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उन्होंने किया है समन्वय। उन्होंने। वह यह स्थानकवासी माने नहीं। उनके सूत्र को माने नहीं। तत्त्वार्थसूत्र ही दिगम्बर का बनाया हुआ, इसलिए माने नहीं। इसलिए आत्माराम ने जरा समन्वय किया तो समन्वय में मिलान बिना का वहाँ। श्वेताम्बर के शास्त्रों के साथ दिगम्बर के शास्त्रों का मिलान किसी प्रकार से नहीं होता। क्या हो, भाई? हल्का मार्ग बताकर उससे कल्याण होगा, ऐसा बताते हैं।

मुमुक्षु : दोनों का कितना ही तो मिलता हुआ आता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मिलता आवे, वह वस्तु नहीं। वह आवे तो सही न! कितनी ही बात तो हो न उसमें। छह द्रव्य या अमुक, उसमें भी अन्तर है। कालद्रव्य से इनकार करते हैं। प्रदेशों में अन्तर है, द्रव्य में अन्तर है, गुण में अन्तर है। आहाहा! बहुत अन्तर है, भाई! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के कथन के प्रवाह से यह दिगम्बर धर्म है। आहाहा!

इसलिए जैसे दोनों बेड़ियों के अभाव से, व्यवहार में मुक्ति (छुटकारा) है; उसी प्रकार परमार्थ में भी (पुण्य-पाप के अभाव से मोक्ष है);... आहाहा! वापस उसमें ऐसा कहते हैं कि जैसे मोक्ष का मार्ग है न? उसके अभाव में मोक्ष होता है न? इसी प्रकार हमारे व्रत के अभाव में मोक्ष हो तो एक जाति है। क्या कहते हैं, समझ में आया? मोक्ष होता है, वह मोक्ष के मार्ग का अभाव होकर होता है न? उसका व्यय होता है, इसी प्रकार जब मोक्षमार्ग का भी व्यय हो और मोक्ष होता है, वैसे हमारे व्रत

का भी इस प्रकार ही है। अरे... लोग ऐसी बातें करते हैं। सुनी है। आहाहा!

अरे भाई! ऐसा तू उल्टा मारे, इससे कहीं सत्य नहीं हो जायेगा। लोग प्रसन्न होंगे। लोग प्रसन्न होते हैं न! यह बेचारे देखो न दीक्षा में पड़ते हैं न? जैसे पतंगिया अग्नि में पड़ते हैं, वैसे पड़ते हैं एकदम। दीक्षायें-दीक्षायें। किसे दीक्षा? अभी तो गृहीत मिथ्यादृष्टि, उसे श्रद्धा ही अभी मिथ्यात्व की है, उसे दीक्षा कैसी? यहाँ तो सच्चे समकिती और ज्ञानी को जो व्रत का विकल्प उठता है, वह भी वस्तु नहीं, छोड़नेयोग्य है। आहाहा!

इसलिए मोक्षार्थी को अव्रत की तरह,... (**इव** शब्द **यथा** के अर्थ में है।) यथा ठीक। '**अव्रतानीव**' है न तीसरा पद? '**अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि**' ऐसा। ऐसा डाला। (**इव** शब्द **यथा** के अर्थ में है।) ऐसा। उसकी भाँति **व्रतों को भी छोड़ना।** व्रत का विकल्प के समय भी श्रद्धा में उसे छोड़नेयोग्य है, ऐसा जानना। आहाहा! यह व्रत का विकल्प है, वह आस्रव है, भले पुण्यास्रव है, परन्तु आस्रव है।

वास्तव में तो भगवान आनन्दस्वरूप से हटकर वह भाव पाप है, ऐसा कहा नहीं? पुण्य-पाप के अधिकार में अन्तिम अधिकार लिया है। आहाहा! आनन्द के चबूतरे से फिसल जाना, हट जाना, तब उसे व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता है। आहाहा! उस विकल्प को, वास्तव में स्वरूप से हटता है, इसलिए उसे पाप ही कहा जाता है। यह तो वह अव्रत की अपेक्षा से उसे पुण्य कहा है, परन्तु परमार्थ से स्वभाव मेमं से हटता है, इसलिए वास्तव में तो वह पाप ही है। आहाहा!

भावार्थ - मोक्षमार्ग में हिंसादि पाँच अव्रतभावों की तरह, पाँच अहिंसादि व्रतभाव भी बाधक हैं... अव्रत जैसे विघ्न करनेवाले हैं, वैसे व्रत भी स्वरूप को विघ्न करनेवाले हैं। आहाहा! सम्प्रदाय में तो यही बात चलती है। व्रत लो, व्रत लो, त्याग करो, यह करो, यह करो। वह संयम है। धूल भी नहीं संयम। मोक्षमार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह का भाव, वह अव्रतभाव है, वैसे पाँच—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकल्प, ये व्रतभाव भी बाधक हैं। आहाहा! जो-जो कहे साधक, वे-वे वास्तव में बाधक हैं। यह आता है समयसार नाटक में। व्यवहार

साधक, वहाँ निश्चय साध्य है, ऐसा आता है न? पंचास्तिकाय में। परन्तु वह जो साधक कहे, वही बाधक है। आहाहा!

क्योंकि अव्रतभाव, अशुभभाव है; वह पापबन्ध का कारण है, और व्रतभाव शुभभाव है;... आहाहा! बन्धभाव है। **वह पुण्यबन्ध का कारण है; दोनों बन्ध के कारण हैं।** आहाहा! कोई ऐसा कहता है कि तो कुन्दकुन्दाचार्य ने उन्हें क्यों पालन किये? ऐसा कहते हैं। यह दिगम्बर में ऐसा कहते हैं। वह तो निर्बलता से थे, पालन नहीं किये थे। थे, आहाहा! उन्हें रखने का भाव नहीं, परन्तु उस भूमिका में ऐसे विकल्प थे, इसलिए व्यवहारनय के शास्त्र की अपेक्षा से पाले, ऐसा कहने में आया। व्यवहारनय के ग्रन्थ हों चरणानुयोग के। वे पालन नहीं किये। राग को पाले? या राग को जाने? आहाहा! यह बहुत गड़बड़ कर डाली। अरे.. भाई! यह मरण का अवसर आयेगा भाई! दब जायेगा वहाँ तू। यह राग से धर्म माननेवाले देह छूटने के काल में फाँसी मिलेगी इसे। आहाहा! फाँसी चढ़ावे ऐसे फाँसी में चढ़ेगा वहाँ। क्योंकि राग की एकताबुद्धि... आहाहा! दु:ख में ऐसे दब जायेगा। यह राग है, वह दु:ख है, विकल्प है। अब उसकी जिसे एकता हुई और उसमें लाभ माना! आहाहा! मरण के समय—देह छूटने के समय शरण कौन? शरण तो वह व्रत और अव्रत के विकल्प से रहित प्रभु शरण है। उसने तो यह व्रत से लाभ माना और जिससे लाभ माने, उसे छोड़े कैसे दृष्टि में? आहाहा! कठिन काम!

पुण्य और पाप इन दोनों का नाश हो, तभी मुक्ति होती है; इसलिए मोक्षार्थी को... परमानन्द का ध्येय जिसे प्राप्त करना है। परम आनन्दरूपी मोक्ष के लाभ के लिये जिसका प्रयत्न है। आहाहा! ऐसे वे **लोहे और सोने की बेड़ी के समान, अव्रतभावों का तथा व्रतभावों का भी त्याग करना चाहिए।** गाथा १४५ से १५० पुण्य-पाप अधिकार में। नीचे है न? पुण्य-पाप अधिकार की गाथा है। चण्डालिनी के दो पुत्रों का दृष्टान्त दिया है न वहाँ? एक पला ब्राह्मण के घर में और एक पला चाण्डाल के घर में, परन्तु हैं तो दोनों चाण्डालिनी के (पुत्र)। उसी प्रकार अव्रत है, वे चाण्डालिनी के घर में पले। पुत्र उसका और उसी का। विभाव का पुत्र वहाँ पला और व्रत है, वह ब्राह्मण के घर में अर्थात् कि यह हमको चलता नहीं, यह हमको चलता नहीं, अमुक यह चलता नहीं,

हमारे चलता नहीं ऐसा भाव शुभ। आहाहा! चलता नहीं, यह विकल्प है, राग है। वह उस चाण्डालिनी का पुत्र है। ऐसी बातें हैं। ऐसा उसमें लिखा है, हों! कि यह हमको चलता नहीं... यह भाव ही तेरा राग है।

अव्रतभावों का तथा व्रतभावों का भी त्याग करना चाहिए। आहाहा! **पुण्य और पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न होने से,...** देखो, आया। विकारीभाव, विभावभाव ऐसी पर्याय से उपजा होन से। आहाहा! वह कहीं स्वभावभाव से उत्पन्न नहीं हुए हैं। भगवान आत्मा का जो आनन्द और ज्ञान शान्त स्वभाव, उसमें से वह उत्पन्न नहीं हुए। वे तो विभाव में से दोनों उत्पन्न हुए हैं। आहाहा!

दोनों बन्धरूप ही हैं,... आहाहा! **दोनों संसार का कारण होकर एकरूप ही है;...** अव्रत भी संसार का कारण और व्रत का विकल्प भी संसार है। संसार का कारण है। **इसलिए मोक्षार्थी को इन दोनों का त्याग करके, निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना भाकर,...** शुद्ध उपयोग की निरन्तर भावना अर्थात् कि शुद्धभाव त्रिकाल है, उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता करके... आहाहा! **आत्मस्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करना...** आत्मस्वरूप जो आनन्द और शान्त वीतरागमूर्ति, अनन्त गुण का धाम, उसमें एकाग्रता करना, उसमें तत्पर होना, उसमें स्वभाव के सन्मुख होकर एकाकार होना। आहाहा! वह मोक्ष का कारण है। व्रतादि के विकल्प, वह मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा! कहो, जेठाभाई! यह सब व्रत तुम करते थे न तुम पालियाद में, यह खाना और यह नहीं खाना? तुम्हारे आया है, हों, इसमें इस महीने आत्मधर्म में कि एक जैन ऐसा कहते थे कि भाई! कर्म से विकार होता है, यह हमारे मान्य नहीं। अर्थात् तुम। उसमें आया है। अपने आत्मधर्म है न? नाम नहीं दिया। पढ़ा नहीं होगा। पढ़ा है? उसमें है वह। वह तुम्हारा। तो दूसरा कहे कि नहीं, कर्म से विकार होता है, ऐसा मानो तो चर्चा करेंगे। आहाहा! उसकी ही बात है। आयी है। अपने आत्मधर्म में आयी है। देखी है। आहाहा!

यहाँ तो निरन्तर **शुद्धोपयोग की भावना भाकर, आत्मस्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करना योग्य है।** आहाहा! जहाँ भगवान पूर्णानन्द विराजता है, उसे श्रद्धा-ज्ञान में लिया, वहाँ उसे स्थिर होना, यह चारित्र है और वह मुक्ति का कारण है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ८४

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह -

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ ८४॥

अव्रतानि हिंसादीनि प्रथमतः परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो भवेत्। पश्चात्तान्यपि त्यजेत्। किं कृत्वा ? सम्प्राप्य। किं तत् ? परमं पदं परमवीतरागतालक्षणं क्षीणकषाय-गुणस्थानं। कस्य तत्पदं ? आत्मनः ॥८४॥

उनको किस प्रकार तजना ? — उनका त्याग-क्रम दर्शाते हुए कहते हैं —

अव्रतादि को छोड़कर, होय व्रतादि निष्ठ।
राग व्रतों का भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ठ॥ ८४॥

अन्वयार्थ - (अव्रतानि) हिंसादि पञ्च अव्रतों को (परित्यज्य) छोड़ करके, (व्रतेषु) अहिंसादि व्रतों में (परिनिष्ठितः) निष्ठावान रहना अर्थात् उनका दृढ़ता के साथ पालन करना; बाद में (आत्मनः) आत्मा के (परमं पदं) राग-द्वेषादि रहित परम-वीतरागपद को (प्राप्य) प्राप्त करके, (तान् अपि) उन व्रतों को भी (त्यजेत्) त्याग देना।

टीका - प्रथम, हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके, व्रतों में परिनिष्ठित होना। तत्पश्चात् उनका भी त्याग करना। क्या करके ? (प्राप्त करके) क्या (प्राप्ति करके) ? परमपद को अर्थात् परम वीतरागतारूप क्षीणकषायगुणस्थान (प्राप्त करके)। किसके उस पद को ? आत्मा के।

भावार्थ - अव्रत, अशुभभाव है तथा व्रत, शुभभाव है; दोनों आस्त्रव हैं। ये दोनों छोड़नेयोग्य हैं — ऐसी श्रद्धा तो अन्तरात्मा को है परन्तु इन दोनों को एक साथ नहीं छोड़ा जा सकता होने से, वह प्रथम अशुभभावरूप अव्रतों को छोड़कर, शुभभावरूप व्रतों में अतन्मयभाव से वर्तता है, फिर पुरुषार्थ बढ़ाकर, वीतरागपद की प्राप्ति के लिए इन शुभभावरूप व्रतों का भी त्याग करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जब तक सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगरूप नहीं परिणमे, तब तक उसको अशुभ से बचने के लिए पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम, शीलादि के शुभभाव आते हैं परन्तु उसको उनमें हेयबुद्धि वर्तती है; वह उनको धर्म नहीं मानता।

सम्यक्त्व के बिना, व्रतादि के शुभविकल्पों को व्यवहार से चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता अर्थात् मिथ्यादृष्टि के शुभविकल्पों को तो व्यवहार से भी चारित्र नहीं कहते; वे तो बालव्रत-तपादि कहलाते हैं। वे शुभविकल्प, संसार के कारण हैं; मोक्ष का कारण नहीं, तथापि यदि कोई उनको मोक्ष का परम्परा कारण मानता है, तो यह उसकी मूल में भूल है॥८४॥

आषाढ़ शुक्ल १४, मंगलवार, दिनांक २२-०७-१९७५, श्लोक-८४, प्रवचन-९७

समाधितन्त्र, ८४ श्लोक। **उनको किस प्रकार तजना?—उनका त्याग-क्रम दर्शाते हुए कहते हैं—** अव्रत और व्रत दोनों को छोड़ना, परन्तु किस प्रकार?

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ ८४॥

अव्रतादि को छोड़कर, होय व्रतादि निष्ठ।
राग व्रतों का भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ठ॥ ८४॥

इसकी **टीका - प्रथम, हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके, व्रतों में परिनिष्ठित होना।** अर्थात यह तो सम्यग्दर्शन के बाद की बात है। समझ में आया? जिसे त्रिकाली स्वभाव का अनुभव हुआ है, त्रिकाली स्वभाव जो परमपद महा, अभेद कहो, ध्रुव कहो, नित्य कहो, अकेला कहो, सदृशभाव कहो, अखण्ड कहो—ऐसा जो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, उसमें जिसकी दृष्टि पसरी है, उसका जिसे अन्तर में स्वीकार हुआ है, ऐसे सम्यग्दृष्टि को प्रथम क्या करना? ऐसा यहाँ कहते हैं। यह व्रत-अव्रत के बीच का।

प्रथम, हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके,... अर्थात्? कि यह सम्यग्दर्शन में चौथे गुणस्थान में ऐसे अव्रत का त्याग और व्रत के विकल्प का ग्रहण नहीं होता। ऐसा

कहकर यह कहते हैं कि जिसे आत्मा ध्रुव चिदानन्द अखण्ड त्रिकाल स्वभाव, उसे जिसने अनुभव किया और पकड़ा है। उसमें दृष्टि और ज्ञान का प्रसार वस्तु में पसरा है, उस जीव को अव्रत का त्याग करके... व्रत का त्याग कहीं अकेले चौथे गुणस्थान में ही अव्रत का त्याग हो और व्रत का ग्रहण हो, ऐसा नहीं है। पाठ तो ऐसा है कि अव्रत का त्याग करके। इसका अर्थ? कि उस जीव ने स्वरूप का विशेष आश्रय लेकर जिसने शान्ति चौथे की अपेक्षा विशेष प्रगट की है। आहाहा! समझ में आया? जिसे अन्तर आत्मा आनन्द का धाम, ऐसा जिसने दृष्टि में प्रसार करके अनुभव किया है, ऐसे अनन्त सम्पन्न चौथे गुणस्थान में उसे अव्रत का त्याग करना, परन्तु वह कब हो उसे?

मुमुक्षु : पंचम गुणस्थान में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम (में) उसे शान्ति थोड़ी बढ़ी हो, उसकी बात है। ऐसे का ऐसा अव्रत का त्याग होकर व्रत का ग्रहण हो, वह चौथे में नहीं हो सकता। समझ में आया? अर्थात् कि उसे आगे बढ़कर स्वरूप का आश्रय जो चौथे में था, उसकी अपेक्षा उग्ररूप से आश्रय लेकर, जिसे शान्ति का अंश चौथे की अपेक्षा बढ़ा है और मुनि को भी पाँचवें की अपेक्षा भी जिसे शान्ति की वृद्धि हुई है। उसकी बात है। ऐसी सीधी बात करे अव्रत को छोड़े, व्रत को (ग्रहण करे)। परन्तु व्रत किस भूमिका में आते हैं?

अव्रत **हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके,...** शब्द तो यह पड़ा है **'परित्यज्य'** सर्वथा प्रकार से छोड़े। वह कब छोड़े? कि स्वरूप शुद्ध चैतन्य आनन्द का घन प्रभु, त्रिकाल स्वभाव का अनुभव जिसे विशेष हुआ है। चौथे की अपेक्षा जिसे व्रत के विकल्प आते हैं, उसने ध्रुव का विशेष आश्रय लिया है, इसलिए उसे वहाँ आगे व्यवहार में अणुव्रतादि और मुनि को व्रत और महाव्रतादि के परिणाम आते हैं। आहाहा! समझ में आया इसमें? नहीं तो ऐसा तो कहे चौथे से अव्रत का त्याग (होता है)। परन्तु अव्रत का त्याग किस भूमिका में होता है? आलम्बन अन्दर बढ़ा है।

जिसने भगवान आत्मा को परमानन्दस्वरूप का आश्रय विशेष लिया है। आहाहा! अर्थात् कि जिसे गुणस्थान पाँचवाँ या छठवाँ हुआ है। आहाहा! यहाँ तो एकदम मुनिपने की अपेक्षा की बात है। वह **अव्रतों का परित्याग करके, व्रतों में परिनिष्ठित होना।**

अर्थात् कि उसे शुद्ध के आश्रय में उग्ररूप से हुआ है, उसने अव्रत का त्याग किया है और उसने व्रत के विकल्पों में तत्पर रहना व्यवहार से। '**परिनिष्ठित**' शब्द है न? निष्ठावान रहना। जैसे व्रत का विकल्प है, तत्प्रमाण उसमें रहना। शब्द तो यह है न '**परिनिष्ठित**' इन्होंने अर्थ भी ऐसा किया है। '**परिनिष्ठितो भवेत्।**' इसका अर्थ कि शुभभाव में व्रत का जो शुभभाव है, उस काल में उसे आत्मा का आश्रय बढ़ा है, उसे ऐसे व्रत के विकल्प आते हैं तो उसे आगे वह बराबर व्यवहार उसे पालन करना। निश्चित रहना। उसे व्रत में दोष लगे या उसकी मुनिदशा दूसरी हो, ऐसा नहीं होना। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यह तो अन्तर की बातें तो अन्तर में बैठे, तब उसे समझ में आये ऐसी है। आहाहा! ऐसा कहे कि अपने श्रद्धा तो है, अब अपने अव्रत छोड़ो और व्रत लो। ऐसा नहीं। वस्तु जो त्रिकाली स्वभाव, उसे उत्पाद-व्यय पर्याय से पकड़ा है उसे। समझ में आया? जिसकी पर्याय वस्तुस्वभाव त्रिकाली में जिसकी पर्याय पसर गयी है। आहाहा! जिसके परिणाम; परिणाम अर्थात् पर्याय। परिणामी जो त्रिकाली स्वभाव, वहाँ आगे वह पर्याय बैठी है, पसरी है। आहाहा! उसे आगे बढ़ने के लिये व्रत का विकल्प आगे बढ़ा है स्थिरता में, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे व्रत में परिनिष्ठ होना—निष्ठावान होना। अर्थात् जैसा है, वैसा उसे पालने के लिये तत्पर रहना। दोनों में 'परि' शब्द है। परित्यज्य और परिनिष्ठित। आहाहा!

तत्पश्चात् उनका भी त्याग करना। अर्थात्? कि उसे आत्मा का उग्र आश्रय लेकर, और वह शुभविकल्प के व्रत हैं, वे आस्रव हैं, उन्हें भी उसे छोड़ना चाहिए। आहाहा! समाधितन्त्र अधिकार है न? इसलिए जिसे समाधि प्रगट हुई है चौथे गुणस्थान में, उसे (पाँचवें में) समाधि विशेष हुई है, उसे यह व्रत का विकल्प होता है। आहाहा! वह भी आस्रव है। अकेले अव्रत (छोड़े) और व्रत ले लिये, यह सम्यग्दर्शन बिना, उसकी शुद्धि-वृद्धि नहीं होती और शुद्धि-वृद्धि बिना व्यवहार का सच्चा विकल्प व्रत का उसे होता नहीं। समझ में आया? ऐसी बात है। बहुत लिखते हैं यह उद्धरण-अव्रत छोड़ो और व्रत... परन्तु किसे? जिसे अव्रत का त्याग हो, उसे स्वरूप का आश्रय उग्र बढ़ गया होता है। चौथे की अपेक्षा... आहाहा! समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई!

सर्वस्व वस्तु ही स्वयं आत्मा आनन्द का नाथ है। आहाहा! ऐसे ध्रुव को ध्येय बनाये बिना अन्दर एकाग्रता नहीं होती। पर्याय का लक्ष्य परिणाम पर रहे, वह बुद्धि तो अनादि की मिथ्याबुद्धि है। समझ में आया? वह परिणाम की बुद्धि छोड़कर, जिसने अपरिणामी द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर, जिसे अन्तर अनुभव का स्वाद आनन्द का आया है, उस जीव को क्या करना? ऐसा कहते हैं। कि पहले उसे अव्रत को छोड़ना। अर्थात् अव्रत को छोड़ना, यह किस भूमिका में होता है? चौथे में होता है? इसलिए उसे आगे स्वद्रव्य का आश्रय लेकर, अव्रत के परिणाम को छोड़ना। और उस आगे बढ़े हुई दशा (में) उसे व्रत के विकल्प आवें, उस भूमिका में व्यवहार आवे, उसे बराबर पालना, ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

तत्पश्चात् उनका भी त्याग करना। क्या करके? उसका त्याग करना अर्थात् बाद में क्या? अर्थात् द्रव्य के स्वभाव का उग्र आश्रय लेना। आहाहा! इससे व्रत के विकल्प उसे छूट जाते हैं। आहाहा! समाधितन्त्र है न? समाधि, शान्ति, प्रथम चौथे गुणस्थान में दर्शनपूर्वक अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर शान्ति और प्रतीति दोनों आयी है। अब कहते हैं कि आगे उसे बढ़ना है तो वह अव्रत का भाव है, वह छूटता है। कब? कि जिसने आत्मा का उग्र आश्रय लिया है। आहाहा! बात यह है।

उस कलश में आता है न कि भाई! बारह अंग का ज्ञान है, वह विकल्पात्मक, परन्तु उसमें अनुभूति का कथन है। तो इसका अर्थ यह कि उसमें इस सार वस्तु के स्वभाव को पकड़कर अनुभव करना, वह अनुभूति सार है। बारह अंग में वह सार है। आहाहा! अनुभूति कही है, इसका अर्थ? द्रव्य जो स्वभाव त्रिकाल, उसे अनुसरकर अनुभूति करना, ऐसा बारह अंग में कहने में आया है। तब यहाँ कहते हैं कि उसे अव्रत को छोड़कर आगे बढ़ना अर्थात् अव्रत ऐसे छूटते हैं।

भगवान आत्मा का... आहाहा! उग्र आश्रय लिया है, उसे शान्ति का स्रोत विशेष बहता है। आहाहा! उसे उस भूमिका में व्रत के विकल्प होते हैं। उसे परिनिष्ठरूप से निष्ठारूप से बराबर रखना, ऐसा। आहाहा! कहो, भाई! समझ में आया? यह तो कहे अव्रत छोड़े और स्त्री-पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, अव्रत छोड़ा। पकाना नहीं, उसका त्याग

किया। रोटियाँ पकावे उसमें अग्नि जलती है, अग्नि जलती है न? वह त्याग कहलाये?

जिसे शुद्ध चैतन्य के आश्रय से प्रथम दृष्टि का वेदन हुआ है, वह आगे जहाँ आश्रय उग्र लेता है द्रव्य का। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ उसका उग्ररूप से अवलम्बन है, उसे शान्ति और आनन्द का अंश बढ़ गया होता है। उस भूमिका में (उसे) अव्रत का त्याग होकर व्रत के विकल्प होते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! यहाँ तो इसमें तो ऐसा नहीं लिखा। यहाँ तो अव्रत का परित्याग, व्रत का परिनिष्ठ। परन्तु व्रत के विकल्प किस भूमिका में होते हैं? आहाहा! जहाँ ध्रुव का आश्रय लेकर शान्ति की, आनन्द की दशा जिसे बढ़ी है, इसलिए उसे अव्रत का त्याग करके व्रत के विकल्प उसे आते हैं। आहाहा! समझ में आया?

क्या करके त्याग करना? देखा! **परमपद को अर्थात् परम वीतरागतारूप क्षीणकषायगुणस्थान (प्राप्त करके)।** हुआ या नहीं? व्रत के विकल्प काल में उसे द्रव्य का आश्रय पहले की अपेक्षा बढ़ गया है और अब व्रत के विकल्प को छोड़ने के प्रसंग में उसे द्रव्य का उग्र आश्रय हो गया है। तब उसे वीतरागता और बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। आहाहा! समझ में आया? मूल चीज़ के आश्रय और द्रव्यदृष्टि बिना जो कुछ किया जावे, वह सब व्यर्थ होता है। कहो, चेतनजी! आहाहा! लो, अव्रत को छोड़ो, लो ले लो व्रत को। परन्तु किस प्रकार? किसे यह व्रत के विकल्प होते हैं? किस भूमिका में होते हैं? उस भूमिका में कैसी दशा उसे होती है? समझ में आया? आहाहा!

अव्रत का भाव, वह चौथे में तो छूटता नहीं। पाँचवें में आंशिक छूटता है और छठवें में बराबर छूटता है तो इसका अर्थ क्या हुआ? भगवान पूर्णानन्द का अवलम्बन बहुत उग्र हो गया है। जितना अवलम्बन कम है, इससे उसे ऐसे व्रत के विकल्प उस भूमिका में आते हैं और अन्दर उग्र अवलम्बन हो जाता है, तब वह व्रत का विकल्प छोड़कर, यह करना इसे, उस परम वीतराग पद में आना निर्विकल्प में, ऐसा। आहाहा! ऐसा इसे लगे।

मुमुक्षु : शर्तें अन्दर बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : है अन्दर, देखो न! शर्तें हैं न अन्दर।

भगवान की भेंट बिना की बातें। अव्रत को छोड़ूँ और व्रत को... और फिर व्रत को छोड़ूँ, परमपद को प्राप्त, वीतरागता को प्राप्त। परन्तु किसे? किसे होता है यह? आहाहा! जिसने चैतन्यस्वभाव पूर्ण ध्रुवस्वभाव, अमोघस्वभाव, निर्मलस्वभाव का जिसने आश्रय लिया है, बड़े के सहारे गया है, यह कहते हैं। महाप्रभु है, उसके सहारे गया है। समझ में आया? भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके पक्ष में चढ़ा है, तब उसे मिथ्यात्व जाता है और विशेष पक्ष में जाये, तब उसे अव्रत का त्याग होता है। आहाहा! कहो, ऐसी शर्त है। शुकनलालजी!

यह दृष्टान्त आ गया है न कि धूप में खड़ा रहे, उसकी अपेक्षा छाया में खड़े रहना। परन्तु यह सब सम्यग्दर्शन के बाद की बात है। जिसे अन्तर यह जहाँ जिसमें धर्म करना है, वह चीज़ क्या है? वह धर्म करनेवाला कैसा धर्मी जीव क्या है? ऐसा धर्मी का अन्तर्गत ज्ञान और प्रतीति अन्तर में आये बिना उसमें स्थिर होना, यह कहाँ है, इसकी तो उसे खबर ही नहीं होती, और स्थिर होना है, उस दशा में उसे अव्रत का त्याग होकर व्रत के विकल्प आते हैं। पहले जो स्थिर हुआ है, चौथे में, उसकी अपेक्षा अधिक स्थिर हुआ है। आहाहा! महत्ता तो इसकी है। परन्तु यहाँ तो अव्रत को छोड़कर व्रत के विकल्प में आना, ऐसा कहने में (गर्भित है कि) आगे बढ़कर चैतन्य का उग्र आश्रय लेकर... आहाहा! समझ में आया?

अव्रत को छोड़ना तो वह अव्रत यह राग है, अव्रत है उसे छोड़ूँ। ऐसा है? इसका अर्थ कि जब स्वभाव में उग्ररूप से जब आश्रय और अवलम्बन लेता है, तब उसकी दशा अव्रत के भाव बिना की हो जाती है। तब उसे आत्मा में उग्र आनन्द में भी... अत्यन्त उग्र आनन्द में आवे, तब तो वीतरागपद आता है। यह कहा न व्रत को छोड़कर वीतरागभाव को अव्रत को (तीसरी भूमिका को) * प्रगट करूँ। क्योंकि व्रत का भाव भी शुभराग आस्रव है, दुःखरूप है। आहाहा! व्रत का भाव, वह दुःखरूप है। आहाहा! परन्तु अव्रत के दुःख के भाव की अपेक्षा, व्रत के भाव में दुःख थोड़ा है। शुभ है न? है तो

* **अशुभभावरूप अव्रत और शुभभावरूप व्रत से विलक्षण तीसरी शुद्धपरिणामरूप भूमिका को अव्रत अर्थात् शुभभावरूप व्रत नहीं—अ-व्रत।**

दुःख। उस दुःख को अंगीकार करना, ऐसा जो कहा। '**परिनिष्ठितः**' है न? इसका अर्थ यह कि भाई! तेरे नाथ के पक्ष में अन्दर विशेष जा। आहाहा! और विशेष पक्ष में जाने से तुझे शुद्धि और शान्ति वृद्धिगत होगी। उसमें उसे ऐसे व्रत के विकल्प आवें, उसमें निश्चित रहना। आहाहा! अध्धर का अध्धर अव्रत को छोड़कर व्रत। परन्तु क्या अव्रत को छोड़कर व्रत? सुजानमलजी! आहाहा! तेरा दरबार अन्दर पड़ा है बड़ा प्रभु! आहाहा! अनन्त गुण के समाज का दरबार प्रभु स्वयं है। उस दरबार में जाकर शान्ति और सम्यग्दर्शन–ज्ञान हुआ है, उसे अभी दरबार में आगे बढ़कर... आहाहा! उसे अव्रत का भाव नहीं होता और उस काल में उसे व्रत का शुभविकल्प होता है, बस, इतनी बात है। समझ में आया? सुजानमलजी! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

जहाँ त्रिकाली स्वभाव; वह शुभ उपयोग वास्तव में तो अचेतन है। आहाहा! अव्रत का भाव, वह अचेतन है और व्रत का विकल्प, वह अचेतन है, परन्तु उस अचेतन की मन्दता है। अशुभ में अचेतन की उग्रता है। समझ में आया? अर्थात् कि व्रत का विकल्प है तो अचेतन–अजीव, निश्चय से तो। आहाहा! परन्तु वह व्रत के विकल्प किस भूमिका में होते हैं? उसका अन्दर में गर्भितरूप से रखकर यह बात की है। समझ में आया? आहाहा! जहाँ द्रव्यस्वभाव ही भूला जाये और बातें हों कि अव्रत छोड़कर व्रत, वह वस्तु कहाँ है वहाँ? समझ में आया?

वस्तुस्वभाव जो है चेतन, उसे भूलकर अब अव्रत को छोड़कर व्रत ले, ऐसा कहाँ से आवे? समझ में आया? धूप में खड़े रहने की अपेक्षा छाया में खड़े रहना।

मुमुक्षु : अभी तीसरे मनुष्य के आनेवाले की राह देखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : राह देखना। यही कहता हूँ न? तीसरा अर्थात् शुद्धता आवे, उसकी राह देखकर वहाँ खड़े रहना, इसका अर्थ ऐसा है। है तो शुद्धता का झुकाव। अन्दर भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप के ही आश्रय की उग्रता है, उसे वह उग्रता आवे नहीं, तब तक उसे अव्रत के भाव की अपेक्षा व्रत में आना, यह छाया व्यवहार कहने में आती है। आहाहा! ऐसी व्याख्या और यह स्वरूप! भाई! मार्ग तो ऐसा है, बापू! आहाहा!

परमपद को अर्थात् परम वीतरागतारूप क्षीणकषायगुणस्थान (प्राप्त करके)।

इसका अर्थ कि उग्ररूप से वीतराग का भाव जिसने स्वभाव के आश्रय से प्रगट किया है, उसे फिर व्रत का विकल्प छूट जाता है, ऐसा है। समझ में आया? यह तो आचार्यों के वचन हैं। भाई ने तो एक बार नहीं कहा? निहालभाई ने। कि सुनना और सुनाना, वह नुकसान का कारण है। दूसरे प्रकार से फिर कहा कि अपने स्व के लक्ष्य से यदि आचार्यों के शब्दों को वाँचन करे तो वहाँ रस की बूँद टपकती हैं। देखो, वहाँ ऐसा कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी दो विरुद्ध बातें की हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : विरुद्ध नहीं। जिसे स्व के लक्ष्य बिना जो कुछ सुने और करे, उसे लक्ष्य हो, तथापि विकल्प उठता है, वह नुकसानदायक है। उस विकल्प की अपेक्षा लेकर बात की है। और यहाँ स्वभाव का आश्रय लेकर बात होती है। आहाहा! तब उसका वांचन, श्रवण, मनन होने पर भी स्व के आश्रय के लक्ष्य में उसकी शुद्धि बढ़ती है। वह विकल्प के कारण बढ़ती है, सुनने के कारण बढ़ती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! जरा भी यदि न्याय बदल जाये तो पूरी वस्तु बदल जाती है। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग अरिहन्त परमेश्वर की यह वाणी और उनका यह मार्ग। आहाहा!

प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह तो पहली बात। अब इसमें प्रथम जो कहा, वह सम्यग्दर्शन के बाद की प्रथम की बात है। **प्रथम, हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके,...** अर्थात् प्रथम अर्थात् किसे? अत्यन्त मिथ्यादृष्टि है, उसे प्रथम अव्रत छोड़कर व्रत, ऐसा है? भाषा तो ऐसी है। '**प्रथमतः**' है न भाई! तावत्, इसमें शब्द नहीं। वह तावत् आता है। प्रथम, परन्तु प्रथम किसे? जिसे ध्रुव का अनुभव हुआ नहीं, उसे प्रथम अव्रत छोड़कर व्रत, ऐसा यहाँ है? आहाहा!

परन्तु जिसे भगवान आत्मा की भेंट पर्याय में हुई है... आहाहा! पर्याय में पूरा पूर्ण स्वरूप है, ऐसा ज्ञान आ गया है। भले उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता। समझ में आया? मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! जगत के जंजाल, भटकने के भाव में यह छोड़ना कैसे? आहाहा! पहला तो जिसमें यह भव और भव का भाव नहीं, ऐसा स्वभाववाला

भाव है। कहो, समझ में आया? भव और भव का भाव जिसमें नहीं; और जिसमें अकेले अभावस्वभाव के भाव ही पड़े हैं। आहाहा! वह ज्ञान अनन्त आदि अभवस्वभाव है वह। वह भवरहित स्वभाव है। समझ में आया? यह भाषा से कहा अबद्धस्पृष्ट। आहाहा! यह सब गुणों का पिण्ड पूरा यह अबद्धस्वभाव से भरपूर है। उसमें बन्धभाव का उसमें अभाव है। आहाहा! ऐसे स्वभाव का आश्रय लिये बिना, प्रथम अव्रत को छोड़ना और व्रत को ग्रहण करना, यह नहीं हो सकता। समझ में आया?

बहुतों को ऐसा हो जाता है, बस, अब बस हो गया जाओ। अब तुम्हारे समकित तो है, श्रद्धा है, अब अव्रत छोड़ो। परन्तु किस प्रकार से? आहाहा! यह बड़ी विवाद की गाथा है यह। गाथा विवाद की होगी? यहाँ तो अव्रत के विकल्प का त्याग अशुभ का, और शुभ के विकल्प का होना किस भूमिका में होता है? इसका ध्यान कराकर यह बात की है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मिथ्यात्व का ... सुख...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बात आ गयी अब। अभी यहाँ बात भी नहीं उसकी।

प्रथम सम्यग्दर्शन ग्रहण करके, मिथ्यात्व को छोड़ना, वह तो छूट जाये उसके उदय से। यह बात तो यहाँ है ही नहीं। यह तो हो गया है, अब उसे यह व्रत और अव्रत के बीच कैसी क्रीड़ा है, यह बात है। आहाहा! ऐसा मार्ग, भाई! अरे... जिसके जन्म-मरण का अन्त आवे। वह अन्त आवे, वह और व्यवहार है, परन्तु जिसके फल में अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द आवे। आहाहा! थोड़ा भी अतीन्द्रिय आनन्द की लहजत में इन्द्र के इन्द्रासन के भोग जहर जैसे दिखते हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को चक्रवर्ती का राज दिखे, उस राज में नहीं। तथा उसे विकल्प आवे, उसमें वह नहीं। वह तो सहजस्वरूप वीतराग प्रतिमा स्वरूप भगवान आत्मा, उसमें सम्यग्दृष्टि होता है। परन्तु उस सम्यग्दृष्टि की भूमिका में अभी वह अव्रत का भाव चौथे (गुणस्थान) में है, उसे छोड़कर व्रत के भाव में परिनिष्ठ होना, वह किसे? कि जिसने आत्मा की शान्ति अन्दर स्वभाव का आश्रय लेकर बढ़ायी है। पर के साथ सम्बन्ध क्या है? आहाहा! परद्रव्य को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है कि देव-गुरु-धर्म के कारण यहाँ शुद्धि प्रगटे, (ऐसा नहीं है)।

यहाँ तो दिव्यध्वनि से भी आत्मा को लाभ नहीं, यह बात है। आहाहा! लाभ तो भगवान लाभ भण्डार पड़ा है। आहाहा! अनन्त गुण का समाज का राजा है। वह प्रसन्न हुए... जीवराजा। ओहोहो! 'राज्यते शोभते इति राजा।' अनन्त... जैसे राजा उसकी लक्ष्मी से शोभता है, वैसे आत्मा अनन्त गुण से, अनन्त गुण से... एक-एक गुण की शक्ति अनन्त और अमाप ऐसी बेहदशक्ति, ऐसी अनन्त शक्ति से जीवराजा शोभता है। वह उसकी लक्ष्मी है। आहाहा! ऐसी राजलक्ष्मी उसकी राजलक्ष्मी है। आहाहा! शोभती लक्ष्मी है। ऐसे आनन्द के नाथ को जिसने परिणाम में पड़-पड़कर अनादि काल बिताया पर्याय में रहकर। वह ग्यारह अंग का ज्ञान किया, नौ पूर्व का किया। वह सब पर्याय में रहकर हुआ है। द्रव्य में आकर उसे हुआ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान द्रव्य में आया है पर्याय से। पर्याय वहाँ जाती है न? द्रव्य कहाँ पर्याय में आता है? आहाहा! वर्तमान परिणाम जो है, वह परिणामी त्रिकाली अपरिणामी द्रव्यस्वभाव में जाता है। आहाहा! अर्थात् कि उसके सन्मुख होता है। आहाहा! पूरे संसार से विमुख हो गया दृष्टि—दृष्टि की अपेक्षा से। अब उसे आगे बढ़ना, ऐसा यहाँ बताना है। समाधि बढ़ानी है न? आहाहा! समाधि अर्थात् कषाय के अभावरूप परिणति उसकी बढ़े, वह समाधि बढ़ी। आहाहा! वे बाबा समाधि लेते हैं न, वह यहाँ नहीं। यहाँ तो आधि, व्याधि, उपाधि से रहित, वह समाधि। व्याधि शरीर की जिसमें नहीं, उपाधि बाहर संयोग धंधे की नहीं, और आधि अर्थात् संकल्प-विकल्प आधि जहाँ नहीं। आहाहा! उससे रहित प्रभु जो आत्मा, उसे समाधि... सम्यग्दर्शन, वह भी एक समाधि है।

यह श्वेताम्बर में आता है। 'चित्त समाधि होवे दश बोले।' यह पहले शुरु किया था ७८ में। बोटाद। दशासूत्र है पुस्तक, उसमें यह 'चित्त समाधि होवे दश बोले।' ऐसे दस बोल हैं। ऐई.. चेतनजी! दशासूत्र। दशासूत्र का है न, मैंने पढ़ा था। यह... कुछ। परन्तु सुने। ७८ की बात है। कितने वर्ष हुए? ५३। सम्यग्दर्शन, वह चित्तसमाधि पहली है। समझ में आया? ऐसी दस समाधि है। अन्तिम केवलज्ञान है। वह इस समाधि की यह बात है।

जिसे समाधि प्रगट हुई है, जिसे शान्ति प्रगट हुई है, यह समाधितन्त्र है वह।

समाधि का धन्धा है यह। यह व्यापार के... नहीं कहते कुछ? स्वतन्त्र है, अमुक है, ढीकणां है। स्वतन्त्र तो यह है। स्व-तन्त्र। आहाहा! जिसने दृष्टि से परमात्मा को पकड़ा और कब्जे में ले लिया। आहाहा! पर्याय ने परमात्मा को कब्जे में लिया। अब इस केवलज्ञान को बन्ध होगा। परन्तु यहाँ कहते हैं कि होगा, उसमें उसे पुरुषार्थ की जागृति कैसी होगी? आहाहा!

किसके उस पद को? आत्मा के पद को। देखा! व्रत का विकल्प छोड़कर आत्मपद को प्राप्त करना। वीतरागभाव अर्थात् आत्मपद अर्थात् बारहवाँ गुणस्थान अर्थात् आत्मपद। आहाहा!

भावार्थ - अव्रत, अशुभभाव है तथा व्रत, शुभभाव है; दोनों आस्रव हैं। दोनों मैल और आस्रव हैं। आहाहा! मुनि को भी छठवें गुणस्थान में महाव्रत का जो विकल्प आवे। शान्ति बढ़ गयी है, उग्र हुई है, इससे उसे महाव्रत का विकल्प आवे, उस भूमिका के (योग्य)। परन्तु यह विकल्प है, वह तो स्वयं दुःखरूप है, आस्रव है। आहाहा! **दोनों आस्रव हैं। ये दोनों छोड़नेयोग्य हैं—ऐसी श्रद्धा तो अन्तरात्मा को है...** पहली होती है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन में ही अन्तरात्मा जहाँ प्रगट हुआ, अन्तरात्मा जो वस्तु है अन्दर, उसकी जहाँ दृष्टि और अनुभव हुआ, उस काल में शुभ और अशुभ हेय है, ऐसा अनुभव में आया। दोनों छोड़नेयोग्य है, दृष्टि हुई है।

परन्तु इन दोनों को एक साथ नहीं छोड़ा जा सकता... इतना अन्तर। क्रम पाड़ना है न? दोनों एक साथ छोड़े नहीं जा सकते। **वह प्रथम अशुभभावरूप अव्रतों को छोड़कर, शुभभावरूप व्रतों में अतन्मयभाव से वर्तता है,...** एकाकारभाव से वर्तता नहीं। आहाहा! शुभभाव में मुनि या समकिती अतन्मयरूप से वर्तता है। राग और स्वभाव को एकपने मानकर नहीं वर्तता। आहाहा! कहो, प्रेमचन्दभाई! ऐसी बात कहाँ है? आहाहा! मीठी बातों का महासागर डोलता है अन्दर, कहते हैं। आहाहा! तेरा नाथ मीठा मधुर स्वाद से भरपूर आत्मा है। उसकी यह वीणा बजाते हैं अन्दर। आहाहा! कि जिसे अव्रत के भाव में सम्यग्दर्शन की भूमिका में अव्रत होता है, अब उसे अव्रत को छोड़कर शुभ में आना। क्योंकि अव्रत को छोड़ना और शुभ में आना... एक समय

में दोनों इकट्ठे नहीं होते कि अव्रत को भी छोडूँ और व्रत को भी छोड़ना। पहले अव्रत उसे होते हैं।

अशुभभावरूप अव्रतों को छोड़कर, शुभभावरूप व्रतों में अतन्मयभाव से वर्तता है, फिर पुरुषार्थ बढ़ाकर,... देखो! अर्थात् कि पूर्णानन्द का नाथ पुरुषार्थ का पिण्ड है, उसे पर्याय ने आश्रय लेकर... आहाहा! त्रिकाली पुरुषार्थ का पिण्ड प्रभु, उसे वर्तमान पुरुषार्थ की पर्याय से उसका आश्रय लेकर परम **वीतरागपद की प्राप्ति के लिए इन शुभभावरूप व्रतों का भी त्याग करता है।** अर्थात् उग्र आश्रय भगवान का-अपना लेता है, इसलिए उसे शुभ विकल्प नहीं रहता। शुभ उत्पन्न नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसने व्रत को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

एक ओर कहना समयसार में ३४ (गाथा)। राग का त्याग कर्ता कहना, वह बात परमार्थ से सत्य नहीं है। ३४ (गाथा)। आहाहा! राग का त्याग आत्मा करता है, यह परमार्थ से सत्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि व्रत का त्याग... आहाहा! किस अपेक्षा से है? कि इसे आगे बढ़कर भगवान का उग्र आश्रय लेकर, व्रत का विकल्प उत्पन्न न हो, ऐसी भूमिका इसे अंगीकार करना। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सम्प्रदाय में ऐसी बात चलती नहीं।

अभी तो दिगम्बर सम्प्रदाय में सब गड़बड़ उठी है। श्वेताम्बर, स्थानकवासी, श्वेताम्बर में तो यह बात ही नहीं आयी। उनके शास्त्र में ही आयी नहीं है। क्योंकि वे सब शास्त्र कल्पित बनाये हैं। यह तो भगवान के कहे हुए शास्त्र हैं। इनके सम्प्रदाय में भी अभी तो ठिकाने बिना का हो गया है। सम्यग्दर्शन बिना यह व्रत लेना और उसके प्रत्याख्यान। मानते हैं, हों! यहाँ तो सम्प्रदाय की बात (नहीं है), यह तो वस्तु की है। आहाहा!

विशेष - जब तक सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगरूप नहीं परिणमे,... देखा! सम्यग्दृष्टि-आत्मा की दृष्टि अनुभव हुई है और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। आहाहा! वह **तब तक उसको अशुभ से बचने के लिए पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम, शीलादि के शुभभाव आते हैं...** आहाहा! अशुभ से बचने के लिये, यह पंचास्तिकाय में आ गया

है। अशुभ वंचनार्थ और अस्थान में राग न जाये, इसलिए ऐसा शुभभाव होता है। परन्तु है वह आस्रव, बन्ध का कारण। वह पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम–इन्द्रिय का दमन करना। आहाहा! शीलादिक—राग की मन्दता आदि का स्वभाव, वह शुभभाव आता है।

परन्तु उसको उनमें हेयबुद्धि वर्तती है;... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को, सच्ची दृष्टि जिसे पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण है, त्रिकाल स्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव है, ऐसा जहाँ दृष्टि में अनुभव किया है, उसे यह भाव आते हैं, परन्तु वे हेयबुद्धि से होते हैं। क्योंकि व्रत का विकल्प वास्तव में तो अजीव और अचेतन है। आहाहा! वह चेतन के स्वभाव का आदर करनेवाले को, चैतन्यस्वभाव का जहाँ आदर है। आहाहा! वहाँ आगे ऐसे अचेतनभाव का आदर नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? ऐसी धर्मकथा। अब ऐसी कैसी कथा? धर्मकथा यह है। इस शुभभाव को धर्म माने, वह अधर्मकथा है। शुभभाव से धर्म हो, पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम से धर्म होता है, ऐसा जो मानता है, वह तो उसकी बुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा! वह अधर्मबुद्धि है। यह कथा भी विकथा है, वह उपदेश भी कुकथा है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जब तक सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगरूप नहीं परिणमे,... अर्थात् शुभ–अशुभरहित जैसा वस्तु का स्वभाव, वैसा ही शुद्धोपयोग का आचरण न करे। आहाहा! **तब तक उसको अशुभ से बचने के लिए...** भगवान की पूजा होती है। यह नन्दीश्वरद्वीप का चलता है न अभी, देखो न! यह भाव शुभ है। इन्द्र भी नन्दीश्वरद्वीप में आठ दिन जाते हैं, वह तो भाव शुभ है, आस्रव है। धर्म नहीं तथा धर्म का कारण भी नहीं। वह हेयबुद्धि से वर्तता है। उसे वह धर्म नहीं मानता। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि जीव सत्यदृष्टि, सत्यसाहेब पूर्णानन्द के नाथ की जिसे दृष्टि हुई है, वह सत्स्वरूप है, उसे उस प्रकार से दृष्टि सत्दृष्टि है। वह जीव शुभभाव को धर्म नहीं मानता। आहाहा। समझ में आया? कितनी भाषा ली है, देखा! उसमें तो विचार तक... कलश टीका में डाला है। विचार शब्द से विकल्प है।

सम्यक्त्व के बिना, व्रतादि के शुभविकल्पों को व्यवहार से चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता... आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु,

अनुभव में—दृष्टि में आया नहीं और जिसकी दृष्टि पर्याय पर है, ऐसे **सम्यक्त्व के बिना, व्रतादि के शुभविकल्पों को व्यवहार से चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता...** आहाहा! समझ में आया? सत्‌दृष्टि बिना सत्‌स्वरूप भगवान पूर्ण शुद्ध, वह सत् है। उसकी अपेक्षा से विकल्प आदि सब असत् अचेतन हैं। आहाहा! ऐसी चैतन्य की दृष्टि बिना **व्रतादि के शुभविकल्पों को व्यवहार से चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता...** जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु, अनुभव में—दृष्टि में आकर जिसने स्वाद चखा है, उसे अशुभभाव और शुभभाव... शुभभाव को व्यवहारचारित्र की उपमा कहने में आती है। व्यवहार। है बन्ध का कारण।

मिथ्यादृष्टि के शुभविकल्पों को तो व्यवहार से भी चारित्र नहीं कहते;... जिसकी दृष्टि ही सत्य नहीं। आहाहा! भगवान सत्यस्वरूप प्रभु का जिसने आश्रय नहीं लिया और पर्यायबुद्धि में पर्याय का आश्रय लेकर पड़ा है, उसके ऐसे शुभभाव को भी व्यवहारचारित्र कहा नहीं जाता। आहाहा! **वह बालव्रत...** और बाल **तपादि कहे जाते हैं।** मूर्खता से भरपूर व्रत और मूर्खता से भरपूर तप। आहाहा! जहाँ भगवान जागती ज्योति, चैतन्य जिसकी दृष्टि में आया नहीं, उसे ऐसे व्रत-तप के विकल्प को, बालव्रत और बालतप कहे जाते हैं। ऐसा मार्ग वीतराग का, बापू! मार्ग ऐसा है, भाई!

वे शुभविकल्प, संसार के कारण हैं;... मिथ्यादृष्टि के व्रतादि के भाव, वे सब संसाररूप हैं। अरे.. सम्यग्दृष्टि के शुभभाव संसार है। आहाहा! जितनी निर्मल दृष्टि द्रव्य के आश्रय से हुई, समझ में आया? उतना असंसार। और शुभभाव उसे होता है, यह मुनि को पंच महाव्रत का विकल्प, वह संसार है। जगपंथ है, ऐसा कहा है न? समयसार नाटक में (कहा है)। 'उत जगपंथ'। आहाहा! आते हैं, होते हैं, परन्तु वह संसार के भव करने का यह मार्ग है। समझ में आया? आहाहा!

मोक्ष का कारण नहीं,... यह व्रत, तप और इन्द्रिय दमन और आत्मा के अनुभव सम्यक्त्व बिना ये सब बालव्रत और बालतप हैं। आहाहा! यह वर्षीतप करते हैं। नहीं करती महिलायें? सेठिया की बहू और यह सब बड़े-बड़े। वे सब बालव्रत और बालतप हैं। समझ में आया? जिसे अभी देव-गुरु-शास्त्र कैसे हैं, उसकी खबर नहीं।

और आत्मा कैसा है, उसकी भी खबर नहीं। ऐसे खबर बिना के लोग व्रत, तप करे, वह बालव्रत और बालतप—मूर्खता से भरपूर व्रत हैं। आहाहा! ऐसा समाज में रखा जाता होगा? यह क्या रखा है? आचार्य ने समाज में रखा है या गुप्त रखा है यह? बन्ध अधिकार में नहीं आया? यह इन्होंने रखा है। बालव्रत और बालतप। बन्ध अधिकार में है। आहाहा!

चैतन्य के शान्तिस्वभाव का आश्रय लेकर जो कुछ शान्ति प्रगट हुई है, उस शान्ति के कदम जिसे आगे बढ़े हैं, ऐसे जीव को भी जब शुभभाव आवे, तो उसे संसार कहा जाता है। आहाहा! तो जिसने अभी शान्ति का घर देखा नहीं, शान्ति के कदम चला नहीं, उसे ऐसे शुभभाव तो मात्र मूर्खता से भरपूर हैं, कहते हैं। आहाहा! मिलान नहीं खाता, भाई! यह दुनिया के साथ मिलान नहीं खाता। समन्वय करो... समन्वय करो... किसके साथ समन्वय? यह २५०० वर्ष में बहुत चला है अभी। समन्वय का और यह और यह। जिसे ठीक लगे, वैसी पुस्तकें बनाते हैं। पण्डित हुकमचन्दजी और अपने हिम्मतभाई। वहाँ हुकमचन्दजी आते हैं। उनके शास्त्र रचे हुए बहुत सरस। २५०० वर्ष के नाम से उन्होंने भी किया है। क्या कहा? सर्वोदय? भगवान महावीर और सर्वोदय (तीर्थ) यह न? हुकमचन्दजी जयपुर। भगवान का जो मार्ग है, उससे पुष्टिवाला शास्त्र हो या उससे उल्टा हो, उसे शास्त्र कहा जाये? आहाहा!

मुमुक्षु : अनेकान्त है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनेकान्त ऐसा। इससे होता है और इससे नहीं होता, यह अनेकान्त है। शुभ से भी होता है और शुद्ध से भी होता है, यह एकान्त मत मिथ्यादृष्टि का है। समझ में आया? समन्वय करो। परन्तु भगवान का मार्ग ही समभावी जो है, ऐसा जिसे बैठा नहीं, उल्टा बैठा। उसके साथ समन्वय किस प्रकार करना? आहाहा! ...रखे संसार। दूसरा क्या? दूसरे के साथ क्या काम है? जाने कि ऐसा मार्ग है। इससे उसके साथ बैर-विरोध नहीं होता। भूला है, वह पर्याय में भूला है। वस्तु तो है, वह है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **मोक्ष का कारण नहीं, तथापि यदि कोई उनको मोक्ष का परम्परा कारण मानता है,...** स्पष्टीकरण अधिक करते हैं। सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को

परम्परा मोक्ष का कारण कहा है शास्त्र में। किस अपेक्षा से? कि अभी अशुभ छोड़ा है और फिर शुभ छोड़ेगा, इस अपेक्षा से परम्परा। परन्तु शुभ स्वयं परम्परा कारण है, ऐसा नहीं। है न बारह भावना कुन्दकुन्दाचार्य की। उसमें तो कहा है कि आस्रव परम्परा अनर्थ का कारण है। ऐसा श्लोक है। हो गया है। बारह भावना का। शुभभाव भी अनर्थ का कारण है। आहाहा!

(समयसार गाथा) ७४ में नहीं आया? कर्ताकर्म में। शुभभाव वर्तमान दु:खरूप है और भविष्य में दु:ख का कारण है। क्योंकि शुभ से पुण्य बँधेगा और उससे संयोगी चीज़ मिलेगी। और संयोग पर लक्ष्य जायेगा तो उसे राग ही होगा। स्वभाव के आश्रय बिना जितना संयोग पर लक्ष्य जायेगा। आहाहा! गजब बात है, भाई! कहते हैं कि ऐसा पुण्य बँधे शुभ से कि भगवान की वाणी मिले, समवसरण मिले, परन्तु वह तो संयोगी चीज़ हुई और उसके ऊपर लक्ष्य जायेगा तो उसे राग ही होगा। भले शुभराग हो, परन्तु वह है राग और दु:ख। आहाहा! समझ में आया? यह विशेष कहेंगे.... **मानता है, तो यह उसकी मूल में भूल है।** विशेष कहा जायेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ८५

कुतोऽव्रतव्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह -

यदन्तर्जल्प-संपृक्त-मुत्प्रेक्षा-जाल-मात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥ ८५॥

यदुत्प्रेक्षाजालं चिन्ताजालं। कथम्भूतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचनव्यापारोपेतं। आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं। तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे। इष्टमभिलषितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम्॥८५॥

अव्रत-व्रत के विकल्प का परित्याग करने पर, परमपद की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? वह कहते हैं —

अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल।
हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल॥ ८५॥

अन्वयार्थ - (अन्तर्जल्पसंपृक्तं) अन्तरङ्ग जल्पयुक्त (यत् उत्प्रेक्षाजालं) जो विकल्पजाल है, वही (आत्मनः) आत्मा के (दुःखस्य) दुःख का (मूलं) मूलकारण हैं, (तन्नाशे) उसका अर्थात् विकल्पजाल का विनाश होने पर, (इष्टं) हितकारी (परमं पदं शिष्टं) परमपद की प्राप्ति होती है—ऐसा प्रतिपादन किया है।

टीका - जो उत्प्रेक्षाजाल अर्थात् विकल्पजाल है, वह कैसा है ? अन्तर्जल्प से युक्त अर्थात् अन्तरङ्ग वचनव्यापार से युक्त है; वह आत्मा के दुःख का मूल अर्थात् कारण है। उसका नाश होने पर अर्थात् उस उत्प्रेक्षाजाल का (विकल्पजाल का) नाश होने पर, जो पद इष्ट अर्थात् अभिलषित है (जिस पद की अभिलाषा की गयी है), वह शिष्ट है अर्थात् उसका प्रतिपादन किया गया है।

भावार्थ - अन्तरङ्गजल्प (सूक्ष्म वचनप्रवृत्ति) युक्त जो अनेक प्रकार के विकल्परूप कल्पनाजाल हैं, वे संसारी आत्मा के दुःख का मूल हैं। उसका नाश हो, तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।

यह जीव, अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्पस्वरूप को भूलकर, जब तक बाह्यविषयों के लक्ष्य से दुःखों के मूलकारणभूत अन्तर्जल्परूप

अनेक विकल्पों के जाल में फँसा रहता है, तब तक उसको सुखमय परमवीतरागपद की प्राप्ति नहीं होती। उस पद की प्राप्ति तो उसे ही होती है, जो अन्तर्जल्परूप विकल्पों के जाल का सर्वथा त्याग करके, अपने चैतन्यचमत्काररूप विज्ञानघन आत्मा में लीन हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

हिंसादि अव्रतरूप अशुभविकल्प और अहिंसादि व्रतरूप शुभविकल्प—दोनों प्रकार के विकल्प, राग-द्वेषरूप होने से आत्मस्वरूप के घातक हैं। भगवान की पूजा, भक्ति, अणुव्रत-महाव्रतादि तथा तपादि करने के भाव भी शुभविकल्प हैं। इन समस्त शुभाशुभ विकल्पों से हटकर, उपयोग जब आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।

'आत्मा को आत्मा के द्वारा, पुण्य-पापरूप शुभाशुभयोगों से रोककर, दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा (इच्छारहित होने से), सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ, (अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता एवं (स्वयं) चेतयिता (ज्ञाता-दृष्टा) होने से, एकत्व का ही चिन्तन करता है-चेतता है-अनुभव करता है, वह (आत्मा), आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ, अल्प काल में ही कर्मों से रहित, आत्मा को प्राप्त करता है।[१]'

'वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जानकर, जहाँ ज्ञान उसमें एकाग्र होता है, वहाँ राग अथवा विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसी का नाम चित्त का निरोध है। इसके अतिरिक्त 'मैं चित्त को रोकूँ, मैं विकल्प को रोकूँ'—ऐसी नास्ति के लक्ष्य से कही विकल्प नहीं टूटता है परन्तु विकल्प उत्पन्न होता है। मैं चैतन्यमय स्वभाव हूँ—इस तरह अस्तिस्वभाव की ओर ज्ञान का बल देने से, चित्त का निरोध सहज हो जाता है। स्वभाव के ओर की एकाग्रता के जोर से राग का-विकल्प का अभाव हो जाता है; इसलिए पहले वस्तु के स्वभाव को सभी पहलुओं से जैसा है, वैसा जानना चाहिए।[२]'

---

१. श्री समयसार, गाथा १८७-१८८-१८९ २. श्री नयप्रज्ञापन, पृष्ठ-४, २७

'जहाँ श्रुतज्ञान को (स्व) सन्मुख झुकाकर अन्दर स्वभाव में एकाग्र किया, वहाँ सर्व विकल्प, सहज विलय को प्राप्त होते हैं और अनन्त धर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है।[१] '॥८५॥

आषाढ़ शुक्ल १५, बुधवार, दिनांक २३-०७-१९७५, श्लोक-८५, प्रवचन-९८

---

८५ आयी है न? **अव्रत-व्रत के विकल्प का परित्याग करने पर, परमपद की प्राप्ति किस प्रकार होती है? वह कहते हैं —**

यदन्तर्जल्प-संपृक्त-मुत्प्रेक्षा-जाल-मात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥ ८५॥

अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल।
हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल॥ ८५॥

टीका - जो उत्प्रेक्षाजाल अर्थात् विकल्पजाल है,... आहाहा! भगवान आत्मा में जितने अन्तर में विकल्प उठें दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा कि—ऐसे आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे विकल्प जो उठें, वह दुःख का कारण है। आहाहा! वह विकल्पजाल है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप को प्राप्त करने के लिये यह सब विकल्प का जाल इसे छोड़ना पड़ेगा। आहाहा! इसके बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। आहाहा!

उत्प्रेक्षा अर्थात् विकल्प। चाहे तो शास्त्र को सुनने का विकल्प हो। देखो एक ओर ऐसा कहे, 'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा' आता है? प्रवचनसार (गाथा २३२)। चरणानुयोग (सूचक चूलिका)। एक ओर ऐसा कहे कि दिव्यध्वनि से भी आत्मा को आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परमात्मप्रकाश। निमित्त है, इस अपेक्षा से उसका ज्ञान कराया। बाकी भगवान की वाणी सुने, वह तो अन्दर विकल्प है और उससे परद्रव्य से यहाँ ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू! उसे जिसे जन्म-मरण मिटाना... जिसे जन्म-मरण से छूटना है, उसका उपाय यह परमात्मस्वरूप विराजमान आत्मा है, उसे विकल्प

---

१. श्री नयप्रज्ञापन, पृष्ठ-४, २७

के जाल से रहित अनुभव किया जावे, तब उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत होती है, धर्म की वृद्धि होती है और धर्म की पूर्णता होती है। समझ में आया? इस जगत को कहाँ पड़े हैं और क्या है, यह खबर भी नहीं। यहाँ तो मानो कि कुछ यहाँ से मिल जायेगा, कुछ यहाँ से मिल जाये। देव-गुरु और शास्त्र से आत्मा मिल जायेगा। यहाँ तो इनकार किया है।

मुमुक्षु : अन्यत्र कहीं हाँ की है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्यत्र हाँ की है न, यह कहा न, 'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा' वहाँ और दूसरी गति नहीं है, ऐसा है। वह इस पदार्थ का ज्ञान होने में सर्वज्ञ भगवान ने जो आगम कहे, उनकी चेष्टा वह ज्येष्ठ है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। आता है न? दूसरी कोई गति नहीं, ऐसा आता है। आहाहा! किस अपेक्षा से है? बापू! इसे परलक्ष्यी ज्ञान करने में यह वीतराग की वाणी ही निमित्त होती है, दूसरा कोई निमित्त नहीं हो सकता। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव अरिहन्त तीर्थंकर, जिन्हें त्रिकाल ज्ञान है, उनकी वाणी को परम आगम कहते हैं और वह परम आगम, आगम और परमागम। आगम अर्थात् जीव के भेद और कर्म के भेद का वर्णन, वह आगम है और अकेले आत्म-अध्यात्म की बात का स्वरूप, वह परम आगम है। वह सब परम आगम और आगम... इस आत्मा में निमित्त होने में परम आगम ही एक चीज़ है, ऐसा बतलाना है। परन्तु इससे परम आगम का लक्ष्य करके जो ज्ञान हो, उस ज्ञान से आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात, भाई! अभी तो यह धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होते। ऐई.. केशुभाई! यह स्त्री-पुत्र सम्हालना, उसका यह करना, बड़े करना, उन्हें पालना... आहाहा! वापस उनका विवाह करना। अरे! मार डाला है जीव को। पर की कल्पना की जाल में कर सकता नहीं कुछ। कल्पना की जाल ने जीव को रोक दिया है।

यहाँ तो इससे आगे बात ले जाते हैं कि अन्तर में यह आत्मा द्रव्य है और यह गुण है और यह पर्याय है, यह त्रिकाली वस्तु है, उसकी शक्तियाँ, वह स्वभाव है, भाववान का भाव है और उसकी वर्तमानदशा वह पर्याय—ऐसा विकल्प जो उठता है,

आहाहा! वह अन्तर वचन-व्यवहार है, कहते हैं। कहेंगे यहाँ। है, अन्दर है? अन्तर्जल्प-अन्तर वचन व्यापार। ऐसे बोलना वाणी से, वह तो जड़ है। ऐसी भाषा है, वह तो जड़ की है, परन्तु बोलने में जो विकल्प-राग है वह जाल राग की है। आहाहा! परन्तु यह तो अन्तर्जल्प कहा है यहाँ तो। उसका स्वरूप जो परमात्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप, सत् आनन्द और ज्ञान, उसका वह सागर भगवान आत्मा अन्दर है। आहाहा! उसे यह भेद पाड़कर विकल्प करना... आहाहा! उस विकल्पजाल से भी आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो दुःख का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःखरूप विकल्प है न? कठिन बात है, भाई! अनन्त काल में इसे धर्म कैसे हो? यह बात वास्तविक रीति से इसने की ही नहीं। आहाहा! यह दुनिया के हैरान-हैरान भाव में।

देखो न, यहाँ तो कहते हैं, **वह कैसा है? अन्तर्जल्प से युक्त अर्थात् अन्तरङ्ग वचनव्यापार से युक्त है;...** अन्तरंग वचनव्यापार से युक्त है। अन्तर का वह वचन का व्यापार है, भले वाणी का व्यापार बन्द करके मौन पड़ा बैठा हो। आहाहा! परन्तु भगवान आनन्द का प्रभु स्वरूप है। वह आनन्द और ज्ञान का गंज आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। उसे अन्तर्जल्प द्वारा, विकल्प द्वारा प्राप्त हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। क्योंकि विकल्प वे अन्तर वचन का व्यापार है और दुःखरूप है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी कहाँ अन्दर? ऐसी मेहनत करना अशक्य नहीं, परन्तु है दुर्लभ।

वस्तु है, वह स्वयं भगवान आत्मा सिद्धस्वरूपी निर्विकल्प अभेद चीज़ है। आहाहा! परमात्मप्रकाश में तो यहाँ तक लिया एक जगह, नहीं? लिंग इसका स्वरूप नहीं। यह तो वह लिंग आया था न? लिंग अपने चलता है न? परन्तु उस लिंग में तो भाव निर्विकल्पदशा जो है, निर्विकल्पदशा, भावलिंग, वह भी इसका स्वरूप नहीं। पर्याय है न इसलिए। लिया है न? आहाहा!

यहाँ तो विकल्प जाल की बात है। कि अन्दर ऐसा हूँ और वैसा हूँ, पूर्ण हूँ और शुद्ध हूँ, ध्रुव हूँ और अभेद हूँ, एक हूँ और अखण्ड हूँ। आहाहा! ऐसा जो विकल्प

उठता है, वह अन्तर व्यापार है, वह वचन का व्यापार है। वह विकल्प है, वह दु:खरूप है। आहाहा! बहुत काम... इसने कुछ दरकार ही नहीं की। मैं कौन हूँ? कैसे प्राप्त हो? इसकी दरकार ही नहीं की अनन्त काल में। आहाहा! ऐसा का ऐसा चौरासी की घाणी में पिला है।

मुमुक्षु : मौज मजा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। वह तो मैं अभी कहनेवाला था कि यह पैसेवाले कहलाते हैं ये। पाँच-पचास लाख पैसा हो और लड़के पाँच-सात बड़े, चार-चार-पाँच हाथ के लम्बे, दो-दो लाख आमदनी करते हों और सुखी। धूल भी नहीं। वे दु:खी हैं बेचारे।

मुमुक्षु : दु:खी और बेचारे दोनों।

पूज्य गुरुदेवश्री : बेचारे रंक हैं वे। यह वराँका कहा है। ऐई! यह रहे जादवजीभाई, देखो न! बहुत लाखोंपति है। वह लड़का इनकार करता है। भाई गये? जयन्तीभाई। अब उनका लड़का जयन्तीभाई हुण्डी का धन्धा करते हैं वहाँ। बहुत लाखोंपति। अब उनका लड़का इनकार करता है। वह कहे, मुझे धन्धा नहीं करना, मुझे विवाह नहीं करना।

मुमुक्षु : यह आत्मा का धन्धा करने का तो कहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कहता है। यह नहीं। जादवजीभाई ने किया और जयन्तीभाई ने उसके पिता ने किया, वह मुझे करना नहीं अब। यह सब हाँ करे। ऐई... केशुभाई! इनका पौत्र है न दिलीप-दिलीप। मिला है कभी? देखा नहीं होगा। यहाँ आता है। १६ वर्ष की उम्र है। भाद्रपद में १७वाँ लगा है। उसे तो कहे, नहीं। अपने विवाह करना नहीं आजीवन। और पिता के पैसे का धन्धे का अपने धन्धा करना नहीं। बापू! यह धन्धा अलग प्रकार है, भाई! आहाहा! ऐसे मनुष्यपने का अवसर मिला, उसें यदि आत्मा क्या चीज़ है, उसकी प्राप्ति यदि दृष्टि में, अनुभव में नहीं आयी, वह चौरासी के अवतार में भटकनेवाला है? वह बड़ा सेठ मरकर भी वापस ढोर में जानेवाला है। समझ में आया? आहाहा! किसे दरकार पड़ी है?

मुमुक्षु : ढोर हो, वह वृद्ध हो, तब कसाई के यहाँ जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भेजे वहाँ कसाई के यहाँ जायेगा वह। ऐई... गिरधरभाई! आहाहा!

आहाहा! हमारे कुँवरजीभाई को कहा था न! मैंने कहा, बापू! भाई! मुझे तो ऐसा लगता है। ओहोहो! यह तो (संवत्) १९६६ के वर्ष की बात है। ६६ वर्ष पहले। ६६ वर्ष पहले, ६६ के वर्ष की बात है। १९६६। भाई! देखो यह जंजाल इतनी-इतनी लगती है मुझे। तब तो पाँच हजार की आमदनी थी। वर्ष की बहुत अधिक नहीं थी। फिर मरते समय अधिक आमदनी। दो लाख की आमदनी। भाई! मुझे ऐसा लगता है। यह तुम मरकर... मानो अपन बनिया हैं न, इसलिए अपने माँस-शराब है नहीं। इसलिए बनिया नरक में तो नहीं जायेगा। ऐई... केशुभाई! तथा देव में जाने के लक्षण दिखते नहीं, भाई हों मुझे। तब मेरी देह की उम्र २० (वर्ष) की थी। २० वर्ष की उम्र। ६६ वर्ष पहले की बात है। परन्तु भगत कहलाता था न, इसलिए कोई ना नहीं करे। ना नहीं करे। यह भगत कहते हैं, वह सुनो। इनके सामने बोला नहीं जाता। नहीं तो वे तो मुझसे बड़े थे। चार वर्ष। अभी ८६। उन्हें ९०। खुशालभाई को ९० वर्ष। खुशालभाई और कुंवरजी बड़े थे। भाई! यह क्या है? यह क्या लगायी है? इतनी यह ममता... ममता... पूरे दिन कमाना... कमाना... कमाना... कमाना... गाँव में साधु आवे तो सुनने का योग नहीं। सुनने जाये तो रात के आठ बजे जाये। दुकान बन्द करके। वह क्या कहलाता है? नामा-बामा लिखकर, फिर साधु (के पास) आवे। राताडिया श्रावक आये, हों! ऐसा दूसरे बोले। अरे... क्या है यह, कहा? ऐसी वृत्ति? अब यह पैदा हो और धूल हो। सवेरे के उठें छह बजे और रात के आठ बजे तक, १४ घण्टे मजदूरी करे। यह मजदूरी है या दूसरा क्या?

मुमुक्षु : इसके बिना पैसा कहाँ से मिले?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पैसा उससे मिलता है? पुण्य हो तो, पूर्व के पुण्य हो तो मिलते हैं।

हमारे यह मनहर के कहाँ... भाई प्रेमचन्दभाई को खबर नहीं? मनहर को कितनी बुद्धि और कितना साधारण है। अब उसके पास ६० लाख हो गये चार वर्ष में।

६० लाख। कोई तो करोड़ कहता था एकान्त में। ५०-६० लाख तो है। अपने फावाभाई का पुत्र, धीरुभाई, मनहर है न? सूरत में है। अब बुद्धि ऐसी साधारण है। लड़के की बुद्धि साधारण है और फावाभाई की साधारण, उनके पिता की साधारण, उनके पिता की साधारण। हम तो इतना जानते हैं। मनहर धीरजलाल; धीरजलाल गांडालाल; गांडालाल फूलचन्द। यहाँ तक देखा है हमने। हम यहाँ ५९ में गये थे, फिर गुजर गये वहाँ वृद्ध। गांडाभाई के पिता। साधारण थे बेचारे। अरे... यह चीज़ है, यह पैसा मिले, वह कहीं चतुराई से मिलते हैं? नहीं केशुभाई! होशियार, बहुत ध्यान रखे तो मिले नहीं? वहाँ मुम्बई में रुके तो मिले, यहाँ रुके तो वहाँ मिले इसे पैसा?

मुमुक्षु : यहाँ तो खर्च करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो बापू! राग होता है, कमाने का राग-विकल्प होता है। परन्तु वह पैसा आवे, वह कहीं राग से आते हैं? वह तो पूर्व का पुण्य जब बाँधा हुआ, उसे खिरने की तैयारी हो, तब ऐसा संयोग आ जाता है, उसमें आत्मा को क्या? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की वाणी परमागम की, सन्त जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। भगवान! सुन, कहते हैं। आहाहा! यह बाहर के धन्धे की क्रिया तो तेरी है नहीं, शरीर को हिलाना और वाणी को बोलना, वह भी तेरी क्रिया नहीं है, परन्तु अन्तर में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना का राग होता है, वह पाप राग और वह अधर्म है, वह दुःखरूप है; वह तेरी चीज़ नहीं। आहाहा!

यहाँ तो दया, दान और व्रत के विकल्प जो आवें, वह भी तेरी चीज़ नहीं, प्रभु! वह तो दुःखरूप भाव है। आहाहा! इससे आगे जाकर अन्तर में अखण्ड प्रभु चैतन्यमूर्ति आत्मा विराजता है, उसे भेद से विकल्प में, विचार में लाना, वह विकल्प भी दुःखरूप है। आहाहा! सुजानमलजी! आहाहा! बापू! कहीं शरण नहीं, भाई! भवसिन्धु का समुद्र बड़ा चौरासी का अवतार। भवसिन्धु। गहरे... गहरे... गहरे... चौरासी के अवतार में अनन्त भव करके मर गया है। आहाहा! उसे खबर नहीं। जरा कुछ पाँच-पच्चीस लाख पैसे हों, स्त्री-पुत्र कुछ ठीक हों, व्यापार ठीक चले तो ऐसा माने कि हम सुखी हैं। धूल भी नहीं सुखी, सुन न अब।

यहाँ तो परमात्मा वहाँ तक बात को ले गये कि भगवान आत्मा निर्विकल्प चीज़ है, उसे अन्तर्मुख में प्राप्त करने के लिये ऐसे जो विकल्प जो हैं गुण-गुणी के भेद के अन्तर विकल्प, वचन व्यवहार, वह काम का नहीं, वह दुःखरूप है। आहाहा! रोग शरीर में आवे, वह दुःखरूप नहीं। वह तो दुःख में निमित्त है। समझ में आया? निर्धनता, शरीर में रोग, देह का उत्पन्न होना और देह का वियोग होना, वह कहीं दुःख नहीं है। उसमें संयोग में 'यह संयोग मेरा है' ऐसी जो बुद्धि, वह दुःख। और संयोग के वियोगकाल में अरे... मेरी चीज़ गई, उससे गई, जाती है। मैं अब मर जाता हूँ, शरीर से रहित होता हूँ, ऐसा जो विकल्प है, वह दुःखरूप है। आहाहा!

कहते हैं कि **उत्प्रेक्षाजाल अर्थात् विकल्पजाल है, वह कैसा है? अन्तर्जल्प से युक्त अर्थात् अन्तरङ्ग वचनव्यापार से युक्त है;...** आहाहा! यह वाँचन करना छोड़ दिया, बोलना छोड़ दिया। आहाहा! बाहर का। परन्तु अन्तर में यह विकल्प का जाल उठा करता है। अन्तर वचनव्यापार। उसे अन्तर वचनव्यापार कहा। आहाहा! यह ज्ञाता-दृष्टा ऐसा भगवान आत्मा, निर्मलानन्द प्रभु सच्चिदानन्द स्वभाव से भरपूर प्रभु है, उसमें यह विकल्प उठे कि यह मैं ऐसा हूँ, यह वैसा हूँ, यह मुझमें राग नहीं, रागरहित चीज़ मैं हूँ—ऐसा जो विकल्प का जाल उठाता है। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसा मार्ग है। तब तुम कहो कि ऐसा एक ओर कहो और फिर भगवान की मूर्ति, मन्दिर—यह क्या? और उन्हें पूजना, भगवान की पूजा, वह तो विकल्प है। भाई! वह तो अशुभराग के वंचनार्थ ऐसा शुभभाव आता है। परन्तु वह शुभभाव भी है तो दुःखरूप। आहाहा!

आत्मा आनन्द का ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, ऐसा अनुभव होने पर भी, अन्दर स्थिर न रह सके तब अशुभ के पाप से बचने के शुभभाव होते हैं, परन्तु हैं वे दुःखरूप। आहाहा! तब कहे कि दुःखरूप हो तो करना किसलिए? परन्तु वे हुए बिना रहते नहीं। निर्बलता है। आहाहा! भगवान के जन्म का महोत्सव इन्द्र करते हैं। ताण्डव नृत्य करते हैं न? भगवान जन्मे वीतराग तीर्थंकरदेव। केवली होनेवाले हैं इसी भव में। आवे तो परिवार इकट्ठा होकर, इन्द्र घुँघरु बाँधकर ऐसे नृत्य करे। अब है समकिती, एकावतारी। बाहर में हर्ष जैसा दिखाई दे ऐसा। विकल्प है न? हर्ष जानकर करता है न? अन्दर में

उसे यह दु:खरूप लगता है। अरेरे! आत्मा के आनन्द से विपरीत भावरूप लगता है। जेठाभाई! ऐसा है कठिन मार्ग, बापू! आहाहा!

अरे... इसने मार्ग की जाति को जाना नहीं। मार्ग की रीति क्या है, वह इसने पहिचाना नहीं। ऐसे का ऐसा अनन्त काल से भटक मरता है। साधु हो बाहर से स्त्री, पुत्र, परिवार छोड़कर। यह भी कहते हैं कि अन्तर के विकल्प जाल से छूटे नहीं तो उसने कुछ छोड़ा नहीं। आहाहा!

वचनव्यापार से युक्त है; वह आत्मा के दुःख का मूल अर्थात् कारण है। आहाहा! **उसका नाश होने पर अर्थात् उस उत्प्रेक्षाजाल का (विकल्पजाल का) नाश होने पर, जो पद इष्ट...** है। आहाहा! भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है, ऐसा जो **इष्ट अर्थात् अभिलषित है...** धर्मी को जो इष्ट है, अभिलषित है। **(जिस पद की अभिलाषा की गयी है),...** जिस पद की अभिलाषा पूर्ण आनन्द स्वरूप प्रभु आत्मा **वह शिष्ट है...** इष्ट, वह शिष्ट है, ऐसा कहते हैं। मोक्ष वीतरागीदशा वीतरागीभाव इष्ट है और वही शिष्ट है **अर्थात् उसका प्रतिपादन किया गया है।** यह कहने में आया है कि प्रभु तेरी वीतरागदशा, परमानन्ददशा अभिलषित है, उसे प्राप्त कर। इस विकल्प के जाल को छोड़कर प्राप्त कर। विकल्प के जाल से वह प्राप्त नहीं होगी। आहाहा!

भावार्थ - अन्तरङ्गजल्प (सूक्ष्म वचनप्रवृत्ति)... लो! सूक्ष्म जल्प अन्दर। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसे अन्तर्जल्प से... उसमें नहीं कहा? जल्प में वर्ते वह मिथ्यादृष्टि, नहीं? नियमसार में आया था? आज आया था। बहिर और अन्तर्जल्प में वर्ते, वह बहिर् आत्मा है। आहाहा! देखो न, वाणी तो देखो! अन्तर्जल्प और बहिर् में वर्ते। उसमें वर्ते और उसका वर्तन मेरा है, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इसलिए लोगों को यह सोनगढ़ की बात ऐसी लगती है न कि यह सब निश्चय की-निश्चय की।

मुमुक्षु : निश्चय का अर्थ सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निश्चय का अर्थ सत्य और व्यवहार का अर्थ असत्य और उपचार कथन करना। आहाहा!

वे कहते थे न तब वहाँ। यह व्रत, तपस्या, भक्ति और पूजा, इस भाव को तुम धर्म नहीं कहते तो गलती से लोगों का कल्याण रुक जाता है। जामनगर में आया था। ऐई..! नवलभाई! खबर है या नहीं? तब थे? उस समय १५-२० में आये। ऐसा है और ऐसा है और ऐसा है। सुनो। हमारे साथ चर्चा करो, कहे। विचार। विचार। चर्चा-बर्चा किसी के साथ नहीं करते। यह जो हम कहते हैं और माना है, इससे अधिक जितना जगत में सब विपरीत है। सब गलती में-अकल्याण के मार्ग में है, जाओ, उठो। आहाहा! हमारे गुरु ऐसा कहते हैं। अब तेरा गुरु कहाँ था? परन्तु हिम्मतभाई बेचारे ऐसे व्यक्ति, हों! हिम्मतभाई! तम्बोली के काका का पुत्र। सेठ! वहाँ श्वेताम्बर का सेठ। परन्तु लड़का ऐसा बहुत सज्जन मनुष्य। महाराज ऐसा कहते हैं अब तुम्हें क्या करना तुम्हारे? नहीं तो उनका सेठ।

बापू! यह मार्ग ऐसा नहीं, भाई! तुमको खबर नहीं, इसलिए तुम गलत कर डालो। अरे! व्रत और तप क्या? यहाँ तो अन्तर्जल्प का विकल्प भी दुःख का कारण है, ऐसा यहाँ तो कहा है। तेरे व्रत, तप और अपवास वह तो सब राग की क्रिया, यदि राग मन्द हो तो उसे पुण्य कहा जाता है। वह दुःखरूप है। आहाहा! बाबूभाई! क्या है यह सब? दहेगाँव में यह सबको बैठता है यह? आहाहा!

भाई! तू कौन है? कहाँ हो? तेरी खोज तो कर तू कौन है? भाई! 'मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?' यह अन्तर में... आहाहा! ऐसी बात ली है। समाधि की बात है न? कि आत्मा को समाधि अर्थात् सुख होता है। कब?—कि यह विकल्प की जाल छोड़े तब। यह व्याख्यान दे तो ऐसे दिया जाये। बाकी तो स्वरूप में जाते हैं, तब विकल्प उत्पन्न नहीं होते, उसे 'छोड़ते हैं' ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग कैसा? अब एक ओर यह २६-२६ लाख के मन्दिर बनाना। करोड़ों रुपये खर्च हो गये हैं यहाँ चालीस वर्ष में। मन्दिर और बँगला और मकान।

मुमुक्षु : यह जमीन माँगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जमीन माँगती है। वह तो उसके कारण से हुआ, बापू! किसी ने किया है-रामजीभाई प्रमुख हैं न? प्रमुख तो ये थे या नहीं? अभी त्यागपत्र कहाँ है?

वे प्रमुख तो वहाँ पड़े बैठे हैं। वह तुमको पूछकर करते हैं। ऐई! आहाहा! परन्तु किसी के करने से होता है यहाँ, कहते हैं? आहाहा!

इस शरीर में अँगुली ऊँची होना, वह आत्मा से नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। प्रभु! तू ज्ञान... उसमें डाला है। उसमें—परमात्मप्रकाश में (कहा है) कि जीव तो पंगु है, ऐसा भाई ने डाला है। कर्म के कारण पर में जाता है, ऐसा वहाँ डाला है। आहाहा! इतनी चीज़ है, आत्मा आनन्द का नाथ, वह संसार में कैसे जाये? परन्तु कर्म के संग में पड़ी हुई वृत्ति है न? उसके कारण वह चार गति में जाता है। आहाहा! यहाँ बड़ा चक्रवर्ती हो, हजारों रानी हों, छियानवें हजार रानियों का साहिबा, वह मरकर सातवें नरक में—रव रव नरक में जाता है। आहाहा! पर्दा गिर गया, हो गया। जाओ। आहाहा!

चैतन्य निर्विकल्प नाथ को तूने जाना नहीं, वह विकल्प से तुझे लाभ हो, ऐसी मान्यता में मिथ्यात्व में घुंटाया और ऐसे अशुभभाव तीव्र हुए हों तो रवरव नरक में जाये। आहाहा! और कोई शुभभाववाला हो, स्वरूप के भान बिना के विकल्प किये हों, दया, दान के औ अन्तर्जल्प के। उससे शुभभाव हो, स्वर्ग में जाये। इससे उसके आत्मा को क्या? वहाँ भी दु:खी है। स्वर्ग में देव दु:खी हैं। आत्मा की शान्ति से हट गये हैं। चन्दन की लकड़ी अग्निवाली हो तो वह भी जलाती है, इसी प्रकार वहाँ सुख साहिबी बहुत है परन्तु उसके ऊपर लक्ष्य जाता है तो राग होता है, वह आत्मा को जलाता है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **अन्तरङ्गजल्प (सूक्ष्म वचनप्रवृत्ति) युक्त जो अनेक प्रकार के विकल्परूप कल्पनाजाल हैं, वे संसारी आत्मा के दु:ख का मूल हैं।** आहाहा! संयोग दु:ख का कारण नहीं। वह तो निमित्त है, वह अपना जो भाव है और विकल्प की जाति है। स्वरूप भगवान वह तो वीतरागमूर्ति निर्विकल्पस्वरूप चैतन्य का है। उसमें से हटकर जितने विकल्प की वृत्तियाँ उठें, वे सब दु:खरूप हैं। भगवान आत्मा आनन्दरूप सच्चिदानन्दस्वरूप है। तब यह विकल्प दु:खरूप है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! देव गुरु-शास्त्र को मानना, वह भी एक विकल्प है। वह दु:खरूप है। ऐसी कठिन बातें, भाई!

वे कहते हैं अपने गुरु की भक्ति करो, गुरु। वह कहता था। बावळावाला था न एक खोजो। हीरालाल न? हीराभाई नहीं? एक था मुसलमान, उसका नाम कासमी।

वह यहाँ व्यापार करता था। श्रीमद् के भगत कहलावे। वे तो ऐसा कहते थे, हमारे तो श्रीमद् को पकड़ा, वे इन्हें मोक्ष देना होगा तो देंगे, कहे। हमें कुछ करना नहीं है।

मुमुक्षु : हमें उनकी भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे हमारा मोक्ष कर देंगे। कहो, ऐसे अन्ध। फिर उसमें हमारे ऐसे देखना नहीं कि यह श्वेताम्बर का मन्दिर है या दिगम्बर का। हम तो सर्वत्र जाते हैं, ऐसा कहते थे। आहाहा! अरे...! जीव कहाँ अटककर मान बैठता है न! ऐसे के ऐसे भवभ्रमण अनन्त खड़े रहते हैं सिर पर। आहाहा!

संसारी आत्मा के दु:ख का मूल हैं। उसका नाश हो, तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है। आहाहा! यह विकल्प का नाश करे तो निर्विकल्प वीतरागपद की प्राप्ति हो। आहाहा! पहला यह विकल्प का नाश करे, सम्यग्दर्शनरूपी वीतरागी पर्याय हो, फिर अस्थिरता के विकल्प का नाश करे तो स्थिरतारूप वीतरागदशा हो। आहाहा! सहायक है या नहीं? सहायक है, ऐसा आया था न कहीं? सहायक है। अखबार में आया था अखबार में (जैन समाचार पत्र में)।

यह जीव, अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्पस्वरूप को भूलकर,... देखो! आहाहा! **यह जीव, अपने चिदानन्दमय...** चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्दमय। **परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प...** अभेद **स्वरूप को भूलकर, जब तक बाह्यविषयों के लक्ष्य से...** विषयों के लक्ष्य से। उसे—भगवान की वाणी को विषय कहा (यह सुनकर अज्ञानी) चिल्लाहट मचा जाये। वाणी, भगवान और वाणी, स्त्री और कुटुम्ब यह सब पर विषय है। भले देव-गुरु-शास्त्र की वाणी (सुनने का) शुभभाव हो, परन्तु उसका विषय तो पर है। आहाहा! कठिन काम है।

कहते हैं कि **बाह्यविषयों के लक्ष्य से...** चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो और चाहे तो मूर्ति और प्रतिमा और शत्रुंजय तथा सम्मेदशिखर हो।

मुमुक्षु : सोनगढ़ रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सोनगढ़ आ गया इकट्ठा इसमें। सोनगढ़ तो अभी नया हुआ। आहाहा!

बाह्यविषयों के लक्ष्य से दुःखों के मूलकारणभूत अन्तर्जल्परूप अनेक विकल्पों के जाल में फँसा रहता है,... आहाहा! **तब तक उसे सुखमय परम वीतराग पद की प्राप्ति नहीं होती।** अतीन्द्रिय भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप वीतरागी आनन्दस्वरूप, वह विकल्प में जब तक रुकता है, तब तक उसे वीतरागी आनन्दमय की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! वह तो बहुत एल.एल.बी. की बातें हैं, ऐसा (लोग) कहते हैं। यह तो एल.एल.बी. और बी.ए. की बातें हैं। शुरुआत क्या? शुरुआत की बात यह है, सुन न अब! विकल्प से रहित होकर आत्मा का अनुभव करना, यही शुरुआत है। आहाहा! वस्तु है चैतन्य भगवान। यहाँ शब्द प्रयोग किया न, देखो न! अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्पस्वरूप, ऐसा। उसे भूलकर। आहाहा!

जब तक बाह्यविषयों के लक्ष्य से दुःखों के मूलकारणभूत अन्तर्जल्परूप अनेक विकल्पों के जाल में फँसा रहता है, तब तक उसको सुखमय परमवीतरागपद की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! **उस पद की प्राप्ति तो उसे ही होती है, जो अन्तर्जल्परूप विकल्पों के जाल का सर्वथा त्याग करके,...** आहाहा! यह त्याग करने का है। स्त्री-पुत्र छोड़कर, दुकान छोड़कर साधु हुआ। त्याग किया। धूल भी त्याग नहीं किया। सुन न अब! ऐई!

मुमुक्षु : घरबार, स्त्री-पुत्र छोड़े, सब छोड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ था परन्तु इसमें (कि) छोड़े? वह तो सब बाहर ही था। था कहाँ इसमें? कब इसने पकड़ा था पर्याय में (कि) उसे छोड़े? आहाहा! स्त्री, पुत्र, दुकान-धन्धा छोड़ा, हम त्यागी हो गये अब। धूल भी नहीं त्यागी, अब सुन न! अन्तर के जल्प को छोड़े बिना मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? और पहला त्याग तो यह है। मिथ्यात्व का त्याग, वह पहला त्याग है। मिथ्यात्व के त्याग में तो, निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करे, सम्यग्दर्शन करे तो मिथ्यात्व का त्याग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो व्रत धारण करे, उसे समकित होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता ही है वह। बस, अज्ञानी माने व्रत लेकर बैठे, इसलिए

समकित होता ही है हमारे। बिना एक के शून्य हैं। व्रत लिये और हमने चारित्र लिया। कहाँ व्रत था तेरे, सुन न! मिथ्याश्रद्धा पड़ी है बड़ी। आहाहा! ... है न २३२ गाथा। चरणानुयोग (सूचक चूलिका)। प्रवचनसार २३२। एकाग्रता, वह श्रमणपने का लक्षण है। स्वरूप में एकाग्रता, श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र तीन की एकाग्रता है अन्दर, उसका नाम श्रमण का लक्षण और श्रमणस्वरूप है। अब एकाग्रता की तो खबर नहीं होती। कहाँ एकाग्र होना? समझ में आया? २३२ से शुरु किया है न चरणानुयोग का। यह तो जरा विचार आया था। कहा, यह आयेगा न वह क्या कहलाता है? क्लास (शिक्षण शिविर)। उस समय अपने यह आयेगा। चरणानुयोग का शुरुआत का आयेगा। इसलिए कहा, क्या वाँचना? ऐसा विकल्प आया था। २३२ गाथा से अच्छी बात है। मोक्षमार्ग की है न? २३२ से।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग का कथन ही वहाँ से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ से शुरु होता है। बहुत सरस। ओहोहो! साधु अर्थात् क्या? स्वरूप आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें जिसकी एकाग्रता, उसके सन्मुख में जिसकी एकाग्रता है। आहाहा! और विकल्प जाल, वह तो परस्वरूप में एकाग्रता है। समझ में आया? यह चरणानुयोग के अधिकार में यह बात रखी है, लो! एकाग्रता। और एकाग्रता के बाद भाई ने ऐसा लिया है कि आगम के ज्ञान बिना एकाग्रता होती नहीं। निश्चय है न यह वस्तुस्वरूप। आहाहा!

ज्ञान में आत्मा पूर्ण है, नित्य ध्रुव है, ऐसी दृष्टि और एकाग्रता हुए बिना उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और ज्ञानस्वरूपी भगवान में एकाग्र बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। कहीं पर से ज्ञान होता है शास्त्र और पृष्ठ से? आहाहा! और स्वरूप में एकाग्रता हुए बिना चारित्र नहीं होता। स्वरूप में एकाग्रता समकित, स्वरूप में एकाग्रता ज्ञान, स्वरूप में एकाग्रता चारित्र। आहाहा! यह विकल्प है, वह तो राग की एकाग्रता है, कहते हैं। आहाहा!

प्राप्ति तो उसे ही होती है, जो अन्तर्जल्परूप विकल्पों के जाल का सर्वथा त्याग करके,... सुखमय परमवीतरागपद की प्राप्ति नहीं होती। विकल्प से। **उस पद की प्राप्ति**

तो उसे ही होती है, जो अन्तर्जल्परूप विकल्पों के जाल का सर्वथा त्याग करके, अपने चैतन्यचमत्काररूप विज्ञानघन... आहाहा! कैसा है भगवान आत्मा? चैतन्यचमत्काररूप। ऐसा चमत्कार है कि एक समय में जिसकी ज्ञान की दशा तीन काल, तीन लोक की अस्ति को स्पर्श किये बिना जाने, ऐसा चैतन्य-चमत्कार है। समझ में आया? दूसरे चमत्कार देखने इसे ऐसा हुआ, इसके घर में ऐसा हुआ। यह चमत्कार सब समझने जैसे हैं। आहाहा!

अभी कोई आया था मोटर लेकर। दो दिन पहले। लड़के को ठीक नहीं था, हमने मनौती की है यहाँ की। यह अच्छा हुआ, इसलिए चरणवन्दन करने आया है। ऐसे भी हैं।

मुमुक्षु : वह अच्छा हो जाये तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अच्छा तो उसके पुण्य में।

मुमुक्षु : परन्तु पुण्य में निमित्त होते हैं न यह।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त भी हों तब। वह मोटर नहीं सामने एक पहिया। ऐसी मोटर थी।

मुमुक्षु : तीन पहियेवाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तीन पहियेवाली। वहाँ खड़ी थी और फिर नीचे उतरे। कोई कहता था। बाधा थी तो।

मुमुक्षु : चेतनजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ चेतनजी। बाहर की चीज़ और बाहर की बाधा से मिटे? यह सब भ्रमणा है।

मुमुक्षु : सच्ची श्रद्धा, वह प्रेरणा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची श्रद्धा किसकी? आँकडा के ऊपर सच्ची श्रद्धा करे तो आम हो जाये वहाँ? बहुत निश्चित करे कि... आहाहा! यह आँक नहीं, आम है... आँकडा नहीं, आम है... उसमें सच्ची श्रद्धा। आँकड़े में से आम आयेंगे? वह आम कहाँ

था ? एकदम पोला हो अब उसका फल। आँकड़े का फल तो एकदम पोला। आकोळिया होता है न लाल ? हरा। आहाहा!

यहाँ तो **चैतन्यचमत्काररूप विज्ञानघन...** आहाहा! ऐसा आत्मा। उसमें **लीन हो जाता है।** तब उसे आत्मा का भान होता है और वीतरागता आती है। आहाहा! ऐसी कठिन बात।

विशेष - हिंसादि अव्रतरूप अशुभविकल्प... हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग और परिग्रह, उसका भाव, वह अशुभभाव, वह अशुभ पापभाव, अशुभविकल्प। **अहिंसादि...** पर की अहिंसा—दया, सत्य बोलना, विकल्प हो अन्दर। चोरी नहीं, ब्रह्मचर्य पालना शरीर से, ऐसा व्रतरूपी शुभविकल्प है, वह तो शुभराग है। आहाहा! **दोनों प्रकार के विकल्प, राग-द्वेषरूप होने से आत्मस्वरूप के घातक हैं।** महाव्रत के परिणाम भी आत्मस्वरूप के घातक हैं, कहते हैं। आहाहा! है ? देखो!

भगवान की पूजा, भक्ति, अणुव्रत-महाव्रतादि... है, इसमें है ? लिखा है। शुभराग है वह तो। आहाहा! होवे भले, परन्तु है राग। वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं, धर्म का कारण नहीं। आहाहा! **तथा तपादि करने के भाव...** अपवास करूँ, ऊनोदरी करूँ, रस छोड़ूँ, वह सब शुभविकल्प है, शुभराग है। विकल्प का—वृत्ति का उत्थान है, वह तो पुण्य है, राग है, अधर्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह राग है वहाँ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धर्म नहीं, इसलिए अधर्म है, ऐसा कहा। स्पष्ट भाषा जरा। आहाहा! धर्म नहीं। वह शुभभाव और अशुभभाव दोनों धर्म नहीं है। आहाहा!

इन समस्त शुभाशुभ विकल्पों से हटकर, उपयोग जब आत्मस्वरूप में स्थिर होता है,... आत्मस्वभाव। स्वरूप अर्थात् त्रिकाली स्वभाव, आनन्द और ज्ञान ऐसा त्रिकाली स्वभाव, उसमें स्थिर हो। आहाहा! **तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।** तब ही प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तब सम्यग्ज्ञान होता है, स्वरूपाचरण होता है, फिर विशेष स्थिरता होती है, फिर परमपद की प्राप्ति—केवलज्ञान होता है। आहाहा! स्वशुद्ध चैतन्यमूर्ति के आश्रय से यह सब होता है। सब विकल्प की जाल बीच में आवे

शुभराग, परन्तु उससे वीतरागता की शुद्धि हो या वृद्धि हो या पूर्णता हो? उससे नहीं होती।

इसमें आया था न वह परम्परा का? परम्परा से भी कारण यह वह भी माने तो वहाँ मूल में भूल है। वहाँ लोग भूल निकाले। परन्तु लिखा है शास्त्र में व्यवहार को परम्परा कारण कहा है। वह तो जिसे आत्मज्ञान-दर्शन हुआ है, आनन्द का स्वाद आया है, वह जब अशुभ से मिटकर शुभ में आया है, इससे शुभ, मिटाकर आगे जायेगा, इस अपेक्षा से कहा है। आहाहा! बाकी तो शुभराग वह तो बन्ध का, दुःख का कारण है। वह सुख का कारण हो, परम्परा भी कारण यह ? आहाहा! आत्मा को वह विकल्पजाल उल्टे अर्थ करके भटका मारा इसे। आहाहा!

एक दिन ऐसा आयेगा सब छोड़ना पड़ेगा इसे देह आदि। ... जाओ। वाणी नहीं, देह नहीं। आहाहा! स्त्री, पुत्र और धूल मकान तो कहीं पड़े रहेंगे। चला जायेगा। पर को अपना मानकर, दुःखी होकर, चार गति में भटकेगा। आहाहा! उसे कहते हैं कि सुखी होना हो तो एक बार यह तो कर, प्रभु! आहाहा! तेरी चीज़ तेरे पास प्रत्यक्ष पड़ी है। निर्विकल्प परम आनन्दमय मूर्ति स्वयं आत्मा पड़ा है। है, वह प्राप्त की प्राप्ति कर। आहाहा! रागादि तो तुझमें है नहीं। उसे प्राप्त करने जाता है तो दुःखी होगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग बैठना कठिन पहला।

सुना न हो कितनों ने नये लोग जैसे हों उन्होंने। क्या कहते हैं यह बात? आहाहा! अब पूरे दिन हम अपवास करते हैं, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, दान करते हैं, दया पालते हैं। तो कहते हैं वह धर्म नहीं। अभी तक भाई! हम धर्म-धर्म मानते थे। बापू! वह तो वृत्ति का उत्थान है। वह वृत्ति उठती है, वह तो विकल्प है, राग है; वह धर्म नहीं। आहाहा! इसका कारण है कि वह चीज़ स्वयं विकल्प रहित ऐसी चीज़ है, यह बात उसे बैठती नहीं। यह प्रभु अन्दर है, वह वीतराग निर्विकल्प स्वभाव है। वह विकल्प को कभी स्पर्शा भी नहीं। जो द्रव्यस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है, वह विकल्प को स्पर्शा ही नहीं। आहाहा! स्वभाव, विभाव को कैसे स्पर्श करे? ऐसी चीज़ अन्दर है, यह बात बैठती नहीं। समझ में आया? और वह जो क्रीड़ायें की हैं न, पुण्य-पाप के

विकल्प में रमा है न, वह इसे सामने हो पड़ा है। यह बात रह गयी पूरी। आहाहा! **तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।** आधार दिया है। समयसार गुजराती आवृत्ति-गाथा-१८७, १८८, १८९, अब आधार दिया है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा,... भगवान आत्मा चिदानन्द स्वरूप, उस चिदानन्द स्वरूप की परिणति द्वारा। आहाहा! दो, **पुण्य-पापरूप शुभाशुभयोगों से रोककर,...** यह शुभ और अशुभ दो पुण्य और पाप। इनसे उसे रोककर **दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ...** आत्मा का जो चिदानन्दस्वरूप, आत्मा द्वारा उस चिदानन्द की परिणति द्वारा। आहाहा! स्वरूप में स्थिर होकर **अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा (इच्छारहित होने से), सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ,...** मुनिपना लेना है न विशेष यहाँ।

(अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है... आनन्द के नाथ को आनन्द के नाथ की दशा, आनन्द की दशा द्वारा ध्याता है। आहाहा! ज्ञानस्वभाव को ज्ञानस्वभाव द्वारा ध्याता है। ऐसा है। एक पत्र में आता है श्रीमद् के, कि भाई! ऐसा देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि साधन हैं। ऐसा कुछ आता है। एक पत्र में आता है। वह नहीं, बड़ा पत्र है। वह तो एक बात बतलायी। परन्तु साधन, वह साधन नहीं। जरा कठिन पड़े, ऐसी बात है। उसमें आगे आता है न 'निश्चय रखकर लक्ष्य में साधन' क्या साधन? विकल्प और भक्ति वह साधन है? वहाँ अर्थ ऐसा हुए बिना चले नहीं, दूसरा अर्थ हो सके, ऐसा नहीं है वहाँ। आहाहा!

'निश्चय रखकर लक्ष्य में साधन करना सोय' कौन से साधन? यह भक्ति, व्रत, तप के भाव और वे सब, परन्तु वह साधन ही नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम! क्योंकि वस्तु स्वयं ही निर्विकल्प पिण्ड पड़ी है। जैसा सिद्ध वैसा मैं; मैं वैसा, वैसे सिद्ध। आता है या नहीं? भक्ति में नहीं आता? तहाँ-तहाँ। आती है वह भक्ति। उसमें कुछ अन्तर नहीं। ऐसा आत्मा है, वह अत्यन्त वीतरागस्वरूपी है, अकषायस्वभावी है, पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा है, पूर्ण आनन्द है, पर्याय के अल्प की यहाँ बात नहीं है, यह तो पूर्ण स्वरूप ही है, ऐसा आत्मा, उसकी दृष्टि में बैठता नहीं। इसलिए विकल्प के जाल से कुछ होगा, ऐसा वहाँ रुक जाता है। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसी बात है, बापू! आहाहा!

ऐसा आत्मा है... यह तो कहा न, देखो न! **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** तो आत्मा ऐसा है। ज्ञान और आनन्दस्वरूपी प्रभु आत्मा द्वारा। उसकी निर्मल परिणति द्वारा वह प्राप्त होता है। आहाहा! परन्तु ऐसा है, वह इसे विश्वास में नहीं आना और विश्वास में आये बिना सन्मुख नहीं हो सकता। आहाहा! और परसन्मुख की जो स्वभाव से विमुखता, उसमें से यह हटता नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है, भाई!

इसलिए यहाँ कहा न, **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** अर्थात् कि आत्मा द्वारा अर्थात् आत्मा ही ऐसा है यह। ज्ञान और आनन्द और वीतरागी स्वभाववाला आत्मा, उस आत्मा द्वारा अर्थात् उसकी वीतरागी पर्याय द्वारा। परन्तु ऐसा है, ऐसी बात बैठे बिना आत्मा द्वारा उसे कहाँ से आवे? समझ में आया, कहता हूँ वह? आहाहा! **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** पुण्य-पाप को रोककर। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा दर्शन-ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण तत्त्व, वह आत्मा। उसे ही आत्मा कहा न? ३८ गाथा में नहीं? निर्मल। नियमसार में। यह आत्मा। इसमें भी कहा परमात्मप्रकाश में, ६८ गाथा। '**जीवो न बंध मोखं करेइ**' जीव, वह बन्ध-मोक्ष को नहीं करता। आहाहा! उसे जीव और आत्मा कहते हैं।

आनन्द और ज्ञानस्वरूपी ज्ञाता से भरपूर भगवान, उसे आत्मा कहते हैं। और वह आत्मा बैठे तो इसकी पर्याय में परिणति निर्मल हो, उस द्वारा आत्मा ज्ञात हो। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है, भाई! दुनिया को बैठे, न बैठे, विरोध भी करे। स्वतन्त्र है, बापू! आहाहा! यह तो व्यवहाराभास हो जाता है, निश्चयाभास हो जाता है। व्यवहार से लाभ हो, इसका आता नहीं। व्यवहार है सही, हों! व्यवहार का विषय और व्यवहार है सही, परन्तु वह लाभदायक नहीं। यहाँ कहा न, विकल्प हैं सही, परन्तु दुःख का कारण है। आहाहा! व्यवहार और व्यवहार का विषय नहीं है, ऐसा नहीं है; है, परन्तु वह दुःखरूप है। आहाहा!

भगवान आत्मा की प्राप्ति दुःख के कारण से नहीं होती। उसका निर्मल स्वभाव, निर्मल प्रभु, उसकी परिणति निर्मल द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण १, गुरुवार, दिनांक २४-०७-१९७५, श्लोक-८५-८६, प्रवचन-९९

८५ गाथा। विशेष का दूसरा पेरेग्राफ। **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** आत्मा को आत्मा के द्वारा। **पुण्य-पापरूप शुभाशुभयोगों से रोककर, दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा (इच्छारहित होने से), सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ,...** सब लम्बी बात है न। आत्मा **(अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है...** आहाहा! अर्थात् कि आत्मा जो पूर्ण आनन्दस्वरूप, उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, यह भक्ति आदि के विकल्प से रहित होकर। आहाहा! पुण्य-पाप से रोककर, कहा न? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या भक्ति से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। उससे आत्मा का सम्यग्दर्शन हो सके, ऐसा वह नहीं है। आहाहा!

आत्मा को आत्मा के द्वारा... अर्थात् कि विकल्परहित रागरहित निर्विकल्प समाधि द्वारा। आहाहा! ऐसी बात है। **दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ...** अर्थात् कि दर्शन-ज्ञानस्वरूप जो त्रिकाल स्वभावी, उसमें स्थित होकर। आहाहा! **अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ,...** इच्छा से भी विरक्त होना, विशेष मुनिपने की बात ली है। राग के संग से रहित होकर। **(अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है...** आहाहा! सम्यग्दर्शन के काल में-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल में-प्रथम धर्म की दृष्टि अनुभव के काल में। आहाहा! यह सब विकल्प हैं, उनका लक्ष्य छोड़कर और पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण परमात्मस्वरूपी मैं हूँ, ऐसा विकल्प भी छोड़कर। आहाहा! उस आत्मा को इस प्रकार से निर्विकल्प समाधि अर्थात् शान्ति के काल में वह आत्मा ज्ञात हो और माना जाये, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

(समयसार गाथा) १४४ में लिया है न? १४४। उस समय श्रद्धा की जाती है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ सहजानन्द स्वरूप, वह तो पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्द का सागर है। आहाहा! ऐसे **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** अर्थात कि निर्विकल्प शान्ति और समाधि द्वारा। यह आत्मा द्वारा कहलाता है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग!

व्यवहार के पक्षवाले को तो ऐसा लगे। तो यह सब करत हैं न! यह यात्रा करते हैं, भगवान की भक्ति करते हैं, यह सब राग और विकल्प है; वह कहीं समकित पाने का कारण नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : साधु हो तो समकित पावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु किसे कहना? परन्तु उस साधु को भान कहाँ है आत्मा क्या? आत्मा के निर्विकल्प अनुभव बिना तो समकित नहीं होता। समकित बिना ज्ञान और चारित्र होते ही नहीं। साधु किसे कहना? भाई! यह तो वह 'उस समय है' और यह याद आया।

और उसमें ऐसा कहा था न रहस्यपूर्ण चिट्ठी में। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, यह मान्यता, इस व्यवहार समकित में नाम न पावे। आहाहा! रहस्यपूर्ण चिट्ठी में है। परन्तु उसमें जब निश्चय सम्यग्दर्शन। आहाहा! पूर्ण आनन्द का नाथ निर्विकल्प शान्ति द्वारा उस काल में जो शान्ति द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, उस काल में उसकी श्रद्धा की जाती है, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! भाई! जगत से सब पूरा उल्टा। वीतराग का मार्ग तो।

यहाँ तो कहते हैं, सब साधन क्या? ऐसा पूछते थे वहाँ वे। अगास (में)। निश्चय, परन्तु उसका साधन? ऐसा सब पूछते थे। एक मारवाड़ी था। यह साधन-फाधन वह है। आहाहा! जितने विकल्प हैं दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, बहुमान और विनय, वह सब विकल्प है, राग है। राग से आत्मा को रोककर आत्मा द्वारा अन्दर में दृष्टि करे। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! यह दिव्यध्वनि का दिन है। आहाहा! सुखामृत, समामृत, शान्तरस से भरपूर भगवान है। अकषाय जिसका स्वरूप है, सहजात्मस्वरूप वीतरागमूर्ति जिसका रूप है। वह तो वीतराग की पर्याय द्वारा ही ज्ञात हो ऐसा और श्रद्धा की जाये, ऐसा है। समझ में आया? उसे साधन यह बाहर के भक्ति और व्रत, यह साधन-बाधन है ही नहीं। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसी बात बहुत कठिन पड़े जगत को। सम्प्रदाय बाँधकर बैठे। उसे यह ऐसा लगे। देखो, यह अभी... उससे कुछ होगा नहीं तो फिर करना नहीं न? करना नहीं, वह तो आता है।

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव होता है, परन्तु वह विकल्प और राग है। वह कहीं सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का कारण नहीं है। आहाहा!

प्रथम सम्यग्दर्शन अभी तो, हों! चौथा गुणस्थान। आहाहा! वह तो **आत्मा को आत्मा के द्वारा...** ऐसी भाषा है। भगवान आत्मा निर्विकल्प समाधि आनन्दस्वरूप, वीतरागस्वरूप है। ऐसी ही निर्विकल्प समाधि अर्थात् शान्ति द्वारा पुण्य-पाप के भाव को रोककर। आहाहा! वह तो सहज रुक जाते हैं वहाँ। उपदेश की शैली चले, तब उसे क्या कहे? ज्ञान-दर्शन ऐसा त्रिकाली स्वरूप, त्रिकाली स्वभाव ज्ञान और दर्शन का स्वभाव त्रिकाल, उसमें जो स्थित होता है, वह तो वीतरागी पर्याय द्वारा स्थित हुआ जाता है। आहाहा!

अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ,... विशेष फिर मुनिपने की बात। **(अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है...** आहाहा! यह समयसार की गाथा है। १८७, १८८, १८९। **आत्मा को...** अपने आत्मा को वापस। भगवान का आत्मा और देव-गुरु का आत्मा, वह तो पर है। उसका लक्ष्य करने जायेगा तो राग ही होगा। समझ में आया? ऐसा मार्ग है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा... निर्विकल्प शान्ति द्वारा ध्यान में ध्येय बनाकर, ध्यान का विषय जो आत्मा। यह पर है, वह तो राग का विषय है। यह तो निर्विकल्प शान्ति का विषय तो द्रव्यस्वभाव है। ओहोहो! समझ में आया? **आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता...** अर्थात् राग और कर्म की ओर का लक्ष्य उसे छूट जाता है। आहाहा! **(स्वयं) चेतयिता (ज्ञाता-दृष्टा) होने से, एकत्व का ही चिन्तन करता है...** अर्थात् स्वभाव में एकत्वता का अनुभव करता है, चेतता है, अनुभव करता है। आहाहा! ऐसा मार्ग।

वस्तु जो है आत्मा, वह तो विकल्प और राग बिना की और कर्म के सम्बन्ध बिना की चीज़ है। चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, श्रद्धा का राग, यह यात्रा का राग, इन सब राग से तो प्रभु रहित है। क्योंकि राग है, वह आस्रव है और भगवान आत्मा तो आस्रवरहित ज्ञायक है। आहाहा! आज एक कोई आया था। चला गया होगा।

अगास से। अगास रहता हूँ। मैंने कहा, भाई! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, भाई! वहाँ तो ऐसा कहते हैं कि भगवान की भक्ति करो, गुरु की भक्ति करो। लो! भक्ति करते-करते हो जायेगा। यह वीतरागमार्ग ऐसा नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी में ऐसा नहीं आया।

मुमुक्षु : दिव्यध्वनि में ऐसा नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं आया। उनकी दिव्यध्वनि में तो यह आया, सन्त कहे या दिव्यध्वनि द्वारा कहे, सब एक ही बात है कि भगवान आत्मा समाधि अर्थात् शान्त सुखस्वरूप है। उसे निर्विकल्प...

कहते हैं कि वह अन्तरस्वरूप से आत्मा आत्मा द्वारा। ऐसा है न? **(अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा...** तब आत्मा द्वारा अर्थात् क्या? दया, दान के व्रत और भक्ति का राग, वह आत्मा है? आहाहा! बापू! आत्मा को उस समय में। आत्मा, आत्मा द्वारा जाने, उस समय में उसे श्रद्धा में आता है। तब उसे आत्मा जानने में आता है। इसके बिना शास्त्र से जाने और बात (करे), यह वहाँ तक आत्मा उसने जाना नहीं। आहाहा! कहो, सुजानमलजी! ऐसी बात है।

इसकी श्रद्धा में ही ठिकाना नहीं। ऐसा व्यवहार करते हैं, व्यवहार सुधारते हैं, तो साधन होगा, निश्चय प्राप्त होगा। राग को सुधारें तो अन्दर वीतराग पर्याय होगी। यह मिथ्या शल्य है। आहाहा! समझ में आया? कठिन पड़े, भाई! क्या हो? मार्ग तो ऐसा है, बापू! अनन्त तीर्थंकरों ने, अनन्त केवलियों ने, अनन्त सन्तों-मुनियों ने भावलिंगी सन्तों ने तो यह कहा है। उसमें आता है न, 'कारण गिनी प्रत्यक्ष'। आत्मसिद्धि में आती है न एक गाथा? वह सब बातें व्यवहार की हैं। समकित नहीं आता? 'कारण गिनी प्रत्यक्ष।' समकित उसको है कहा, कारण... वह समकित नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आग्रह तजकर लक्ष्य... वर्ते सद्गुरु लक्ष्य। वह तो पर। परन्तु वे सद्गुरु जो कहते हैं, ऐसे अभिप्राय में आवे। यह कहते हैं कि तेरा आत्मा वीतराग पर्याय से तुझे प्राप्त हुआ, मेरे लक्ष्य से प्राप्त नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? यह

परमार्थ की बातें ऐसी सूक्ष्म हैं न कि लोगों को तो ऐसा... यह तो सब अरर! यह हुआ तब यह सब करते हैं न यह? यह यात्रा करते हैं। कितने ही लोग कल इकट्ठे हुए होंगे शत्रुंजय। खिचड़ा। यह यात्रा करेंगे और उसमें से धर्म होगा। धूल भी धर्म नहीं।

मुमुक्षु : वर्ष में एक बार गये तो सब पाप धुल जायें। फिर नये सिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी धुलते नहीं। पाप तो वास्तविक पाप तो मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व पाप कब धुलता है?

मुमुक्षु : जैन हो उसे मिथ्यात्व नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन कहना किसे? वाडा में पड़े, इसलिए जैन हो गये? थैली में चिरायता और ऊपर लिखे मिश्री तो चिरायता मीठा हो गया? कोथला समझते हो? बोरी। ऊपर लिखे मिश्री और अन्दर हो चिरायता। करियातुं समझते हो? चिरायता। अन्दर भरा हो चिरायता, ऊपर लिखे मिश्री। इसी प्रकार अन्दर मिथ्या श्रद्धा पड़ी है और नाम दे जैन। आहाहा! अमरचन्दभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! अभी जिसके व्यवहार श्रद्धा का ठिकाना नहीं, कि राग से आत्मा प्राप्त नहीं होता, निर्विकल्प समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है, तब जाना कहलाये और तब श्रद्धा की कहलाये। आहाहा! समझ में आया? यह तो पूरे संसारसमुद्र को उथला डालना है न? आहाहा!

जो विकल्प है, वह संसार है। चाहे तो देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का राग, भक्ति का और यात्रा का राग, वह स्वयं संसार है। आहाहा! उस संसार से विरक्त होना हो, उसे तो निर्विकल्प शान्ति द्वारा विरक्त होता है। आहाहा! और उस समय उस परमात्मप्रकाश में बहुत रखा है, हों! उस समय ऐसा होता है... उस समय... ऐसा बहुत लिखा है। यहाँ वखत है न जैसे यहाँ। उस वक्त कहो या समय कहो। १४४ में ऐसा रखा है कि उस समय श्रद्धा की जाती है और जानने में आता है। राग से रहित होकर, स्वभाव के सन्मुख की दृष्टि होने पर निर्विकल्प शान्ति द्वारा यह आत्मा जानने में और श्रद्धा करने में आता है। उस समय। आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त होता है। ऐसा है। व्यपदेश है न? आहाहा! मूल में पहले से भूल और पर से यह करते हैं, यह किया, यह किया, व्रत पालन किये, क्रिया की, साधु हुए, सब बिना एक के शून्य हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आत्मा को, आत्मा को आत्मा द्वारा। अपने, हों! आहाहा! **अपने आत्मा को...** तो वह आत्मा स्वयं कौन? वीतरागस्वरूपी निर्विकल्प अभेद शान्तस्वरूप है। उसे आत्मा द्वारा, उसकी जाति की दशा निर्विकल्पदशा द्वारा। आहाहा! **ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता...** यह तो नास्ति से बात की। **(स्वयं) चेतयिता (ज्ञाता-दृष्टा) होने से, एकत्व का ही चिन्तन करता है...** स्वयं जाननेवाला-देखनेवाला होने से, जाननेवाले-देखनेवाले को ही अनुभव करता है। आहाहा!

शास्त्र के जानपने का क्षयोपशम, वह तो कहीं रह गया। परन्तु यह सम्यग्ज्ञान का हुआ क्षयोपशम, उसकी भी जहाँ दृष्टि नहीं। दृष्टि उसके ऊपर नहीं। केवलज्ञान की पर्याय के ऊपर जहाँ दृष्टि नहीं। केवलज्ञान तो पर्याय है। यह वस्तु आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा को। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह भगवान की दिव्यध्वनि में यह देशना आयी थी। विपुलाचलपर्वत पर, भगवान को केवलज्ञान तो पहले हुआ था वैशाख शुक्ल १०, परन्तु आज श्रावण कृष्ण एकम् को दिव्यध्वनि हुई थी। गणधर पद आज मिला था। इसलिए तीर्थ के नायक यह हुए अर्थात् तीर्थ स्थापित किया, ऐसा कहा। यह 'तित्थयराणं' आता है न? णमोत्थुणं में, नहीं? णमोत्थुणं अरिहंताणं, भगवंताणं, आईगराणं, तित्थयराणं। यह तीर्थ का स्थापन मूल तो गणधर है। वहाँ तीर्थ स्थापित हुआ उस दिन आज। आहाहा! और भगवान गणधर ने स्वयं शास्त्र और आगम की रचना की।

मुमुक्षु : अन्तर्मुहूर्त में।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्मुहूर्त में। आहाहा! चौदह पूर्व और बारह अंग की रचना। वह आज का दिन है। यह सुना, उसमें से कितना ही लिया हो उन्होंने? सुना, वह तो वाणी है और इन्द्रिय का लक्ष्य वहाँ जाता है, इसलिए वाणी को सुनते हैं, वह कहीं ज्ञान नहीं है। आहाहा! ज्ञान तो स्व-आत्मा द्वारा आत्मा को अनुभव करने से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। आहाहा! फिर हजारों शास्त्र रचे और बनावे, परन्तु यह आत्मा द्वारा आत्मा को जाने नहीं, तब तक उसने आत्मा जाना नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

एकत्व का ही चिन्तन करता है-चेतता है-अनुभव करता है, वह (आत्मा), आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ,... अन्यपने न होकर और अनन्यमय एकपने होकर। आहाहा! दर्शन-ज्ञानस्वरूप भगवन, उसमें एकत्व होकर, निर्मल पर्याय द्वारा—वीतरागी पर्याय द्वारा एकत्व होकर **अल्प काल में ही कर्मों से रहित, आत्मा को प्राप्त करता है।** पहला सम्यक्त्व पाता है, फिर निर्विकल्प उग्र पर्याय द्वारा आत्मा को ध्याता है, तब केवलज्ञान को पाता है। आहाहा! यहाँ तो दोनों बातें ली हैं कि भाई! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के काल में आत्मा द्वारा आत्मा प्राप्त होता है और फिर केवलज्ञान द्वारा प्राप्त होता है, वह भी आत्मा की पर्याय द्वारा आत्मा को प्राप्त होता है। आहाहा! कहीं संहनन मजबूत था, वज्रनाराचसंहनन मनुष्यदेह, इसलिए वह केवलज्ञान को प्राप्त हुआ, ऐसा नहीं है। वह आत्मा की निर्मल पर्याय द्वारा आत्मा को ध्याते हुए केवलज्ञान को प्राप्त होता है। आहाहा! ऐसा तो ऐसा लगे, संक्षिप्त लगे। लोगों को ऐसा लगे। आहाहा!

उन स्थानकवासी में कहते हैं कि भाई दया पालन करो, व्रत पालन करो, अपवास करो। मन्दिरमार्गी में भक्ति करो, यात्रा करो, पूजा करो। दिगम्बर में कहे वस्त्र छोड़ो और यह चलता है, नहीं चलता आहार। आहाहा! और भक्तिपंथ में देव-गुरु की भक्ति करो। यहाँ (भी भक्ति) होगी। आज तो दिन है न दिव्यध्वनि का। ऐई!

यह विकल्प होता है, अशुभ से बचने के लिये (ऐसा) भाव होता है। परन्तु वह भाव सम्यग्दर्शन का कारण है या शुद्धि को टिकाने का कारण है या शुद्धि की वृद्धि का कारण है या शुद्धि की उत्पत्ति का कारण है, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! आहाहा! यह क्या शास्त्र में है कि यह क्या बात है? यह तो समयसार की गाथा है।

फिर, नयप्रज्ञापन की बात है थोड़ी। **वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जानकर, जहाँ ज्ञान उसमें एकाग्र होता है, वहाँ राग अथवा विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसी का नाम चित्त का निरोध...** कहा जाता है। चित्त का निरोध करो, इच्छा का निरोध करो। अर्थात् क्या? आनन्दस्वरूप को ध्यान में लेने से निर्विकल्प द्वारा ध्यान में आने से चित्त का विकल्प वहाँ उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। बात-बात में अन्तर। चलते

प्रवाह में सम्प्रदाय का प्रवाह चलता है, उसकी अपेक्षा भगवान का, सम्प्रदाय पूरी जाति अलग है। आहाहा! वीतराग तो ऐसा कहते हैं। अरिहंतदेव, त्रिलोकनाथ।

इसके अतिरिक्त 'मैं चित्त को रोकूँ, मैं विकल्प को रोकूँ'—ऐसी नास्ति के लक्ष्य से कही विकल्प नहीं टूटता है... आहाहा! स्पष्टीकरण किया है। **परन्तु विकल्प उत्पन्न होता है।** यह तो विकल्प उत्पन्न होता है। विकल्प को तोड़ूँ, (ऐसा विचारने से) तो विकल्प टूटता नहीं, वह तो विकल्प उत्पन्न होता है। आहाहा! परन्तु **मैं चैतन्यमात्र...** अब अस्ति से बात लेते हैं। **मैं चैतन्यमात्र स्वभाव हूँ।** मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव त्रिकाल स्वभाव है। त्रिकाली अविनाशी स्वरूप है, ऐसा जो अस्तित्व स्वभाव की ओर ज्ञान का जोर देने से। ज्ञान का जोर अर्थात् ज्ञान में ज्ञान एकाग्र होने पर, चित्त का निरोध सहज हो जाता है। विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, यह चित्त का निरोध किया—ऐसा कहने में आता है। एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानं—इसका स्पष्टीकरण किया।

स्वभाव के ओर की एकाग्रता के जोर से... भगवान स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... वस्तु का आनन्द ज्ञानस्वभाव, अविनाशी स्वभाव, त्रिकाल स्वभाव, अभेद स्वभाव, एकरूप स्वभाव, ऐसा चैतन्य का अखण्ड स्वभाव। आहाहा! है? **स्वभाव के ओर की एकाग्रता के जोर से...** इस स्वभाव की एकाग्रता के जोर से **राग का-विकल्प का अभाव हो जाता है;...** राग की उत्पत्ति नहीं होती तो अभाव हो जाता है। आहाहा! बहुत से ऐसा सुनकर यही पूछते हैं कि यह तो तुम्हारी निश्चय की बात है, परन्तु इसका कोई उपाय? साधन? यह साधन नहीं कहते? आहाहा! ऐसे अनन्त बार बाहर के साधन किये। व्रत किये, तप किये, भक्ति की, भव-भव में वीतराग को पूजा, समवसरण में अनन्त तीर्थंकरों के पास गया। और भगवान की भक्ति तथा पूजा साक्षात् समवसरण में की, तो भी कुछ मिला नहीं।

मुमुक्षु : कुछ मिला नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मिला नहीं कुछ। वह तो परलक्ष्यी भाव है सब।

स्वलक्ष्यी... यह तो सवेरे आया नहीं था? उपयोग जिसका लक्षण है। यह तो लक्ष्य का लक्षण करते हुए... लक्ष्य का लक्षण उपयोग करते हुए जो लक्षण उत्पन्न हो,

वह पर के लक्ष्य से उत्पन्न होगा उपयोग? उस उपयोग को तो अणुपयोग कहा। सवेरे कहा था न? आहाहा! यह वीतराग की वाणी! वीतराग को सुनना और वीतराग के दर्शन करना, वह उपयोग अणउपयोग है। जीव की जाति का उपयोग नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन, भाई! बापू! यह तो वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर। आहाहा! जगत से और वाडा के बाँधे हुए मार्ग से भी यह अलग प्रकार है। ऐसी बात है। उसे ऐसा पहले श्रद्धा में और ज्ञान में इसे निर्णय करना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन होने से पहले। समझ में आया? आहाहा!

यह तो स्वभाव के साधन से ही प्राप्त हो, ऐसा जीव है। जीव का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! यह कहीं बाहर बहुत दया-दान करे, मन्दिर बनावे, बाहर की प्रभावना में। आहाहा! बहुत भक्ति धोम-धोम। मजीरा बजावे। वह तो जड़ की क्रिया है। उसमें राग है, वह परलक्ष्यी शुभभाव है। आहाहा! वह शुभभाव भी धर्म, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने को साधन नहीं है। वह तो बाधक है।

मुमुक्षु : वह तो नपुंसकभाव कहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नपुंसक है वह। वास्तव में तो शुभभाव, वह नपुंसक। क्योंकि आत्मा का जो वीर्य है, उसे तो भगवान ने ऐसा कहा, त्रिलोकनाथ ने (ऐसा कहा) कि वीर्य उसे कहते हैं कि शुद्ध स्वरूप की निर्मल परिणति रचे, उसे वीर्य कहते हैं। परन्तु जो राग को रचे, वह वीर्य नहीं, जीव का वीर्य नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग भाई यह। मार्ग तो ऐसा है, बापू! 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' उसे दूसरे प्रकार से और तीसरे प्रकार से खतौनी करने जाये (तो) चार गति में भटकने जायेगा। आहाहा!

कहते हैं, **विकल्प का अभाव हो जाता है; इसलिए पहले वस्तु के स्वभाव को सभी पहलुओं से जैसा है, वैसा जानना चाहिए।** यह तो इन्होंने स्पष्टीकरण किया नय का। **जहाँ श्रुतज्ञान को (स्व) सन्मुख झुकाकर...** क्या कहते हैं यह? जो श्रुतज्ञान है निर्मल वीतरागी पर्याय श्रुतज्ञान की, उसे सन्मुख झुकाकर... विकल्प जो है, वह तो परलक्ष्य का कार्य है। आहाहा! भावश्रुतज्ञान जो पर्याय, वह (द्रव्य) सन्मुख, शुद्ध

चिद्घन आनन्दकन्द प्रभु की ओर निर्मल पर्याय को झुकाना। आहाहा! ऐसा कहने में पर्याय के ऊपर लक्ष्य छोड़ने के लिये बात है। पर्याय में खड़ा रहकर ऐसे झुकाना, ऐसा नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

श्रुतज्ञान को सन्मुख झुकाकर (अर्थात्) ऐसे पर्याय को द्रव्य की ओर झुकाकर। आहाहा! कठिन काम, भाई! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है। ज्ञान की निर्मलता और चारित्र, वह तो अलौकिक कोई बातें हैं। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, **श्रुतज्ञान को (स्व) सन्मुख झुकाकर अन्दर स्वभाव में एकाग्र किया,...** यह कहा। वस्तु निर्विकल्प समाधि सुखरूप है। वस्तु भगवान आत्मा अभेद निर्विकल्प आनन्दरूप है। उसकी परिणति में भेदरूप जो परिणति है, निर्विकल्प शान्ति और आनन्द की पर्याय को अन्तरोन्मुख करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा धर्म किस प्रकार का? ऐई... शुकलदासजी! अभी तक ऐसा सब सुना है, सम्मेदशिखर जाओ, शत्रुंजय जाओ, यात्रा करो, तुम्हारे पाप का नाश होगा। यह किस प्रकार की बात है?

बापू! यह तो वीतराग की जाति की बात है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में तो यह आया है। लोग दूसरे रास्ते दौड़ गये हैं। उसमें आया है कहीं। परमात्मप्रकाश में कहीं आता है। क्या कहलाती है वह? यशतिलक। यशतिलक। उसमें आया लोग वृथा क्लेश करते हैं। वस्तु वास्तविक तत्त्व है, उसका अनुभव करना छोड़कर। आहाहा! ऐसा कहीं है। परमात्मप्रकाश में है कहीं। वृथा विकल्प करके अन्य मार्ग में चढ़ गये हैं। ऐसा कहीं है। इस ओर है कहीं। आहाहा! क्लेश है, वह क्लेश है। आहाहा! भगवान की भक्ति, पूजा, यात्रा, राग वह क्लेश है। भारी कठिन बात भाई!

मुमुक्षु : उपदेश का सुनना, वह भी क्लेश?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग है। विकल्प, वह क्लेश है। आहाहा! राग स्वयं ही क्लेश है। व्रत का विकल्प है, अपवास करूँ उसका विकल्प है, वह सब क्लेश है, राग है। आहाहा! अपने अपवास किया था, हो गयी वह निर्जरा उसे। निर्जरा अर्थात् धर्म। भारी सरल धर्म भाई! आहाहा!

यहाँ तो उपवास अर्थात् भगवान शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को श्रुतज्ञान से अन्तर में समीप झुकाकर। आहाहा! है? **सर्व विकल्प, सहज विलय को प्राप्त होते हैं...** सर्व विकल्प स्वयं विकल्प विलय होते हैं। आहाहा! **और अनन्त धर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है।** नयप्रज्ञापन। भगवान आत्मा अपने सन्मुख पर्याय को करते हुए—अपने सन्मुख स्वयं होते हुए। आहाहा! अनादि का सन्मुख, वह विमुख है। जो कुछ दया, दान, व्रत, तप, भक्ति परिणाम वे सब विमुख परिणाम हैं। स्वभाव के परिणाम नहीं, स्वभाव से विमुख के हैं। आहाहा! भारी काम, भाई! ऐई... गिरधरभाई!

बेचारा एक व्यक्ति करे, तुमने यह नया निकाला। हम तो भक्ति करते, यात्रा करते और धर्म मानते थे। तुम कहो कि धर्म नहीं। लो! हम यह सब अनादि से करते आये हैं, हमारे बाप-दादा करते हैं, यह सब। ९९ यात्रायें करना शत्रुंजय की। ९९ क्या तेरी लाख कर न, शत्रुंजय की और सम्मेदशिखर की। वह तो परद्रव्य के लक्ष्य से तो शुभराग है। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का कारण भी नहीं और सम्यग्दर्शनस्वरूप भी नहीं। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसा मार्ग है, भाई! यह इसे जहाँ यह बात अन्तर से बैठे। कहा है न चैतन्य की बात। चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, वह विकल्प से रहित है। ऐसी बात चित्त की प्रसन्नता से जिसे यह बात बैठे, वह भावी निर्वाण भाजन। आहाहा! चित्त की प्रसन्नता अर्थात्? राग से रहित प्रसन्नता आनन्द में आयी और इस बात को जो बैठाता है। आहाहा! वह अल्प काल में केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

श्लोक - ८६

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह-

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्॥ ८६॥

अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत्। संयोगिजिनावस्थायां परात्मज्ञानसम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः सिद्धस्वरूपः परमात्मा भवेत्॥८६॥

उस उत्प्रेक्षाजाल के नाश करनेवाले को, इस क्रम से करना चाहिए, यह कहते हैं—

करें अव्रती व्रत-ग्रहण; व्रती, ज्ञान में लीन।
फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन॥ ८६॥

अन्वयार्थ - (अव्रती) हिंसादि पञ्च अव्रतों में अनुरक्त हुए मनुष्य को, (व्रतं आदाय) अहिंसादि व्रतों को ग्रहण करके, अव्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना तथा (व्रती) अहिंसादि व्रतों के धारक को, (ज्ञानपरायणः) ज्ञानभावना में लीन होकर, व्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना और फिर अरहन्त-अवस्था में (परात्मज्ञानसम्पन्नः) केवलज्ञान से युक्त होकर (परः भवेत्) परमात्मा होना—सिद्धस्वरूप को प्राप्त करना।

टीका - अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, व्रतग्रहण करके विनाश करना तथा व्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, ज्ञानपरायण होकर अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर, परम वीतरागता की अवस्था में (उनका) विनाश करना। सयोगीजिन अवस्था में परात्मज्ञानसम्पन्न अर्थात् पर / सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट जो आत्मज्ञान—जो केवलज्ञान, उससे सम्पन्न अर्थात् युक्त होकर, स्वयं ही अर्थात् गुरु आदि के उपदेश की अपेक्षा रखे बिना, (निरपेक्ष होकर) पर अर्थात् सिद्धस्वरूप परमात्मा होना।

भावार्थ - विकल्पजाल का त्याग करके किस प्रकार सिद्धस्वरूप की प्राप्ति करना ?—उसका क्रम आचार्यों ने निम्नानुसार बतलाया है —

१. अव्रत-अवस्था में जो हिंसादि पाप के विकल्प होते हैं, उनका अहिंसादि व्रतों का ग्रहण करके, नाश करना।

२. व्रत-अवस्था में जो अहिंसादि शुभभावरूप विकल्प होते हैं, उनका ज्ञानपरायण होकर अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर, विनाश करना।

३. ज्ञानभावना में लीन होने पर, परम वीतराग तथा केवलज्ञानयुक्त जिनदशा (अरहन्त अवस्था) प्रगट होती है, और

४. स्वयं ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'व्रत-अव्रत — इन दोनों विकल्परहित, जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है — ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है.........

...........पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग होता है; पश्चात् शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है — ऐसी क्रम परिपाटी है।[१] '

धर्म का प्रारम्भ चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से होता है। इसके पूर्व जीव की मिथ्यात्व अवस्था होती है। इस अवस्था में जो व्रत-तपादि करने के विकल्प आते हैं, वे सब बालतप गिने जाते हैं।[२]

अविरत सम्यग्दृष्टियों को, देशविरत श्रावकों को और मुनियों को, भूमिकानुसार शुभ-अशुभविकल्प आते हैं परन्तु उनको भेदविज्ञान होने से, उन विकल्पों को वे श्रद्धा-ज्ञान में, अपना स्वरूप नहीं मानते; उनको शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति में विघ्नरूप मानते हैं और उनको छोड़ने के लिए अपनी भूमिकानुसार प्रयत्न करते हैं।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि —

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२५४-२५५ २. श्री समयसार, गाथा १५२-१५३

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥

'जिसको (सम्यग्दृष्टि को) जितने अंश में सम्यग्दर्शन होता है, (शुद्धि है-शुद्धभाव है; रागरहित अंश है), उतने अंश में उनके बन्ध नहीं हैं; जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्धन होता है।

उनको जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है, उतने अंश में बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है।

उनको जितने अंश में सम्यक्चारित्र है, उतने अंश में उनको बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्ध होता है।'

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि को जो भूमिकानुसार पूजा, भक्ति आदि तथा व्रत, महाव्रत, नियमादि का शुभभाव आता है, वह भी आस्त्रव-बन्ध का कारण है परन्तु वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है; संवर-निर्जरा का कारण तो शुभ अंशों के साथ जो शुद्ध अंश है, वही है। जो शुभराग बन्ध का कारण हो, वह कभी मोक्ष का कारण नहीं हो सकता; इसलिए व्रतादि के शुभविकल्पों को भी, अव्रतादि के अशुभविकल्पों की भाँति, मोक्षमार्ग में हेय / छोड़नेयोग्य गिना गया है।

'जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं — शुभाशुभकर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे - मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है; वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म, अपना कार्य करता है और ज्ञान, अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभकर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत, नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है; शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।[१] '

१. श्री समयसार कलश ११० का भावार्थ

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से जो निर्विकल्पदशा प्रगट होती है, उस दशा में आत्मस्वरूप में स्थिरता जमती जाती है और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके, सिद्धपद की प्राप्ति होती है ॥८६ ॥

श्लोक - ८६ पर प्रवचन

उस उत्प्रेक्षाजाल के नाश करनेवाले को, इस क्रम से करना चाहिए, यह कहते हैं— अब ८६।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्॥ ८६॥

करें अव्रती व्रत-ग्रहण; व्रती, ज्ञान में लीन।
फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन॥ ८६॥

आहाहा! एक चोर था चोर। वह अब भागा और जाना कहाँ? फिर एक लोहे का भूंगला था, मनुष्य उतरे ऐसा। उसमें घुस गया। आहाहा! हाय... हाय... वहाँ होकर श्वास भी ली नहीं जाये। मर गया। हो गया। जैसे यह चूहा पकड़ में आता है न? चूहा... दीवार के साथ ऐसे अलमारी हो और दीवार के साथ अलमारी। दो-चार अंगुल दूर हो और चूहा निकला हो, उसमें ऐसे भर जाये, पैर टंगे रहे और ऐसे बस वहीं का वहीं सूख जाये अब। कहीं निकल सके नहीं। पैर में ऐसा हो गया है। इसी प्रकार उस भुंगले में गया बचाव के लिये। मुझे मार डालेंगे, ऐसा करके (गया)। हो गया, वहाँ मर गया, सूख गया। यह देखो न प्रतिकूलता के, शरीर की एकता के दुःख। ऐसा अनन्त बार हो गया है, बापू! आहाहा! मिथ्यात्व के कारण ऐसे अनन्त भव हुए हैं। लो, चिमनभाई आये। समझ में आया? आहाहा!

इसकी **टीका - अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का,...** सम्यग्दर्शन होने के बाद की यह बात है। जिसे आत्मा के निर्विकल्प शान्ति द्वारा आत्मा का अनुभव हुआ है, सम्यग्दर्शन हुआ है, वह जीव अभी अव्रत में है। उस **अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का,...** अस्थिरता का जल है न अभी? श्रेणिक

को क्षायिक समकित हुआ, लो! श्रेणिक राजा। क्षायिक समकिती। परन्तु अभी अव्रत के विकल्प तो बहुत अस्थिरता के। तो इस जाल का, **व्रतग्रहण करके...** व्रत ग्रहण करके अर्थात्? स्वरूप में आश्रय उग्र करके जब पाँचवें और छठे गुणस्थान की दशा मुनि की हो, तब उसे व्रत का विकल्प आवे और अव्रत के विकल्प छूटते हैं। समझ में आया?

अव्रतीपने की अवस्था में... अर्थात् चौथे गुणस्थान में होते अव्रत और अव्रत के विकल्प के जाल में, उस जाल को छोड़ने के लिये व्रत ग्रहण करके। पंच महाव्रत का विकल्प मुनि को... नग्न मुनि दिगम्बर होते हैं। सच्चे सन्त तो दिगम्बर नग्न होते हैं और वे जंगल में बसते हैं। यह सर्वज्ञ परमात्मा का अनादि का सनातन धर्म है। वह कहते हैं कि जब सम्यक् अनुभव हुआ, आत्मा विकल्प से रहित निर्विकल्पदशा द्वारा आत्मा को जाना और अनुभव किया और श्रद्धा की, परन्तु उस काल में अभी उसे अव्रत के विकल्प तो हैं। विकल्प से भिन्न पड़ गया, परन्तु विकल्प से पृथक् अस्थिर से छूटकर स्थिर हुआ नहीं। आहाहा!

ऐसे व्रत लेकर, अज्ञानी व्रत ले, वह यहाँ बात नहीं है। यह सब व्रत लेते हैं न अभी बहुत? वे तो अज्ञानी हैं, उन्हें अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं और व्रत कहाँ आये उसके? यहाँ तो अव्रती अर्थात् चौथे गुणस्थान में आत्मा निर्विकल्प समाधि, शान्ति द्वारा श्रद्धा में, जानने में आया, उसे भी अभी अव्रत के विकल्पों का जाल उसे होता है। उसे वह विकल्प का जाल तोड़ने के लिये व्रत ग्रहण करके, अर्थात् कि अन्तर आत्मा का उग्र आश्रय लेकर। आहाहा! क्योंकि व्रत का विकल्प तो अन्तर आनन्द का उग्र आश्रय हो, उसे आता है। जहाँ आनन्द का प्रचुर वेदन ही नहीं, उसे व्रत के विकल्प कैसे? आहाहा! वह तो बालव्रत और बालतप है। आहाहा! समझ में आया? बात-बात में बहुत अन्तर।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब खबर है, भाई! अभी चलता है क्या और मार्ग है क्या, बापू! सब खबर है, परन्तु क्या हो? मार्ग तो यह है।

अव्रती को अर्थ ऐसा नहीं कि समकित का भान नहीं और अव्रती है और उसके जाल को तोड़ने के लिये व्रत ग्रहण करे, ऐसा यहाँ नहीं है। पहले सम्यक् आत्मा का रागरहित, विकल्परहित दृष्टि द्वारा या निर्विकल्प शान्ति द्वारा आत्मा को जाना और पहिचाना, माना, अनुभव में आत्मा ज्ञात हुआ कि यह आत्मा तो पूर्ण शुद्ध और आनन्द है। परन्तु वह जब तक आगे बढ़ा नहीं, तब तक उसे अव्रत के विकल्प-राग होता है।

इन **विकल्पों के जाल का, व्रतग्रहण करके विनाश करना...** उसे आगे स्वरूप का आश्रय उग्र लेकर और उसे विकल्प का वहाँ व्यवहार आवे, तब वे अव्रत के विकल्प नाश हो जाते हैं। आहाहा! भारी शर्तें! शर्तें भारी!! हमारे व्रत ले लिये, लो! कहाँ व्रत थे, सुन न? अभी समकित का ठिकाना नहीं और व्रत कहाँ से आये तेरे? यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बाद द्रव्य का उग्र आश्रय लेकर, भगवान आत्मा का उग्र अवलम्बन लेकर, निर्मलदशा जो प्रगट हुई, उसे उस समय विकल्प होता है। नहीं तो वास्तव में तो वह निर्मल दशा प्रथम सातवें (गुणस्थान की) होती है, परन्तु यहाँ तो वह अव्रत को छोड़कर व्रत ग्रहण करना, इतना लिया है न? इसलिए उस स्थिरता में अकषायभाव आया है और उस समय उसे व्रत के विकल्प पंच महाव्रत के होते हैं, तो वे व्रत भी आस्रव हैं। आहाहा! समझ में आया?

वह **व्रतग्रहण करके विनाश करना तथा व्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का,...** मुनि हुआ, जिसे प्रचुर आनन्द है, स्वसंवेदन है, उसे जो पंच महाव्रत के विकल्प साधु के योग्य अट्ठाईस मूलगुण, समिति, गुप्ति ऐसा जो विकल्प / राग होता है, उस राग को... है? **होते विकल्पों के जाल का, ज्ञानपरायण होकर...** स्वरूप में लीनता होकर जो व्रत के विकल्प का नाश करना। आहाहा! समझ में आया?

वास्तव में तो व्रत के विकल्पों का राग किस भूमिका में होता है? पाँचवें में या छठवें में। अपने विशेष छठवें की बात है। मुनिपना... जिसे आनन्दस्वरूप रागरहित आनन्द का धाम अनुभव में आया है, उसे आनन्द का उग्र आश्रय लेकर और आनन्द विशेष बढ़ा है, उसे अव्रत के विकल्प छोड़कर, व्रत के विकल्प ग्रहण करना, ऐसा कहा है। आहाहा! कठिन मार्ग, बापू! आहाहा! वाडा में हो, तब तो विवाद ही करे, हों! यह

तो वाडा नहीं होता। छोटा गामडा गाँव। विवाद करे। वह कहे नहीं। ऐसा नहीं होता, अमुक नहीं होता, ढींकणा नहीं होता।

कहा था न एक बार वहाँ? (संवत्) १९८५ के वर्ष में बोटाद। वहाँ सभा तो बड़ी थी। ८५ में सभा बड़ी थी न सभा तो। हजारों लोग। कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव अधर्म है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव बन्ध का कारण अर्थात् राग है। और पंच महाव्रत के परिणाम, वे आस्रव हैं। दो बातें की थीं। ८५ का पौष महीना, बोटाद की बात है। कितने वर्ष हुए? ४६। ४० और ६। साथ में एक साधु बैठा था। वोसरे... वोसरे... जगजीवनजी। वोसरे... वोसरे। यह नहीं चाहिए। परन्तु कौन उसका सुने वहाँ? तब तो मुँहपत्ती थी न! सब था न। और सभा बड़ी। उसने क्या कहा, किसी ने सुना नहीं, मैं समझ गया कि इसे... कहा, बैठा रहना था न! तुम्हारा किसने सुना वहाँ? तुमने क्या कहा, इसकी खबर नहीं। वीर्यहीन था। इसलिए दूसरे को अच्छा लगाने के लिये, मूलचन्द को अच्छा दिखाने के लिये कि देखो मैंने उनसे ऐसा कहा था। सुन न अब, भाई!

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे। बन्ध का कारण भाव, वह धर्म होगा? धर्म से बँधते हैं? वह तो जरा कड़क भाषा की थी कि वह पुण्य नहीं परन्तु वह अधर्म है। चिल्लाहट मचाये। हाय... हाय... और पंच महाव्रत के परिणाम, वे आस्रव हैं। भगवान आनन्द के नाथ को अन्दर स्थिरता नहीं, इसलिए ऐसे विकल्प आते हैं। छठवें गुणस्थान में आनन्द के वेदन की दशा में, हों! आहाहा! यह तो कहाँ अभी आनन्द का भान नहीं, समकित की खबर नहीं, उसे तो कहाँ व्रत भी थे और कहाँ अव्रत का त्याग है? समझ में आया?

ज्ञानपरायण होकर... क्या कहा? यह चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, आत्मशान्ति समाधि प्रगट हुई, वह सम्यग्दर्शन, वह समाधि और वह सुख है। आनन्द के सुख का वेदन है, वह सम्यग्दर्शन (में)। आहाहा! समाधि-समाधि जो शब्द लिया है, उसका अर्थ आनन्द। उस सम्यग्दर्शन में आनन्द का स्वाद आया चौथे गुणस्थान में, तब उसे आगे बढ़ने के लिये यह अव्रत के विकल्प तोड़ना, आगे बढ़ना, उसे स्व का

उग्र आश्रय लेना। ऐसे बारह व्रत ग्रहण करना, ऐसा कहा है। परन्तु व्रत होते कहाँ हैं ? आहाहा!

मुनिपना अर्थात्... ओहोहो! परमेश्वर पद। जिसे गणधर नमस्कार करे। णमो लोए सव्व साहूणं। यह पद बापू! अलग चीज़ है। यह अभी नमूना देखना कठिन है। आहाहा! यह बात सुनना कठिन पड़ी, वहाँ नमूना कहाँ से लाना ? आहाहा! कहते हैं कि यह मुनिपने की दशा सम्यग्दर्शन की दशा से आगे बढ़ा हुआ, वस्तु के स्वरूप का आश्रय उग्र हुआ, उसे व्रत के विकल्प आवें, उसने अव्रत के विकल्प छोड़े, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वह व्रत का भाव, वह भी विकल्प और राग है। उसे छोड़ने के लिये इसे क्या करना ? कि ज्ञानपरायण। कहा न ?

उसमें ज्ञानस्वरूप भगवान, उसमें परायण विशेष हुआ, तब उस भूमिका में व्रत के विकल्प आये। अब उस व्रत का वह भी अभी विकल्प है, राग है। सच्चे सन्त, भावलिंगी मुनि को दृष्टि अनुभव दृष्टि और स्वसंवेदन है, उसे भी वह व्रत का विकल्प है, वह राग है। आहाहा! उस राग को छोड़ने के लिये **ज्ञानपरायण होकर अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर,...** आहाहा! ऐसी बात! ज्ञानस्वरूपी भगवान, ऐसे ज्ञान में लीन होकर उस व्रत के विकल्प को छोड़ना। आहाहा! गजब विषय!

यह समाधितन्त्र है न ? सम्यग्दर्शन की समाधि सुखरूप है। सम्यग्ज्ञान समाधि सुखरूप है और सम्यक्चारित्र, वह समाधि सुखरूप है। आहाहा! समाधि अर्थात् यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह तीनों समाधि हैं। आहाहा! तीनों में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद है। उसे कहते हैं कि व्रत के विकल्प आवे तो उसे वस्तु के स्वरूप में विशेष उग्ररूप से स्थिर होकर उन्हें छोड़ना। समझ में आया ? ऐसा कठिन मार्ग, भाई! अब कोई कहे कि सोनगढ़वालों ने नया मार्ग निकाला। ऐसा कहते हैं। नया क्या, यह अनादि का मार्ग ही है। लोगों को खबर नहीं थी, इसलिए कहीं नया मार्ग हो जायेगा ? आहाहा!

भाई! तुझे सर्वज्ञ वीतराग ऐसा तेरा स्वभाव, और जिसे शक्तिरूप से था, वह व्यक्त किया। शक्तिरूप से अर्थात् स्वभावरूप से, शक्तिरूप अर्थात् स्वभावरूप वह परमात्मस्वरूप और वीतरागस्वरूप ही उसका है। उसकी शक्ति कहो या उसका

स्वभाव कहो, सर्वज्ञ और वीतरागस्वभाव ही है। उस शक्ति में से जिसने व्यक्ति की, अन्तर में परायण होकर प्रगट दशा की। उसमें थी, वह बाहर आयी। आहाहा! ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा फरमाया है। कहो, चेतनजी! आहाहा! भगवान की दिव्यध्वनि आज।

मुमुक्षु : चेतनजी की ही बात है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चेतनजी की। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव में चैतन्यस्वभाव को श्रद्धा करना और मानना, वह तो उसके सन्मुख होकर निर्विकल्प हो, तब जाना-माना कहलाये। आहाहा! यह वस्तु ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात नहीं हो और मानना, यह कहाँ से आया? यह (समयसार) १७-१८ गाथा में लिया है। जो वस्तु है भगवान आत्मा पूर्ण, शक्तिवाला अर्थात् वह तो आत्मा स्वयं स्वभाव से तो परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा! वह शक्तिरूप कहो, स्वभावरूप कहो, वह परमात्मस्वरूप है, उसे अन्तर में एकाग्र होकर, शक्ति में से व्यक्तता प्रगट करना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग और इसका नाम मोक्ष है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण २, शुक्रवार, दिनांक २५-०७-१९७५, श्लोक-८६-८७, प्रवचन-१००

टीका – अव्रतीपने की अवस्था में होते... चौथे गुणस्थान की बात है। सम्यग्दर्शन हुआ है। निर्विकल्प वीतरागस्वभाव दृष्टि में, अनुभव में आया है, उसे अभी अव्रत के विकल्प होते हैं। उसकी बात है। अकेले मिथ्यादृष्टि की यहाँ बात नहीं है। प्रथम भूमिका जिसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, वह चैतन्य परिपूर्ण स्वभाव वीतरागस्वरूप से पूर्ण स्वरूप। उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन में आनन्द का अल्प वेदन आवे, उसमें प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहने में आता है। ऐसे जीव को अव्रत के विकल्प राग के होते हैं।

तो उसे **व्रतग्रहण करके...** व्रत ग्रहण करके, इसमें दो प्रकार। एक तो चौथे गुणस्थान में पहले बारह अणुव्रत के विकल्प ले। ध्यान नहीं तुम्हारा बराबर, हों! चारों ओर बहुत घूमा करता है। यह क्या नयी बात आती है, वह पकड़ने की तुम्हें गरज नहीं। हिम्मतभाई को कहता हूँ। पूरा घण्टा घूमाघूम घूमाघूम किया करते हैं ऐसे और ऐसे। अस्थिरता बहुत है। यह क्या कहा? नयी बात थी। परन्तु यह आता है न, इसलिए इसके उसमें नयी बात ग्रहण करने की दरकार नहीं। यह बहुत दिन से कहा था, हों! मैंने भाई को कहा चन्दुभाई को। एक बार कहा, इसके पहले दो बार कहा था। यहाँ तो भाई! सुनने के लिये ध्यान रखना चाहिए। रामजीभाई देखो कितना ध्यान रखते हैं! एक-एक अक्षर और एक-एक भाव।

यह शास्त्र है और यह बात आती हो तो भी वह तो धारणा में आयी है। वस्तु से नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! मार्ग के लिये पात्र होने को बहुत योग्यता चाहिए है। यहाँ क्या कहा? दूसरी बात की थोड़ी कि अव्रती को विकल्प पाँचवें गुणस्थान में पहले ले अणुव्रतादि। और कोई मुनि के पंच महाव्रत के विकल्प ले, तथापि उसे निश्चय स्थिरता जो अन्दर हुई हो तो उसे व्यवहार व्रतरूप से कहा जाता है। क्या कहा?

मुमुक्षु : निश्चय हो तो विकल्प कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, नहीं तो विकल्प... ऐसा शास्त्र में पाठ है कि सम्यग्दर्शन हुआ है, उसने विकल्प लिये व्रत के, परन्तु अन्दर स्थिरता चाहिए गुणस्थान की, वह

नहीं आयी। वह पुरुषार्थ नहीं। यह बात इसमें नहीं कही थी इतने में। समझ में आया? चिमनभाई! सब सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा!

चौथे गुणस्थान में व्रत के विकल्प लिये, पंच महाव्रतादि आते हैं न चरणानुयोग में अपने? प्रवचनसार। अब यह चौथे और पाँचवें में लिये जाते हैं महाव्रत के भाव। भाई! शुरुआत तो इसकी यहाँ, अब बाद में। उस भूमिका में पंच महाव्रत के विकल्प आते हैं। फिर उन्हें विकल्परूप से व्यवहाररूप से कब कहा जाता है? कि अन्दर निश्चय आनन्द में विशेषरूप से तिर गया। आनन्द की दशा बढ़ गयी है तो उसे उस प्रकार के वचन, विकल्प को व्यवहार कहा जाता है।

मुमुक्षु : भूतनैगमनय से व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। उस समय उसे कहा जाता है। नहीं यह तो...

मुमुक्षु : उस समय का हो वह व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहता हूँ। तब उसे वास्तविक व्यवहार कहा जाता है, ऐसा। आहाहा! और सम्यग्दर्शन है, अनुभव है आनन्द का और विकल्प ले लिये पंच महाव्रत के, मुनिपने के व्रत लिये, परन्तु अन्दर निश्चय आत्मा का आश्रय नहीं आया। वह पुरुषार्थ नहीं, तो उसे द्रव्यलिंगी, द्रव्यलिंगी मुनि कहने में आता है। भले समकित हो। द्रव्यलिंगी के तीन प्रकार हैं। एक तो मिथ्यात्वसहित की क्रियायें आदि हों, वह भी द्रव्यलिंगी; एक समकित सहित, गुणस्थान छठवाँ न हो और पंच महाव्रत के परिणाम पालता हो, वह भी द्रव्यलिंगी और एक पाँचवें गुणस्थान में हो और महाव्रत के विकल्प लिये परन्तु मुनि (का) सातवाँ (गुणस्थान) अन्दर आया नहीं। पुरुषार्थ की जागृति नहीं हुई। आहाहा! तत्त्वार्थराजवार्तिक में। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कोई ऐसा कहे कि अपने तो व्रत में से व्रत के विकल्प ले लें, इसलिए व्रत हो गये, व्यवहार सच्चा, ऐसा नहीं है—ऐसा कहना है। आहाहा! आवे सही, पहले विकल्प, विकल्प तो पाँचवें गुणस्थान में मुनिपने के व्रत के द्रव्यलिंग के आवे। वे कहीं सातवें में आवे और छठवें में आवे, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : पहले तो पाँचवें और चौथे में।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे में आवे। चौथे या पाँचवें में आवे। आहाहा! यह तो अन्तर की क्रीड़ा की बातें हैं, भाई! आहाहा!

भगवान आत्मा जिसने आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण शुद्ध ध्रुव अनुभव में लिया उसने, वेदन में आनन्द का अंश भी आया, अभी कहेंगे आगे। जिस अंश से दृष्टि है, उतने अंश में निर्मलता है और जिस अंश में वहाँ राग का भाग आता है, उस अंश में बन्ध है। आहाहा! बहुत मार्ग ऐसा प्रकार है। समझ में आया? कहते हैं, **अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, व्रतग्रहण करके...** अर्थात् व्रत के विकल्प को ग्रहण तो चौथे में करता है या छठवें में करता है? समझ में आया? पाँचवें में। परन्तु विनाश करके, वह वास्तव में तो उसका अव्रत के विकल्प का नाश स्वरूप की एकाग्रता उग्र हो तो होता है। आहाहा! मार्ग ऐसा बहुत बारीक-सूक्ष्म, बापू! अनन्त काल हुआ, इसने इस बात की दरकार ही नहीं की। स्वद्रव्य की दरकार ही नहीं की। पर्याय की रमणता में अनादि से रमा है। आहाहा!

कहते हैं कि **व्रतग्रहण करके विनाश करना...** इसका अर्थ? एक व्रत के भाव ले, परन्तु अभी वास्तविक व्रत की भूमिका जो छठवीं या पाँचवीं अन्दर आयी नहीं। तो वह वास्तव में अव्रत के विकल्प का उसे नाश नहीं होता। कठिन बातें, भाई! समझ में आया? परन्तु उस व्रत के विकल्प में आया, वह जब अन्दर आत्मा का आश्रय लेकर, आनन्द का वेदन-प्रचुर वेदन आया, तब वे व्रत पूर्व में जो लिये थे विकल्प से, ऐसा वर्तमान विकल्प रहा, उसे व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? कहो, सुजानमलजी!

मुमुक्षु : बहुत .... बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो भाई ऐसी है! मार्ग यह है, बापू! आहाहा!

यहाँ भाषा ऐसी की है कि अव्रत का त्याग... पहला मिथ्यादृष्टि हो, वह ऐसा कहे, अपने व्रत ले लो, तो अव्रत का नाश होगा, ऐसा भी नहीं है। और सम्यग्दृष्टि भी व्रत के विकल्प लिये; इसलिए अव्रत के विकल्प का नाश हुआ, ऐसा भी नहीं है। जब अन्दर द्रव्य का आश्रय उग्र लेकर और ध्यान में आनन्द में जब प्रचुर आवे, तब वे

विकल्प जो पूर्व में लिया था, उसे वर्तमान विकल्परूप से गिनकर व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग! समझ में आया?

अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, व्रतग्रहण करके विनाश करना... इसका अर्थ इतना है यह। **तथा व्रतीपने की अवस्था में होते...** अब पाँचवें या छठवें। यहाँ मूल अधिक तो मुनि की बात है। **व्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों...** पंच महाव्रत आदि के, अट्ठाईस मूलगुण (आदि के)। वह **ज्ञानपरायण होकर...** स्वरूप तो ज्ञानस्वरूप भगवान अकेला ज्ञानस्वरूप। उस ज्ञान में परायण होकर, अन्दर लीन ज्ञानस्वरूप प्रभु में स्थित... ज्ञान में तत्पर, एकाग्रता। आनन्दस्वरूप की एकाग्रता। आहाहा! उसमें होकर **अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर,...** अर्थात् कि वस्तु जो ज्ञायकभाव है, उसकी भावना शब्द से एकाग्रता। भाव की भावना, ज्ञायकभाव की भावना अर्थात् एकाग्रता होकर। **परम वीतरागता की अवस्था में...** परम वीतरागता की दशा में **(उनका) विनाश करना।** आहाहा! परम वीतरागदशा हो, तब उसका (व्रत का) नाश होता है। इसके बिना कहीं नाश नहीं होता। आनन्द के स्वरूप में जाकर परम वीतरागता आवे, तब उन व्रत के विकल्प का नाश होता है। समझ में आया? आहाहा!

यह तो वीतराग के वाक्य हैं, भाई! उनके एक-एक वाक्य में बहुत-बहुत रहस्य। समाधि है न? वह समाधि चौथे से होती है, फिर विकल्प आया, वह तो असमाधि है, राग है। यह विकल्प का वास्तविक व्यवहार कब कहने में आता है अव्रती को? कि जब अन्दर गुणस्थान में चढ़ता है, सातवें में जाता है या पाँचवें में जाये, तब यह उन विकल्प को अव्रती के विकल्प नाश हुए हैं। फिर व्रत के विकल्प रहे, उसे स्वरूप में लीन होकर उनका नाश होता है। विकल्प का नाश करूँ, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! अरेरे! मार्ग, वह मार्ग है, बापू! आहाहा! और आत्मा का आश्रय जहाँ नहीं, वहाँ तो यह व्रत और व्रत के विकल्प की बातें हैं नहीं। वह तो एकदम मिथ्यादृष्टिसहित अव्रती में ही पड़ा है। समझ में आया? आहाहा!

परम वीतरागता की अवस्था में (उनका) विनाश करना। अर्थात् कि ज्ञानस्वरूपी भगवान में लीन होकर आगे गुणस्थान बढ़ गया, ऐसा कहते हैं। इसलिए वे विकल्प थे,

वे उत्पन्न होते नहीं। उसका नाश किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? **सयोगीजिन अवस्था में...** अब उसे आगे जाना है वापस। केवल(ज्ञान) लेना है न? **सयोगीजिन अवस्था में परात्मज्ञानसम्पन्न अर्थात् पर / सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट जो आत्मज्ञान—जो केवलज्ञान,...** ऐसा। आहाहा! जिन अवस्था में परात्मज्ञान सम्पन्न। **पर / सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट जो आत्मज्ञान—जो केवलज्ञान, उससे सम्पन्न अर्थात् युक्त होकर, स्वयं ही अर्थात् गुरु आदि के उपदेश की अपेक्षा रखे बिना, (निरपेक्ष होकर) पर अर्थात् सिद्धस्वरूप परमात्मा होना।** यह सयोगी में से अयोगी होना, ऐसी बात है।

भावार्थ अच्छा किया है छोटाभाई ने। भाई ने। **विकल्पजाल का नाश (त्याग) करके किस प्रकार सिद्धस्वरूप की प्राप्ति करना?—उसका क्रम आचार्यों ने निम्नानुसार बतलाया है—१. अव्रत-अवस्था में जो हिंसादि पाप के विकल्प... विषय के विकल्प होते हैं, उनका अहिंसादि व्रतों का ग्रहण करके, नाश करना।** इससे वे अहिंसादि के व्रत लेकर अन्दर स्वभाव की एकाग्रता बढ़ाकर उनका नाश करना, ऐसा है। आहाहा!

१. अव्रत-अवस्था में जो हिंसादि पाप के विकल्प होते हैं, उनका अहिंसादि व्रतों का ग्रहण करके, नाश करना। व्रत के विकल्पों से अव्रत के विकल्प का नाश होता है। इसका अर्थ—स्वरूप में एकाग्रता बढ़ी, तब उसे अव्रत के विकल्पों का अभाव हुआ, उसे व्रत के विकल्प रहे। समझ में आया?

मुमुक्षु : इसका अर्थ ही कि शुद्ध उपयोग से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब होता है। शुद्ध उपयोग में जाये, तब व्रत के विकल्प का नाश होता है। आहाहा!

२. व्रत-अवस्था में जो अहिंसादि शुभभावरूप विकल्प होते हैं,... व्रत की अवस्था में अहिंसादि शुभभावरूप जो राग होता है, **उनका ज्ञानपरायण होकर...** स्वभाव में तत्पर होकर। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान अर्थात् ज्ञायकभाव। उसमें एकाग्र होकर **ज्ञानभावना में लीन होकर, विनाश करना।** ज्ञानभावना में लीन होकर उसका विनाश होता है। समझ में आया?

३. ज्ञानभावना में लीन होने पर, परम वीतराग तथा केवलज्ञानयुक्त जिनदशा

(अरहन्त अवस्था) प्रगट होती है, और

४. स्वयं ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है। पश्चात्। आहाहा! **स्वयं ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।** यह क्रम रखा है चार।

विशेष - 'व्रत-अव्रत—इन दोनों विकल्परहित, जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है..... मोक्षमार्ग(प्रकाशक) का। उसमें से आधार दिया है। **व्रत-अव्रत—इन दोनों...** राग है। उससे रहित **जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है....** आहाहा! **ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है....** व्रत का विकल्प, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो शुद्ध उपयोग, वह मोक्षमार्ग है। विकल्प है, वह तो अशुद्ध उपयोग है। सवेरे की लाईन प्रमाण तो अपने आया कि अशुद्ध उपयोग, वह अनात्मा है। आहाहा! जो शुद्ध उपयोग, वही आत्मा है। अकेला द्रव्यसहित की शुद्ध की पर्याय। जितना विकल्प उठता है, उतना अनुपयोग है। चैतन्य का उपयोग ही नहीं। आहाहा!

पहले अशुभोपयोग छूटकर,... (मोक्षमार्गप्रकाशक)। **शुभोपयोग होता है; पश्चात् शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है...** शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है, ऐसा नहीं कहा। शुभ उपयोग से शुद्ध होवे तो अशुभ उपयोग से शुभ होगा और शुभोपयोग से शुद्ध होगा, (ऐसा नहीं कहा)। **पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग होता है; पश्चात् शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है—ऐसी क्रम परिपाटी है।** आहाहा! मोक्षमार्ग-प्रकाशक, गुजराती आवृत्ति पृष्ठ २६०।

धर्म का प्रारम्भ चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से होता है। आहाहा! भगवान आत्मा को स्पर्श करने से धर्म की शुरुआत होती है। राग की क्रिया से वह धर्म की शुरुआत नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? **धर्म का प्रारम्भ चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से होता है। इसके पूर्व जीव की मिथ्यात्व अवस्था होती है। इस अवस्था में जो व्रत-तपादि करने के विकल्प आते हैं, वे सब बालतप गिने जाते हैं।** समयसार गाथा १५२-१५३। आता है न? बालव्रत और बालतप है।

सम्यग्दर्शन बिना यह पंच महाव्रत बाहर से ले, द्रव्यलिंग धारण करे, वह सब

बालव्रत है, बालतप है। आहाहा! यहाँ तो अभी यह कहते हैं कि श्रावक के व्रत और मुनि के व्रत के आचरण वह (जैन)धर्म-जैनदर्शन है और उससे धर्म नहीं होता तो जैनधर्म का नाश होता है, ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं। आहाहा! क्या हो? इसकी योग्यता इस प्रमाण हो वहाँ ऐसा बैठे।

अविरत सम्यग्दृष्टियों को,... चौथे गुणस्थान में। **देशविरत श्रावकों को...** पाँचवें को **और मुनियों को, भूमिकानुसार शुभ-अशुभविकल्प आते हैं...** मुनि को शुभ आता है। अशुभ नहीं होता, तथापि अन्त में आर्तध्यानादि होते हैं। **परन्तु उनको भेदविज्ञान होने से,...** उसी क्षण, राग से भिन्न पड़ा हुआ तत्त्व होने से, राग से भिन्न पड़े हुए तत्त्व के अनुभव से **उन विकल्पों को वे श्रद्धा-ज्ञान में, अपना स्वरूप नहीं मानते;...** श्रद्धा-ज्ञान में उस विकल्प को अपना स्वरूप नहीं मानते। आहाहा!

शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति में (उन्हें) विघ्नरूप मानते हैं... कहो, व्रत के विकल्प भी शुद्ध प्राप्ति में विघ्नरूप है। राग है न? अब उससे आगे बढ़ा जायेगा, ऐसा (अज्ञानी) कहता है। **शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति में (उन्हें—विकल्पों को) विघ्नरूप मानते हैं और उनको छोड़ने के लिए अपनी भूमिकानुसार प्रयत्न करते हैं।** अन्तर में अधिक आश्रय लेने के लिये प्रयत्न करता है। आहाहा! स्व का आश्रय बढ़ाना, वह उसका स्व सन्मुख का प्रयत्न है।

अब इस गाथा का है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय की (गाथा) नीचे है। २१२, २१३, २१४। **जितने अंश में सम्यग्ज्ञान होता है,...** ज्ञान अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान। आहाहा! यह शास्त्र का ज्ञान और धारणा का, वह ज्ञान नहीं। ज्ञायक में से आयी हुई ज्ञान की दशा, वह सम्यग्ज्ञान है। **उतने अंश में उनके बन्ध नहीं हैं;...** जितने अंश में ज्ञायकभाव का स्व के आश्रय से होता जो ज्ञान। पर से इस धारणा से किया, वह कहीं ज्ञान नहीं है। सुनकर कहा ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! ज्ञायकभाव चैतन्य में से झरती ज्ञान की दशा... आहाहा! वह सम्यग्ज्ञान है।

उतने अंश में उनके बन्ध नहीं हैं; जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्धन होता है। श्रावक को या मुनि को जितने अंश में विकल्प उठता है, आहाहा! उतने

अंश में बन्ध है। **उसको जितने अंश में सम्यग्दर्शन होता है,...** पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या है, हों! **जितने अंश में सम्यग्दर्शन होता है,...** यह। पहली बात यह है। जितने अंश में सम्यग्दर्शन, जैसी चीज़ पूर्ण है, उसका ज्ञान में भान होकर प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन है, वह **(शुद्धि है-शुद्धभाव है;...)** सराग समकित कहलाता है, वह तो उपचार से। आहाहा! **(रागरहित अंश है), उतने अंश में उनके बन्ध नहीं हैं;...** सम्यग्दृष्टि को। आहाहा! **जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्धन होता है।** यह सम्यग्दृष्टि।

उनको जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है, उतने अंश में बन्ध नहीं है... इससे श्रावक का डाला। भाई! भाषा श्रावक की रखी है न सम्यग्दृष्टि को? अब **उनको जितने अंश में सम्यक्चारित्र है,...** आहाहा! शुद्ध आनन्द के नाथ में जिसे जितनी रमणता है। आहाहा! वहाँ बहुत पुरुषार्थ है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा भी चारित्र का महापुरुषार्थ है। स्वरूप में रमणता का पुरुषार्थ बहुत उग्र है। आहाहा! तथापि दृष्टि के विषय में पर्याय सन्मुख देखना है, ऐसा नहीं है, परन्तु चारित्र का पुरुषार्थ जो स्वभाव सन्मुख है, वह अनन्त पुरुषार्थ है। पर्याय को द्रव्य में उग्ररूप से झुकाना, ऐसा जो चारित्र, वह जितने अंश में सम्यक् चारित्र है, उतने अंश में बन्ध नहीं है।

और जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्ध होता है। लो! यह वह अर्थ करते हैं न? बन्धभाव नहीं, मोक्षमार्ग है, ऐसा आता है न एक गाथा में? पुरुषार्थसिद्धि की। ऐसा अर्थ उपजे। यहाँ तो यह कहा, उसी और उसी में। ऐसा कि बन्ध में बन्ध नहीं। मोक्षमार्ग में जो बन्ध होता है, वह बन्ध मोक्षमार्ग ही है। आहाहा! ऐसा (मिथ्या) अर्थ किया है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा है न!

है यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक? नहीं। पुरुषार्थसिद्धिउपाय। नहीं। यही है। कितनी गाथा है? २१२, २१३, २१४। उसके पहले ही है, लो। यह २१२ है न? इसके पहले २११।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विरपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धोपायः ॥२११॥

पहली गाथा है, उसके पहले। यह २१२ के पहले। **अपूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले पुरुष को जो शुभकर्म का बन्ध होता है, वह बन्ध विपक्षकृत अथवा रागकृत होने से अवश्य ही बन्ध का उपाय है...** यह तो बराबर है। वे कहे, नहीं। **मोक्ष का उपाय नहीं।** उसमें मोक्ष का उपाय है, ऐसा कहा है। अर्थ ऐसा किया है। **एकदेशरूप रत्नत्रय का पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं, परन्तु रत्नत्रय का विपक्ष राग-द्वेष है, उससे होता है।** लो, ऐसा तो अर्थ है। वे कहे, नहीं। '**मोक्षोपायो**' ऐसा कहे। '**मोक्षोपायो न**' ऐसा अर्थ किया है। उस ओर ले जाते हैं। खोटी बात है। और इसके पहले की बात है, देखो न! २११वीं गाथा है। यह २१२ है।

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि को जो भूमिकानुसार... भाव आवे सही, कहे, होता है। **पूजा का भाव, भक्ति का भाव आदि तथा व्रत का भाव, महाव्रत,...** अणुव्रतादि का भाव **नियमादि का...** करने का भाव वह **शुभभाव आता है, वह भी आस्रव-बन्ध का कारण है...** आहाहा! और उस शुभभाव में से करते-करते शुद्ध आयेगा, यह मिथ्याशल्य है। आस्रव और बन्ध के कारण से अनास्रव परिणाम होंगे? आहाहा! अनास्रव परिणाम तो स्वद्रव्य के आश्रय से होते हैं। और शुभभाव तो परद्रव्य के आश्रय से है। बहुत सूक्ष्म-बहुत सूक्ष्म लोगों को। लोगों को यह निश्चय, ऐसा लगे। आहाहा! कहाँ गये प्रेमचन्दभाई, नहीं? यह ऐसी बात है। आहाहा!

भक्ति का (भाव), देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, वह सब राग है। बन्ध का कारण है। और वह भक्ति करते-करते निर्मलदशा होगी, (ऐसा नहीं)। आहाहा! बहुत मार्ग। मार्ग तो इस स्वरूप से ऐसा ही है। अन्तर में विचारे तो मनन करे तो कुछ खबर पड़े। ऐसी की ऐसी बातें करे ऊपर से तो कुछ चले? आहाहा!

परन्तु वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है;... यह भक्ति, पूजा, व्रत, महाव्रत, नियम, अभिग्रह आदि ले, वह सब विकल्प है। यह हमारे नहीं चलता, यह हमारे नहीं चलता। वह ब्राह्मण के घर में गया तो (कहे), यह मुझे नहीं चलता। यह आया है न वह? परन्तु वह शुभविकल्प है। चाण्डाल के घर में गया तो हमारे चलता है, वह अशुभविकल्प है। आहाहा! यह हमारे नहीं चलता, यह हमारे नहीं चलता। वह भी शुभराग है। आहाहा!

संवर-निर्जरा का कारण तो शुभ अंशों के साथ जो... संवर-निर्जरा का कारण तो शुभ अंश जो है, वह तो आस्रव का कारण है परन्तु उसके साथ जो शुद्ध अंश है... आहाहा! पहले अभी श्रद्धा का ही विवाद पूरा। फिर ज्ञान और चारित्र तो और वहाँ... ज्ञान अर्थात् ज्ञान की वृद्धि। ज्ञान के साथ तो थोड़ा होता है न? **शुभ अंशों के साथ जो शुद्ध अंश है, वही है।** संवर-निर्जरा का कारण। चैतन्यद्रव्य के आश्रय से शुद्धस्वरूप के आश्रय से शुद्धता प्रगट हुई, वह संवर-निर्जरा का कारण है। पर के आश्रय से शुभभाव हुआ, वह बन्ध का कारण और आस्रव का कारण है। आहाहा!

जो शुभराग बन्ध का कारण हो, वह कभी मोक्ष का कारण नहीं हो सकता;... जो शुभराग बन्ध का कारण हो, वह मोक्ष का कारण कभी नहीं हो सकता। **इसलिए व्रतादि के शुभविकल्पों को भी, अव्रतादि के अशुभविकल्पों की भाँति, मोक्षमार्ग में हेय / छोड़नेयोग्य गिना गया है।** आहाहा! भक्ति यह दो प्रकार की—एक निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति। स्व के आश्रय में एकाग्र होना, वह निश्चयभक्ति और भगवान देव-गुरु की भक्ति करना, वह व्यवहार शुभ विकल्प भक्ति। आहाहा! ऐसी बात है। वह व्यवहार भक्ति बन्ध का कारण है। स्वभाव का द्रव्यस्वभाव के आश्रय से शुद्धभाव हो, वह मोक्ष का कारण अथवा संवर-निर्जरा है। ऐसा है। **व्रतादि के शुभविकल्पों को भी, अव्रतादि के अशुभविकल्पों की भाँति, मोक्षमार्ग में हेय / छोड़नेयोग्य गिना गया है।**

विशेष स्पष्टीकरण किया है। उस ओर है। गाथा यहाँ दी है। समयसार गुजराती आवृत्ति। कलश-११० का भावार्थ। उस ओर दिया है न? **जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता,...** स्वरूप में यथा—जैसा है, वैसी स्थिरता, रमणता चारित्र की यथाख्यात नहीं होती, तब तक सम्यग्दृष्टि को भी **दो धाराएँ रहती हैं — शुभाशुभकर्मधारा और ज्ञानधारा।** है न यह? कलश टीका में है। कलश। समयसार का। ११०। उसका भावार्थ है। ११० है न? ... यह **'ये कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः'** यह कुछ विरोध का कारण नहीं है। होता है।

किन्तविन्नापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थित मेकमेव परमं ज्ञानं वुमुक्तंस्वतः॥

यह, ११०। यह तो बहुत बड़ा है। पूरे दो पृष्ठ भरे हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। आत्मा का अनुभव और आनन्द का वेदन हुआ, तथापि वह ज्ञानधारा है, सम्यग्दर्शन धारा है, इतना तो मोक्ष का मार्ग है। जितना अन्दर में विकल्प उठता है—भक्ति, पूजा, दान, दया इत्यादि, वह कर्मधारा है, वह रागधारा है। आहाहा!

शुभाशुभकर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। क्षति नहीं। आया था न? कलश में है। वह कहीं विरोध नहीं। जैसे मिथ्यात्व को और समकित को रहने में विरोध है, मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान रहने में विरोध है; वैसे सम्यग्ज्ञान के साथ, सम्यग्दर्शन के साथ राग होता है, उसका विरोध नहीं है। वह विरोध नहीं अर्थात्? वह हो सकता है ऐसा। आहाहा! एक समय में सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन, ऐसा नहीं हो सकता। यह विरोध है। परन्तु जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के साथ राग का भाव कर्मधारा हो, वह विरोध नहीं। विरोध नहीं अर्थात्? उसे रोकता है, अलग बात है, परन्तु उसे वर्तमान ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं है। हो सकता है। आहाहा! नहीं तो साधक हो, वहाँ उसे बाधकपना तो है। दो धारायें साथ में हैं। नहीं तो साधक हुआ तो एकदम सिद्ध हो जाये? आहाहा!

ऐसी स्थिति में कर्म, (अशुद्धभावरूप कर्म)... शुभ या अशुभ दोनों अशुद्धभाव। **अपना कार्य करता है...** आहाहा! **और ज्ञान, (शुद्धभावरूप ज्ञानकर्म) अपना कार्य करता है।** शुद्धभावरूपी ज्ञानकर्म। ज्ञानरूपी कार्य। है न? अशुद्धभावरूपी कर्म अर्थात् कार्य और ज्ञान का शुद्धभावरूपी कार्य। कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा! सम्यग्दर्शन और ज्ञान हैं, वे शुद्धरूपी ज्ञान का कार्य हैं। आहाहा! और अशुद्धभावरूपी दो भाव—शुभ-अशुभ, वह कर्म, वह अशुद्ध कार्य है। वह अशुद्ध कार्य है। कार्य के भी दो प्रकार एक क्षण में हैं। आहाहा!

ज्ञान और दर्शन की निर्मलता प्रगट हुई, वह तो शुद्धकार्य है और साथ में शुभ-अशुभभाव है, वह अशुद्धकार्य है। लिखा है, देखो न। **(अशुद्धभावरूप कर्म) अपना कार्य करता है...** अशुद्ध बन्ध का कारण करता है, ऐसा **और ज्ञान, (शुद्धभावरूप**

ज्ञानकर्म) अपना कार्य करता है। निर्जरा करता है। संवर-निर्जरा और शुद्धता होती है। यह कलश है, ११० कहा न? कर्ताकर्म का है न यह? ११०। किसका है? पुण्य-पाप का। बराबर है। पुण्य-पाप साथ में होते हैं, ऐसा कहते हैं।

जितने अंश में शुभाशुभकर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है,... स्वरूप की-ज्ञान की दशा की धारा, ज्ञान वेदनरूप जो है, वह तो संवर-निर्जरा है। **उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प...** वह अशुभ है। **व्रत, नियम के विकल्प शुभ हैं—शुद्धस्वरूप का विचार सुद्धां-...** डाला है इसमें यह। विचार अर्थात् विकल्प मूल तो ऐसा। इस कलश की टीका का अर्थ है। शुद्ध स्वरूप का विचार। यह शुद्ध है, ऐसी विकल्प की वृत्ति। आहाहा! वह भी बन्ध का कारण है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव, बन्ध का कारण और शुद्धस्वरूप का—यह शुद्धस्वरूप है, ऐसा विकल्प का विचार, वह (भी) बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म मार्ग, बापू! आहाहा! इसने अनन्त काल में उसकी दरकार नहीं की। ऐसा का ऐसा सब काल गँवाया है। अभिमान और अभिमान में। नौवें ग्रैवेयक में गया, जैन साधु दिगम्बर। हजारों रानियाँ छोड़कर। आहाहा! और ग्यारह अंग का ज्ञान किया, नौ पूर्व की लब्धि का ज्ञान। लब्धि है न नौ पूर्व? वह कहीं पढ़ने से नहीं होता। इतनी वह लब्धि उघड़ गयी है। आहाहा! नौ पूर्व कुछ पढ़ने से नहीं पढ़ा जाता। इतनी लब्धि उघड़ी, वह नौ पूर्व की। परन्तु वह तो परावलम्बी ज्ञान है। वह कहीं स्व का ज्ञान नहीं। क्योंकि उससे कुछ लाभ नहीं ऐसा। आंशिक निर्जरा या आंशिक संवर हुआ नहीं, इसलिए वास्तव में तो वह बन्ध का कारण है। आहाहा! ग्यारह अंग और नौ पूर्व की लब्धि हों अन्दर से। ग्यारह अंग तो अभी एक-एक अंग में अठारह हजार पद और एक पद में... समझे न? कितने करोड़ श्लोक! आहाहा! वह भी ज्ञान नहीं।

कहते हैं कि **विचार सुद्धां—** वह विकल्प उठे कि मैं यह शुद्ध हूँ, अखण्ड हूँ, अबन्ध हूँ। आता है न कर्ताकर्म (अधिकार) में? अबन्ध हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसा विकल्प का कर्ता होता है, वहाँ तक मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! १४३ (गाथा) समयसार। २० श्लोक

है न? २० श्लोक। मैं शुद्ध हूँ, अबन्ध हूँ, एकरूप हूँ, ऐसे २० श्लोक हैं। कहते हैं कि वह भी एक विकल्प है, वृत्ति का उत्थान है। जब तक उस वृत्ति का कर्ता होता है, तब तक वृत्ति उसका कार्य है। आहाहा!

कर्मबन्ध का कारण है; शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। और 'ही' नहीं होता न? मेरा महावीर 'ही' नहीं कहता, आता है, श्रीमद् में आता है। वह तो अनेकान्त स्वरूप है। जैसे द्रव्य और पर्याय है, तो द्रव्य है, वह द्रव्यरूप ही है और पर्यायरूप नहीं, ऐसा नहीं कहता। परन्तु द्रव्य वह द्रव्यरूप निश्चय से द्रव्य द्रव्यरूप 'ही' है, कूटस्थ है, यह एकान्त है। वहाँ कथंचित् ऐसा नहीं कि द्रव्य नित्य भी है और द्रव्य अनित्य भी है, ऐसा उसका 'ही' नहीं है। आहाहा!

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से जो निर्विकल्पदशा प्रगट होती है,... लो, वह विकल्प टूटकर। **सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से जो निर्विकल्पदशा प्रगट होती है, उस दशा में आत्मस्वरूप में स्थिरता जमती जाती है...** श्रेणी स्थिर होती है न? निसरणी जैसे चढ़े न, वैसे शुद्धता की धारा बढ़ती है, ऐसा कहते हैं। श्रेणी कही है न, श्रेणी? एक सोपान, दो सोपान। वैसे शुद्ध की धारा की... परिणति बढ़ जाती है। शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... आहाहा! द्रव्य के आश्रय से शुद्धता बढ़ जाती है। आहाहा!

उस दशा में आत्मस्वरूप में स्थिरता जमती जाती है और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके, सिद्धपद की प्राप्ति होती है। आहाहा! यह ८६ हुई।

श्लोक - ८७

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह -

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहा॥ ८७॥

लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादि देहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। देह एवात्मनो भवः संसारः। यत एवं तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः लिंगमेव मुक्तेर्हेतुरिति कृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते। कस्मात् भवात्॥८७॥

जैसे - व्रत का विकल्प, मुक्ति का हेतु नहीं है; वैसे लिङ्ग का विकल्प भी मुक्ति का हेतु नहीं है, यह कहते हैं —

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होंय विदेह॥ ८७॥

अन्वयार्थ - (लिङ्ग) लिङ्ग अर्थात् नग्नपना आदि वेष (देहाश्रितं दृष्टं) शरीर के आश्रित देखा जाता है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः) आत्मा का (भवः) संसार है; (तस्मात्) इसलिए (ये लिङ्गकृताग्रहाः) जो लिङ्ग के ही आग्रही हैं; (ते) वे पुरुष, (भवात्) संसार से (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं—मुक्त नहीं होते।

टीका - लिङ्ग अर्थात् जटाधारण, नग्नपना आदि—वह देहाश्रित दिखता है अर्थात् शरीर के धर्मरूप मानने में आता है। देह ही आत्मा का भव अर्थात् संसार है; इसलिए जो लिङ्ग में आग्रह रखते हैं अर्थात् लिङ्ग ही मुक्ति का हेतु है—ऐसे अभिनिवेशवाले जो हैं, वे मुक्त नहीं होते। किससे ? भव से (संसार से)।

भावार्थ - जो जीव, केवल लिङ्ग अर्थात् बाह्य वेष को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, वे देहात्मदृष्टि हैं अर्थात् वे देह को ही आत्मा मानते हैं; इसलिए वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता। लिङ्ग, शरीर के आश्रित है और शरीर के साथ के सम्बन्ध से ही आत्म का संसार है; शरीर के अभाव में संसार नहीं होता; इसलिए जो लिङ्ग का आग्रही है अर्थात् जो लिङ्ग को ही मुक्ति का कारण समझता है, वह संसार का ही आग्रही है; वह कभी भी संसार से नहीं छूट सकता।

विशेष स्पष्टीकरण -

अन्तरङ्ग वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म बिना, लिङ्गमात्र से-बाह्यवेषमात्र से धर्म की सम्पत्तिरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए राग-द्वेषरहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान -दर्शनरूप स्वभाव, जो अन्तरङ्ग भावधर्म है, उसे हे भव्य! तू जान! बाह्यलिङ्ग वेषमात्र से तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं।[1]

शरीर की नग्न अवस्था, अट्ठाईस मूलगुणों का पालनादि बाह्य लिङ्ग — यह मुनि अवस्था में नियम से होता है, इससे विरुद्धदशा हो तो वह भावलिङ्गी मुनि नहीं होता, परन्तु इस बाह्यलिङ्ग से अथवा अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से मोक्ष होता है — यदि ऐसी श्रद्धा करे, तो वह मिथ्यादृष्टि है। लिङ्ग सम्बन्धी विकल्प भी आत्मसाधना में बाधक हैं। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि मुनि को कैसा भी बाह्यलिङ्ग हो तो चलता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो तीन प्रकार के लिङ्ग कहे हैं,[2] *वे उस-उस गुणस्थान में नियम से होते अवश्य हैं परन्तु उनके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता, अपितु उनके लक्ष्य से राग होता है; इसलिए उस ओर का झुकाव और विकल्प छोड़कर, आत्मा में लीन होने के लिए यह श्लोक कहा है॥८७॥*

श्लोक - ८७ पर प्रवचन

अब ८७। वह भाई कहते थे। लालन। लिंगकृताग्रह। ऐसा कि ऐसा ही लिंग हो, ऐसा आग्रह नहीं। ऐई! ऐसा इसमें अर्थ नहीं है। लिंग तो यही होता है। परन्तु इस लिंग से मुक्ति होगी, ऐसा आग्रह नहीं होता, ऐसा कहते हैं। तब वह कहे कि लिंग का आग्रह

१. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥

अर्थात्, धर्मसहित तो लिंग होता है परन्तु लिंगमात्र ही से धर्म की प्राप्ति नहीं है; इसलिए हे भव्यजीव! तू भावरूप धर्म को जान और केवल लिंग ही से तेरा क्या कार्य होता है, अर्थात् कुछ भी नहीं होता है। *(श्री लिंगपाहुड, गाथा-२, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव)*

२. एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु। अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि॥

अर्थात्, दर्शन में एक तो जिन का स्वरूप है; वहाँ जैसा लिङ्ग जिनदेव ने धारण किया, वही लिङ्ग है तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिङ्ग है और तीसरा 'अवस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित, ऐसी आर्यिकाओं का लिङ्ग है तथा चौथा लिङ्ग, दर्शन में है नहीं। *(श्री दर्शनपाहुड, गाथा-१८)*

नहीं होता, ऐसा अर्थ वह करते थे। पण्डित लालन। चाहे जो वेश हो ग्यारह भेद कहते हैं न? ग्यारह। क्या कहलाते हैं? पन्द्रह भेद से सिद्ध सिद्धा। ऐसा कि किसी भी लिंग का आग्रह नहीं होता। यहाँ ऐसा नहीं है। लिंग तो जो हो, वही होता है। नग्नदशा, अट्ठाईस मूलगुण विकल्प, लिंग तो वही होता है, परन्तु उससे मुक्ति होगी, ऐसा आग्रह नहीं होता। आहाहा! बात को बदल डालते हैं। यह इसमें से बदली। देखो, यह समाधिशतक में ऐसा कहा है, देखो!

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहा॥ ८७॥

आग्रह। यह विकल्प है नग्नदशा, वह मुझे मुक्ति का कारण है, ऐसा नहीं है। परन्तु लिंग यही होता है। इसलिए कहे न 'जाति वेश का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय।' ऐसा नहीं है। जाति 'कहा मार्ग जो होय' तब तो जो जाति और वेश हो, वही होता है। यह ९५ में अर्थ किया है आत्मसिद्धि में। ऐसा नहीं है। 'जाति वेश का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय' इसका अर्थ ऐसा नहीं। जाति चाहे जो वह वेश हो और मुक्ति-केवलज्ञान पावे, ऐसा नहीं है। परन्तु 'कहा मार्ग जो होय तो जाति वेश का भेद नहीं।' जो जाति और वेश होता है, वही होता है। ऐसा अर्थ ९५ में किया है। आत्मसिद्धि में। उन लोगों को ठीक नहीं पड़ता। श्रीमद् के कहने का आशय यह नहीं है। परन्तु वस्तु सत्यार्थ तो वस्तु ऐसी है, कहा, भाई! वह यहाँ कहते हैं, देखो!

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होंय विदेह॥ ८७॥

टीका - लिङ्ग अर्थात् जटाधारण, नग्नपना आदि—वह देहाश्रित दिखता है... देखा! नग्नपना, वह देहाश्रित लिंग है। इसलिए उसका आग्रह कि देहाश्रित नग्नपना, वह मुक्ति का कारण है, ऐसा नहीं है। बहुत विवाद अभी की शैली के साथ। आहाहा! समझ में आया या नहीं? यह अभी बहुत बात करे वह। है न एक हमारे वडवा में। मोहनलाल-मोहनलाल। मोहनलाल न? डॉक्टर। भगवानजी-भगवानजी। उसके पिता का नाम क्या? मनसुखभाई। मनसुखभाई के पुत्र। मनसुखभाई आये थे न हमारे पास

गढडा (में)। मनसुखभाई आये थे, जेसंगभाई और वनेचंद सेठ तीनों थे। वहाँ श्रीमद् का प्रकाशित करना था उससे पहले। ८१ में आये थे तीन व्यक्ति। बड़ी पुस्तक प्रकाशित की है न दो बड़ी? उससे पहले आये थे। मैंने कहा, भाई! पूरा जैनदर्शन का एक से लेकर अन्त तक में पूरा तत्त्व इसमें से निकले, (ऐसा नहीं है)। मुश्किली है बापू!

एक तो केवलज्ञानी की विनय करे, जाति-वेश का भेद नहीं, यह कहाँ आया? इसलिए प्रकाशित करने में ऐसा कि यह तो भाई! मैं तो उसमें सम्मत नहीं। मनसुखभाई आये थे। ऐ भगवान, भगवान बोलते हैं न मुम्बई में। डॉक्टर है न, उनके पिता। मनसुख कीरचन्द। वे सब आये। जेसंगभाई आये थे। वनेचन्दभाई तो वहाँ ही थे। भाई! पूरी धारा समरूप वीतरागमार्ग की, एक से वह ठेठ तक समरूप खड़ी करना, (ऐसा) इसमें से निकले, ऐसा नहीं है।

और ऐसे लेख बहुत आये हैं। वहाँ तो लिंग पन्द्रह भेद से सिद्ध हो, ऐसा इसमें लेख है। इस पुस्तक में है पीछे। यहाँ इनकार करते हैं। लिंग हो तो नग्न ही होता है। दूसरा लिंग नहीं होता। परन्तु लिंग से मुक्ति होती है, ऐसा नहीं है। इस बात की बात है। समझ में आया? मुनि को लिंग हो तो नग्न ही होता है, वस्त्र का टुकड़ा भी (हो), वह लिंग ही नहीं है। कुलिंग है। आहाहा! बहुत अन्तर पड़े।

यहाँ यह कहते हैं। नग्नपना। है न? टीका में भी है। '**जटाधारणनग्नत्वादि-देहाश्रितैं**' यह नग्नपना देहाश्रित है। यह देहाश्रित क्रिया, वह कहाँ आत्मा का मोक्ष का कारण है? देहाश्रित क्रिया नम्रपना मोक्ष का कारण नहीं, इसलिए देहाश्रित नग्नपना हो, ऐसा कोई आग्रह नहीं रखना, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो बड़ी चर्चा हो गयी है बहुत भाई के साथ। लालन-लालन। वे यह कहते थे। लिंगकृताग्रहम्... चाहे जैसा लिंग हो, लिंग का आग्रह नहीं रखना। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि पन्द्रह भेद से सिद्ध होते नहीं। मुक्ति पावे तो वह नग्नपने की दशा हो, उसे ही केवल(ज्ञान) होता है और वह मुक्ति पाता है। तथापि उस नग्नपने के कारण मुक्ति पाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। चिमनभाई! फिर इसका अर्थ आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ३, शनिवार, दिनांक २६-०७-१९७५, श्लोक-८७, प्रवचन-१०१

८७वाँ कलश है।—गाथा।

टीका - लिङ्ग अर्थात् जटाधारण, नग्नपना आदि—वह देहाश्रित दिखता है अर्थात् शरीर के धर्मरूप मानने में आता है। वह तो शरीर का धर्म है। नग्नपना, वह कहीं आत्मा का धर्म नहीं—जीव का। (यह तो) जड़ का धर्म है। **देह ही आत्मा का भव अर्थात् संसार है;...** आहाहा! यह नग्नपना, देह वह संसार है। इसलिए उसके नग्नपने से मुझे धर्म होगा, मुक्ति होगी—यह आग्रह मिथ्या है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि नग्नपना आदि अनेक प्रकार के वेश हों, ऐसा नहीं है। वेश तो मुनि को नग्न ही होता है। वस्त्रसहित वेश है, वह तो कुलिंगवेश, कुलिंग है। वह तो जैन साधु का वेश ही नहीं। आहाहा!

'जन्मे प्रमाणे रूप भासित।' प्रवचनसार में आता है। भगवान ने तो जन्मे प्रमाण देह जैसा नग्न जन्मा, वह उसका निमित्त होता है। लिंग तो वह होता है। आहाहा! इसलिए इसमें निकालते हैं, देखो लिंग चाहे जैसा हो, लिंग का आग्रह नहीं करना। यहाँ ऐसा नहीं है। लिंग तो नग्न ही होता है। मुनिपने का निमित्तरूप से नग्न होता है। जैसे गति करने में... जीव गति स्वयं करे, उसमें निमित्त तो धर्मास्तिकाय ही होता है। इसलिए धर्मास्तिकाय से यहाँ गति हुई है, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार मोक्ष के मार्ग में मुनि को वेश तो एकदम नग्न, जैसा माता से जन्मा। 'जन्मे प्रमाणे रूप भासित।' ऐसा प्रवचनसार में, वीतराग की वाणी में यह आया है। वास्तव में तो यहाँ देह...

मुमुक्षु : वस्त्र तो परपदार्थ है, वह कहाँ बाधक है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परपदार्थ भले हो, परन्तु निमित्त ऐसा ही होता है। जैसे धर्मास्तिकाय, गति करने में धर्मास्तिकाय ही निमित्त होता है, उचित निमित्त होता है, तथापि उससे (गति) होती है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

नग्नपना ही होता है। वेश दूसरा स्त्री का वेश नहीं होता। स्त्रीलिंग नहीं होता, गृहस्थलिंग नहीं होता। पन्द्रह भेद से जो कहते हैं, वह बात वीतराग के घर की नहीं है।

आहाहा! बहुत भारी कठिन काम! सवेरे उस भक्ति से धर्म नहीं होता। तब बस भक्ति करना नहीं हमारे? ऐसा हो जाता है लोगों को। करने की बात नहीं, भले राग हो, परन्तु वह धर्म का कारण है और समकित का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार यह लिंग तो नग्न ही होता है। तीन लिंग कहे हैं न शास्त्र में? मुनि का लिंग, आर्यिका का लिंग, क्षुल्लक (ऐलक) ग्यारह प्रतिमाधारी क्षुल्लक, यह तीन लिंग ही है। यह लिंग तो तीन ही होते हैं, चौथा लिंग नहीं होता। तथापि वह लिंग है, वह धर्म का कारण है, हमने नग्नपना धारण किया, इससे हमको धर्म होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह कहते हैं, **देह ही आत्मा का भव...** है। देखो, पाठ में है न? **'देह एवात्मनो भवः'** देह तो संसार है। आहाहा! देह का लक्ष्य होगा तो राग ही होगा। वह तो परद्रव्य है। आहाहा! भारी टकरार अभी विवाद। यहाँ वेश की बात है, फिर जाति की कहेंगे। **देह ही आत्मा का भव अर्थात् संसार है;...** आहाहा! अरे! यह अट्ठाईस मूलगुण जो है, वही लिंग उन्हें होता है, तथापि वह है संसार। पंच महाव्रत के भाव, छह आवश्यक के भाव, अट्ठाईस मूलगुण आदि साधु के कहलाते हैं जो, वह है राग। वह संसार है। आहाहा! ऐसी बात गजब बात है।

कहते हैं, वह संसार, **इसलिए जो लिङ्ग में आग्रह रखते हैं अर्थात् लिङ्ग ही मुक्ति का हेतु है...** ऐसी बात है, देखा! पाठ में भी है न संस्कृत। **'एवं तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः लिंगमेव मुक्तेर्हेतुरितिकृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते।'** आहाहा! नग्नपना, वह निमित्त होता ही है, तथापि वह नग्नपना धारण किया; इसलिए मुक्ति होगी—ऐसा नहीं है। समकित होगा, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! वीतरागमार्ग को पूर्वापर विरोधरहित जानना, वह अपूर्व भाव है। और वह जानने में वास्तविक आत्मा... यह आगे आयेगा अलिंगग्रहण में। यति की बाह्यक्रिया का जिसमें अभाव है। अलिंगग्रहण। यति की बाह्यक्रिया अर्थात् यह पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण और नग्नपना वह तो अत्यन्त अजीवदशा है। अट्ठाईस मूलगुण हैं, वह आस्रवदशा है। आहाहा! वह जीव में नहीं। आत्मा में वह नहीं। आहाहा!

यति की बाह्य क्रियायें जो व्यवहार की दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि भाव,

वह यति की बाह्यक्रिया है। वे आत्मा के स्वभाव में, आत्मा में नहीं है। आहाहा! वह अलिंगग्रहण है। यति की क्रिया से पकड़ में आये, ऐसा आत्मा नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। आहाहा! लिंग से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। बहुत मार्ग, बापू! आहाहा! दिगम्बर मार्ग वह सनातन जैनदर्शन का प्रवाह है। वह कहीं वाड़ा नहीं। समझ में आया? दिगम्बर दर्शन और दिगम्बर धर्म, वह अनादि तीर्थंकरों का मार्ग है, वह मार्ग है। आहाहा!

जिस रास्ते महापुरुष गये हैं, वह रास्ता यह है। बहुत विवाद बाधा उठे। 'जाति वेश का भेद नहीं कह्या मार्ग जो होय।' ऐसी बहुत बातें करे यह श्रीमद् के लोग। यह वे भगवानदास तो बहुत करे। ववाणिया में आये थे तब। 'जाति वेश का भेद नहीं, कह्या मार्ग जो होय।' चाहे जो जाति और चाहे जो वेश हो, उसमें धर्म हो सकता है। उसमें मुनिपना आ सकता है, ऐसा यहाँ नहीं है।

मुमुक्षु : यति की क्रिया फिर चाहे जो हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जो, क्या चाहे जो? वेश तो यही होता है और पंच महाव्रत के विकल्प यही होते हैं। लिंग का स्वरूप ही ऐसा है, तथापि वह निमित्त है, संसार है। आहाहा! बात तो ऐसी है, बापू! यह तो अन्तर के वीतराग की बात है, भाई! होने पर भी उससे धर्म होता है—पंच महाव्रत ले लिये, नग्नपना धारण किया, इसलिए अब हमारा कल्याण होगा, यह बात देखो न! वह आया था न तब कोटा में? आहाहा! कोटा में वह आया था चोपानिया। चार दिन बाद आया था पाँचवें दिन सवेरे। विद्यानन्दजी ऐसा कहत हैं। जैनदर्शन में। जैनदर्शन न? वह क्या कहलाता है, वह पत्र नहीं? जैनदर्शन। हाँ उसमें। अरे.. बापू! विद्यानन्द हो या विद्यानन्द का गुरु हो। आहाहा!

यह पाँचवें में नहीं कहा? पाँचवीं गाथा। कि विज्ञानघन में मग्न जैसे अरिहन्त परमेश्वर। आहाहा! परापर। ठेठ वीतराग अरिहन्त परमात्मा वे विज्ञानघन में लीन थे। वैसे हमारे गुरुपर्यन्त वह सब यह थे। आहाहा! है न वह? कुन्दकुन्दाचार्य की शैली। **निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा, उसमें अति निमग्न परमगुरु केवली, इस प्रकार सर्वज्ञ, अपर गुरु गणधर आदि से लेकर हमारे गुरु।** आहाहा! देखो, क्या कहते हैं? वह तो आनन्द का नाथ प्रभु विज्ञानघन, उसमें गुरु, मुनि लीन थे। पंच महाव्रत और नग्नपना,

उसमें वे लीन नहीं थे। आहाहा! तथापि हो वस्तु वह। आहाहा! यहाँ पंच महाव्रत पालते थे और यह बात नहीं ली।

आत्मा उसमें अन्तर निमग्न। कैसा आत्मा ? कि निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा। उसमें अन्तर निमग्न, वह पर्याय है। निर्मल विज्ञानघन, पवित्र विज्ञानघन, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें अन्तर निमग्न, उसमें अन्तर निमग्न थे। सर्वज्ञदेव। उनके साथ स्वयं गणधर को मिलाया और उनके साथ अपने गुरु को भी मिलाया। आहाहा! हमारे गुरु जो मुनि थे दिगम्बर सन्त, वे विज्ञानघन में अन्तर्मुख में लीन थे। आहाहा! बात तो देखो! ऐई..! ऐसी बात कहाँ है ? आहाहा! यह परम सत्य का भणकार है। ठीक न लगे, लगे, उससे क्या ? दूसरे को न लगे। बस तब भगवान की भक्ति और गुरु की भक्ति से कुछ धर्म नहीं ? संसार की दुकान में बैठे, इसकी अपेक्षा यह करे वह।

मुमुक्षु : दोनों परलक्ष्यी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों परलक्ष्यी है। आहाहा! जिसमें स्वद्रव्य का भगवान विज्ञानघन का आश्रय जिसमें न आवे, वह वस्तु धर्म नहीं है। आहाहा! कहाँ ले गये ? केवली जैसे विज्ञानघन में अन्तर्मग्न हैं, वे वहाँ से लेकर हमारे गुरु... उनके गुरु को ऐसे गुरु जाना। इसका अर्थ कि हम भी हमारे विज्ञानघन में निमग्न हैं। आहाहा! हम पंच महाव्रत और नग्नपना, वह होता है, परन्तु उसमें हम लीन नहीं हैं। आहाहा! अभी गुरु की पहिचान नहीं होती, देव की खबर नहीं होती, कैसे सर्वज्ञदेव होते हैं ? आहाहा! यहाँ तो सर्वज्ञदेव के साथ गुरु को मिलाया है। आहाहा! थोड़ा अन्तर है, इस बात को गौण करके। यह तो नियमसार में आता है न, भाई! यह हम जड़ हैं, ऐसा स्वयं ने लिखा है। आहाहा! कि सर्वज्ञ में और मुनियों में अन्तर देखते हैं। आहाहा!

विज्ञानघन ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें अन्तर निमग्न जैसे सर्वज्ञ है, (वैसे) गणधर अन्तर निमग्न हैं। यह शास्त्र की रचना और विकल्प, वह आत्मा नहीं। आहाहा! भाई ने कहा है न अमृतचन्द्राचार्य ने अन्त में। हम तो आत्मा में निमग्न हैं। हम इसके— शास्त्र के कर्ता नहीं, हों! ऐसे मोह में नाचना नहीं, भाई! आहाहा! हम तो आत्मा में हैं, हम विकल्प में आते नहीं तो वाणी लिखने में कहाँ से हम आयेंगे ? आहाहा! निर्ग्रन्थ गुरु

की यह दशा होती है। वे पंच महाव्रत पालते हों और नग्नपना, वह तो निमित्तरूप से है। वह वस्तुरूप से नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह तो संसार में झुकाववाली दशा है। पंच महाव्रत की और नग्नपना, वह तो स्वयं संसार, भव कहा। वह तो भवसंसार है। आहाहा!

भगवान भव और भव के कारण के भावरहित, विज्ञानघन प्रभु, अरे... यह बात इसे कैसे जँचे, बापू! आहाहा! दूसरी सब बातें भले पढ़े। ग्यारह अंग, नौ पूर्व पढ़े। आहाहा! परन्तु उसका अस्तित्व—सत्ता इतनी है, विज्ञानघनवाला तत्त्व है, अकृत्रिम है, अविनाशी है, अकेला निर्मल पवित्र विज्ञानघन प्रभु है। आहाहा! उसमें जो निमग्न है, वह हमारे गुरुपर्यन्त ने हमको यह उपदेश दिया है, ऐसा कहे। आहाहा! है न?

गुरुपर्यन्त, उनके प्रसाद से-महरबानी से। प्रसाद का अर्थ किया 'प्रसन्नता' नहीं उसमें? प्रवचनसार में। कृपा, प्रसन्नता। उनकी कृपा यह। आहाहा! **दिया गया शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश।** आहाहा! बस, सर्वज्ञ से लेकर हमारे गुरु ने तो हमको यह उपदेश दिया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान! तू शुद्ध चैतन्यघन है न, नाथ! आहाहा! यह राग और द्वेष तथा जन्म और मरण, वृद्ध और युवक अवस्था और जाति तथा वेश, यह सब संसार है; यह तेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

दिया गया शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश, उससे जिसका जन्म है... देखा! हमारे गुरु ने हमें ऐसा उपदेश दिया, उससे हमारे वैभव का जन्म है। निमित्त से कथन है। आहाहा! निमित्त कौन था, इतना ज्ञान कराते हैं। समझ में आया? उसकी उत्पत्ति आनन्द की तो आत्मा के आश्रय से हुई है। वह परलक्षी होकर हुई है? गुरु ने उपदेश दिया और सुना, उससे वैभव उत्पन्न होता है? अरे! व्यवहार के कथन तो देखो! निर्मल विज्ञानघन प्रभु है, उसके आश्रय से और उसमें लीन होने पर जो दशा होती है, उस दशा को यहाँ गुरुपना, मुनिपना या सर्वज्ञपना कहने में आता है। आहाहा!

और यह श्वेताम्बर में तो पन्नवणा में ३६वाँ अध्ययन है। वहाँ तक (कि) केवलज्ञानी है, केवलीसमुद्घात करते हैं। समुद्घात करने के बाद वापस आते हैं तो पाँच पाटले सौंपते हैं। पच्च... ऐसा पाठ है। आहाहा!

* बाजोट / पाट—बैठने का आसन

मुमुक्षु : स्वरूप में लीन होते हैं या पाँच पाट* (बााजोट) ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... प्रभु कहाँ! परन्तु उसे पाँच पाट केवली को कैसे? पच्च... लो, यह तुम्हारे पाँच पाट, ऐसा नहीं, परन्तु पाँच पाट सौंपे, इतनी भाषा है। बहुत संक्षिप्त पच्च... अरे... यह वह कहीं वस्तु है? ऐसा जैनधर्म को कलंक लगा दिया है। आहाहा! ऐई! चिमनभाई! आहाहा! यह प्रवीणभाई कहते हैं कि यहाँ तो सब हाँ करते हैं। परन्तु हाँ करे, परन्तु विचारकर कहते हैं न! आहाहा! यह कहीं पक्ष की बात नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है वहाँ। आहाहा!

यह तो इसलिए लिया। यह लिंग है, उसे धारण किया है और उसने पंच महाव्रत धारण किये हैं, वे हमारे गुरु, ऐसा भी नहीं, भावलिंग भी निश्चय से तो आत्मा में नहीं, ऐसा भी कहा है न वापस? परमात्मप्रकाश में तो (कहा है)। आहाहा! लिंग जो भाव निर्विकल्पदशा, अन्तर मग्नदशा, वह भी द्रव्य में कहाँ है? आहाहा! वस्तु जो भगवान आत्मा जिसे कहते हैं। आहाहा! वह तो निर्विकल्प भावलिंग पर्याय में है और वह मोक्ष का मार्ग यह है, तथापि वह पर्याय द्रव्य में कहाँ है? आहाहा! और वह पर्याय द्रव्य में कहाँ जाती है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! भले द्रव्य को पर्याय ने जाना, परन्तु पर्याय ने द्रव्य में जाकर द्रव्य को जाना, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी मार्ग की रीति, बापू! बहुत सूक्ष्म, भाई! बाहर से अकेले जीविया वहरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडम किया लो। इच्छामि पडिक्कमणा ईरिया वहिया विराहाणाये, तस्स उत्तरी लोग्गस उज्जोयगरे। हो गयी सामायिक। अरे... बापू! यह सामायिक का मुख अलग है, भाई! आहाहा! विज्ञानघन भगवान में वीतरागी पर्याय द्वारा लीन होता है, उस वीतरागी पर्याय में यह विकल्प जो है पंच महाव्रत का, वह भी जिसमें नहीं, ऐसी दशा को सामायिक और वीतरागदशा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय ने द्रव्य में जाकर जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह साधकपना ऐसा कि अवस्था का है, परन्तु मूल चीज़ का साधकपना नहीं। अर्थात्? मूल चीज़ में उसका प्रवेश नहीं। आहाहा! द्रव्यरूप होती नहीं। कहा था न रात्रि में? अर्थ बहुत अच्छा किया है भाई ने। दौलतराम ने। यह लोग

केवली के अनुसार अर्थ करनेवाले परम आगम के अर्थ हैं। आहाहा! यह कहीं स्वच्छन्द मार्ग से हो, ऐसी चीज़ नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि **इसलिए जो लिङ्ग में आग्रह रखते हैं अर्थात् लिङ्ग ही मुक्ति का हेतु है...** ऐसा। ऐसा जो मानता है। आहाहा! उसमें-कोटा में आया था तो यह भी आया था। कि श्रावक के व्रतादि के आचार और मुनि के आचार, उन्हें निषेध करते हैं कि वह धर्म नहीं है, तो दिगम्बर धर्म की नास्ति हो जायेगी। ऐसा कहते। अरे... भगवान! भाई! तेरा पुण्य है, हों, तब तक दुनिया मानेगी। वह यहाँ काम नहीं आवे। बाहर के पुण्य के कारण दुनिया माने और हाँ करे। आहाहा! अभी के सेठियाओं को भी बेचारों को खबर नहीं होती। यह बाहर का देखकर, बस हाँ... हाँ... हाँ... हाँ... हाँ... व्यवहार होगा तो निश्चय होगा, ऐसा आचरण करके तो देखो तुम—ऐसा और कहे वापस। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा आचरण तो अनन्त बार।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त बार किया, बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

गाँव में जाते, पाँच-सात घर हो, और महाराज बड़े हैं, ऐसा कहे। यहाँ तो एकदम पानी करे लोग-गर्म पानी करे। रसोई भी एकदम रोटी-बोटी अच्छी एकदम। हम जायें कि अरे! बहिन यह किसके लिये? नहीं लें। पानी नहीं लें, पानी बिना बिताये दिन के दिन। उस समय तो मानते थे न! काठी के यहाँ से छाछ लेकर आवें, छाछ और रोटियाँ। सब्जी भी कहाँ और दाल भी कहाँ वहाँ? वहम पड़े कि यह तो कुछ किया हुआ लगता है हमारे लिये। यह दाल और सब्जी को डाला लगता है। समझ में आया? एक गाँव, कौन सा एक गाँव?

मुमुक्षु : उत्तम धर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी धर्म नहीं था। ऐई! उस समय तो यह शैली, मान्यता थी न। साधुपने की ऐसी क्रिया होती है, ऐसा नहीं चलता, यह चलता है। परन्तु वह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : आपके शरीर से क्रिया हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर से हुई, राग से हुई। शरीर की जड़ क्रिया और राग की मन्दता, वह राग क्रिया। उसमें आत्मा कहाँ आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **लिङ्ग ही मुक्ति का हेतु है—ऐसे अभिनिवेशवाले जो हैं, वे मुक्त नहीं होते।** यह बात है। लिंग चाहे जैसा हो, ऐसा नहीं। 'जाति वेश का भेद नहीं।' अर्थात् चाहे जो वेश और चाहे जो जाति, ऐसा नहीं है। ऐसी बात है, बापू! यह तो वीतराग... आहाहा! यह तब अर्थ किया था वहाँ ९५ में। राजकोट (में)। कि 'कहा मार्ग जो होय, तो जाति वेश का भेद न होय।' जो जाति हो, उस जाति हो। जो वेश हो, वही वेश हो। ऐसा अर्थ किया था। 'जाति वेश का भेद नहीं...' ऐसा आशय नहीं था उनका, परन्तु सत्यार्थ ऐसा चाहिए, कहा भाई! उनके लोगों को ठीक नहीं लगा था ऐसा। यह अर्थ बदलते हैं। सब अर्थ बदलते हैं परन्तु सच्चा अर्थ यह है। ऐई... प्रेमचन्दभाई! यह ९५ की बात है। कितने वर्ष हुए? ३६। आत्मसिद्धि में आ गया है। आत्मसिद्धि के प्रवचन में आ गया है।

यहाँ तो एक अंश भी फेरफार पड़े तो वह वीतरागमार्ग नहीं। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि लिंग मुक्ति का कारण है, ऐसा जो मानता है, उस आग्रह को यहाँ छुड़ाते हैं। यह लिंग छुड़ाते हैं। यह तो आता है न, उस अन्तिम गाथा में नहीं? '**तम्हा जहितु लिंगे**' समयसार की अन्तिम गाथा, भाई! '**जहितु लिंगे**' लिंग को छोड़कर। अर्थात्? यह विकल्प और नग्नपना मेरा स्वरूप है, यह छोड़ दे दृष्टि में से। इसलिए उसे नग्नपना नहीं होता और दूसरी चीज़ होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वहाँ भी '**दोहिमं लिंगम**' व्यवहारनय दो लिंग को कहता है, निश्चय इनकार करता है। आहाहा!

यह तो भाई! लिंग तो 'जन्मे प्रमाणे रूप भासित', प्रवचनसार सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ का कहा हुआ। आहाहा! और वह श्रीमद् ने वापस उसे मान्य रखा है। तो उसमें यह आया। 'जन्मे प्रमाणे रूप भासित।' भगवान ने तो यह कहा है, बापू! परन्तु इससे जन्मे प्रमाणे रूप है, इससे वह मुक्ति का कारण है, ऊपर हवेली में हो और मुक्ति का कारण नहीं। आहाहा! भगवान के नाम से प्ररूपणा करना, बापू! बहुत जोखिम है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे अभिनिवेशवाले जो हैं, वे मुक्त नहीं होते। किससे ? भव से (संसार से)। आहाहा! देह स्वयं भव है। आहाहा! उससे मुक्ति माने, वह संसार से पृथक् नहीं पड़ते। आहाहा! यह इसमें आग्रह करते थे भाई लालन। देखो, यह लिंगकृताग्रहा। समाधिशतक, उन्होंने अर्थ किये हैं। वह इनकार करते हैं। परन्तु क्या इनकार करते हैं ? लिंग है, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा इनकार करते हैं। परन्तु लिंग ऐसा नहीं होता और दूसरा भी लिंग होता है, ऐसा मार्ग नहीं है तीन काल में वीतरागमार्ग में। आहाहा!

लालन थे न, वे लालन यहाँ रहते थे। बारह महीने रहे। मलूकचन्दभाई की जगह में, नहीं ? मलूकचन्दभाई नहीं यह तुम्हारे ? बड़ी जगह न। बारह महीने रहे थे। किसी-किसी समय सत् आवे, फिर रोवे। अरेरे! अभी तक यह सब पढ़-पढ़कर क्या निकाला ? पहले आग्रह करे। हमारे जॉर्ज और एडवर्ड जिन्हें भी एक ही स्त्री और तुम चक्रवर्ती तीर्थंकर को छियानवें हजार स्त्री। नहीं होता। अरे... सुन न, भाई! ऐसा कहते हैं। तो किसी का शरीर स्थूल रजकणवाला हो तो वह शरीर ऐसा नहीं धर्मी को। ऐसा ? वह तो परचीज़ है। छियानवें हजार स्त्रियाँ हों या करोड़-अरब हो। आहाहा! इन्द्र को तो करोड़ों अरबों इन्द्राणियों बदलती हैं उसके भव में। क्योंकि इन्द्राणी का आयुष्य थोड़ा और इसका आयुष्य दो सागर। वह ४५ पल्य, अमुक पल्य की स्थिति। ऐसी तो इन्द्राणियाँ कितनी एक भव में आवे ? करोड़ों अप्सरायें। आहाहा! है समकिती। आहाहा! समझ में आया ? यह अधिक इन्द्राणियाँ, इसलिए वह ममतावाला है और एक ही विवाह करे, वह ममतारहित है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भावार्थ - जो जीव, केवल लिङ्ग अर्थात् बाह्य वेष को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, वे देहात्मदृष्टि हैं... इसलिए पन्द्रह भेद से सिद्ध कहे हैं न श्वेताम्बर में ? पन्द्रह भेद से सिद्ध। श्रीमद् में भी यह आता है। अर्थ में पीछे। पन्द्रह भेद से सिद्ध कहे हैं, उसका हेतु वीतरागभाव है। ऐसा। पन्द्रह भेद। यह स्त्रीलिंग से मुक्ति नहीं हो सकती। उन पन्द्रह भेद में स्त्रीलिंग आया है। गृहस्थलिंग से मुक्ति नहीं हो सकती। यह पन्द्रह भेद में गृहस्थलिंग आया है। अन्य लिंग से मुक्ति नहीं होती। उसमें-पन्द्रह भेद में वह आया है। पूरा वीतरागमार्ग, बापू! सीधा खड़े होओ, ऐसी बात है। यहाँ तो यह है।

दूसरा कोई पक्ष यहाँ नहीं है। वीतराग परमेश्वर ने जो मार्ग कहा, निश्चय और व्यवहार और निमित्त, इसके अतिरिक्त कहीं फेरफार हो, वह मार्ग नहीं है। आहाहा!

अर्थात् वे देह को ही आत्मा मानते हैं;... आहाहा! अरे... राग से कल्याण होगा, ऐसा माननेवाले भी राग को ही आत्मा मानते हैं। भगवान आत्मा तो रागरहित चीज़ है। निर्विकल्प विज्ञानघन जिसका स्वरूप है। उसे राग से लाभ माने, वह राग को ही आत्मा मानता है। आहाहा! **इसलिए वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता। लिङ्ग, शरीर के आश्रित है और शरीर के साथ के सम्बन्ध से ही आत्म का संसार है;...** आहाहा! **शरीर के अभाव में संसार नहीं होता; इसलिए जो लिङ्ग का आग्रही है अर्थात् जो लिङ्ग को ही मुक्ति का कारण समझता है, वह संसार का ही आग्रही है;...** आहाहा! बहुत मार्ग, भाई! जगत के मार्ग के साथ इसे मिलान में रखना, कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं।

एक टुकड़ा आता है आचारांग में, यह कहते थे तब व्याख्यान में। **'नो लोए एषणं चरियं'** हे गौतम! हमने जो मार्ग कहा, वह लोक की ऐषणा, अनुभूति को उसके साथ मिलाना नहीं, मिलान नहीं खायेगा। ऐसे यह शब्द कहने में आये हों उसे। आचारांग आता है। पहले। **'नो लोए एषणं चरियं'** लोक की ऐषणा के साथ मेरे मार्ग को मिलाना नहीं कि लोग ऐसा कहते हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी ऐसा कहते हैं। अमुक ऐसा कहते हैं, जिन्हें करोड़ों शिष्य हैं, वे गुरु ऐसा कहते हैं। उनके साथ मिलाना नहीं,प्रभु! मेरे मार्ग को। आहाहा! यह तो सम्प्रदाय में कहते थे। व्याख्यान में। हजारों लोग बोटाद आते थे न। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **शरीर के अभाव में संसार नहीं होता; इसलिए जो लिङ्ग का आग्रही है अर्थात् जो लिङ्ग को ही मुक्ति का कारण समझता है, वह संसार का ही आग्रही है; वह कभी भी संसार से नहीं छूट सकता।** आहाहा! देह का नग्नपना वही मुक्ति का कारण है, ऐसा माननेवाले संसार से पृथक् नहीं पड़ेंगे। संसार को लिपट रहे हैं। आहाहा! समझ में आया?

विशेष—यह बोल आयेगा अलिंगग्रहण में। यति की बाह्य क्रिया का जिसमें अभाव है, उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा! बाह्य वेश नग्न और अट्ठाईस मूलगुण हों सब,

वह यति का बाह्य वेश है, उसमें उसका अभाव है भगवान आत्मा का। इसलिए इसका अर्थ ऐसा नहीं कि यति का वेश चाहे जैसा हो। अट्ठाईस मूलगुण के अतिरिक्त चाहे जैसे विकल्प हों तो उसे निमित्त कहा जाए, ऐसा नहीं है। हिम्मतभाई! ऐसा स्वरूप है। आहाहा! अरे! जिन्दगी में ऐसी सच्ची बात सत्य क्या है? यह सुनने को मिले बिना कितने ही चले गये बेचारे। देह छोड़कर चले गये। आहाहा!

इसमें आज लेख आया है यह। रमा गुजर गयी न रमाबहिन? श्मशान में ले गये वहाँ। साहित्यकार, पत्रकार सब वहाँ गये थे। लिखे न वह? बड़ी महिला है न और बहुत संस्थान के ऊपरी। उसमें भी संस्था के ऊपरी बात बाहर की बातें सब। आहाहा! लोगों ने इतने गुणगान किये हैं कि आहाहा! कितनी संस्था इनके बिना टूट जायेंगी और पैसेवाले व्यक्ति और बड़ी इज्जत हो, इसलिए जहाँ-तहाँ सामने करे। उसमें आत्मा को क्या है? आहाहा! यह आत्मा का क्या किया? आहाहा! वह संसार के अधिपति और यह संसारवालों को ऐसा हो जायेगा, ध्यान बहुत रखते थे, साहित्य का बहुत प्रेम था, ऐसा सब लिखा इसमं। आज जैनमित्र में आया है।

अरे! साहित्य तो भगवान अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा साहित्य से भरपूर, आहा! उसका आश्रय लेकर जो दशा हो, उससे संसार का अभाव और मुक्ति होती है। बाकी सब बातें हैं। बड़े प्रमुख हों चारों ओर के। इस संस्था के यह प्रमुख, इस संस्था के यह प्रमुख। इससे क्या हुआ? समझ में आया? श्मशान में वे पहुँचे हैं सब वहाँ। साहित्यकार, पत्रकार। पत्रकार और साहित्यकार और प्रमुख व्यक्ति, सब हो न बड़ी—महिला बड़ी बाहर में। पुण्य में बड़ा कहलाये न दुनिया में तो? बड़े प्रमुख सब व्यक्ति श्मशान में इकट्ठे हुए। साहूजी को फिर ओहोहो! गजब, बापू! इस जगत से।

और मुनि सच्चे सन्त हों, वे गुफा में पड़े हों, आनन्द की लहर में पड़े हों। बाहर गुफा हो, उसमें सियालिया टुकड़े करके खाये। आहाहा! परन्तु एकावतारी होकर सर्वार्थसिद्धि में जाये। वह उपसर्ग थोड़ा है न इसलिए। आहाहा! बाद में उनके शरीर को कोई जलानेवाला न मिले। शरीर का समाधिमरण हुआ, इसलिए इसे ऐसा करो, ऐसा कुछ नहीं हो। आहाहा!

भाई ने कहा है न एक बार? सोगानी को? किसी ने कहा होगा, भाई! तुम महाराज के पास जाकर कहो तुम्हारे अनुभव की बात। कहे, ऐसी मेरी प्रकृति नहीं है कि कोई बात लेकर जाऊँ और कहूँ, यह मेरी प्रकृति में नहीं। तुम मेरी चिन्ता नहीं करना। ऐसा लिखा है। है? और अनन्त सिद्ध हो गये, है पहिचाननेवाले, उनकी खबर है तुझे? यह सिद्ध। अनन्त सिद्ध हो गये केवल(ज्ञानी)। आहाहा! उनकी खबर है जगत को? नहीं है, इसलिए उनका सिद्धपना चला जाता है? आहाहा!

दुनिया बड़ा कहे और माने, उसमें तुझे क्या? दृष्टान्त दिया है सिद्ध का और यह दिया है एक। ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात समकिती तिर्यंच पड़े हैं, पाँचवें गुणस्थानवाले। उन्हें कोई गिनती में गिनते नहीं। कहते हैं, वे असंख्य समकिती पड़े हैं, ढाई द्वीप के बाहर। उनका नाम-ठाम भी जानते नहीं और कौन है, उसे पहिचानते नहीं, इसलिए उनकी महिमा चली गयी? आहाहा! दुनिया बड़े रूप से जाने गिनती में तो उसकी महिमा रहे? आहाहा! और महिमा हो, तथापि दूसरे को हीनता लगती हो, लो! कि यह तो सब एकान्त है, मिथ्यात्व है। इससे हीन हो जाता है वहाँ? आहाहा!

विशेष - **अन्तरङ्ग वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म बिना,...** अन्तरंग, अन्तर का अंग जो वीतरागदशा। आहाहा! वह बाह्य अट्ठाईस मूलगुण और नग्नपना, वह तो आस्रव और अजीव है दोनों। वह इस जीव का स्वरूप नहीं। वह वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म बिना अन्तरंग वीतरागी पर्याय निर्मल विज्ञानघन में जो लीनता, ऐसी वीतराग धर्म की पर्याय **बिना, लिङ्गमात्र से-बाह्यवेषमात्र से धर्म की सम्पत्तिरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती;...** आहाहा! लोगों को यह लगे, परन्तु यह निश्चय, परन्तु इसका कोई साधन? ऐसा कहते हैं।

यह अगास में रात्रि में एक मारवाड़ी पूछने आया था। निश्चय की बात यह तुम्हारी, परन्तु इसका साधन? कहे, साधन वह स्वरूप का साधन, वह साधन है। यह भक्ति और वांचन और सुनना, वह उसका साधन-फाधन है नहीं। आहाहा! **बाह्यवेषमात्र से धर्म की सम्पत्तिरूप सम्यक्त्व की...** देखा! धर्म की सम्पत्ति समकित की प्राप्ति होती नहीं। **इसलिए राग-द्वेषरहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव,...** आहाहा!

आत्मा का शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव, जो अन्तरङ्ग भावधर्म है,... अन्तरंग भावधर्म है। आहाहा! **उसे हे भव्य! तू जान!** लिंगपाहुड़ का है न? ऐकड़े का है नहीं? लिंगपाहुड़ का।

धर्मेण भवति लिंगं न लिंमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यम्॥२॥

लिंगपाहुड़ की दूसरी गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा! स्वयं आत्मा के अन्तर में स्थित हों, दशा नग्न हो, उसमें कोई आकर वस्त्र डाल जाये, इसलिए वह उनका लिंग हो, ऐसा नहीं है। वह लिंग बिगड़ गया और अब वह समकित नहीं पावे और धर्म-केवल (ज्ञान) नहीं पावे, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : केवल (ज्ञान) पावे, तब सब खिर जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब छूट जाता है वहाँ। आहाहा! उपसर्ग में किसी ने आकर डाला था, इसलिए उसे वह लिंग में आता नहीं, उसे अन्तर में आनन्द के स्वभाव को बढ़ाने में उसे कोई अवरोधक नहीं है वहाँ। बुद्धिपूर्वक मन-वचन और काया से रखा हो तो उसे अवरोधक हो। आहाहा! ऐसी बात ऐसी है। ऐसा यह है। सिद्ध हुए, उनकी बात है न? समझे? उसे बाह्यलिंग में अन्तर नहीं होता। वह भी सिद्ध हुए। वह वेश दूसरे ने डाला हो उपसर्गरूप से और अन्दर से भान में आ गये हैं, स्थिरता हो गयी है, भले वस्त्र पड़ा हो ऊपर। आहाहा! सिद्ध की संख्या वर्णन की है। पूर्व-पूर्व की। पूर्व की जीवों की किस-किस वेश से और किस-किस प्रकार से सिद्धपना प्राप्त हुए, उसमें एक यह शैली है। वस्त्रपना हो ऊपर और सिद्धपना पावे अर्थात् केवल (ज्ञान) पा जाये अन्दर से। क्योंकि वह लिंग कुछ रखा नहीं स्वयं ने। वह तो परवस्तु भिन्न पड़ी है, ऐसी वह परवस्तु। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। सिद्ध की संख्या पूर्व में किस अपेक्षा से केवल(ज्ञान) पाकर सिद्ध संख्या हुई? उसकी बात है जरा। सूक्ष्म बात है।

शरीर की नग्न अवस्था, अट्ठाईस मूलगुणों का पालनादि... लो, यह अधिक डाला। पंच महाव्रत, छह आवश्यक, सामायिक, चौविसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग,

प्रत्याख्यान, ऐसे छह आवश्यक के विकल्प बाह्यलिंग। **यह मुनि अवस्था में नियम से होता है,...** मुनिदशा में वह निश्चय से होते हैं। आहाहा! **इससे विरुद्धदशा हो तो वह भावलिङ्गी मुनि नहीं होता,...** आहाहा! अट्ठाईस मूलगुण और नग्नदशा बिना दूसरे विकल्प और दूसरी दशा हो तो वहाँ भावलिंगी मुनि नहीं हो सकते। आहाहा!

परन्तु इस बाह्यलिङ्ग से अथवा अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से मोक्ष होता है— यदि ऐसी श्रद्धा करे, तो वह मिथ्यादृष्टि है। सुजानमलजी! ऐसी बात है। यह ऐसा ही क्यों निमित्त? परन्तु यह उचित ही निमित्त हो, उसे निमित्त कहा जाता है, तथापि उससे यहाँ होता नहीं। आहाहा! आत्मा गति करे तो उसे धर्मास्ति का निमित्त होता है, इसलिए धर्मास्ति ने उसे गति करायी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वयं गति(रूप) परिणमनेवाले को। ऐसा पाठ है न! धर्मास्ति का निमित्त कहा जाता है। आहाहा! यह निमित्त ने कुछ किया नहीं। यह सूक्ष्म बातें!

यह तो बहुत गुणगान आये थे अभी। वह नेमचन्द नहीं अपने तुम्हारी चार पुस्तकें बाहर आयी है अपने। कहते हैं, कैलाशचन्दजी ने बहुत महिमा की है। चार-चार पुस्तकें हैं न नेमिचन्द की। वाडावाले। परन्तु किसी ने यहाँ पढ़ा था न? किसने पढ़ा था? तुमने नहीं पढ़ा था निमित्त का न? बहुत गुणगान किये हैं भाई ने। ओहोहो! उसकी कीमत करनेवाला, वह वाणी की पंक्ति में नहीं आता, ऐसा उसने काम किया है। भाई ने। और यहाँ हमारे चेतनजी पढ़ते थे... निमित्त बिना होता नहीं, निमित्त से यह होता है। चार पुस्तकें बाहर आयी हैं। बारह, भेंट आयी हैं चार-चार। मैंने कहा भाई! चार अधिक की रखो बहिन के पास। फिर और कोई कहे अच्छी नहीं, रखकर क्या काम? चन्दुभाई लेकर आये थे। परन्तु मैंने कहा, इनकार करते हैं। अच्छी नहीं है, कहते हैं। नहीं तो यहाँ बारह भेंट आयी थीं। चार-चार बड़ी पुस्तकें। आहाहा! उसमें बड़े के लेख, विद्वत्ता के लेख परन्तु ठिकाने बिना के। बहुत महिमा की है उन्होंने। कैलाशचन्दजी ने, अरे... प्रभु! आहाहा! मार्ग तो जो है, वह रहेगा। वस्तु की स्थिति बदलना चाहे तो नहीं बदलेगी। उसे बदलना पड़ेगा। आहाहा!

कहते हैं **बाह्यलिङ्ग से अथवा अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से मोक्ष होता है —**

यदि ऐसी श्रद्धा करे, तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! **लिङ्ग सम्बन्धी विकल्प भी आत्मसाधना में बाधक हैं। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि मुनि को कैसा भी बाह्यलिङ्ग हो तो चलता है।** स्पष्टीकरण ठीक किया है। **मुनि को कैसा भी बाह्यलिङ्ग हो...** चाहे जो हो। स्त्री का लिंग हो और ऐसे केवल (ज्ञान) पावे, गृहस्थ का लिंग हो और केवल(ज्ञान) पावे, अन्यमति का फकीर का वेश हो, बाबा का वेश हो और केवल(ज्ञान) पावे, ऐसा नहीं है। पन्द्रह भेद में ऐसा है। चाहे जो वेश-लिंग हो। वह तो स्त्री को साधुपना ही नहीं आता, उसे केवल(ज्ञान) तो होगा ही कहाँ से? आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो कहे, होता है। मल्लिनाथ हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मल्लिनाथ (स्त्री) थे ही नहीं। गप्प मारी है। मल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री हो, कभी? जिनका पुण्य पूरा। आहाहा! उसे स्त्रीलिंग होगा? उन्हें दो माँ और पिता होंगे? अरे... आहाहा! यह लोगों ने बहुत विपरीत कर डाला है। भगवान महावीर को दो माँ और दो पिता। देवानन्दा सच्ची माँ। क्या ब्राह्मण कहलाये ऋषभ? ऋषभदेव। ऋषभदत्त। ऋषभदत्त पिता। वास्तविक पिता वह। ८२ दिन वहाँ रहे। वहाँ से बदलकर इन्द्रों ने त्रिशला के गर्भ में रखा। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे यह और उसे जन्म के समय मान दिया यह मिथ्या पिता को इन्द्रों ने। सच्चा पिता तो वह रह गया। कहीं मिलान खाये बात? भगवान के नाम से चढ़ाये हैं शास्त्र। आहाहा! ऐई... चिमनभाई! ऐसी बातें हैं, भाई! भगवतीसूत्र में नाम... आचार्य के पाठ यह सब... अरेरे!

यहाँ कहते हैं, चाहे जो वेश हो, **यहाँ कहने का आशय यह नहीं है श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो तीन प्रकार के लिङ्ग कहे हैं, वे उस-उस गुणस्थान में नियम से होते अवश्य हैं...** उस-उस गुणस्थान के नियम होते हैं। आहाहा! **सही...** नियम होते हैं। क्षुल्लक को एक लंगोटी आदि ऐसा जो लिंग उसे होता है, मुनि को नग्नपना लिंग होता है। आर्यिका को एक पछेड़ी। साड़ी। साड़ी पछेड़ी एक ही होती है। ऐसा ही लिंग होता है, इसके अतिरिक्त लिंग होता ही नहीं। आहाहा!

उनके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता,... तथापि ऐसे तीन लिंग हों सही। उनके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता। **अपितु उनके लक्ष्य से राग होता है;...** आहाहा! वेश तो परवस्तु है। उसके ऊपर लक्ष्य जाये तो विकल्प उठता है। मार्ग बहुत कठिन, बापू! उसमें यह चलते सम्प्रदाय में यह बात बाहर आयी, जगत को कठिन पड़ती है। कहो, चिमनभाई! ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का आशय है, ऐसा कहते हैं। यहाँ समाधि (तन्त्र) में पूज्यपादस्वामी का आशय है।

इसलिए उस ओर का झुकाव और विकल्प छोड़कर, आत्मा में लीन होने के लिए यह श्लोक कहा है। लिंग नग्न हुआ, इसलिए अब अपने को कल्याण होगा, ऐसा छोड़ दे। ऐसा तो अनन्त बार नग्नपना धारण किया। अट्ठाईस मूलगुण अनन्त बार पालन किये। एक भव घटा नहीं। क्योंकि वह स्वयं भवस्वरूप है। पंच महाव्रत जगपंथ कहा न? छठवें गुणस्थान में मुनि सच्चे सन्त को पंच महाव्रत के विकल्प को, ऐसा कहा समयसार नाटक में (कि) वह तो जगपंथ है। वह संसार का पंथ है। आहाहा! यह स्त्री, पुत्र, परिवार छोड़ा, वह संसार छोड़ा, ऐसा जगत कहता है।

यहाँ तो जिसने मिथ्यात्व-अव्रत-प्रमाद-कषाय छोड़े, सम्यक् शान्ति स्थिरता अप्रमाद दशा परिणमित हुई, उसने संसार छोड़ा, ऐसा कहने में आता है, तथापि अभी विकल्प बाकी रहा, वह संसार है। आहाहा! ऐसी बात ऐसी लगे लोगों को। यह तो सत्य है ऐसा। उसमें से कम, अधिक और विपरीत कुछ करने जायेगा तो मिथ्यात्व का पोषण होगा। आहाहा! सवेरे वे रतिभाई आये थे मौके से, यह ऐसी बात आयी थी। वे सब भक्ति में माननेवाले हैं।

आत्मा में लीन होने के लिए यह श्लोक कहा है। यह वेश की बात की। अब जाति की बात करते हैं कि चाहे जो जाति हो, चण्डाल की जाति हो, ब्राह्मण की जाति हो तो भी साधु हो और केवल(ज्ञान) हो सके, ऐसा नहीं। 'जाति वेश का भेद नहीं...' चाहे जो जाति हो, चण्डाल हो, ब्राह्मण हो तो ऐसा नहीं। पहले वेश की बात की, अब जाति की करते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने आत्मध्यान में मस्त, विकल्प आया परन्तु उससे पृथक् रहकर विकल्प आया है। आहाहा! उपयोग में एकाकार बिना का विकल्प आया है। सवेरे आया था न यह? आहाहा!

मुमुक्षु : सर्व जगत।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत। आहाहा!

'वर्णों में ब्राह्मण, गुरु हैं; इसलिए वही परमपद के योग्य हैं' — ऐसा जो बोलता है, वह भी मुक्तियोग्य नहीं है,... अथवा वह कहेगा मुनि चण्डाल हुए हैं। श्वेताम्बर में, उत्तराध्ययन में। बारहवाँ अध्ययन है। हरिकेशी चण्डाल मुनि थे। वह यहाँ इनकार करते हैं। वह सब कल्पित बनाया है। चण्डाल की जाति को मुनिपना हो ही नहीं सकता। समझ में आया? आहाहा! यहाँ ब्राह्मण की मुख्यता ली है कि ब्राह्मण की जाति, या बनिया की जाति या क्षत्रिय की जाति हो तो उसे केवल(ज्ञान) होता है और चण्डाल की जाति हो तो भी केवल (ज्ञान) होता है, ऐसा जो कहनेवाले हैं... २६वाँ अध्ययन है वह। उत्तराध्ययन का। णमोकार में ब्राह्मण। जाति चाहे जो हो, ऐसा कहते हैं। परन्तु मोक्ष हो सकता है, ऐसा जो कहते हों, उससे विरुद्ध यह बात है। ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय इन तीन जाति में केवल(ज्ञान) पाते हैं। चण्डाल की जाति में केवल(ज्ञान) नहीं हो सकता। यह उत्तराध्ययन सूत्र में पूरा १२वाँ अध्ययन उनके लिये निकाला है। सब कल्पित है। आहाहा! ऐई! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ८८

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह -

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥ ८८॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं॥८८॥

'वर्णों में ब्राह्मण, गुरु हैं; इसलिए वही परमपद के योग्य हैं' — ऐसा जो बोलता है, वह भी मुक्तियोग्य नहीं है, यह कहते हैं —

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह॥ ८८॥

अन्वयार्थ - (जातिः) ब्राह्मण आदि जाति, (देहाश्रिता इष्टा) शरीर के आश्रित देखी गयी है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः भवः) आत्मा का संसार है; (तस्मात्) इसलिए (ये) जो जीव, (जातिकृताग्रहाः) मुक्ति की प्राप्ति के लिए जाति का हठ पकड़े हुए हैं, (तेऽपि) वे भी (भवात्) संसार से (न मुच्यन्ते) नहीं छूट सकते हैं।

टीका - ब्राह्मणादि देहाश्रित हैं, इत्यादि अर्थ सुगम है। (अर्थात् समझना सहज है)॥८८॥

भावार्थ - लिङ्ग की तरह जाति भी देहाश्रित है और देह में आत्मबुद्धि, वह संसार है; इसलिए जो मुक्ति के लिए जाति का आग्रह रखते हैं अर्थात् जाति को ही मुक्ति का मूल मानते हैं, वे भी संसार से नहीं छूटते, क्योंकि वे संसार के आग्रही हैं।

जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में कही है, उस अनुसार नियम से होती है; उससे विरुद्ध जाति, भावलिङ्गी मुनि को नहीं होती। उस जाति से या उस ओर के झुकाव से अथवा विकल्प से मोक्ष नहीं होता, अपितु राग उत्पन्न होता है; इसलिए उस ओर का झुकाव छोड़कर, आत्मसन्मुख होकर, उसमें लीन होने से मोक्ष होता है — ऐसा इस श्लोक से समझना चाहिए॥८८॥

आषाढ़ कृष्ण ४, रविवार, दिनांक २७-०७-१९७५, श्लोक-८८-८९, प्रवचन-१०२

वर्णों में ब्राह्मण, गुरु हैं;... वह तो ब्राह्मण वैसे तो नाम दिया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन तीन जाति में केवलज्ञान हो सकता है। चण्डाल की जाति में मुनिपना नहीं हो सकता तो केवलज्ञान तो नहीं हो सकता। वह यहाँ बतलाना है।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥ ८८॥

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह॥ ८८॥

टीका में ब्राह्मण आदि शब्द प्रयोग किया है अर्थात् जाति—ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय। तीन जाति को मुनिपना हो सकता है और केवल(ज्ञान) हो सकता है। चण्डाल की जाति को मुनिपना नहीं हो सकता, तो केवलज्ञान (भी) नहीं हो सकता, परन्तु उस जाति से मुक्ति होती है, ऐसा मानते हैं, इसके लिये यह आग्रह कहा है। उनका यह आग्रह झूठा है। हम ब्राह्मण हैं, हम बनिया हैं, हम क्षत्रिय हैं, इसलिए हमको इस जाति में से धर्म होगा, ऐसा जो आग्रह माने, वह झूठा है। आहाहा! समझ में आया?

टीका - ब्राह्मणादि देहाश्रित हैं,... ब्राह्मण, वैश्य और वह तो देह के आश्रित है। होता है उस जाति से, यह बराबर है। समझ में आया? श्वेताम्बर में तो हरिकेशी मुनि चण्डाल चले हैं। उन्हें मुनि सिद्ध किया है उत्तराध्ययन में।

मुमुक्षु : उनकी जाति में कोई केवली या तीर्थंकर हुए हैं या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई केवली तीर्थंकर थे कब? सत्शूद्र कहा है। परन्तु उस सत्शूद्र का स्पष्टीकरण नहीं किया। टीका में प्रवचनसार। जयसेनाचार्य की टीका। और सत्शूद्र का अर्थ उन्होंने नहीं किया शीतलप्रसाद ने। परन्तु यह सत्शूद्र कहते हैं। वह यह चण्डाल आदि नहीं। सत्शूद्र का अर्थ ऐसा कुछ सुना हुआ है कि जैसे माली हो, लुहार हो, वे सब शूद्र तो हैं परन्तु सत्शूद्र हैं। उन्हें मुनिपना हो सकता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का, लोगों को कहाँ निवृत्ति!

अन्तर आत्मा में व्रत और भक्ति, पूजा, दान का विकल्प जो है, वह भी मुक्ति का कारण नहीं, वहाँ और देह का लिंग मुक्ति का कारण है, ऐसा नहीं, तथापि उस जाति के आग्रह को यहाँ छुड़ाया है। वह जाति ही हो और दूसरी जाति न हो, यह तो सिद्ध है। आहाहा! समझ में आया? 'जाति वेश का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय।' ऐसा अर्थ किया था तब (संवत्) १९९५ में। राजकोट (में) कि भाई! कहा जो मार्ग हो तो जो जाति और वेश हो, वही होता है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु जाति वेश का... चाहे जिस जाति और चाहे जो वेश हो और मुनि तथा केवल(ज्ञान) पा सके, ऐसा वीतराग का आशय नहीं है। आहाहा! ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा का यह अभिप्राय नहीं है। समझ में आया? लोग कहाँ-कहाँ अटके हैं, यह सब बात समाधि... समाधि। समाधि की पूर्णता की प्राप्ति वह वैश्य को (हो सकती है)। यह वैश्य वह तीर्थंकर नहीं हो सकता। समझ में आया? तीर्थंकर तो क्षत्रिय ही होते हैं।

मुमुक्षु : भगवान में भी जाति आड़े आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाति नहीं, इस प्रकार की योग्यता ही होती है। आहाहा! वहाँ भी कहते हैं न श्वेताम्बर में। भगवती (सूत्र) और आचारांग में? कि भगवान महावीर पहले ब्राह्मणी के गर्भ में आये। ८२ दिन रहे। इन्द्र को खबर पड़ी कि यह तो ठीक नहीं कहलायेगा। ८२ दिन में फिर गर्भ बदला और त्रिशला के गर्भ में रखा। सब कल्पनायें हैं। यह शास्त्र में कल्पनाओं से सब शास्त्र बाँधे हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात कठिन पड़े लोगों को। शशीभाई! तुम्हारे तो वहाँ कहाँ थे? तुम तो वैष्णव थे। वाडा में बँधे हुए हों उसे कठिन। कि भगवान उत्तराध्ययन में ऐसा कहते हैं न। हरिकेशी मुनि थे। उत्तराध्ययन तो भगवान का कहा हुआ है। और ऐसा कहते हैं। वह उत्तराध्ययन यह नहीं। भगवान ने उत्तराध्ययन कहा अवश्य है, परन्तु यह जो श्वेताम्बर मानते हैं, वह नहीं। उत्तराध्ययन कहा है, दश वैकालिक कहा है, भगवान ने कहा है, उसमें और ऐसा आवे अन्तिम स्थिति हाँ, ऐसा... समाधिमरण की तैयारी है मोक्ष की। तब उत्तराध्ययन फरमाया है, ऐसा कहे। उत्तर अध्ययन है न? उसका कुछ नहीं। आहाहा! यह उत्तराध्ययन का कथन करनेवाले यह सम्यग्दृष्टि नहीं। समझ में आया? ऐई... जेठाभाई! सब शून्य

लगाना पड़े, यह तो भारी। आहाहा! श्रीमद् में तो उत्तराध्ययन की बहुत शिक्षा आती है। शुरुआत में उत्तराध्ययन, शुरुआत में आता है। फिर अन्त में तो सत्सूत्र को दिगम्बर के ही सत्सूत्र १९ के नाम दिये हैं। २०वाँ कोई श्वेताम्बर का शास्त्र नहीं, परन्तु एक ग्रन्थ है हरिभद्र का। उसका नाम दिया है। षट्द्रव्यसंग्रह। वह तो ग्रन्थ। परन्तु यह बात पहले के लिखे हुए लेखों की अपेक्षा से छोड़ देना और यह मानना जगत को कठिन पड़ता है। आहाहा! क्योंकि १९ सूत्र में मोक्षमार्ग(प्रकाशक) को मान्य रखा, अष्टपाहुड़ को मान्य रखा है, प्रवचनसार को मान्य रखा है, समयसार को मान्य रखा है। प्रवचनसार।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य को मान्य रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुन्दकुन्दाचार्य को मान्य रखा है। कुन्दकुन्दाचार्य कहे 'जन्मे प्रमाणे रूप भासित।' भगवान ऐसा कहते हैं कि जैसा माता ने जन्म दिया, वैसा दीक्षा में मुनि का लिंग होता है। आहाहा! यहाँ तो वस्त्र-पात्र के स्थापना के ढ़ेर उत्तराध्ययन में हैं। दशवैकालिक में हैं। आहाहा! बहुत कठिन बातें लोगों को। यह वीतराग के वचन नहीं, यह समकिती के वचन नहीं। सर्वज्ञ के अभिप्राय से विरुद्ध यह समकिती के वाक्य कैसे हो सकते हैं? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि ब्राह्मण आदि। अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय। तीन देहाश्रित है। और उन्हें ही मुनिपना तथा केवलज्ञान हो सकता है। दूसरे को नहीं हो सकता। आहाहा! **इत्यादि अर्थ सुगम है।** ऐसी टीका की ही नहीं। टीकाकार ने संक्षिप्त अर्थ कर डाला है। क्योंकि पहले आ गया है न जाति का। इस प्रमाण इस लिंग का जाति में ले लेना।

स्पष्टीकरण **भावार्थ - लिङ्ग की तरह जाति भी...** लिंग जैसे नग्नपना होता है, वैसे जाति भी बनिया की, ब्राह्मण की और क्षत्रिय की। वह भी है देहाश्रित। **और देह में आत्मबुद्धि, वह संसार है;...** आहाहा! जाति से मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, ऐसी जो मान्यता है वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। अभी तो ऐसी गड़बड़ हो गयी है न! उसमें से सत्य को छाँटकर यथार्थ दृष्टि करना,

(वह) बहुत कठिन बात है, बापू! यह तो मार्ग परमात्मा, तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान महाविदेह में फरमाते हैं, वह यह मार्ग है। आहाहा!

जिसमें द्रौपदी को पाँच पति सिद्ध करे, जिसमें भगवान के माता-पिता पहले ब्राह्मण सिद्ध करे और फिर पिछली रात के बाद त्रिशला माता और वह सिद्धार्थ राजा पिता, वे कल्पित पिता। वास्तविक पिता तो वह था। बहुत पूर्वापर विरोध बातें श्वेताम्बर शास्त्र में है। उसे तो जगत को अनुकूल के लिये एक सम्प्रदाय बाँधने को शास्त्र रच डाले। स्त्रीलिंग से भी मुनिपना नहीं होता तो उसने स्त्री के लिंग से केवल(ज्ञान) होता है, ऐसा सिद्ध कर दिया। तीर्थंकर मल्लिनाथ जैसे! आहाहा! यह क्या है? तीन लोक के नाथ तीर्थंकर उन्हें पूजनेवाले इन्द्र स्त्री नहीं होते। बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती या इन्द्र, वह स्त्री नहीं होते और यह तीर्थंकर स्त्री! बहुत फेरफार कर डाला भगवान के नाम से। वे यह बेचारे उलझन में। वाडा में पड़े हैं। यह तो भगवान के शास्त्र हैं। उसमें अपने शंका नहीं होती। आहाहा!

कहते हैं कि जैसे लिंग स्त्री का लिंग या मुनि नग्न के अतिरिक्त लिंग और नग्नपने का लिंग वह पुरुष का लिंग, वह देहाश्रित है। उससे केवल(ज्ञान) होता है और मुक्ति होती है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **और देह में आत्मबुद्धि, वह संसार है; इसलिए जो मुक्ति के लिए जाति का आग्रह रखते हैं...** आग्रह रखते हैं। **जाति को ही मुक्ति का मूल मानते हैं, वे भी संसार से नहीं छूटते, क्योंकि वे संसार के आग्रही हैं।** इसलिए चाहे जो जाति और चाहे जिस लिंग से केवल(ज्ञान) हो, ऐसा कहने का आशय नहीं है यहाँ। यह जाति है देहाश्रित है। इसके आश्रय से वह केवल(ज्ञान) हो और यह मेरा मानकर... मुनिपना भी नहीं होगा। चण्डाल का देह, उसे मुनि (साबित करे), उसे दूसरे वन्दन किस प्रकार करें? उसे आहार किस प्रकार दें? समझ में आया? आहाहा! और वह नग्न जाये किस प्रकार? किसके घर में जाये और क्या?

वीतरागमार्ग में तो कहते हैं कि जाति तो हो, वही होती है। ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य लिंग हो वह ही होता है नग्न, परन्तु तो भी वह जाति और वह लिंग मुक्ति का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में कही है, उस अनुसार नियम से होती है;... स्पष्टीकरण किया है न बाद में? **जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में...** नग्न, जन्मे प्रमाणरूप भासित। आहाहा! जैसा बालक माता ने उसे जन्म दिया, वैसी ही उसकी देह की नग्नदशा। आहाहा! और लिंग तो वही होता है। आहाहा! परन्तु उस लिंग से मुनिपना प्राप्त हो, उस लिंग से केवल(ज्ञान) हो, उस आग्रह का यहाँ निषेध कराया है। सेठ! आहाहा! ऐसी बात है।

जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में कही है,... वह लिंग कहा था न? वह यहाँ जाति में डाला। **उस अनुसार नियम से होती है;...** निश्चय से वही जाति होती है। उससे विरुद्ध जाति भावलिंगी मुनि को नहीं होती। भावलिंगी जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई दशा, ऐसे भावलिंगी मुनि को चाहे जो जाति हो, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? कहो, कान्तिभाई! देखो, इसका बहुत आग्रह करते हैं श्रीमद् के भक्त। वे भगवान(दास) है न भगवान? वे ववाणिया में बहुत लोग 'जाति वेश का भेद नहीं कहा मार्ग जो होय।' लोग प्रसन्न हो कि आहाहा!

'कहा मार्ग जो होय तो जाति वेश होय वह होय। भेद न होय।' ऐसा अर्थ किया था। (संवत्) १९९५ में, सभा में। राजकोट सभा में। भगवान ने कहा हुआ मार्ग जो हो, आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसे तो जो लिंग और जो जाति हो , वही होता है। आहाहा! जाति चाहे जो हो और वेश चाहे जो हो और केवल (ज्ञान) तथा मुक्तिपना पावे, वीतराग के अभिप्राय में यह नहीं है। आहाहा! समझ में आया? एक भी न्याय बदले, वह शास्त्र नहीं कहलाता। शास्त्र तो उसे कहते हैं कि जिसमें त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त सिद्ध हों, उसे शास्त्र कहते हैं। आहाहा! ऐई!

आत्मसिद्धि शास्त्र नाम भले दिया, परन्तु वह सिद्धान्तरूप से मान्य नहीं रहे। कहो, प्रवीणभाई! केवली छद्मस्थ का विनय करे, चाहे जिस जाति, वेश में केवल(ज्ञान) हो, अत्यन्त सत्य से विरुद्ध है। उसे सिद्धान्त कैसे कहा जाये? उसे शास्त्र कैसे कहा जाये? ऐई..! ऐसी बात है। बहुत कठोर बात पड़े, बापू! यह एक बार रामजीभाई ने कहा था। भाई! इस आत्मसिद्धि शास्त्र को शास्त्र कैसे कहना? सिद्धान्त किस प्रकार

कहना? क्योंकि सिद्धान्त के बोल से तो इसमें तत्त्व विरुद्ध है, इसे सिद्धान्त कैसे कहा जाये? शास्त्र कैसे कहा जाये? शास्त्र तो, एक भी वचन सर्वज्ञ के मार्ग से विरुद्ध नहीं होता, ऐसा जो मार्ग है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। आहाहा! बहुत कठिन।

पक्ष में से छूटना, बाँधा हुआ, माना हुआ पक्ष है, उसमें से छूटना भारी कठिन काम। अनन्त काल में ऐसे का ऐसे विपरीत आग्रह में पकड़कर मान लिया है कि यह सच्चा है। वह यहाँ कहते हैं। नियमा से जाति और वेश होता ही है। नियमा अर्थात् समझ में आया? निश्चय से। निश्चय से वही होता है। आहाहा! परन्तु वह नग्नपना है इसलिए यहाँ मुनिपना है, ऐसा नहीं है। ऐसे नग्नपना तो अनन्त बार धारण किये, वह नग्न हुए और पंच महाव्रत के परिणाम कदाचित् हुए, इसलिए वह मुनिपना—ऐसा नहीं है। आहाहा!

जिसे अन्तर आत्मा के अवलम्बन से दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्दर हुए हैं, उसे तो वह पंच महाव्रत के विकल्प ही होते हैं और लिंग भी नग्न ही होता है और जाति भी वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होती है। तथापि उस वेश और विकल्प से मुक्ति होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसे मूलगुण कहना। व्यवहार से अट्ठाईस मूलगुण मुनि के। श्वेताम्बर में २७ कहते हैं। वे दूसरे, हों! यह अट्ठाईस दूसरे और (श्वेताम्बर के) सत्ताईस दूसरे। सत्ताईस में एक बढ़ाकर अट्ठाईस, ऐसा नहीं। स्थानकवासी में, श्वेताम्बर में, मन्दिरमार्गी साधु के सत्ताईस गुण। यह सब गड़बड़ी बातें सब।

यहाँ तो अट्ठाईस मूलगुण जिसे कहा, उसमें जिसका ठिकाना नहीं, उसे तो निश्चय और व्यवहार सच्चा हो ही नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। परन्तु जिसे निश्चय प्रगट हुआ है भगवान के आश्रय से, चैतन्य परमात्मा स्वयं स्वरूप से विराजमान, उसे जिसने दृष्टि में पचाया है, ज्ञान में उसे ज्ञेय बनाकर जाना है, स्थिरता से स्वरूप में स्थिरता-रमणता की है, ऐसे मुनि को भी पंच महाव्रत के विकल्प और लिंग नग्न मुक्ति का कारण नहीं। दास! ऐई... चिमनभाई! सब ऐसा है। वह तो यह सोनगढ़ में चलता है। विवाद करे, वाडा बाँधकर बैठे। आहाहा! क्या हो? प्रभु का मार्ग वह लुट गया है। मार्ग तो मार्ग है परन्तु दृष्टि में विपरीतता से नोंच डाला है। आहाहा!

कहते हैं, **जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में कही है, उस अनुसार नियम से होती है; उससे विरुद्ध जाति, भावलिङ्गी मुनि को नहीं होती। उस जाति से या उस ओर के झुकाव से अथवा विकल्प से मोक्ष नहीं होता,...** आहाहा! समझ में आया? यह जाति की ओर के... जाति से कि उस ओर के झुकाव का विकल्प और नग्नपना है, ऐसा विकल्प और पंच महाव्रत का विकल्प, उससे मोक्ष और मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! अभी कोई कहता नहीं था तुम्हारा सुमतिसागर। यहाँ आये थे वे? आये थे वे। अभी कलोल में बहुत निमित्त से स्थापित किया, कहे। कहाँ गये आत्माराम? कहा न? क्या कहा?

मुमुक्षु : लकड़ी बिना-टेका बिना...

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी बिना-टेका बिना चला जाता होगा? पंगु व्यक्ति लकड़ी बिना चले? तो लकड़ी का कारण है न चलने में? चश्मा बिना देखा जा सकता है? वह जो चन्द्रशेखर कहता था, वह हो गया। लींबड़ी में चन्द्रशेखर। श्वेताम्बर आचार्य। रामविजय का शिष्य। उसका भतीजा-जीवप्रताप का। वहाँ आया था न, लींबड़ी आया था। वह कहे, हम विचार करेंगे चर्चा का। मैंने कहा, भाई! हम विचार-चर्चा... तुम थे? तुम थे वहाँ? हाँ थे। भाई! हम किसी के साथ चर्चा नहीं करते। अरे! तुम्हारा नाम कैसा, उसमें चर्चा से इनकार करो, यह तुम्हारी कितनी हीनता होगी बाहर में? और मैं भले सिंह नहीं परन्तु सिंह का बच्चा तो हूँ। ऐसा कहा। भाई! मैं सिंह भी कहाँ कहता हूँ और बच्चा किसे कहा? ऐसा कहा था न? फिर अन्त में बात करते-करते बापू! हम तो किसी के साथ चर्चा करते नहीं। वाद-विवाद कुछ नहीं।

पश्चात् कहे, देखो! इस चश्मे के बिना ज्ञान होता है? आ गयी कहा, चर्चा अब सब। हो गयी चर्चा। चश्मे के बिना ज्ञान होता है? इस चश्मे के बिना नहीं ज्ञात होता, परन्तु ज्ञात होता है दूसरा न? यह दूसरा ज्ञात होता है, उस समय उसका वह काल है। आहाहा! चश्मे के काल में भी जानने की पर्याय अपनी है, उससे जानता है। चश्मे से नहीं। यह बात कैसे बैठे जगत को? पंगु, ऐसा कहे, लकड़ी के आधार बिना चल सकता है? हमारे जीवराजजी अभी दो लकड़ी रखते हैं, लो। थोड़ा सा इतना चलना

पड़े न जरा। पैर में बराबर (ठीक) नहीं अभी। फिर रामजीभाई ने कराया उन्हें मौसम्बी का पानी। पहले कराया था न तुमने? हम नहीं थे तब। तो अभी चल नहीं सकते, चल नहीं सकते। वहाँ चले थोड़ा तो दो लकड़ी से। सहनशील बहुत, हों! थोड़ा-बहुत हो तब तो बतावे नहीं, ऐसा है। परन्तु जब कुछ न चले, तब कहे भाई! आज मैं विद्यालय आ नहीं सकूँगा। दो लकड़ी से चलते हैं या नहीं? उसके कारण चलते हैं या नहीं? सहारा! निमित्त ने काम नहीं किया चलाने का? ऐसे दो लकड़ी से सहारा। एक लकड़ी से चले तो ऐसे हिल जायें। यह रामजीभाई आते हैं देखो न एक ओर लकड़ी तथा एक ओर आदमी। वह बटुक...

मुमुक्षु : उसका हाथ पकड़कर।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथ पकड़कर। खबर है न यहाँ दिखता है। परन्तु वह हाथ पकड़ा इतनी मदद हुई या नहीं चलने में? निमित्त ने चलने में मदद की नहीं, तो रखा किसलिए? जेठाभाई! आहाहा! रखे कौन, बापू? वह अँगुली में अँगुली से लकड़ी पकड़ी है, यह बात भी सच्ची नहीं। लकड़ी लकड़ी के पर्याय से वहाँ परिणम रही है। उस लकड़ी की उस पर्याय का उसका जन्मक्षण वह उत्पत्ति का काल है, उस प्रकार से वहाँ पर्याय के कारण से हुई है और देह के हिलने की क्रिया भी उसके उस काल का जन्मक्षण वह चलने की पर्याय, उसके कारण से चलता है। लकड़ी के कारण से नहीं। गजब बात भाई! यह सब विवाद जगत के।

हो निमित्त होता है, उससे किसने इनकार किया? परन्तु उससे यहाँ काम होता है? निमित्त में भी पर्याय की उत्पाद-व्ययता है या नहीं? और यहाँ जो है, उसमें भी उत्पाद-व्यय है या नहीं? तो वह उत्पाद-व्यय उसमें उसके कारण से यहाँ उत्पाद-व्यय हुआ? तो उसका अपना उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् एक समय का कहाँ गया? आहाहा! उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्तं सत्। सत्द्रव्य लक्षणं। तो वह प्रत्येक पर्याय से उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना उसके एक समय में तीन है। वह स्वयं से है, पर से नहीं। आहाहा! गजब! तो फिर यह भगवान के दर्शन किसलिए करते हो? यदि इससे नहीं होता हो तो। ऐई... सुजानमलजी! भाई गये? हैं? बैठे हैं? इनके पुत्र आये हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा मुश्किल से समझ में आये। कभी सुनने का ठिकाना नहीं होता। फिर कमाना न! इनका पुत्र आया है। नौकरी है, बड़ी नौकरी है। वह कौने बैठा। आहाहा! ऐसी बातें सुनना मुश्किल पड़े। और सुनने को मिले नहीं और नयी जैसी लगे कि यह क्या कहते हैं परन्तु यह? ऐसा तो कहीं? बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि लिंग और जाति तो जो हो, वही निश्चय से होती है, परन्तु उसके आश्रय से लाभ हो धर्म का, (ऐसा नहीं)। आहाहा! संहनन जब केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब संहनन तो पहला ही होता है उसे, परन्तु उस संहनन के कारण से यहाँ केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान उत्पत्ति का उसका जन्मक्षण था आत्मा में, उस काल में केवलज्ञान होता है। संहनन के कारण नहीं, मनुष्य के कारण नहीं। आहाहा! बड़े झगड़े चार-पाँच। सोनगढ़ के सामने। एक उपादान-निमित्त, एक निश्चय-व्यवहार और एक क्रमबद्ध। आहाहा! कहाँ अटका जीव? कहाँ अभी... अभी... बाहर की सत्यता के नियम में अटकता है, उसे अन्तर में जाने का प्रसंग कब आवे उसे? आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : निमित्ताधीन बुद्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ निमित्ताधीन बुद्धि है। आहाहा! भाई ने लिखा नहीं है? फूलचन्दजी ने लिखा है जैनतत्त्वमीमांसा में, कि कोई ऐसा कहे कि जीव तो ज्ञाता-दृष्टा है और निमित्त के आधीन होता है, ऐसा माने, उसे ज्ञाता-दृष्टापने की बात ही सच्ची नहीं। जैनतत्त्वमीमांसा में लिखा है। समझ में आया? निमित्त से होता है, ऐसा माननेवाले... वह तो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, परन्तु तू यह कहाँ से लाया? निमित्त कहाँ ज्ञातादृष्टापना आवे? यह तो तूने माना है। कर्म हटे तो यहाँ ज्ञाता-दृष्टापना हो, ऐसा तो तूने माना, (तो) ज्ञाता-दृष्टा कहाँ रहा वह? आहाहा!

सत्य को समझने के लिये इसे बहुत आग्रह छोड़ देने पड़ेंगे। अरे.. ऐसा अवसर कब मिलेगा? भाई! आँख बन्द होकर चला जायेगा। आहाहा! किसी को इज्जत प्राप्त

करनी होगी बाहर में, गजब तुम्हारी बात सच्ची, हों! यह व्यवहार से होता है, निमित्त से होता है। ऐसी बात बहुत अच्छी। इसलिए वहाँ मरते वहाँ गिरवी रखी जाती है इज्जत? आहाहा! लोग बहुत प्रसन्न हो, इससे इसे–जीव को लाभ होगा? आहाहा! जिसे इस जाति और इस लिंग से हमको... उसमें यह कहा है न? यह आगे कहेंगे। समयसार का कहेंगे आगे। बाद की गाथा में।

अपितु राग उत्पन्न होता है;... आहाहा! यह ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय की जाति होती है, तथापि उसके लक्ष्य से तो राग ही उत्पन्न होता है। आहाहा! राग, वह परद्रव्य है। परद्रव्य के आश्रय में लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है। उसके लक्ष्य से केवल(ज्ञान) हो और मुनिपना हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इसलिए उस ओर का झुकाव छोड़कर, आत्मसन्मुख होकर,...** भगवान परमात्मस्वरूप विराजता है आत्मा, उसके सन्मुख होकर, निमित्त और विकल्प से विमुख होकर। आहाहा! उसमें लीन होने से मोक्ष होता है। **ऐसा इस श्लोक से समझना चाहिए।**

श्लोक - ८९

तर्हि ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्ति प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह -

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तऽपि न प्राप्तनुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥ ८९॥

जातिलिंगरूपोविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंग मुक्तहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्ति-रित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥८९॥

तब तो ब्राह्मणादि जाति विशिष्ट, निर्वाणादि की दीक्षा से दीक्षित होकर, मुक्ति-प्राप्त कर सकते हैं — ऐसा बोलनेवाले के प्रति कहते हैं —

जाति-लिङ्ग से मोक्षपद, आगम-आग्रह वान।
नहीं पावे वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण॥ ८९॥

_अन्वयार्थ_ - (येषां) जिन्हें (जातिलिंग-विकल्पेन) जाति और लिङ्ग के विकल्प से मुक्ति होती है—ऐसा (समयाग्रहः) आगमसम्बन्धी आग्रह है, (ते अपि) वे भी (आत्मनः) आत्मा के (परमं पदं) परमपद को (न प्राप्नुवन्ति एव) प्राप्त नहीं कर सकते हैं-संसार से मुक्त हो नहीं सकते हैं।

_टीका_ - जाति और लिङ्गरूप विकल्प अर्थात् भेद—उससे जो शैवादि को समय का आग्रह अर्थात् आगम का आग्रह है अर्थात् उत्तम जातिविशिष्ट लिङ्ग ही मुक्ति का कारण है—ऐसा आगम में प्रतिपादन किया है; इसलिए उसमात्र से ही मुक्ति है—ऐसा जिनको आगम का अभिनिवेश (आग्रह) है, वे भी आत्मा के परमपद को प्राप्त कर ही नहीं सकते।

भावार्थ* - *जाति और लिङ्ग, दोनों देहाश्रित हैं, उनकी ओर के विकल्प से राग होता है और राग, संसार है; इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि आगम में, जाति और लिङ्ग से मोक्ष होता है—ऐसा प्रतिपादन किया है, वे हठाग्रही हैं और आगम के स्वरूप से अत्यन्त अज्ञात हैं। वीतरागी आगम तो कहता है कि वीतरागता से ही मोक्ष की प्राप्ति

होती है और वीतरागता होने पर बाह्यलिङ्गादि होते अवश्य हैं परन्तु उनके आश्रय से मोक्ष नहीं होता; न उनके विकल्प से मोक्ष होता है। जाति-लिङ्ग और उस सम्बन्धी विकल्प से मोक्ष होता है—ऐसा माननेवाला समयाग्रही है; समय का जानकार नहीं है।

विशेष स्पष्टीकरण -

लिङ्ग, मोक्ष का सच्चा कारण नहीं है। इसका प्रतिपादन करते हुए श्री कुन्दाकुन्दाचार्य ने श्री समयसार में कहा है कि —

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥४०८॥

ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति॥४०९॥

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥४१३॥

अर्थात्, ''बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों का अथवा गृहीलिङ्गों को ग्रहण करके, मूढ़ (अज्ञानी) जन ऐसा कहते हैं कि 'यह (बाह्य) लिङ्ग, मोक्षमार्ग है' परन्तु लिङ्ग, मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए, लिङ्ग को छोड़कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।

जो बहुत प्रकार के मुनि लिङ्गों में अथवा गृहस्थ लिङ्गों में ममता करते हैं, (अर्थात् द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षप्रदाता है—ऐसा मानते हैं), उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

जो, वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ'—इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे 'अनादिरूढ़' (अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ़ (मोही) वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़ वर्तते हुए, परमार्थ सत्य (जो परमार्थ-सत्यार्थ है—ऐसे) भगवान समयसार को देखते-अनुभवते नहीं हैं।''॥८९॥

श्लोक - ८९ पर प्रवचन

तब तो ब्राह्मणादि जाति विशिष्ट, निर्वाणादि की दीक्षा से दीक्षित होकर, मुक्ति-प्राप्त कर सकते हैं—ऐसा बोलनेवाले के प्रति कहते हैं — ब्राह्मण और वैश्य और क्षत्रिय। जाति खास। उसके निर्वाण से, दीक्षा से निर्वाणादि की दीक्षा से दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, उसके सामने बात है। **जातिलिंगविकल्पेन...** भाषा देखो, स्पष्टीकरण किया यहाँ।

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तऽपि न प्राप्तनुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥ ८९॥

जाति-लिङ्ग से मोक्षपद, आगम-आग्रह वान।
नहीं पावे वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण॥ ८९॥

यह शब्द आया है न आगम में? कि जिस आगम में इस जाति से और इस लिंग से ही मुक्ति होगी, (ऐसा आवे), उस आगम को आगम कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? पाठ है न? '**समयाग्रहः**'? जाति, लिंग में जिसका आग्रह होता है सिद्धान्त, कि वैश्य से मुनिपना होगा, क्षत्रिय से ही मुनिपना होगा, या ब्राह्मण हो उसे ही केवलज्ञान होगा, ऐसा जिसे आगम में आग्रह हो। आग्रह। जिसे आगम का ऐसा आग्रह हो, ऐसा। इस वेश से होगा, लिंग से होगा, वह तो बराबर है परन्तु उससे यहाँ केवलज्ञान होगा, ऐसा जिसका आग्रह है। आहाहा! वह भी परमपद को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

जहाँ महाव्रत का विकल्प भी एक आस्रव का वेश, आस्रव का परिणाम है। यहाँ तो लोग महाव्रत पाले, वह धर्म है और संवर है और सुननेवाले बेचारे साधारण, उसमें महिलायें तो साधारण हों। जय नारायण। यह कुछ कहते हैं, वह ठीक कहते हैं। पंच महाव्रत के परिणाम संवर हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य, वह धर्म है। वे कहें हाँ। प्रमाण वाक्यं।

मुमुक्षु : गुरु कहीं खोटा कहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा।

यहाँ कहते हैं कि पंच महाव्रत के भाव हैं, वह तो विकल्प-राग है। जिसे पंच महाव्रत... यह अभी तो कहाँ ठिकाना है? आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चय सच्चा और व्यवहार खोटा?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार खोटा, सब खोटा है। बहुत कठोर बात। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ के आगम में यह बात (कि) इससे मुक्ति होगी या धर्म होगा, ऐसा उनके आगम में नहीं है। जिस आगम में यह कहा हो, वह आगम नहीं है। आहाहा!

टीका - जाति और लिङ्गरूप विकल्प... भाषा ऐसी की है। देखा! जाति, लिंग के दो श्लोक रखे हैं। परन्तु उसका विकल्प **अर्थात् भेद—उससे जो शैवादि को समय का आग्रह...** है। शैवमतवाले को। बस ऐसा ही वेश होता है। शैवमत में आता है न बाबा का वेश? एक लकड़ी डण्डी, ऊपर ऐसा।

मुमुक्षु : ओघो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहे ओघो हो हमारे, रजोरणो हो, मुँहपत्ती हो। यह हमारे धर्म के चिह्न हैं। यह धर्म के व्यवहार चिह्न का निषेध है यहाँ तो उसका। आहाहा!

उपकरण लिये हैं तो ये लिये हैं, नहीं? प्रवचनसार में। भाई! विनय। गुरु का विनय करना विकल्प, वह उपकरण है। आहाहा! राग है न? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! अरे! ऐसे मनुष्यपने का सत्य का ज्ञान नहीं किया। कहीं इसका अन्त नहीं आयेगा, भाई! यह चाहे जैसे महाव्रत पालन करे, ऐसा कहे। है तो कहाँ? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता, वहाँ महाव्रत का ठिकाना हो ही कहाँ से? आहाहा! परन्तु उसके माने हुए (हों) जरा (कि) यह स्त्री-पुत्र छोड़कर वेश पहनकर बैठा इसलिए मानो हो गये हम साधु। आहाहा! हम पंच महाव्रतधारी, छह काय के रक्षक। लिखते हैं न वह संवत्सरी के पत्र में नहीं? थे कब बापू तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : छह काय में स्वयं है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : छह काय के कुटाई से तो बचे हैं, ऐसा कहते हैं। परन्तु तू एक

आत्मा है या नहीं? इस आत्मा को राग से लाभ हो तो कुटाई तेरी कुटाई की तूने। आहाहा! यह पंच महाव्रत के विकल्प से या जाति और लिंग के विकल्प से आत्मा को लाभ हो, (ऐसा माने) वह तो तूने आत्मा की हिंसा की। आहाहा! कठिन बातें, भाई! लिंग और जाति जो हो, वह होती है, तथापि उसके लक्ष्य से विकल्प होता है और उसके लक्ष्य से आत्मा का कल्याण होता, कितने बोल कहना? इसलिए आगम का जिसे आग्रह है। उत्तम जाति विशिष्ट लिंग। उत्तम जाति खास, उसे उत्तम लिंग, वही मुक्ति का कारण है, ऐसा आगम में प्रतिपादन किया है, इसलिए उस मात्र से ही मुक्ति है, ऐसा जिनका आगम का आग्रह है, **वे भी आत्मा के परमपद को प्राप्त कर ही नहीं सकते।** आहाहा! दृष्टि ही मिथ्या है। नग्नपने से लाभ होगा, पंच महाव्रत के विकल्प से धर्म और लाभ होगा। वैश्यपना, क्षत्रियपना है, इसलिए उससे आत्मा को समकित होगा और लाभ होगा। यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! मिथ्यात्व भाव के पहलू बहुत हैं।

भावार्थ - जाति और लिङ्ग,... जाति अर्थात् वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय। लिंग अर्थात् नग्नपना, पंच महाव्रत आदि **दोनों देहाश्रित हैं।** वह तो पराधीन है। **उनकी ओर के विकल्प से...** ओहोहो! राग होता है। और वह राग संसार है। पहली दो गाथाओं में आया न कि देह, वह संसार है; देह वह भव है – ऐसा आया था पाठ में। यहाँ कहा कि भाई! देह भव है, इसका अर्थ? कि देह के आश्रित जो विकल्प उठा, वह स्वयं संसार है। देह तो जड़ है। देह तो जड़ है। संसार वहाँ उसमें नहीं होता। परन्तु उसके आश्रय से जो विकल्प उठता है, राग होता है, वह संसार है। आहाहा! संसार की पर्याय जीव की दशा में होती है, संसार जड़ में नहीं होता। पाठ तो ऐसा था, लो पहला। देहभव, ऐसा था न दोनों में? '**देह एव आत्मानो भवः**' और वह संसार है। आहाहा! संसार है न? संस्कृत में आया है। '**लिंगं जटाधारणनग्नतत्वादिदेहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। देह एवात्मनो भवः संसारः।**' '**देह एवात्मनो भवः संसार**' देखा? '**देह एवात्मनो भवः संसार**' आहाहा!

इसी प्रकार जाति संसार, ऐसा लेना। आहाहा! भगवान आत्मा वीतरागी मूर्ति

प्रभु, यह उसकी जाति है, परन्तु यह बात बहुत कठिन पड़े। बाहर से फाफां मारे फिर। अनन्त काल बीता उसे चौरासी के अवतार कर-करके। नरक के, निगोद के। आहाहा! द्रव्यलिंग धारण करके नग्नपना और जगत में कोई क्षेत्र-काल बाकी नहीं रखा कि जिसमें अनन्त बार जन्मा और मरा न हो। नग्नपना धारण करके भी अन्तर आत्मा के स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना ऐसा कोई क्षेत्र-काल नहीं कि जहाँ अनन्त बार जन्मा और मरा न हो। द्रव्यलिंग होने पर भी। आहाहा! लिंगपाहुड़ में बहुत लिया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने। भले नग्नपना, वह लिंग हो परन्तु वह लिंग वास्तव में धर्म का कारण नहीं।

मुमुक्षु : पंचम काल में तो अकेले लिंग से ही धर्म होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल हो या चौथा हो। हलुवा तो तीन से बनता है— गुड़, आटा और घी। या पंचम काल में कहीं पेशाब डालकर हलुवा बनता होगा? चौथे काल में घी डालकर बनता होगा? ऐसा होगा? पानी डाले, अभी घी नहीं न! ऐसे हलुवा होता होगा? सेठ! हलुवा कहाँ हल्का। उसकी मिठास में भले अन्तर हो परन्तु वस्तु में कोई अन्तर नहीं हो सकता। भले घी न डाले, कोई तेल डाले। गरीब व्यक्ति हो, हलुवा बनाना हो, तेल डाले, आटा तेल में सेंके और फिर गुड़ का पानी डाले, ऐसे बनावे। ऐसे बनता है। हल्का व्यक्ति हो बेचारा पैसा कहाँ था साधारण मनुष्य को तो? आहाहा! तेल बिना पानी में आटा सेंककर हलुवा होता होगा? पंचम काल है न?

भावार्थ - जाति और लिङ्ग, दोनों देहाश्रित हैं, उनकी ओर के विकल्प से राग होता है और राग, संसार है; इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि आगम में, जाति और लिङ्ग से मोक्ष होता है—ऐसा प्रतिपादन किया है, वे हठाग्रही हैं... आहाहा! वह आगम के स्वरूप से अत्यन्त अज्ञात है। वीतरागी आगम तो कहता है, वीतरागी शास्त्र और सिद्धान्त ऐसा कहते हैं कि वीतरागता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जाति और लिंग से नहीं होती। आहाहा! बापू! मोक्ष अर्थात् क्या? आहाहा! जो अनन्त-अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन। आहाहा! पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट परिणमन, उसका नाम मोक्ष। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिये अतीन्द्रिय भगवान आत्मा

जो है, वह अणीन्द्रिय है। उसके आश्रय से जो अतीन्द्रिय मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है, उसके फलरूप से अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति-मुक्ति होती है। आहाहा! चौरासी के अवतार दु:खी-दु:खी होकर भटकता है। इसने आत्मा की दया नहीं की। अपनी दया नहीं की। पर की दया पालूँ और उसमें से यह हो। (ऐसा माना है)।

कहते हैं कि **वीतरागी आगम तो कहता है कि वीतरागता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है...** भगवान आत्मा जिनस्वरूप विराजमान चैतन्यमूर्ति प्रतिमा है। उसके ध्येय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वह वीतरागी पर्याय है। वीतरागस्वभाव जो आत्मा का, उसके आश्रय से पर्याय हो, अबन्धस्वरूपी भगवान के आश्रय से जो अबन्ध परिणाम हों, वह वीतरागभाव है। समझ में आया?

और वीतरागता होने पर बाह्यलिङ्गादि होते अवश्य हैं... अन्तर वीतरागदशा; सम्यग्दर्शन, वह भी वीतरागी पर्याय है। सम्यग्ज्ञान, वह भी वीतरागी पर्याय है; सम्यक् चारित्र वह भी वीतरागी चारित्रदशा है। ऐसा मोक्ष (मार्ग) होने पर उसे बाह्य लिंग, जाति आदि होते अवश्य हैं, परन्तु उनके आश्रय से मोक्ष नहीं होता। आहाहा! उसमें ऐसा कि लकड़ी (के) सहारे बिना चले? चश्मा बिना ज्ञान हो? इसी प्रकार नग्नपने के लिंग बिना आत्मा का कल्याण हो? आहाहा! जीव कहाँ अटकता है? इसकी उसे खबर नहीं पड़ती। मैं कहाँ भूल करता हूँ, परिभ्रमण के कारण की? इसकी उसे खबर नहीं है।

उनके आश्रय से मोक्ष नहीं होता;... आहाहा! जाति और लिंग हो। परन्तु उसके विकल्प से भी जहाँ कल्याण नहीं होता। आहाहा! **जाति-लिङ्ग और उस सम्बन्धी विकल्प से मोक्ष होता है—ऐसा माननेवाला समयाग्रही है;...** सिद्धान्त के जानकर नहीं। वे सिद्धान्त के आग्रही माननेवाले हैं। आहाहा! समझ में आया?

विशेष - लिङ्ग, मोक्ष का सच्चा कारण नहीं है। इसका प्रतिपादन करते हुए श्री कुन्दाकुन्दाचार्य ने श्री समयसार में कहा है कि — ४०८ गाथा। ४०९, ४१३ गाथा का आधार दिया है। **बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों का अथवा गृहीलिङ्गों को...** गृहस्थी हो न, श्रावक क्षुल्लक। वह एक लंगोटी हो एक लंगोटी। एक कपड़ा छोटा हो मात्र ओढ़ने

का, ऐसा जो लिंग है। आहाहा! उसे ग्रहण करके मूर्ख, **मूढ़ (अज्ञानी) जन ऐसा कहते हैं कि 'यह (बाह्य) लिङ्ग, मोक्षमार्ग है'...** आहाहा! भाई तो ऐसा कहते आये हैं आगरा में। देखो, यह ओघो। यह भी मुनिपना है, चारित्र है।

मुमुक्षु : स्वर्ग दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष दे। यह तो और जिसने ओघो दो घड़ी लिया उसे तो कपाल में स्वर्ग ही हो उसे। आहाहा! ऐसे वेश। ऐसे वस्त्रवाले वेश, वे तो कुलिंग हैं। यह तो मिथ्यादृष्टि के लिंग हैं। आहाहा! ऐसी बात है। दो हजार में बहुत हुआ। दीक्षा ली थी न लड़कियों ने। मनसुखभाई की दो लकड़ियाँ। श्रीमद् के छोटे भाई मनसुख। उनकी माँ ने अब अर्थात् लड़कियों की माँ ने तो दीक्षा ली थी। मनसुखभाई की बहू। श्वेताम्बर में। लड़की दीक्षा तब तुम कहाँ थे? यह आवे वहाँ त्रंबकभाई के पास। त्रंबकभाई थे न, नानालालभाई के साले। वे उसमें सम्बन्धी थे न कुछ नहीं? श्रीमद् में। वहाँ लड़कियाँ आती थीं। आज्ञा लेनी हो न अन्तिम? त्रंबकभाई-त्रंबकभाई थे। नानालालभाई के बहनोई। हमारे आवास के पीछे। लड़की आती थी। आयी थी फिर। आहाहा! अरे... यह बात कहाँ बैठे?

अभी तो पाँच महाव्रत किसे कहना, इसका ठिकाना नहीं होता। आहाहा! उसके लिंग कैसे हो, इसका ठिकाना नहीं होता, उसे मुनिपना आ जाये और साधु हो। आहाहा! अरेरे! दुनिया भी ऐसी गहल और पागल। ऐसा जहाँ दीक्षा लेकर जहाँ वस्त्र बदले वहाँ ओहोहो! महाराज। जय महाराज! तिख्खुतो, आयाहिणं, पायाहिणं, वंदामि तीन बार वन्दन... आहाहा!

मुमुक्षु : पहले वस्त्र पहने थे तो नहीं कहते थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं कहते थे। आहाहा! मूढ़ जीव हैं वे। आहाहा! जिन्हें लिंग देखकर... वह तो कुलिंग है वह तो। यहाँ तो नग्नपने का लिंग देखकर भी जो मुनिपना मानकर वन्दन करे, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

परन्तु लिङ्ग, मोक्षमार्ग नहीं है,... यह बाह्यलिंग मोक्षमार्ग, ऐसा मानता है। **क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए,...** आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर जब मुनि

हुए, तब देह के प्रति ममता छोड़कर स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान में लीन आत्मा में हुए थे। आहाहा! **देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए, लिङ्ग को छोड़कर,...** 'ही' हेतु है न? छोड़कर अर्थात्? नग्नपना छोड़कर, ऐसा न? नग्नपने का विकल्प है, उसे छोड़ देना। आहाहा! वीतराग जिनेश्वरदेव का मार्ग बापू! बहुत चारों पहलुओं से उसकी अविरोधता समझना, वह तो कल्याण का मार्ग है। अमुक पहलू से समझे और दूसरे पहलू वास्तविक रह जाये, यह उनकी दशा ऐसी है। आहाहा!

जो बहुत प्रकार के मुनि लिङ्गों में अथवा गृहस्थ लिङ्गों में ममता करते हैं, (अर्थात् द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षप्रदाता है—ऐसा मानते हैं),... वेश तो पहना हमारा मुनिपने का, ऐसा कहे। आहाहा! वह **लिङ्ग को छोड़कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं** भगवान तो। आहाहा! **जो बहुत प्रकार के मुनि लिङ्गों में अथवा गृहस्थ लिङ्गों में ममता करते हैं, उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।** उन्होंने आत्मा को नहीं जाना। आहाहा! लिंग और जाति हमको मोक्ष प्राप्त करायेगी। पात्र ऊँचा हो, उसमें घी रह सकता है। थैली में रहे? इसी प्रकार नग्नपना हो, वहाँ मुनिपना रह सकता है। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु पात्र छिद्र बिना का....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही खोटी है। नये लोगों को (ऐसा लगे कि) तो यह क्या कहते हैं? ऐसा वीतराग का मार्ग होगा? क्या कहना चाहते हैं?

भाई! धर्म तो उसे कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव भगवान पूर्णानन्द का नाथ परमात्मस्वरूप विराजमान, उसके सन्मुख में दृष्टि करके, उसका ज्ञान और उसकी रमणता, वह धर्म और मोक्ष का कारण है। आहाहा! वह जिसे कुछ ठिकाना नहीं और पंच महाव्रत के विकल्प और देह का नग्नपना, उससे धर्म माने, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह जैन की उसे खबर नहीं।

मुमुक्षु : मुनि का आचार पालन करे तो कुछ बाधा नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि का आचार पालन करे, वह राग है। पंच महाव्रत आदि तो राग है। यह वहाँ आया है न, कोटा। कोटा में आठ दिन लोग पाँच-पाँच हजार लोग,

बहुत अधिक लोग। चार दिन रहे। सभा बहुत। और भाई हुकमीचन्दजी वहाँ... भाई! वहाँ सेठ बहुत अच्छे हैं। जम्बुकुमार। कोटा में। छोटी उम्र है। यह नेमीचन्दभाई की पुत्री के ज्येष्ठ होते हैं। परन्तु बहुत नरम व्यक्ति छापवाला है। जवान व्यक्ति है। परन्तु चार दिन सुना। पाँचवें दिन वह आया पत्र। विद्यानन्दजी ऐसा कहते हैं। जैनदर्शन में। श्रावक और मुनि का आचार उत्थापित करे, वह दिगम्बर धर्म नहीं। दिगम्बर का नाश हो जाता है। अरे... भाई! सुन तो सही! यह विकल्प और यह नग्नपना, यह मुनि का आचार वह तो सब राग है। वह धर्म है? आहाहा! उससे रहित भगवान आत्मा की वीतरागता प्रगट करे, वह मोक्ष का कारण है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ५, सोमवार, दिनांक २८-०७-१९७५, श्लोक-८९-९०, प्रवचन-१०३

अन्तिम पेरेग्राफ। **जो, वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ'—इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग में ममकार द्वारा...** नग्नपने की दशा में और पंच महाव्रतादि विकल्प, वह द्रव्यलिंग है। ऐसी बात तो स्पष्ट करते हैं। **द्रव्यलिङ्ग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं,...** यह पंच महाव्रत के विकल्प या नग्न दिगम्बरदशा, वह सब द्रव्यलिंग है। उसमें जो ममता करते हैं, ममता द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं। आहाहा!

वे 'अनादिरूढ़' (अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ़... है। आहाहा! व्रत की क्रिया पंच महाव्रत की, अट्ठाईस मूलगुण की, वह तो अनादि रूढ़ व्यवहार है। अनादि का है वह तो, कहते हैं। आहाहा! वह कहीं नयी चीज़ नहीं है। शुभभाव में भी अनन्त बार आ गया है द्रव्यलिंगरूप से, नग्नपना धारण करके, पंच महाव्रतादि के आचरण में विकल्प अनन्त बार किये हैं। वह कहीं नयी चीज़ नहीं है। वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! उसमें जो ममता करता है कि यह द्रव्यलिंग है, वह मुझे तारेगा। नग्न(दशा) और पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वे मुझे तारेंगे, ऐसी जो ममता करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि वह तो अनादिरूढ़ है। वह व्यवहार तो अनादि का चला आता है। वह कहीं नया नहीं है। आहाहा!

वह **'अनादिरूढ़' (अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ़...** वह तो व्यवहार की क्रिया में मूढ़ है। आहाहा! ऐसी बात है। अब यह लोगों को ऐसा कि यह श्रावक के आचरण, मुनि के आचरण, यह सब दिगम्बर जैनदर्शन है। ऐसा वे कहते हैं। आहाहा! दिगम्बर अर्थात् जैनदर्शन, ऐसा। वह सत्यदर्शन है। पंच महाव्रत पालना, श्रावक के बारह व्रत पालना और कोपीन आदि एक टुकड़ा रखे श्रावक, क्षुल्लक आदि। मुनि होकर नग्नपना रहे, वह मुझे तारेगा और वह मुझे धर्म है, वह मिथ्यादृष्टि व्यवहार में मूढ़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार अर्थात् शुभभाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव की क्रिया और नग्नपना। वह व्यवहार का जाननेवाला

नहीं। व्यवहार में मूढ़ हुआ प्राणी है। आहाहा! जैनधर्म अर्थात् कि दिगम्बर धर्म। निर्ग्रन्थ धर्म। आहाहा! जिसे राग की गाँठ में से निकलकर स्वरूप का अनुभव दृष्टि करने और स्वरूप के अनुभव में विशेष लीन होना आनन्द में, वह धर्म और वह जैनधर्म है। वह मुनिपना है। आहाहा! समझ में आया?

वह मुनिपना आया था न अपने पाँचवीं गाथा में, नहीं? समयसार पाँचवीं गाथा। सर्वज्ञ परमात्मा ज्ञानानन्दस्वभाव में लीन मग्न। उन सर्वज्ञ से लेकर हमारे गुरु (पर्यन्त) कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। हमारे गुरु भी कैसे थे? ज्ञान चिदानन्दस्वभाव ऐसा जो आत्मा, उसमें वे लीन थे। आहाहा! यह पंच महाव्रत के विकल्प करते थे, किये थे—ऐसा नहीं। आहाहा! मुनिपना तो आत्मा के आनन्दस्वरूप की भूमिका को देखकर, जानकर, अनुभव करके उस भूमिका में लीन होना, आनन्द की भूमिका में। वीतरागी पर्याय में लीन होना। आहाहा! इसका नाम जैनधर्म का मुनिपना और चारित्र है। उसे समझे बिना, माने बिना मात्र द्रव्यलिंग मुनि धारण करे और पंच महाव्रत के विकल्प कदाचित् व्यवस्थित हों, तो भी वह द्रव्यलिंग है, वह धर्म नहीं। आहाहा! वह मुनिपना नहीं, वह मोक्ष का मार्ग नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि वह तो अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ वर्तते हैं। वह क्रियाकाण्ड जो पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण साधु के, उसमें वर्तते हैं, वे मूढ़रूप से वर्तते हैं। आहाहा! मूढ़ मिथ्यादृष्टि उलझ गया वहाँ, कहते हैं। यह मेरा धर्म है। ऐसा वह मूढ़ अर्थात् अज्ञान में लीन हो गया है। आहाहा! व्यवहार में। व्यवहार का जाननेवाला चाहिए, उसके बदले व्यवहार में लाभ माना, वह मूढ़ है। सेठ! ऐसा मार्ग है बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! जैनदर्शन ही ऐसा है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। जैनदर्शन कोई पक्ष नहीं, कोई वाड़ा नहीं; यह तो वस्तु का स्वभाव है। आनन्द का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द में उस भूमिका को देखकर अनुभव किया, तब तो उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा!

यह परमात्मप्रकाश में एक गाथा है कि जैसे-जैसे मोह गलता जाता है, वैसे वह समकित पाता जाता है। ऐसा है भाई गाथा में। यह गाथा ऐसी है। और वह पहले कहा था एक बार। परमात्मप्रकाश, ८५ है।

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ।
तिमु तिमु दंसणुं लहइ जिउ जियमे अप्पु मुणेइ॥८५॥

क्या कहा? **हे योगी...** योगी अर्थात् आत्मा के आनन्द में पुरुषार्थ को जिसने जोड़ा। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें जिसने पुरुषार्थ-वीर्य को जोड़ा, योग जोड़ा है। **'कालं लब्धवा' काल पाकर जैसे-जैसे मोह लगता है-कम होता जाता है, वैसे-वैसे यह जीव सम्यग्दर्शन को पाता है,...**

मुमुक्षु : मोह....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व। **कम होता जाता है,...** गलता अर्थात् उपशम होता है पहला। फिर क्रम-क्रम से क्षय होता है, ऐसा। आहाहा! वह स्वरूप का आनन्द का आश्रय जहाँ है। जिसके सम्यग्दर्शन में आत्मा समीपपने वर्तता है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में आत्मा समीपपने, ऐसे आत्मा के समीपपने में वह सम्यग्दर्शन हो गया है। आहाहा! जो दूर था भगवान आत्मा, उसे सम्यग्दर्शन ने समीप किया है। आहाहा!

जिसके दर्शन में आत्मा समीप है, जिसके सम्यग्ज्ञान में आत्मा समीप है। शास्त्र समीप है और शास्त्र का पठन, वह नहीं। आहाहा! जिसके ज्ञान में आत्मा समीप है और जिसके चारित्र की रमणता के समीपपने में आत्मा वर्तता है, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। राग और क्रिया के नग्नपने के समीपपने वर्तता है, वह मूढ़ जीव है। आहाहा! मोही। गाथा-४१३। है अन्तिम? बहुत बार वाँचन हो गया है। (गाथा) ४१३। आहाहा!

जो इस व्यवहार क्रिया में मूढ़ है, मोही है, उसमें जिसकी सावधानी वर्तती है। आहाहा! दया, दान, व्रतादि के भाव में जिसकी सावधानी वर्तती है, वह मूढ़ जीव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। व्यवहार की जो क्रियायें हैं निश्चयसहित, उन व्यवहार क्रिया में निश्चय बिना अकेली सावधानी वहाँ वर्तती है, वह मूढ़ जीव है। आहाहा! परम वीतराग आनन्द का चौसला* पड़ा है भगवान तो। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, अतीन्द्रिय आनन्द का दल प्रभु है। आहाहा! उस दल में दल को भूलकर, पर की ओर के लक्ष्यवाली जो पंच महाव्रत की क्रिया, अट्ठाईस मूलगुण, उसमें

*** चोसला - जमा हुआ टुकड़ा**

जो सावधान है, वह स्वरूप में भूला हुआ मूढ़ जीव है। आहाहा! व्यवहार की जो चरणानुयोग की क्रिया कही। चरणानुयोग की। करणानुयोग की बाद में। उस क्रिया के परिणाम हैं, वे सब शुभ हैं। व्रत और तप भक्ति और पूजा, वे भाव सब शुभ हैं। उसमें जिसकी सावधानी है, वह जीव मूढ़ है।

भगवान राग बिना की चीज़ प्रभु है, उसकी सावधानी तो जिसने छोड़ दी है। आहाहा! और राग की क्रिया में सावधान है, मूढ़ है। ऐसा मार्ग! हम नग्न हैं, हम अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं, इसलिए हम... आहाहा! चरणानुयोग में कहा नहीं? कुन्दकुन्दाचार्य ने अट्ठाईस मूलगुण नहीं पालन किये? शास्त्र में लिखा (है कि) अट्ठाईस मूलगुण पालन किये हैं। वह तो व्यवहारनय से ऐसा कहा है कि उन्हें यह भाव होता है। आत्मा के आनन्द की अनुभव की भूमिका में उसमें वे हैं, ऐसा बतलाया है। व्यवहारनय से ऐसा कहते हैं कि उन्होंने पालन किये। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें अतिचार नहीं पालना चाहिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अतिचार लिये परन्तु वह स्वयं चुस्त, वह भी राग है न। परन्तु व्यवहारनय से ऐसा आता है। अशुभ से छूटकर शुभ में आया है। शुद्धता तो है। शुद्धता आनन्द की निर्मलानन्द प्रभु को तो जगाया है। जागकर आत्मा के आनन्द का स्वाद लिया है। ऐसे जीव को जो शुभभाव आवे, उसे व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि उन्हें पालता है। वास्तव में तो वह उनका जाननेवाला है। यह तो अपने सवेरे बहुत आ गया, नहीं? वह राग का कर्ता नहीं और वह राग का भोक्ता भी नहीं। आहाहा!

स्वरूप शुद्ध आनन्द का स्वरूप, भले उसे चारित्र और केवलज्ञान को प्राप्त करने में देरी लगे, परन्तु उसकी दृष्टि में आनन्द का नाथ, वह आना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? उसकी दृष्टि में यह आत्मा को भूलकर और इन क्रियाकाण्ड के व्यवहार के आचरण में जो सावधान है, उस जीव को तो यहाँ मूढ़ और अज्ञानी कहा है। आहाहा! लो! ऐसा मार्ग है, भाई!

यह **(मोही) वर्तते हुए,...** ऐसा है न? मूढ़ वर्तते हुए। उसमें एकाग्रपने वर्तते हुए। आहाहा! **प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़ वर्तते हुए,...** प्रौढ़

विवेक अर्थात् इस व्यवहार से, राग से भिन्न ऐसा जो भेदज्ञान, ऐसा जो विवेक, ऐसे निश्चय पर अनारूढ़ है। स्वरूप का, परमानन्द का नाथ स्वरूप, उसके प्रति तो अनारूढ़ है, आरूढ़ नहीं। व्यवहार के इतने भाव में आरूढ़ और सावधान है। आहाहा! गजब भाई मार्ग ऐसा! साधारण प्राणी को तो..

वहाँ कोटा में आया था पाँच दिन के बाद। चार दिन तक तो लोग बहुत, लोगों को प्रेम बहुत कोटा में। भाई जुगलकिशोर की छाप बहुत है। जुगलकिशोर शान्त व्यक्ति है। घण्टे-घण्टे व्याख्यान-भाषण दे, बिना पुस्तक के आधार से धारावाही। शान्त शान्ति से। उसकी मुख्यता और एक जम्बुकुमार सेठ है वहाँ। नेमिचन्दभाई की पुत्री का ज्येष्ठ। गम्भीर सेठ है। छोटी उम्र का है। ४५ वर्ष हुए हैं। परन्तु उसकी छाप बहुत है। उसमें चार दिन तो व्यवस्थित चला। पाँचवें दिन सवेरे गड़बड़ चली थोड़ी। कहे चोपानिया आया है। यह व्याख्यान में तो खबर नहीं पड़े। फिर चोपानिया आया छपा हुआ कि यह दिगम्बर धर्म जो श्रावक का आचरण बारह व्रत, मुनि का पाँच व्रत का आचरण—उसे धर्म नहीं कहते और उससे धर्म नहीं होता, यह दिगम्बर धर्म का लोप हो जाता है। विद्यानन्दजी हैं न एक? साधु हुए हैं न विद्यानन्द?

मुमुक्षु : विद्यानन्दजी को....

पूज्य गुरुदेवश्री : विद्यानन्दजी ने जैनदर्शन में डाला हुआ। जैनदर्शन को वह पुस्तक? चोपानिया? उसमें डाला हुआ, उसने प्रकाशित किया हुआ। वह कौन अभयकुमार नाम था कुछ। जम्बुभाई को पूछा-जम्बुकुमार को। गाँव का सेठिया व्यक्ति, इज्जतदार को। कहा, कौन है यह। कहे, हमको ख्याल में नहीं। छपा दिया होगा किसी ने। पम्पलेट बाँटे कि यह सब व्यवहार का लोप, जैनधर्म का लोप होता है। दिगम्बरधर्म का लोप होता है यह तो। ऐसे व्यवहार के आचरण से धर्म न माने और व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, ऐसा न माने, वह तो जैनधर्म का-दिगम्बरधर्म का नाश करते हैं। थोड़े से पम्पलेट बाँटे होंगे। थोड़ी खलबलाहट हुई होगी। परन्तु यहाँ व्याख्यान में कुछ बाहर में खबर नहीं पड़ती। अन्दर कुछ हो गया होगा। छापे, छपाओ। पढ़ो, पढ़ाओ सबको। अरे.. भगवान! आहाहा! क्या करके बैठे तुम? नग्नपना लेकर बैठे और जिसके अभी पंच महाव्रत का भी ठिकाना नहीं। समझ में आया? उसके लिये चौका

बनाकर लेते हैं। और पम्पलेट में लेख आवे कि महाराज को आहार देने के लिये चौका के लिये देना। आहाहा! खोटे कर्म हैं न! जिसका व्यवहार भी भ्रष्ट है, ऐसे को उसका सच्चा द्रव्यलिंग भी नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो जिसका द्रव्यलिंग सच्चा है, नग्नपना है, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण बराबर है। उसके लिये आहार करे (तो) न ले। प्राण जाये तो भी न ले। यह आहार के लिये चौका बनाते हैं। महाराज के लिये बनाओ, वह तो अध:कर्मी उद्देशिक आहार है। आहाहा! वह जिसका व्यवहार चुस्त है ऐसे व्यवहार में भी जो मूढ़ है, उसकी बात है। आहाहा! उसमें—व्यवहार की क्रिया में सावधानी है, वह व्यवहार मूढ़ जीव है। आहाहा! समझ में आया? यह वस्त्रसहित जो मुनिपना मानते हैं, वे तो निश्चय और व्यवहार दोनों से भ्रष्ट हैं। ऐई... वस्त्रसहित मुनि माने, वह तो निश्चय और व्यवहार दोनों से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

परन्तु यहाँ तो जिसे व्यवहार में नग्नपना है, अट्ठाईस मूलगुण बराबर निरतिचार आगमप्रमाण पालन करता है। चरणानुयोग की विधि प्रमाण। परन्तु कहते हैं कि उस राग की क्रिया में जिसकी सावधानी है, दृष्टि द्रव्य पर गयी नहीं। आहाहा! भगवान चिदानन्द का नाथ, उस पर दृष्टि गयी नहीं, इसलिए वह अनादि। कहा न? **प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़....** है। वह राग से भिन्न भगवान आत्मा है, ऐसे भेदज्ञान में आया नहीं, इसलिए भेदज्ञान में नहीं होने से निश्चय में अनारूढ़ है। आहाहा!

द्रव्यलिंग है न यहाँ तो? द्रव्यलिंग तो नग्नपना ही होता है और द्रव्यलिंग में अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत के परिणाम बराबर हों, उसे द्रव्यलिंग कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, बापू! सूक्ष्म। जेठाभाई! आहाहा! अर्थात् जो वस्त्रसहित साधु हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। निश्चय से मिथ्यादृष्टि और व्यवहार से मिथ्यादृष्टि। आहाहा! वे तो व्यवहार से (भी) साधु ही नहीं हैं, उनका द्रव्यलिंग भी सच्चा नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग है।

परन्तु जिसका द्रव्यलिंग बराबर है। नग्नपना, अट्ठाईस मूलगुण बराबर है, परन्तु उसमें जिसकी दृष्टि और सावधानी वहाँ है, उसे पालने में उस भाव को रखने में... आहाहा! ऐसा जीव व्यवहार में मूढ़ है और प्रौढ़ विवेकवाला जो निश्चय—राग से भिन्न ऐसा प्रौढ़,

आहाहा! विवेकवाला निश्चय। पर से भेदज्ञान करे, ऐसा जो निश्चय। आहाहा! ऐसा जो निश्चय में अनारूढ़ है। वह निश्चय में वह आया नहीं। व्यवहार में वर्तता है, निश्चय में आया नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन काम, बापू! इस काल में अभी इसे। अकेले टोले सब हैं यह। जगत को कठिन पड़े, बापू! मार्ग यह तो। यह तो जिनेन्द्रदेव, तीर्थंकरदेव का मार्ग यह तो है। यह कोई पक्ष की, वाड़ा की बात नहीं है।

जिसे व्यवहार में सावधानी है, प्रौढ़ विवेक... आहाहा! प्रौढ़ विवेक। राग से भिन्न करके कठोर विवेक भेदज्ञान, उसके **पर अनारूढ़ वर्तते हुए, परमार्थ सत्य (जो परमार्थ-सत्यार्थ है—ऐसे) भगवान समयसार...** आहाहा! उस **समयसार को देखते-अनुभवते नहीं हैं।** उस समयसार को नहीं पाता। सेठ! ऐसा है।

मुमुक्षु : समयसार को भगवान...

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ही आत्मा। समयसार अर्थात् आत्मा। भगवान समयसार अर्थात् आत्मा। भगवान ही आत्मा है। आहाहा! जिसका ज्ञानस्वरूप, जिसका आनन्दस्वरूप पूर्ण है, ऐसा यह भगवान स्वयं आत्मा है। अर्थात् समयसार अर्थात् आत्मा, भगवान। भगवान आत्मा को अर्थात् भगवान समयसार को, व्यवहार में वर्तनेवाले मूढ़ जीव, निश्चय में अनारूढ़ जीव, परमार्थ ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे प्राप्त नहीं करते। आहाहा! वे राग में सावधानी से पुण्य से स्वर्गादि में जाये। वापस पड़कर नीचे नरक में जायेंगे। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा को देखते नहीं, ऐसा है मूल तो। समयसार अर्थात् यह पृष्ठ नहीं। समयसार अर्थात् पृष्ठ को नहीं देखते, ऐसा नहीं। भगवान समयसार अर्थात् आत्मा। राग से, व्यवहार की क्रिया से भिन्न प्रभु वर्तता है, ऐसे आत्मा को वे प्राप्त नहीं कर सकते। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह गाथा तो बहुत स्पष्टीकरण करती है, बहुत। जिसे अभी राग का कर्तापना खड़ा है, देह की क्रिया को मैं कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता खड़ी है और ऐसे पंच महाव्रत के परिणाम से मुझे धर्म होगा, ऐसी मान्यता खड़ी है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो भले पंच महाव्रत हो और नग्नपना धारण किया हो। मिथ्यादृष्टि है, उसे जैन नहीं कहते। आहाहा! यह ८९ का अन्तिम आधार दिया। ४१३ (गाथा समयसार) का। है न अन्तिम? ४०८, ४०९ और ४१३। समयसार की गाथा का आधार दिया है।

श्लोक - ९०

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह -

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥ ९०॥

यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्रग्वनितादिभ्यो निवर्तन्ते। तथा यदवाप्तये यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव शरीरे आबद्धे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र परमवीतरागत्वे। के ते? मोहिनो मोहवन्तः॥९०॥

उस पद की प्राप्ति के लिए, जाति आदि विशिष्ट शरीर में निर्ममत्व की सिद्धि के लिए, भोगों से व्यावृत्त होकर (पराङ्मुख होकर) भी, पुनः मोहवश शरीर में ही अनुबन्ध (अनुराग) करता है, वह कहते हैं —

बुध तन-त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त॥ ९०॥

_अन्वयार्थ_ - (यत्त्यागाय) जिस शरीर के त्याग के लिए अर्थात् उससे ममत्व दूर करने के लिए और (यद् अवाप्तये) जिस परम वीतरागपद को प्राप्त करने के लिए (भोगेभ्यः) इन्द्रियों के भोगों से (निवर्तन्ते) निवृत्त होते हैं अर्थात् उनका त्याग करते हैं, (तत्रैव) उसी शरीर और इन्द्रियों के विषयों में (मोहिनः) मोही जीव, (प्रीतिं कुर्वन्ति) प्रीति करते हैं और (अन्यत्र) वीतरागता आदि के साधनों में (द्वेषं कुर्वन्ति) द्वेष करते हैं।

_टीका_ - जिस शरीर के त्याग के लिए अर्थात् उसमें निर्ममत्व के लिए — भोगों से अर्थात् माला-वनितादि से निवृत्त होते हैं, (पराङ्मुख होते हैं) तथा जिसकी प्राप्ति के लिए, अर्थात् जिस परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए अर्थात् प्राप्ति के निमित्त से भोगों से निवृत्त होते हैं—उसमें ही अर्थात् इस बद्ध शरीर में ही प्रीति / अनुबन्ध

करते हैं और दूसरे अर्थात् परम वीतरागता पर द्वेष करते हैं। वे कौन? मोही-मोहान्ध जीव।

भावार्थ - शरीरादि परपदार्थों से ममत्व हटाने के लिए, परम वीतरागपद की प्राप्ति के लिए कितने ही जीव, विषय-भोगों का त्याग करके, संयम का साधन अङ्गीकार करते हैं, परन्तु पुनः मोहवश वे उसी शरीर और विषय-भोगों में प्रीति करते हैं और संयम के साधनों के प्रति द्वेष करते हैं।

मोह की ऐसी विचित्र लीला है; इसलिए जीव, पुरुषार्थ दृढ़ करके मोह में न फँसे; इसलिए आचार्य का इस श्लोक द्वारा उपदेश है॥९०॥

श्लोक - ९० पर प्रवचन

उस पद की प्राप्ति के लिए,... अब ९० चलता है। **उस पद की प्राप्ति के लिए, जाति आदि विशिष्ट शरीर में निर्ममत्व की सिद्धि के लिए, भोगों से व्यावृत्त होकर...** भोग स्त्री आदि की दुकान छोड़ी उसने। समझ में आया? और **(पराङ्मुख होकर) भी, पुनः मोहवश शरीर में ही अनुबन्ध (अनुराग) करता है,...** शरीर मेरा और शरीर की क्रिया मैं करता हूँ। आहाहा! उसका यह श्लोक है। बहुत सरस। समाधितन्त्र पूज्यपादस्वामी का। अकेला अमृत बहाया है। आहाहा! समाधि... समाधि... समाधि... सम्यग्दर्शन समाधि, सम्यग्ज्ञान समाधि, सम्यक्चारित्र समाधि। अर्थात्? सम्यग्दर्शन सुखरूप, सम्यग्ज्ञान सुखरूप, सम्यक्चारित्र सुखरूप। अर्थात्? त्रिकाली सुखरूप भगवान की प्रतीति, ज्ञान और रमणता, वे तीनों सुखरूप समाधि हैं। आहाहा!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग, वह समाधि है। उसे समाधि कहो, मोक्ष का मार्ग कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो। आहाहा! ९०

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥९०॥

आहाहा! क्या कहते हैं, देखो!

बुध तन-त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त॥ ९०॥

आहाहा! यह सन्तों ने भी नाड़ी पकड़ी है न? आहाहा!

टीका - जिस शरीर के त्याग के लिए अर्थात् उसमें निर्ममत्व के लिए—भोगों से... स्त्री, धन्धा आदि का भोग, उसे छोड़कर **माला-वनितादि से...** अच्छी माला पहनना, स्त्री आदि से **निवृत्त होते हैं, (पराङ्मुख होते हैं) तथा जिसकी प्राप्ति के लिए, अर्थात् जिस परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए अर्थात् प्राप्ति के निमित्त से भोगों से निवृत्त होते हैं...** आहाहा! **उसमें ही अर्थात् इस बद्ध शरीर में ही प्रीति...** और शरीर की क्रिया मेरी है और मैं करता हूँ, ऐसी शरीर में प्रीति मोह को बाँधती है वापस, कहते हैं। आहाहा! **अर्थात् अनुबन्ध करते हैं...** शरीर को अनुसरकर क्रिया में परिणाम वर्तते हैं उसे। आहाहा! जिससे निर्ममत्व होना था। शरीर के प्रति निर्ममत्व होना था। उसके लिये स्त्री, कुटुम्ब छोड़े, तथापि वहीं का वहीं वापस ममता में भटका। आहाहा! शरीर की क्रिया में प्रीति **और दूसरे अर्थात् परम वीतरागता पर द्वेष करते हैं।** आहाहा! देखो भाषा!

मुमुक्षु : वापस हटकर फिर वापस कैसे मुड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस अर्थात् इस शरीर को ममता (घटाने) के लिये, ममता घटाने के लिये दुकान छोड़ी, व्यापार छोड़ा, भोग-स्त्री आदि छोड़ी, ऐसा कहते हैं। तथापि वापस शरीर की क्रिया में वापस उंधे कांध पड़ा है।

मुमुक्षु : यह कहलाये कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे का ऐसा है। बाह्य का त्याग शरीर की निर्ममता के लिये किया, ऐसा लक्ष्य था, परन्तु वापस उसकी वह ममता शरीर में ही लगी पड़ी वापस। वह शरीर की क्रिया, शरीर की दान, दया, व्रत की, भक्ति की क्रिया में इसे वापस प्रेम जागृत हुआ। वह तो शरीर का प्रेम हुआ। आहाहा! जिसे राग का प्रेम है, उसे शरीर का प्रेम है और शरीर के राग में अटका है, ऐसा कहा। आहाहा!

उसे वीतराग अशरीरी स्वभाव, उसके (शरीर के) प्रेम में अशरीरी स्वभाव के प्रति उसे द्वेष है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! आनन्दघनजी ने कहा न यह।

'द्वेष अरोचकभाव।' वीतरागभाव जिसे रुचता नहीं और जिसे रागभाव रुचता है, उस राग के प्रीतिवाले जीव को स्वभाव के प्रति द्वेष और अरुचि वर्तती है। आहाहा! वह यह बात की न! आहाहा! शरीर की क्रिया ऐसे करना... ऐसे करना... ऐसे करना और ऐसा जो शरीर को अनुसरकर होनेवाला अनुराग, राग। उस राग में जिसकी प्रीति बँध गयी है। आहाहा! उस राग के प्रेम में फँस गया है, कहते हैं। आहाहा! वह व्यभिचारी हो गया है। आहाहा! उसे वीतरागस्वरूप... आहाहा! वह शुभभाव और नग्नपने के प्रेम में, उसे वीतरागपने के प्रति द्वेष हो गया है। आहाहा! देखो, यह राग-द्वेष की व्याख्या।

मुमुक्षु : शुभ के प्रति राग और शुद्ध के प्रति द्वेष करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्वेष ही है, (शुभ पर) प्रेम है उसे। आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय का राग, उसमें जिसे प्रेम है, उसे वीतरागभाव के प्रति द्वेष है। आहाहा! उसे चोट लगती है। व्यवहार क्रिया से धर्म होता है और धीरे-धीरे होता है, ऐसा न माने और कहे कि इससे अधर्म होता है, (तो) उसे द्वेष होता है। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! राग-द्वेष की क्रिया उसे कहते हैं कि भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु, उससे विरुद्ध जो राग की क्रिया, उसमें जिसकी रुचि और प्रेम जमा है, उसमें सावधान-सावधान वर्तता है, उसे भगवान वीतरागभाव ऐसा आत्मा, उसके प्रति उसे द्वेष है। देखो, राग-द्वेष की व्याख्या! आहाहा! सत्य को स्थापित करना और असत्य को उत्थापित करना, यह भी एक विकल्प है।

मुमुक्षु : जैनधर्म सच्चा है, ऐसा कहना, वह भी राग?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी रागभाग है। छद्मस्थ है न? परन्तु राग में उसे प्रेम नहीं चाहिए। आहाहा! ऐसा सत्य मार्ग स्थापना करने से असत्य उत्थापित करे, उसमें द्वेष का अंश है। आहाहा! यह आता है न १४४, भावार्थ में रखा है भाई ने। जयसेनाचार्य... पण्डित जयचन्दजी ने। परन्तु उस राग-द्वेष का जाननेवाला रहता है। समझ में आया? आहाहा! द्वेष के अंश में एकाकार नहीं, तथा राग के अंश में एकाकार नहीं।

यहाँ तो वीतरागस्वभाव के प्रेम के अतिरिक्त यह वीतरागभाव वह विकल्प बिना की चीज़ है, निर्विकल्परूप से वह प्राप्त होता है, इस बात के प्रति उसे द्वेष हो जाता है,

राग से लाभ माननेवाले को। आहाहा! देखो, यह गाथा! कहते हैं कि व्यवहार के प्रेमियों को असमाधि होती है। समाधि अधिकार है न? और निश्चय के भाव के प्रति उसे द्वेष अर्थात् वह भी असमाधि है। आहाहा!

परम वीतरागता पर द्वेष करते हैं। आहाहा! सहजानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा, उसके प्रति... राग की व्यवहार की क्रिया के प्रेमियों को वीतरागभाव के प्रति द्वेष है। आहाहा! राग से लाभ नहीं होता, स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव से जीव को लाभ होता है, ऐसा सुनने पर चोट लगती है अन्दर से। हाय.. हाय.. व्यवहार को तो उत्थापते जाते हैं। जो साधन है, उससे साध्य हो, यह बातें तो रहती नहीं। आहाहा! ऐसी बात है कहीं? दिगम्बर सन्तों ने खुल्ला रखा है। उन्हें कुछ पड़ी नहीं जगत की। नागा बादशाह से आघा। मार्ग यह है, बापू! तुमको रुचे, न रुचे। समाज समतोल रहे या न रहे, उसकी दरकार नहीं है। मार्ग यह है। व्यवहार के रसिकों को भगवान वीतराग के प्रति उन्हें द्वेष है, इसलिए व्यवहार की क्रिया में प्रेम बताकर हम कुछ साधन करते हैं, ऐसा बताना चाहते हैं, उसे वीतरागस्वभाव प्रभु अन्दर में स्थिर होना, उसके प्रति उसे द्वेष वर्तता है। आहाहा! गजब बातें हैं न!

यह तो वह आनन्दघनजी ने दूसरा डाला, उन्होंने इस प्रकार से डाला। आहाहा! 'द्वेष अरोचकभाव' वहाँ ऐसा डाला। यहाँ कहा, जब राग रुचता है, व्यवहार क्रियाकाण्ड की सावधानी में उसे प्रेम है और उससे धर्म होगा, ऐसा जो रस है, उस रसवाले को चैतन्यमूर्ति वीतरागस्वभाव का रस (नहीं परन्तु) उसे द्वेष है। द्वेष बिना उसमें—प्रेम में कैसे फँसे? आहाहा! मार्ग सूक्ष्म बहुत। अनजाना पहले-पहले सुनने आया हो, उसे तो जरा... हमारे प्रवीणभाई कहते भाई आये थे। प्रेम तो है। परन्तु समझ नहीं सके, भाई ने कहा था। बात सच्ची, कहा। यह अगम-निगम की बातें बापू! आहाहा! कभी सुनी न हो उसमें फिर ३५ मिनिट बाद आये थे। खबर है न? उसमें कहाँ से शुरु हुआ और क्या चलता है? पकड़ना मुश्किल पड़े। आहाहा!

क्या गाथा में कहा? **वे कौन? मोही-मोहान्ध जीव।** आहाहा! जिसे श्रावक की ओर मुनि के व्यवहार व्रतादि के आचरण में जिसकी प्रीति जमी है, उसमें सावधान है।

आहाहा! ऐसे जीवों को वीतरागभाव के प्रति द्वेष है। मोहान्ध जीवों में वह वर्तता है, कहते हैं। आहाहा! धीर उसे कहते हैं कि जो वीतरागभाव के प्रति बुद्धि को प्रेरित करे, उसे धीर कहते हैं, उसे वीर कहते हैं। अपने वीर्य को वीतरागभाव के प्रति मोड़े, प्रेरे, राग के प्रति मोड़े वह अधीर और वह अवीर है। आहाहा! भले फिर वह पंच महाव्रत ऐसे पालता हो कि जो नौवें ग्रैवेयक में जाये, ऐसे भाव उसके। परन्तु कहते हैं कि उसमें प्रीतिवाला जीव है, वे व्यवहार के प्रेमी जीव हैं। आहाहा! उन्हें निश्चय के स्वभाव प्रति अरुचि वर्तती है।

भाव-वीतरागभाव के प्रति आ। राग को छोड़ और प्रभु वीतरागमूर्ति का प्रेम कर। उसे ऐसा लगे (कि) कुछ साधन-फाधन की तो बातें करते नहीं। एक लगायी है निश्चय... निश्चय... निश्चय... ऐसा बेचारे कहते हैं। आहाहा! प्रौढ़ विवेक, वापस ऐसा। जिसे बहुत ही पर से भिन्नता वर्तती है, ऐसा निश्चय। आहाहा! प्रौढ़ विवेक है। ओहोहो! क्या प्रौढ़ की व्याख्या की है न? प्रौढ़ ही रखा है। प्रौढ़ ही रखा है तुमने भी क्या? प्रौढ़ को हल्का शब्द क्या रखा? प्रौढ़ लोग, नहीं कहते प्रौढ़?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तुम्हारा काम नहीं। यह हिम्मतभाई का काम। प्रौढ़। आहाहा! प्रौढ़ वयवाले। पक्का। पक्का यह पहला शब्द आया था। पर से भिन्न विवेक पक्का हो गया है जिसे। राग से भिन्न भगवान है... आहाहा! व्यवहार के क्रियाकाण्ड से भी प्रभु भिन्न है। ऐसा जो प्रौढ़ विवेक का निश्चय, उसके ऊपर वह अनारूढ़ है, वहाँ तो आया नहीं। आहाहा! और अकेले व्यवहार क्रियाकाण्ड के प्रेम में घुस गया है, मोहान्ध है। मोह में अन्ध हो गये हैं। आहाहा! समझ में आया?

संस्कृत में ऐसा है। '**संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं (गः) पश्यतीति (मन्यते)**' ९१ है यह तो। ९१ है। यह वह ९०। '**के ते? मोहिनो मोहवन्तः।**' ऐसा। वह '**निवर्तन्ते। प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव शरीरे**' शरीर के साथ जिसने अनुबन्ध लगाया है। आहाहा! उसके प्रति जिसने राग को झुकाया है। आहाहा! ऐसे जीवों को शरीर के प्रति ममता छोड़ने के लिये भोग और धन्धा आदि छोड़ा, परन्तु वापस उन्हें शरीर का अनुराग है,

वह तो खड़ा रहा है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। ऐसे तो स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धा छोड़े, परन्तु जो उसके निर्ममत्व के लिये छोड़ना था, उसके बदले उसकी ममता तो रह गयी वापस। आहाहा! शरीर की और व्यवहार की क्रिया की। इससे उसे निर्ममत्व दशा नहीं आयी। आहाहा! मोहवाली मोहान्धदशा हुई। आहाहा! है? '**मोहिनो मोहवन्तः।**' मूढ़ है, ऐसा कहा। आहाहा!

भावार्थ - शरीरादि परपदार्थों से ममत्व हटाने के लिए,... बाहर से लक्ष्य, ऐसा। **शरीरादि परपदार्थों से ममत्व हटाने के लिए, परम वीतरागपद की प्राप्ति के लिए कितने ही जीव, विषय-भोगों का त्याग करके,...** भोग को छोड़े, विषय को छोड़े, स्त्री, परिवार को छोड़े। **संयम का साधन अङ्गीकार करते हैं,...** आहाहा! बाहर की जो निवृत्ति, वह संयम के साधन व्यवहार से अंगीकार करे, **परन्तु पुनः मोहवश वे उसी शरीर और विषय-भोगों में प्रीति करते हैं...** उसकी उसे खबर नहीं कि मुझे क्या करना था और क्या करता हूँ अभी। आहाहा! किसलिए निवृत्ति ली? कि वीतरागता प्राप्त करने के लिये निवृत्ति ली थी। इस शरीर के अनुराग को रखने के लिये नहीं। आहाहा! समझ में आया? ओहोहो! दिगम्बर सन्तों की शैली बहुत सरल और सत्य को प्रसिद्ध करे, ऐसी है। आहाहा! समाधि-समाधि है न, देखो न यह!

वीतरागभाव ऐसा भगवान आत्मा, उसका आश्रय लेने से समाधि-शान्ति होती है। तब वह उसे सुहाता नहीं। क्योंकि पर का ऐसे राग की क्रिया, दया, दान, व्रत, भक्ति, बराबर यह सावधान-सावधान। आहाहा! गुरु का विनय उपकरण कहा है। परन्तु उसमें वह सावधान हो जाता है। आहाहा! ऐसा कहे। ऐई..! उसमें एकाकार हो जाये, वह व्यवहार में, व्यवहार का रसिक वह राग का रसिक, उसे परमात्मा के प्रति द्वेष है। आहाहा!

और **कितने ही जीव, विषय-भोगों का त्याग करके, संयम का साधन अङ्गीकार करते हैं,...** यह त्याग-ग्रहण। परन्तु वापस हुई वह की वह दशा। **परन्तु पुनः मोहवश वे उसी शरीर और विषय-भोगों में प्रीति करते हैं...** शरीर, बाहर का विषय, विषय; शब्द से बाहर का विषय और बाहर का जो भोग रागादि का। उसमें प्रीति करता है। आहाहा! कषाय मन्द हो, उसका उसे रस लगता है विषय। और कषाय मन्दता का अनुभव, उसे

शान्ति लगती है। कितनों को ऐसी कषाय बहुत मन्द होती है न! शान्ति है। भ्रम है। समझ में आया?

मोहवश वे उसी शरीर और विषय-भोगों में प्रीति करते हैं और संयम के साधनों के प्रति द्वेष करते हैं। आहाहा! निर्मल वीतराग पर्याय के प्रति द्वेष करता है। आहाहा! स्त्री, पुत्र छोड़े, और वापस शिष्य-शिष्या के प्रति प्रेम और यह मेरे शिष्य हैं, यह मेरी शिष्यायें हैं। वे लड़के दो-चार थे, ये वापस हजारों किये। उस दुकान में तो अकेला काम करता था या दो-चार नौकर भी हों। यह तो अकेला पर में प्रेम करता है। आहाहा! बहुत प्रेम के विषय की चीज़ इसे लागू पड़ गयी है, ऐसा कहते हैं।

प्रेम का, वास्तविक प्रेम का विषय तो आत्मा वीतराग है। 'तथैव प्रीति करु' नहीं आता? निर्जरा अधिकार में आता है। भगवान पूर्णानन्द प्रभु, वहाँ प्रीति कर, वहाँ सन्तोष कर, वहाँ तृप्त हो। वहाँ तृप्ति पा। आहाहा! उसे निर्जरा होती है। यह तो अपवास किये, शरीर कुछ शिथिल पड़ा, अपने को धर्म हुआ। उसे वीतरागभाव के प्रति द्वेष है। वह वहाँ ही रुक गया और उसे धर्म माना है। आहाहा! समझ में आया?

शरीर, उपकरण—सब धर्म के साधन हैं, ऐसा करके उनके प्रति जो प्रेम करता है। आहाहा! उसे विकल्प बिना का भगवान वीतराग ऐसा स्वभाव उसे रुचता नहीं। इस रुचि में वह रुचता नहीं। जिसे व्यवहार के आचरण का पोषाण है, पोषाण है, उसे वीतरागभाव का पोषाण नहीं है। आहाहा! क्या बात! कहाँ ले गये, देखो! यहाँ राग और द्वेष का आया, वह आनन्दघनजी में है उसकी अपेक्षा। और बहुत जगह यही डालते हैं न क्रोधादि। क्रोधादि में ऐसा शब्द आता है न बहुत जगह? मूल तो यह। उत्तम शान्ति को छोड़कर पर के प्रति राग में है, वह स्वभाव के प्रति क्रोध करता है, ऐसा। स्वभाव के प्रति क्रोध करता है। राग के विकल्प के प्रेमी, वह वीतरागस्वभाव के प्रति उसे क्रोध है। यह बहुत जगह आता है। समयसार में, कर्ता-कर्म अधिकार आदि। आहाहा!

एक तो उत्तम क्षमा जो आत्मा की वीतरागदशावाली, उस क्षमा की इसे खबर नहीं, उसका इसे प्रेम नहीं। बाहर की ऐसी क्षमा हो सब, ऐसे हो, ऐसे हो। उस राग की क्रिया में इसे प्रेम लग जाता है। यह तो खमतखामणां किया, ऐसा किया और वैसा किया।

परन्तु ज्ञाता-दृष्टा ऐसा भगवान आत्मा, उसमें उसे भूल जाता है। आहाहा! ऐसी बात है।

मोह की ऐसी विचित्र लीला है;... यह सब मोह की लीला। आहाहा! राज छोड़े, पाट छोड़े, भोग, स्त्रियाँ छोड़े, तथापि फिर शरीर के प्रति, (पर) पदार्थ के प्रति और उसे अनुसरकर होनेवाले राग के प्रति जिसे प्रेम है, उसे तो वीतरागभाव के प्रति द्वेष हुआ है। आहाहा! वह अरुचि में, वीतरागभाव की अरुचि में वर्तता है, और रागभाव की रुचि में अर्थात् प्रेम में वह वर्तता है। आहाहा! कहाँ डाला? व्यवहार के आचरण में जिसे प्रेम और आरूढ़ है, उसे वीतराग के प्रति अनारूढ़ है अर्थात् द्वेष है। आहाहा! ऐसे गर्म पानी पीना और एक बार खाना, ब्रह्मचर्य पालना, अमुक किया, उसमें जिसे राग में रस चढ़ गया है। आहाहा! उसे उस राग बिना की चीज़ जो अपनी है, उसकी सूझ नहीं पड़ती, उसमें उसका प्रेम नहीं जाता, उसमें उसका झुकाव काम नहीं करता। यहाँ (राग के) झुकाव के भाव में यहाँ (आत्मा का) झुकाव काम नहीं करता। आहाहा! ऐसा व्याख्यान, ऐसी बात लोगों को कठिन पड़ती है। आहाहा!

उन्होंने तो कहा था भाई अपने लड़के के नाम से यहाँ भाई आयेंगे। ठीक, परन्तु अब इतना आया न! पच्चीस मिनिट आये न! आहाहा! यह मार्ग ऐसा बापू! जन्म-मरणरहित चौरासी के अवतार का समेटना। चौरासी के अवतार को समेटना और अन्तर आनन्द की शक्तियों की समझ। आहाहा! यह मार्ग अलौकिक है। आहाहा!

इसलिए पुरुषार्थ दृढ़ करके... मोह की ऐसी विचित्र लीला है;... कहाँ-कहाँ अटकेगा? लड़के छोड़कर श्रावक के प्रति का राग। आहाहा! स्त्री छोड़कर श्राविका के प्रति का राग। घण्टे-दो-दो घण्टे राग से बातें करे, तब इसे चैन आवे। पढ़ाने के नाम से भी राग को पोषे। ऐसी बात है। **मोह की ऐसी विचित्र लीला है; इसलिए जीव, पुरुषार्थ दृढ़ करके मोह में न फँसे; इसलिए आचार्य का इस श्लोक द्वारा उपदेश है।** मोह में न फँसे और वीतरागभाव में आवे, इसके लिये यह उपदेश है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ९१

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह -

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥ ९१॥

अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आरोपयति। कस्मात् संयोगात् पंग्वन्धयो सम्बन्धमाश्रित्य। तद्वत् तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं पश्यतीति (मन्यते) मोहाभिभूतो बहिरात्मा।।९१॥

उसका देह में दर्शन-व्यापार का विपर्यास (विपरीतता) बताकर कहते हैं —

यथा पंगु की दृष्टि का, अन्धे में आरोप।
तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप॥ ९१॥

अन्वयार्थ - (अनन्तरज्ञः) भेदज्ञान न रखनेवाला पुरुष, (यथा) जिस प्रकार (संयोगात्) संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर, संयुक्त हुए लंगड़े और अन्धे की क्रियाओं को ठीक न समझ कर, (पगोर्दृष्टिं) लगड़े की दृष्टि को (अन्धके) अन्धे पुरुष में (संधत्ते) आरोपित करता है-यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है; (तद्वत) उसी प्रकार (आत्मनः दृष्टिं) आत्मा की दृष्टि को (अङ्गेऽपि) शरीर में भी (सन्धत्ते) आरोपित करता है-यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता-जानता है।

टीका - जैसे - अन्तर को (भेद को) नहीं जाननेवाला, भेद को ग्रहण नहीं करनेवाला पुरुष, लँगड़े की दृष्टि को अन्ध पुरुष में जोड़ता है, आरोपित करता है। काहे से ? संयोग से अर्थात् लँगड़े और अन्धे पुरुष के सम्बन्ध का आश्रय करके। इसी तरह देह और आत्मा के संयोग के कारण, आत्मा की दृष्टि को, शरीर में भी आरोपित करता है अर्थात् मोहाभिभूत बहिरात्मा मानता है कि 'शरीर, देखता है'।

भावार्थ - शरीर और आत्मा के संयोगसम्बन्ध के कारण, अज्ञानी को भ्रम होता है कि शरीर की क्रिया, जीव करता है—इस बात को आचार्य दृष्टान्त से समझाते हैं। अन्धा, लँगड़े को कन्धे पर बैठाकर मार्ग में जा रहा है। सही मार्ग पर जाने के लिए

लँगड़ा, अन्धे को इशारा करता है। लँगड़े-अन्धे दोनों का संयोगरूप जोड़ा है। मार्गगमन में लँगड़े की दृष्टि और अन्धे के पैर काम करते हैं। इन दोनों की संयुक्त गत का भेद नहीं जाननेवाला कोई मन्द दृष्टिवाला पुरुष यह समझता है कि यह अन्धा ही सावधानीपूर्वक देखकर चल रहा है परन्तु यह उसका भ्रम है; इसी प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग सम्बन्ध का भेद नहीं जाननेवाला बहिरात्मा, शरीर की क्रिया को, आत्मा की क्रिया समझता है अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानता है— यह उसका वैसा ही भ्रम है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे - अन्धे की गति में लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है अर्थात् जैसे उस गति और दृष्टि में कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं, परन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; इसी तरह शरीर की गति का कर्ता, आत्मा नहीं है। किसी समय दोनों के मध्य, मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होता है परन्तु कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं होता। अज्ञानी को संयोगसम्बन्ध के कारण, दोनों के एकपने का भ्रम हो जाता है और इसलिए वह शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर की क्रिया, जीव करता है—ऐसा मानता है। 'निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है'।[१] ॥९१॥

आषाढ़ कृष्ण ६, मंगलवार, दिनांक २९-०७-१९७५, श्लोक-९१, प्रवचन-१०४

---

९१ गाथा। **उसका देह में दर्शन-व्यापार का विपर्यास (विपरीतता) बताकर कहते हैं—** अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह देह देखता है। आत्मा देखता है, उसका उसे भान नहीं। यह आँख से दिखता है, कान से ज्ञात होता है, ऐसे वह देह में आत्मा का आरोप करता है, यह दृष्टान्त कहते हैं।

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥ ९१॥

---

१. बज्झ कारण निरपेक्खो वथ्थु परिणामो। (वस्तु का परिणमन, बाह्यकारण से निरपेक्ष होता है।)
- श्री जयधवल, पृष्ठ-११७, पुस्तक-७

यथा पंगु की दृष्टि का, अन्धे में आरोप।
तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप॥ ९१॥

आत्मा और शरीर का भेद न जाननेवाला, अन्तर और भेद नहीं जाननेवाला। भगवान आत्मा, वह तो जानने-देखनेवाला है। यह देह है, वह जानने-देखनेवाला है? देह तो अन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : मस्तिष्क में.... मस्तिष्क जिसका अच्छा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : मस्तिष्क अच्छा-बच्छा, मस्तिष्क के साथ क्या काम है? ऐई! यह सुमनभाई का मस्तिष्क बढ़िया होगा आठ हजार वेतन मिलता है तो?

मुमुक्षु : ऐसा कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा जाता है। वह तो ज्ञान का क्षयोपशम है, वह तो जीव में है। और यह काम देह से चलता है, वह तो जैसे अन्ध चलता है (और) पंगु सिर पर बैठा हो, वह आँख से देखे। पंगु समझते हो पंगु? इस अन्ध के ऊपर बैठा हो, आँख उसकी (पंगु की) है, चलता है वह क्रिया (अन्ध की) इसकी है, परन्तु अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि यह अन्ध स्वयं चलता है देखकर। आहाहा! क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान से जाने सही, परन्तु देह और ज्ञान की पर्याय को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् कि ज्ञान जाने और देह की क्रिया, उसमें वह ज्ञान का जानना निमित्त। निमित्त अर्थात् कि वह करे नहीं कुछ उसका। आहाहा!

आँख से ऐसे देखना चाहता है। आँख तो जड़ है। वह तो अन्ध है, वह तो... देखता तो आत्मा है अन्दर। अन्ध के ऊपर पंगु बैठा हो और पंगु उसे खींचे। इससे उसे ऐसा लगता है कि यह अन्धा ही चलता है यह देखकर। देखनेवाला तो अन्दर पंगु खड़ा है। चलनेवाला पंगु नहीं, चलनेवाला अन्धा है। चलनेवाले को पैर है न? आहाहा!

टीका - अन्तर को (भेद को) शरीर और आत्मा का भेद नहीं जाननेवाला, भेद को ग्रहण नहीं करनेवाला पुरुष, लँगड़े की दृष्टि को अन्ध पुरुष में जोड़ता है,... लंगड़ा सिर पर बैठा है, अन्धा चलता है। इसलिए मानो कि उस लंगड़े की दृष्टि है वह इसकी है। वह अन्ध देखता हुआ चलता है, ऐसा अज्ञानी को हो जाता है। आहाहा! वह

लँगड़े की दृष्टि को अन्ध पुरुष में जोड़ता है, आरोपित करता है। काहे से ? संयोग से... ज्ञान का जानना और शरीर का हिलना इन दोनों का संयोग है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु वह निमित्त ज्ञान है, वह शरीर को हिलाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक व्यक्ति तो कहता था कि सचेत शरीर, इस शरीर को जहाँ जाना हो, वहाँ जाता है। अर्थात् इस शरीर में ताकत है आत्मा की। ऐसा अखबार में आया था। आहाहा! ऐसा कि जहाँ ले जाना हो, वहाँ शरीर स्वयं सचेत है न ? ऐसा। इसलिए यहाँ पैर रखना तो वहाँ ही रखे, ऐसे रखना हो तो ऐसे रखे, ऊँचे रखना हो तो ऊँचे रखे, नीचे रखना हो तो नीचे रखे।

मुमुक्षु : इसलिए शरीर से धर्म मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं।

यहाँ तो यह बात दिखलाते हैं कि लंगड़े की दृष्टि को अन्ध में आरोपित करते हैं। उसी प्रकार भगवान ज्ञान की दृष्टि को अज्ञानी शरीर में आरोपित करते हैं। मानो शरीर जानकर काम करता हो, ऐसा। बराबर हाथ वहाँ जाये रोटी के समय, सब्जी के समय, उस समय, पैर उठाने के समय, पैर नीचे रखने के समय, पैर ऐसे शीघ्रता से लेने के समय, पैर धीरे लेने के समय, वह पैर की क्रिया जाननेवाला देह है, ऐसा जानकर वह क्रिया करता है, ऐसा मानता है। समझ में आया ? आहाहा!

परमात्मप्रकाश में तो एक लिया है यह वह। धर्म, अर्थ और काम आते हैं न, तीन बोल ? वहाँ तो उन्होंने लिया है कि धर्म अर्थात् मुनिपने का आचरण जो है वह। वह पुण्य है, हेय है, वह धर्म नहीं।

मुमुक्षु : .... आत्मा में।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म है न ? धर्म अर्थात् पुण्य, अर्थ अर्थात् पैसा यह धूल आदि। सेठ! यह पैसा तुम्हारा सब।

मुमुक्षु : इनके बिना चले ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके बिना ही चलता है।

यह बुन्देलखण्ड के सब बादशाह। यह तो इनकी नम्रता दिखती है, बाकी वहाँ तो पूरी बड़ी लाईनें भरी है तम्बाकू की। वह क्या कहलाते हैं वह? मकान। इनके घर में ६०-६० तो मोटरें। मोटर का क्या करे सुधारने का घर में। क्या कहलाता है सेठ? रिपेयरिंग करने का घर में है न? वहाँ हमारा वह था न वह वहाँ कराता था। यह कुछ गड़बड़ की होगी। वह तो बाहर की चीज़ है, वह जड़ की सम्पदायें हैं, वह आत्मा की नहीं। आहाहा!

आत्मा जाने और जहाँ चोट मारनी हो, वहाँ हाथ ऐसे पड़े। हथौड़ी, वह शाक-सब्जी को छीलना हो तो ऐसे। यह मानो कि वह शरीर जानकर ऐसा काम करता है। क्योंकि बराबर सब्जी का छीलना ऐसा हो, रोटी का टुकड़ा ऐसा हो। कलम-कलम, शीशपेन। ऐसे घुमाते जाये और वह सरीखी अणी निकाली हो तो? वह डिजाईन। इसलिए वह क्रिया जड़ के ख्याल से करता है, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। क्योंकि बराबर, ऐसे शीशपेन सरीखी करनी हो तो ऐसे से ऐसे करता जाये, ऐसे करता जाये, पतली करता जाये। कलम। परन्तु वह तो अन्ध की क्रिया है। आहाहा! अन्दर देखनेवाला तो जानता है। जाने, वह निमित्त है और यह क्रिया होती है, वह नैमित्तिक है। ऐसे सम्बन्ध के कारण अज्ञानी को (लगता है कि) निमित्त उसका कर्ता है। यह शरीर उसका कर्ता है, यह शरीर उसका कर्ता है, ऐसा न मानकर यह जाननेवाला उसका कर्ता है। क्योंकि वह जानकर काम ऐसा ही बराबर करे, लो।

रोटी टुकड़ा आया और अन्दर कुछ कंकड़ी आ गयी, तो एकदम जीभ छाँटकर निकाल डाले, लो! अब यह खबर तो ज्ञान को है, क्रिया होती है जड़ की। परन्तु उस जड़ को भी ख्याल है, इसलिए ऐसे छाँटती है, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। समझ में आया? आहाहा! बहियों का नामा निकालना हो तो फट... फट... फट... पृष्ठ फिरावे, लो! है तो वह जड़ की क्रिया। ऐसे से ऐसे। ऐसे से ऐसे। और जो पृष्ठ निकालना हो, वह निकाले। तब वह ख्यालवाला है, इसलिए वह क्रिया उसमें होती है न?

मुमुक्षु : ख्याल है, इसलिए होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है। यह अन्ध है यह शरीर, भगवान जाननेवाला है।

इस अन्ध के ऊपर लंगड़ा चढ़ा है। पैर है अन्ध के, आँख है उसकी (पंगु की)। परन्तु वह आँख देह में लगा देती है, उस अन्ध में लगा देता है, ऐसे इस शरीर में बराबर जानने का काम करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : चलना हो तो चले कहीं शरीर थोड़ा....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह चलने का हुआ, वह तो जड़ की क्रिया हुई है। ज्ञान ने जाना कि यहाँ चलने का है ऐसा। जाना। जाना, इसलिए चलने की क्रिया हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन भाई!

यह तो सवेरे आया था न, लौकिक साधनमात्र नहीं। आहाहा! भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। वह तो पुण्य की क्रियाओं के भाव से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। पुण्य की क्रिया, वह अन्ध है, जैसे यह शरीर अन्ध है। अन्ध है, उस जड़ को कहाँ भान है अन्दर यह? जीभ को, आँख को भान है? वह तो जड़ है। इसी प्रकार राग, दया, दान, व्रत आदि के आचरण का राग, वह अन्ध है। आहाहा! वह भी वास्तव में अचेतन है। चेतन तो ज्ञान है, वह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, वह जानने का काम करे और ऐसी क्रिया में नैमित्तिक क्रिया उससे होती है, उसे ज्ञान निमित्त कहलाता है। परन्तु निमित्त कहलाता है; इसलिए ज्ञान ने जाना, इसलिए वहाँ क्रिया उसके कारण से, इसके कारण से हुई, ऐसा नहीं है। चिमनभाई! यह सब करते हो न, क्या कहलाते हैं तुम्हारे? मकान-बकान यह और वह। क्या कहलाते हैं वे? कॉन्ट्रेक्टर। कॉन्ट्रेक्टर। इंजीनियर। वे सब जानपने बिना होती होंगी देह की क्रिया सब?

सुमनभाई! यह पेट्रोल का काम करे, लो! मैल निकालने की क्रिया करे। ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... भाषा ऐसी निकले। वहाँ क्रिया... वह तो जाननेवाला है, परन्तु जाननेवाले को भाषा में आरोप करते हैं कि भाषा जानकर ही ऐसी बराबर भाषा निकलती है। ऐई! ऐसी ही भाषा निकलती है? जो इसे कहना चाहना है ज्ञान में, ऐसी ही भाषा होती है। इसलिए भाषा अन्धी नहीं, भाषा जानकर निकलती है। ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को वह कर्ताकर्म सम्बन्ध में लगा देता है। आहाहा! समझ में आया?

लँगड़े और अन्धे पुरुष के सम्बन्ध का आश्रय करके। लंगड़ा बैठा है सिर पर, अन्धा चलता है। **इसी तरह देह और आत्मा के संयोग के कारण,...** देह है, वह अन्ध है; आत्मा है, वह पंगु है। चलने की क्रिया के लिये वह पंगु है, देखने के कारण के लिये जागता है। आहाहा! आत्मा चलने की क्रिया के लिये पंगु है।

मुमुक्षु : आत्मा पैर बिना का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैर नहीं, शरीर नहीं, उसकी क्रिया भी नहीं उसमें। आहाहा! ऐसा है। बराबर शरीर को ऐसे जाने, है पंगु आत्मा, परन्तु उसके ख्याल में-ज्ञान में आवे, उसमें शरीर चले तो मानो शरीर को ख्याल हो, इसलिए शरीर चलता है। आहाहा! ऐसा ज्ञान का स्वभाव यहाँ (है परन्तु) वहाँ देह की क्रिया में भाषा में आरोप करते हैं। आहाहा!

जैसा कहना चाहे, वैसी भाषा आवे, तब कहीं भाषा में भी शक्ति होगी या नहीं जानने की? आहाहा! अन्ध भारी! आहाहा! यह सब अन्ध की क्रियायें हैं—हिलना, चलना, बोलना यह जड़ मिट्टी। उसमें आत्मा तो पंगु है, चलने के लिये पंगु है, देखने के लिये जाननेवाला है। आहाहा! कहाँ ले गये बात को किस प्रकार? समाधि न मानकर असमाधि उसे होती है। शरीर की क्रिया जैसी होनी चाहिए, ज्ञान में जाने कि ऐसा होना चाहिए शरीर में तो उसी प्रकार से शरीर में हो, इसलिए मानो शरीर में उस प्रकार का ख्याल होगा? ख्याल करनेवाला तो भगवान अलग चीज़ है। और क्रिया होनेवाली चीज़ है, वह जड़ की अलग चीज़ है। आहाहा! कहो। गाल को फुलाना, पोचा करना, ऐसा करना। होता है न लो। यह होंठ। देखो! इसकी क्रिया कुछ ख्याल में रहे कि मुझे ऐसा करना है। तब होती है या नहीं? वह क्रिया जड़ की-अन्ध की है। वह तो अन्ध जड़ है, उसकी क्रिया है। आत्मा तो जाननेवाला भिन्न है। जाननेवाले के कारण यह क्रिया है। ऐसे देखो इसमें निमित्त का कैसा उड़ा दिया है? अब निमित्त के ऐसे प्रतिशत डालते हैं! आहाहा!

लँगड़ा लकड़ी के कारण चलता है या नहीं? साधारण (स्थिति) होवे तो लकड़ी बहुत रखे साधारण हो तो। आँख हो तो भी रखे जरा अवस्था हो। ५०-६०

इसलिए। फिर और लकड़ी ऐसे-ऐसे चलाता जाये। हाथ ऊँचा रखकर। है न ऐसी आदत होती है न? लकड़ी हाथ में हो। किसी समय छुआवे। तो वे सब क्रियायें छुआना हो, तब छुए और छुआना न हो, तब ऐसे-ऐसे हो। लो! उस क्रिया में कुछ शक्ति होगी या नहीं जानने की? तो इस प्रकार से व्यवस्थित क्रिया कैसे हो परन्तु?

एक समय की पर्याय ही उसकी-जड़ की-अन्ध की उस पर्याय का उसका जन्मक्षण है। वह जड़ की पर्याय का उत्पाद का जन्मक्षण है, उत्पत्ति का वह काल है। इसने जाना, इसलिए ऐसा होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह शास्त्र बनाने का भाव हो, लो! तत्प्रमाण शास्त्र के अर्थ हों, टीका हो। **'वंदित्तु सव्व सिद्धे'** यह शब्द ख्याल में आया। तो इसका अर्थ कैसा करे? सर्वसिद्धों को वन्दन करते हैं। अब वह क्रिया होती है, यह कहते हैं कि जाननेवाले की क्रिया उसमें आती है। जाननेवाला उसमें नहीं आता हो तो ऐसी क्रिया ऐसे ही शब्द का अर्थ ऐसा ही कैसे होगा? ऐई..! आहाहा! क्या होगा यह तुम्हारा? गिरधरभाई! इन सब कार्यकर्ताओं का क्या होगा यह सब? आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी मान्यता होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कि आज भाई मोटर में वस्त्र डालकर गरीबों को गाँवों में कपड़े देने जाना है, लो! और थोड़ा अनाज भी साथ में लेना। बहुत भीड़ (तकलीफ) हो उसे अनाज भी देंगे। अब ख्याल में ऐसा आया उसे वह क्रिया उस प्रमाण होती है, लो। मोटर, कपड़ा और अनाज उसमें जाकर। गाँव में खड़े रहे। बेचारे लोग इकट्ठे हों। गरीब (हों) उन्हें अनाज, कपड़े दे, साधारण लोगों को अनाज दे, कपड़ा इत्यादि दे। क्या होगा यह सब? अन्ध करता होगा? अन्ध को उसे व्यवस्थिति की क्रिया का ज्ञान नहीं होता और अन्ध करे? उसकी व्यवस्थिति का ज्ञान तो आत्मा को है। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं, भाई! आहा! उसे जड़ और चैतन्य की भिन्नता की भी खबर नहीं। भिन्न भगवान जाननेवाला है और भिन्न क्रिया जड़ की है। आहाहा!

देह और आत्मा के संयोग के कारण, आत्मा की दृष्टि को, शरीर में भी आरोपित करता है... ऐसा। है दृष्टि आत्मा की, उसमें तो रखे, यह तो शरीर में भी आरोप करते हैं। आहाहा! सब लिखा है, हों! परमात्मप्रकाश में यह सब। ऐसा कि शास्त्र टीका

करे, वह सब बात ली है। यह आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : लिखा है कर्ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता किस प्रकार? वह तो निमित्त की बात है। निमित्त से बतलाते हैं कि यह कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ है। निमित्त था, उसे बतलाया है। बाकी ख्याल में आया कि इस गाथा का ऐसा अर्थ और स्पष्टीकरण होना चाहिए टीका का, तो वह टीका हुई, वह तो अन्ध रजकण ने की है। ओहोहो! बहुत मार्ग!

जीव जहाँ दिखाई दिया, ख्याल में आया, पैर वहाँ नहीं पड़ना चहिए, पैर सीधे अध्धर रहता है, लो। यह ख्याल में आया कि यह जीव नीचे है, इसलिए पैर अध्धर रहा? आहाहा! ऐसा नहीं है। यह कठिन काम, बापू! आहाहा! यह वीतरागमार्ग! जड़ और चैतन्य की भिन्नता को जाने बिना कुछ... मोटर ऐसे चलती हो, लो! वहाँ सामने गाय आयी। एकदम मोटर को ऐसे करनी पड़े। भटक न जाये। नीचे एक हिरण आया। दिन हो तो दिखाई दे, रात्रि में तो न दिखाई दे। वह धीमी कर दे, धीमी पड़ गयी। ख्याल में आया इसलिए धीमी पड़ गयी? और ख्याल में आया, इसलिए ऐसे तिर गयी? अरे... यह वह क्या बात है?

मुमुक्षु : वह लगता तो ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या लगता है? अन्ध के ऊपर लंगड़ा बैठा और लंगड़े की आँख और अन्धे के पैर। अब उस लंगड़े की आँख ने पैर चलाये हैं? बापू! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग बहुत अलग मार्ग है। अभी तो बड़ी गड़बड़ चलती है। आहाहा! यह मन्दिर में जैसा रंग करना हो, वैसा रंग करे, लो! देखो, यह क्या किया सामने? यहाँ सोने का करना, यहाँ चारों ओर वह करना। भगवान ने कहा...

मुमुक्षु : भगवान के पास यह श्लोक लिखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्लोक। और दिखाने के लिये क्या कहलाता है लाईन-लाईन। किनारी। यह किनारी ऐसी करना। अब ख्याल में आया तत्प्रमाण किनारी वहाँ होती है। इसलिए जाननेवाले ने किनारी की? कठिन बातें! यह वजुभाई ने किया है सब

दिखाने को। अच्छा दिखाने के लिये यह चारों ओर किनारी की, अच्छा दिखेगा, अमुक। ऐई! कहाँ गये वजुभाई? लो! ऐसी बात कैसी होगी यह?

भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि अजीव और जीव की क्रिया समय-समय की अत्यन्त भिन्न है। उस जड़ की क्रिया में आत्मा जाननेवाला सही, परन्तु जाननेवाला है, इसलिए वह क्रिया हुई है, आत्मा ने की है (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : यह बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : मर जाता है ऐसा का ऐसा। यह तो सेठिया है और फिर कार्यकर्ता (ऐसा) दोनों है, इसे आरोप। गाँव के सेठिया हैं, वहाँ विशाश्रीमाली।

मुमुक्षु : सेठिया को पेढ़ी दर पेढ़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेढ़ी दर पेढ़ी। बड़ा घर। विशाश्रीमाली में बड़ा घर। और वापस कार्यकर्ता निकले उसमें यह। इसलिए डबल जोखिम। आहाहा!

अरे... प्रभु! कहते हैं कि यह जड़-मिट्टी शरीर, यह वाणी जड़, क्रिया लिखने की, वाँचने की, बोलने की, यह मकान बनने की, भाषा निकलने की यह क्रिया सब अन्धों ने-जड़ ने की है। आहाहा! कैसे होगा प्रेमचन्दभाई! ऐसे कपड़ा जो बतलाना हो, वह बतावे, लो! अटलस नहीं वह पाटला होते? क्या कहलाता है वह? कपड़ा नहीं?

मुमुक्षु : तह-तह सरीखी।

पूज्य गुरुदेवश्री : तह-तह सरीखी। यह सरीखी हो तो इसे आवे, वह कर सके। दूसरे को बैठावे तो कुछ का कुछ करे। पृथक् किया हो परन्तु वापस कैसे बैठाना? वह अटलस में नहीं पाटा? घड़ी बैठावे। ऐई... चिमनभाई! तुम्हारे तो यह बहुत मकान-बकान करने का होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मकान के बड़े कॉन्ट्रैक्टर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कॉन्ट्रैक्टर। जड़ के कॉन्ट्रैक्टर हैं। उसमें पैसे पैदा हों लाखों। इसलिए होशियार व्यक्ति ने, इस कारीगर ने काम किया, यह ऐसा कहे। यह कहते हैं

कि देखते की आँखें अन्ध के आरोप करते हैं। जाननेवाले की आँख देह की क्रिया में आरोप करते हैं... उसी प्रकार भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव (कहते हैं कि) शरीर और वाणी की क्रिया से भगवान आत्मा का ज्ञान भिन्न है, ऐसा वह नहीं जानता। बहिरात्मा मूढ़ है। आहाहा! पूरा वर्ग ही यह है। पूजा के समय भी बराबर चावल या यह पीले चावल होते हैं या खोपरा पीला करते हैं और फूल। लो, स्वाहा... स्वाहा... कहते हैं कि वह क्रिया तो अन्ध की-जड़ की है। जाननेवाला आत्मा तो जानता है कि यह होता है। आहाहा! कठिन काम, बापू! सूक्ष्म शल्य की उसे खबर नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगियाँ व्यतीत करता है। जीव और अजीव दोनों भिन्न, ऐसा बोले सही। परन्तु मानने में वापस गड़बड़ उठावे। आहाहा!

मुमुक्षु : मात्र निमित्त वह हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या? निमित्त अर्थात् कि जो क्रिया उससे स्वतन्त्र होती है, तब उस निमित्त की उपस्थिति को जाननेवाला निमित्त कहा जाता है। उससे हुई है तो वह निमित्त कहाँ रहा? यह कहेंगे यहाँ स्पष्टीकरण। आहाहा!

मोहाभिभूत बहिरात्मा... मोह में घिरा हुआ बहिरात्मा यह बाहर की क्रिया आत्मा करता है और जाननेवाला है, यह विचिक्षण है। कहो, तुम यह दोनों रहे। एक यह और यह तुम्हारा सुमनभाई साथ में और तुम इसके काम में, यह तेल में। इसके बिना वेतन देते होंगे आठ हजार महीने? होशियारी बिना? आहाहा! ऐई! तेल का क्या कहलाता है? मैल निकालते हैं न, मैल? कूचा। उसे क्या कहा जाता है वह?

मुमुक्षु : रिफाईनरी, तेल की शुद्धि।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धि। यह उसका ऑफिसर है। मुफ्त में देते होंगे। आठ हजार वेतन है महीने में इसे। यह रामजीभाई का पुत्र है। यह बिना पढ़ाये इसे इतन पैसे खर्च करके ३५ हजार? अमेरिका में। उस समय ऐसा नहीं था।

मुमुक्षु : परन्तु था, वह मान्यता की।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान्यता करे। परन्तु उस समय ऐसी मान्यता नहीं थी, ऐसा।

ऐई! हमने पढ़ाया है, हमने इसे पढ़ाकर होशियार किया। आहाहा! उसकी पढ़ने की क्रिया तो उससे उसमें हुई। जाननेवाला जानता है कि हुई। यह कहे मुझसे हुई और मैंने इसे होशियार किया। भगवान कहते हैं कि तू भ्रम में पड़ा है। तेरी श्रद्धा में तुझे भ्रमणा है। भले तेरा आचरण चाहे जो राग की मन्दता का, पूजा, दया, भक्ति का हो, परन्तु भ्रमणा में तेरी मिथ्यात्व के शल्य में वह क्रिया मुझसे होती है, यह मान्यता मिथ्यात्व को पोषण करती है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, बापू! भारी कठिन! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर (के अतिरिक्त) ऐसा मार्ग कहीं नहीं है। कहीं अन्यत्र इसके अतिरिक्त (नहीं है)। उनके माल में ऐसी सूक्ष्मता इसलिए उनके माननेवाले भी वापस उल्टा माने। हम जैन हैं, हम ऐसा करते हैं... हम ऐसा करते हैं... हम ऐसा करते हैं... आहाहा! पाठशालायें पढ़ाते हैं। जादवजीभाई गये? छोड़ने गये होंगे। छोड़ने गये।

भावार्थ। बहिरात्मा मानता है कि शरीर देखता है। ऐसा है न? शरीर में एक जानने की शक्ति है कि जिससे व्यवस्थित काम शरीर करता है। कान्तिभाई! यह तुम्हारे सब प्लेन में कैसे काम करते हैं, लो! टोपी पहनते। कान्तिभाई! पन्द्रह सौ मासिक वेतन। प्लेन में थे। छोड़ दिया। नौकरी छोड़ दी। दो वर्ष की। डेढ़ हजार वेतन। वहाँ हम प्लेन में जाते न तब सब काम करने ये आते थे। टिकिट, अमुक, अमुक, बैठाने प्लेन में। यह सब क्रिया करते होंगे या नहीं? आहाहा! कोई क्या करे, बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! भगवान आत्मा तो शरीर की क्रिया के लिये पंगु है। पर की क्रिया के लिये आत्मा पंगु है। और पर की क्रिया जो जड़ की होती है, वह सब जड़ अन्ध है। आहाहा! भारी कठिन काम।

वह तो अन्ध, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, शुभभाव, वे अन्ध हैं। आहाहा! भारी कठिन बात, बापू! क्योंकि वह राग है, वह राग अन्ध है। राग जानता नहीं। ज्ञान जानता है कि यह राग हुआ, परन्तु राग की क्रिया, वह ज्ञान की क्रिया है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग, बापू! अभी तो गड़बड़ ऐसी चली है कि यह बात सुननेवाले को तो ऐसा लगता है कि आहा... यह और नया पंथ कहाँ से निकाला? ऐई! नया नहीं, भाई! वीतरागमार्ग का अनादि सनातन सत्य पंथ यह है।

समझ में अया ? तुमको सुनने को मिला न हो, इसलिए कहीं नया कहलाये ? आहाहा !

बिल्ली के बच्चे को ४९ दिन में आँख आवे (खुले), तब वह दुनिया को देखता है। वह कहे कि ओहोहो ! यह दुनिया तो नयी हुई लगती है। तुझे ज्ञात हुआ इसलिए। वहाँ तो नयी नहीं है। वह तो है वह है। तुझे जानने में आया कि आँख उघड़ने के बाद कि यह जगत है। आहाहा ! ऐसा ज्ञान ने जाना कि यह जड़ में क्रिया होती है। यह तो जाना इसने इतना। परन्तु इसके कारण क्रिया होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! ऐसा मार्ग ! कहो, यह यात्रा करे पालीताणा की और सम्मेदशिखर की। कहते हैं कि यह चलने की क्रिया वह जड़ की है, ऐसे-ऐसे चले वह। आत्मा पंगु है, जानता है। शरीर अन्धा है, वह पैर से ऐसे... आहाहा ! परन्तु उस अन्ध की क्रिया में आत्मा के ज्ञान का आरोप देते हैं कि मेरी विचिक्षणता के कारण यह शरीर की क्रिया ऐसी होती है। आहाहा ! मूढ़ बहिरात्मा है। उसे सत्य की वस्तु की स्थिति खबर नहीं। वह पूजा और भक्ति करे तो (भी) मूढ़ और मिथ्यादृष्टि है। आहाहा !

मुमुक्षु : वह भक्ति करता है इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे नहीं, उससे मानता है कि मैं शरीर को हिलाता हूँ, और यह भाव होता है, वह धर्म है, ऐसा मानता है। वह तो पुण्य है। यात्रा का भाव, भक्ति का भाव, वह तो शुभभाव है, पुण्य है; वह धर्म नहीं। आहाहा ! वस्तु ऐसी बहुत सूक्ष्म, भाई !

परमात्मा अरिहन्तदेव सर्वज्ञ परमेश्वर (का) यह हुक्म है कि अन्ध चलता है, उसे देखनेवाला दिखाता है, इसलिए चलता है-पंगु दिखाता है, इसलिए चलता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! ऐसी देह की क्रिया, लिखने की क्रिया, बोलने की क्रिया, यात्रा में चलने की क्रिया, आहा ! पैसा दान दे, लो न यह ! वह सब अन्ध की क्रिया है। वह जड़ है, वह ऐसे-ऐसे होता है। यह वह कहे मेरे ख्याल में आया है न, इस ज्ञान में इसमें ख्याल है, उसे कुछ। उसके बिना आत्मा पाँच रुपये का नोट देना हो तो पाँच रुपये का नोट निकाले, लो ! ऐई ! बनिया कोई पाँच के पच्चीस दे देगा ? तो वह नोट की क्रिया में कुछ न कुछ जानने का अंश इकट्ठा हुआ, तब कार्य पाँच का हुआ, नहीं तो पच्चीस का क्यों नहीं हुआ ? जेठाभाई ! तुमने तो बहुत नामा लिखा है। ओडिटर थे न ओडिटर।

मुमुक्षु : लिखे नहीं, जाँचे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाँचे हैं। भूलें निकाली। आहाहा!

प्रभु! तेरा मार्ग अलग नाथ! आहाहा! क्षण-क्षण में होती जड़ की क्रिया को भगवान अन्ध क्रिया कहते हैं और उस-उस क्षण-क्षण में जानता आत्मा उसे देखता पंगु है। वह क्रिया कर नहीं सकता। आहाहा! यह सब होशियार व्यक्ति कहलायें। धन्धे-पानी में बड़े दस-दस लाख पैदा करे। लो! आहाहा! क्या करे?

लो, यह साहूजी, शान्तिप्रसाद, सुना भाई! साहूजी की पत्नी, ५८ वर्ष में देह छूट गयी। रमारानी। शान्तिप्रसाद की (पत्नी)। चालीस करोड़ रुपये हैं। अभी गुजर गयीं। कुछ नहीं एकदम हार्टफेल। लो घर में ४०-४० लाख के बँगले हैं दिल्ली में।

मुमुक्षु : सेठ कहते हैं बँगला कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ४० करोड़ रुपये हैं। ५८ वर्ष की उम्र अर्थात? अभी तो ७०-७०, ८० वर्ष के बहुत हैं। चूड़ा में तो बहुत ब्राह्मण और वृद्ध। पहले से, हों! दूसरे की अपेक्षा ब्राह्मण, राजपूत ८०-८०, ८५ खबर है न! ७१ में आये थे, फिर यह बड़ी उम्र के बहुत... वहाँ। ऐसा ही कोई पानी और ऐसा कुछ है वहाँ बड़ी उम्र के ब्राह्मण बहुत, राजपूत बहुत। ८५-८५ वर्ष। ववाणिया में भी थे वयोवृद्ध अपने।

मुमुक्षु : चूड़ा के छोटाभाई यह रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छोटाभाई भी उस समय छोटे थे न। अभी इन्हें ८२ हुए। परन्तु यह तो तब बहुत। पहले-पहले गये तब गाँव में वृद्ध मनुष्य बहुत दिखें। बनियों में भी वृद्ध महिलायें बहुत दिखें। ऐसी ही कोई आयुष्य की स्थिति, इसलिए वहाँ आये हों, परन्तु उसके कारण यह पानी यहाँ का अच्छा है, इसलिए आयु की स्थिति ऐसी रही, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! अरे... गजब बात, भाई! और पथ्य आहार खाये, अपथ्य खाये नहीं, रात्रि में नींद ठीक से ले, धीरे से चले, ऐसा करे तो उसका आयुष्य लम्बा बढ़े, ऐसा अज्ञानी मानता है। माननेवाले मूढ़ बहिरात्मा हैं। उन्हें वीतरागमार्ग की श्रद्धा की खबर नहीं। आहाहा! कहो, प्रेमचन्दभाई!

मुमुक्षु : हमारी सब बातें खोटी? एकाध तो सच्ची रखो?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाधी सच्ची कही न! जड़ को जड़ करता है, ऐसा न मानकर आत्मा करता है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा इसकी सच्ची। सच्ची रखनी है न? आहाहा!

शरीर और आत्मा के संयोगसम्बन्ध के कारण, अज्ञानी को भ्रम होता है कि शरीर की क्रिया, जीव करता है—इस बात को आचार्य दृष्टान्त से समझाते हैं। लो, आये पोपटभाई। **अन्धा, लँगड़े को कन्धे पर बैठाकर...** अन्धे ने लंगड़े को कन्धे पर बैठाया। **मार्ग में जा रहा है।** अन्धा रास्ते में जा रहा है। आड़ी-टेढ़ी वाड़ में नहीं जाता वह। रास्ते में जा रहा है। रास्ता होता है न? एक गाडा रास्ता होता है, पैर रास्ता होता है। वहाँ जा रहा है।

सही मार्ग पर जाने के लिए लँगड़ा, अन्धे को इशारा करता है। ठीक रास्ते जाने के लिये लंगड़ा ऊपर जो बैठा है (वह) अन्ध को ईशारा करता है। **लँगड़े-अन्धे दोनों का संयोगरूप जोड़ा है। मार्गगमन में लँगड़े की दृष्टि और अन्धे के पैर काम करते हैं। इन दोनों की संयुक्त गति का भेद नहीं जाननेवाला...** दोनों के सम्बन्ध की गति की जुदाई नहीं जाननेवाला **कोई मन्द दृष्टिवाला पुरुष यह समझता है कि यह अन्धा ही सावधानीपूर्वक देखकर चल रहा है...** अन्धा ही सावधानीपूर्वक देखकर चल रहा है। यह सब तुम्हारे व्यापार का आया था इसमें? व्यापार यह सब करके जानकर ध्यान। कि ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... यह ज्ञान उसका (है न) तो हो जड़ की। वह जड़ की क्रिया अन्ध है।

मुमुक्षु : टाईल्स में कैसा रंग और भात...

पूज्य गुरुदेवश्री : डाले। यह टाईल्स का बड़ा व्यापार है इसे। कहो, थाणा में बड़ा है, मुम्बई में बड़ी फैक्टरी है। पोपटभाई को पहिचानते हो न? उसके पास दो करोड़ रुपये हैं, ऐसा लोग कहते हैं। बात सुनी है। अपने कहाँ... ?

मुमुक्षु : बुद्धि के कमाई के हो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके रुपये?

अन्ध के ऊपर लंगड़ा बैठा, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध। अन्ध का पैर और लंगड़े की आँख, परन्तु आँख के कारण अन्धा चलता है, ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन काम भाई! कहो, सुमनभाई! यह सब चतुराई-बतुराई तो उड़ जाती है इसमें तो। चतुराई नहीं? है तो है। परन्तु वह काम करती है, ऐसा नहीं। आहाहा! आँख है, वह तो जीव की है ज्ञान की, हों! परन्तु इसे ऐसा हो जाता है कि यह आँख देखती है। वह तो जड़ है। आँख तो यह जड़ है, यह तो पोला-छिद्र वह तो जड़ है। इसलिए इसे ऐसा हो जाता है कि यह आँख देखती है।

मुमुक्षु : वह .... क्रिया में न्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : न्याय भगवान करते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का न्याय अनादि से कर रखा है। अनादि से केवली होते आये हैं। अरिहन्त और सर्वज्ञ परमेश्वर अनादि से होते आये हैं। कभी भूतकाल में अरिहन्त केवली नहीं थे, ऐसा नहीं है। अनादि काल से तीर्थंकर, केवली होते आये हैं, मोक्ष जाते हैं, वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में भगवान अरिहन्त केवली विराजते हैं। उनके यह सब कथन हैं। आहाहा! अरे... जैन में जन्मे, उसे खबर नहीं होती कि यह क्या होता है जड़ का और कौन करनेवाला? उसकी भी खबर नहीं होती। और हम धर्म करते हैं। क्या धूल करे धर्म? आहाहा!

यहाँ तो भाई! ऐसा लिया परमात्मप्रकाश में तो, कि धर्म अर्थात्? कि साधुपने का जो आचरण है व्यवहार का, वह धर्म अर्थात् पुण्य, वह भी हेय है; (वह) आत्मा का आचरण नहीं। धर्म की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है। धर्म, अर्थ और काम, तीन से भिन्न, भगवान मोक्ष का पुरुषार्थ भिन्न है। आहाहा! ऐसा कहीं लिखा है परमात्मप्रकाश में। धर्म अर्थात् साधु जो सच्चे सन्त, उनका जो व्यवहार आचरण—दया, दान, व्रत, पंच महाव्रत, ऐसा मुनि का आचरण वह सब शुभभाव, वह पुण्य है, उसे धर्म कहने में आता है। वह धर्म नहीं। वह पुरुषार्थ धर्म का नहीं, वह पुण्य का पुरुषार्थ है। अर्थ—यह पैसा धूल। पुण्य के कारण अर्थ मिले, वह अर्थ का पुरुषार्थ, और काम का पुरुषार्थ—भोग का। धर्म, अर्थ और काम का पुरुषार्थ तीनों हेय है। मोक्ष के लिये होनेवाला पुरुषार्थ, वह एक आदरणीय है। आहाहा!

भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। उसकी जानने की क्रिया अन्दर में एकाग्र हो, वह मोक्ष की क्रिया है। आहाहा! भारी कठिन! इसे निर्णय करना पड़ेगा, भाई! आहाहा! कोई शरण नहीं, कोई शरण देने में समर्थ नहीं। अरिहन्त वे क्या शरण दे? मांगलिक में बोला जाता है अरिहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं, साहू शरणं। वह तो केवलीपण्णंतो धम्मो शरणं, वह शरण है। सर्वज्ञ भगवान ने यह कहा कि तू आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु। आहाहा! यह ज्ञान और आनन्द की प्रतीति स्वसन्मुख होकर करना, उसका स्वसंवेदन से ज्ञान करना और उसमें स्थिर होना, उसे भगवान धर्म कहते हैं। वह मोक्ष का पुरुषार्थ वहाँ होता है। बाकी क्रियाकाण्ड के दया, दान, व्रतभाव में वह मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं है। आहाहा! भारी कठिन पड़े। कहो, कान्तिभाई! भाई! यह पन्द्रह सौ वेतन छोड़ा, इसलिए धर्म हो गया, ऐसा नहीं है। उस प्रकार की पाप की तीव्रता कम (हुई) इतना। ऐई..! ऐसी बात है।

चैतन्य भगवान अन्दर आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से भरपूर पदार्थ है। वह अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेना अन्दर में, आनन्द की दशा की प्राप्ति पर्याय में होना, इसका नाम धर्म है। आहाहा! क्योंकि उस आत्मा का वह आनन्द धर्म है। स्वभाव है। उसमें धर्म आनन्द पड़ा है पूरा। आहाहा! उसमें एकाग्र होकर जो आनन्द की दशा आवे, वह राग बिना की दशा, उसे यहाँ परमात्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का धर्म कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

अमृत के स्व-सामर्थ्य से भरपूर भगवान... आहाहा! यह उसका स्वभाव ही है, यह उसका धर्म ही है। राग की क्रिया जो दया-दान, वह उसका धर्म नहीं। वह उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! यहाँ तो जाननेवाले को, जाननेवाले को जानकर जो अन्दर में एकाग्रता हो, वह उसका ज्ञानधर्म, आनन्दधर्म, उसके धर्म में श्रद्धाधर्म पड़ा था, चारित्रधर्म जो पड़ा था, उसमें एकाग्र होने पर जो पर्याय में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्चारित्र, सम्यक् अमृत का स्वाद आवे। आहाहा! उसे परमात्मा मोक्ष का पुरुषार्थ कहते हैं। आहाहा! अरे... जगत को कहीं... समझ में आया?

अपवर्ग आता है न अपने, नहीं? (समयसार) पहली गाथा। '**वंदित्तु सव्व**

सिद्धे' पुण्य, अर्थ—लक्ष्मी और कामभोग। पुण्य अर्थात् यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह पुण्य है। यह तीनों (वर्ग) है, तीनों वर्ग है। उससे भिन्न मोक्ष का मार्ग, वह अपवर्ग है। आहाहा! वह भिन्न है। आहाहा! वे त्रिवर्ग हैं, यह अपवर्ग है। तीन वर्ग से भिन्न है। मार्ग बहुत... बापू! अनन्त काल इसने ऐसे का ऐसे गँवाया भ्रम में और भ्रम में। जैन का साधु भी अनन्त बार हुआ, साधु हुआ अनन्त बार, परन्तु उसकी यह भ्रमणा गयी नहीं अन्दर से।

मुमुक्षु : .... भव में हुए, इसलिए पड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त बार हुए हैं, अब कितने क्या? उसमें यह दीक्षा का कहा? ठीक। ऐसे आठ हजार क्या लाख की आमदनी महीने में करोड़ की, अरब की, ऐसा अनन्त बार हो गया है, अब नया क्या है उसमें? ऐई!

मुमुक्षु : आँख का तेज अलग। तब ऐसी मशीनें कहाँ थीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भले मशीन न हो। आहाहा! यह वह नहीं? एक राजा नहीं? एक-एक घण्टे की लाख-डेढ़ की आमदनी है। तेल नहीं निकलता?

मुमुक्षु : ईराक।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह देश छोटा है, परन्तु तेल बहुत निकलता है। राजा। एक घण्टे की लाख की आमदनी। एक दिन की चौबीस लाख की आमदनी। लाख, कोई तो डेढ़ लाख कहता है। अखबार में आया था। देश छोटा है, परन्तु यह पेट्रोल-तेल बहुत निकलता है। पेट्रोल बहुत निकलता है? चाहे जो तेल नहीं?

मुमुक्षु : क्रूड ऑयल।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा निकले, बहुत निकले। अब वह कितने करोड़ों-अरबों पैदा करता है। उसे मार डाला उसके भतीजे ने। भतीजा गद्दी पर बैठा है। अब ऐसा तो अनन्त बार हुआ। उसमें धूल में क्या है वहाँ? २४-२४ लाख की आमदनी एक दिन की। वह अभी है न राजा। अब ऐसा कलयुग है, हल्का काल, वहाँ भी ऐसे हैं। तो अच्छे काल में तो अनन्त बार राजा हुआ, अरबोंपति सेठ हुआ और सेठाई छोड़कर साधु

हुआ। परन्तु साधु बाहर का हुआ, अन्दर राग से भिन्नता की क्रिया का भान नहीं होता। वह राग की क्रिया, वह मेरा धर्म। आहाहा! ऐसा मानकर मिथ्यात्व में साधुपने मिथ्यात्व को सेवन किया। एक भव घटा नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

वह गुजर गया नहीं अभी अपने? कहा। गोवा का। शान्तिलाल खुशाल। दो अरब चालीस करोड़। दशाश्रीमाली बनिया अपना यहाँ पानसणा का। दो अरब चालीस करोड़। मर गया अभी नौ-दस महीने पहले। एक दिन में।

मुमुक्षु : एक घण्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक घण्टा क्या, पाँच मिनिट में। यहाँ दर्द होता है, दर्द होता है, ऐसा बोला। रात्रि में डेढ़ बजे उठा। डॉक्टर को बुलाओ। जहाँ डॉक्टर आवे वहाँ भाईसाहब परलोक। जाओ भटकने। आहाहा! ऐई... आया, उसका भानेज बैठा है न, यह बैठा। इनकी बहिन का पुत्र है, यह बैठा। इनके पिता पोपटभाई कहते थे कि मेरे बड़े भाई ले गये थे उसे वहाँ ३५ वर्ष पहले। दुकान चलायी दोनों ने भागीदार में ऐसा कुछ कहते हैं। पोपटभाई कहते थे। उसमें यह ३५ वर्ष में यह सब दो अरब चालीस करोड़ हो गये। पूरा हो गया पुण्य, मरकर चला गया। आहाहा!

और तेरी मामी तो असाध्य है अभी। सुना है? शान्तिलाल खुशाल की बहू है, वह सात महीने से असाध्य है, बेसुध है। आहाहा! रुपया क्या करे वहाँ धूल के? ४०-४० लाख के बँगले हैं गोवा में। वह धूल अनन्त बार मिली, परन्तु आत्मा लक्ष्मी कैसी आत्मा की है? आहाहा! उस लक्ष्मी की इसने कभी सम्हाल नहीं की। चिमनभाई! यह बाहर से मानो दो, पाँच, दस लाख हो गये, इसलिए हम बढ़ गये। जामनगर में कहाँ था ऐसा? नहीं? चिमनभाई! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं, भाई! तू तो जाननेवाला है न? जाननेवाला, वह तू है और यह जो वाणी की, देह की यह क्रिया सब होती है, वह अन्ध की क्रिया है। आहाहा! कठिन बात, भाई! यह दया, दान, व्रत के परिणाम हैं, वे भी अन्ध हैं, वे भी शरीर का धर्म है। आहाहा! जीव का नहीं, भाई! वह तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्य पिण्ड है न! वह ज्ञान की गठरी है। उस ज्ञान में से क्या निकलता है? ज्ञान में से जानना, श्रद्धा, स्थिरता, वह

निकलती है। राग करे और पर की क्रिया हो, वह निकले उसमें से? आहाहा! अरेरे! इसने कभी अपनी दया नहीं की। पर की दया करने निकल पड़ा। आहाहा!

जैसा इसका वीतरागी अमृतस्वरूप से भरपूर तत्त्व है, वह जीवित तत्त्व इतना टिकता तत्त्व वह है। उसे न मानकर राग की क्रिया से मुझे धर्म होगा, देह की क्रिया मुझसे होती है, वह चैतन्य के जीवन को उसने मार डाला है। आहाहा! यह चैतन्य वीतराग अमृत से भरपूर प्रभु, वीतरागी अमृत के सागर से भरपूर भगवान। आहाहा! उसके लिये पर में सुख है—ऐसी बुद्धि, पैसे में, स्त्री में, भोग में, विषय में, इज्जत में। वह जीव को मार डाला है। इसका आनन्दस्वभाव, उसका यह नकार करता है। आहाहा!

मोहांध पुरुष—मोह में अन्ध हुए, ऐसे जीवन की ज्योति अन्दर वीतरागमूर्ति। आहाहा! उसका नकार करता है। उसकी अस्ति का स्वीकार नहीं। और राग तथा एक समय की पर्याय का-उसकी अस्ति का स्वीकार। आहाहा! यह वह बहिरात्मा है। आहाहा!

लँगड़े-अन्धे दोनों का संयोगरूप जोड़ा है। मार्गगमन में लँगड़े की दृष्टि और अन्धे के पैर काम करते हैं। इन दोनों की संयुक्त गति का भेद नहीं जाननेवाला कोई मन्द दृष्टिवाला पुरुष यह समझता है कि यह अन्धा ही सावधानीपूर्वक देखकर चल रहा है... आहाहा! **परन्तु यह उसका भ्रम है; इसी प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग सम्बन्ध का भेद नहीं जाननेवाला बहिरात्मा, शरीर की क्रिया को,...** वाणी की क्रिया, खाने-पीने की क्रिया, वह **आत्मा की क्रिया समझता है अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानता है—यह उसका वैसा ही भ्रम है।** विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ७, बुधवार, दिनांक ३०-०७-१९७५, श्लोक-९१-९२, प्रवचन-१०५

समाधितन्त्र। तन्त्र का अर्थ शास्त्र भी होता है और तन्त्र का अर्थ औषधि भी होता है। यह समाधितन्त्र है।

मुमुक्षु : यहाँ दोनों में से कौन सा अर्थ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अर्थ हैं यहाँ। समाधितन्त्र अर्थात् समाधिशास्त्र है और समाधिरूप औषधि है यह। समझ में आया? देखो, नया आया। है उस अर्थ में। परमात्मप्रकाश में। समाधि की व्याख्या की है। समाधितन्त्र। तन्त्र अर्थात् शास्त्र, तन्त्र अर्थात् औषधि। इसका ९१वाँ श्लोक।

मुमुक्षु : मंत्र-तंत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मंत्र-तंत्र वह। यह तन्त्र अर्थात् यहाँ शास्त्र को औषधि कहते हैं। मन्त्र, तन्त्र और जन्त्र, ऐसा कहते हैं न? तीन आते हैं न? मन्त्र अर्थात् यह लौकिक आदि, जन्त्र तो यह करे लीटा और फीटा ... देखा नहीं जन्त्र करते? वह है। मन्त्र, तन्त्र, जन्त्र की व्याख्या है। वहाँ आती है।

यहाँ तो समाधि शास्त्र, वह वाच्य है, वाचक है अन्दर आत्मा समाधि पावे, वह उसका वाच्य है। आहाहा! समझ में आया या नहीं? सेठ! वाचक-वाच्य समझ में आया? वाचक अर्थात् समाधिशास्त्र यह शब्द है और अन्दर समाधि प्राप्ति होना, वह उसका वाच्य है। भाव। जैसे शक्कर शब्द है, वह वाचक है। शक्कर वस्तु है, वह उसका वाच्य है। यह शक्कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे... अनादि से ऐसा का ऐसा।

और दूसरे प्रकार से कहें तो यह शास्त्र है, वह परवस्तु है और वास्तव में परवस्तु तो दुःख का ही कारण है। आहाहा! यह '**परदव्वादो दुग्गइ**' शब्द आया था। उसमें उसका विस्तार करो तो यही है। ऐसा है। बापू! यह मन, वचन और काया तथा श्वास, वह भी दुःख के ही निमित्त हैं। परद्रव्य है न? आहाहा! ऐसी बात है, बापू!

मुमुक्षु : सुख में निमित्त कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख का कारण एक भगवान आत्मा ही है सुख का कारण। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र कहे सुखदायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब निमित्त के कथन-भाषा। बाकी वह शास्त्र पर है या नहीं? परद्रव्य है न? तो '**परदव्वादो दुग्गइ**' की व्याख्या क्या? ऐई! सूक्ष्म बात, बापू! यह तो मूल वस्तु की बात है न! आहाहा! चैतन्यस्वभाव आनन्द का सागर प्रभु है। ऐई... सेठ! तुम्हारा सागर आया।

मुमुक्षु : आनन्दरूपी सागर।

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्द सागर है यह। वहाँ तो इन्हें तम्बाकू के गोदाम के गोदाम भरे होते हैं और ऐई! बड़ी मोटरें, बड़े...

मुमुक्षु : वह चाहे जिस समय समाप्त हो जाये और यह गोदाम कभी कम न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वह परद्रव्य है, वह दुःख का कारण है। सेठ! उसे दुनिया सुखी कहे। आहाहा! मन-वचन और काया तथा श्वास भी दुःख के निमित्त हैं। यह सुख का निमित्त नहीं है। आहाहा! पर के ऊपर लक्ष्य जाये तो विकल्प ही होता है। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, वह अपना लक्ष्य छोड़कर पर के लक्ष्य में जितना काल जाये, उतना काल उसे विकल्प और दुःख ही है। आहाहा! कहो, पोपटभाई! यह तुम्हारे पैसे-बैसे दुःख के निमित्त हैं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता। परवस्तु दुःख का निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अब तो पैसेवाले के सरकार .... नींद में दुःखी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो धीरे-धीरे अब सीधे पकड़ते हैं एकदम। छापा मारते हैं या नहीं कुछ? मुम्बई में। परन्तु न हो तो वह पैसा है, वह परद्रव्य है और परद्रव्य दुःख का कारण है। आहाहा! गजब बात! सूक्ष्म बात, बापू! यह तो मार्ग आनन्द का नाथ प्रभु स्वयं है। आहाहा!

जिसे आनन्द चाहिए हो, उसका धाम अकेला आत्मा ही है, दूसरी कोई चीज़ आनन्द के लिये आत्मा को है ही नहीं। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र भी आनन्द के लिये नहीं। आहाहा! बापू! वीतरागभाव समझना बहुत कठिन है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसे—धर्म को अपवाद में रखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवाद-फपवाद है नहीं। सिद्धान्त को अपवाद नहीं होता।

मुमुक्षु : वह तीन ही जगत में ऐसा कहते हैं कि तू आत्मा के सन्मुख हो। बाकी सब कहते हैं कि हमारे सन्मुख हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक ही बात है, बापू! जहाँ आत्मा में आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द का वह तो सरोवर-सरोवर। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर छलाछल भरा हुआ है। आहाहा! उसे आनन्द चाहिए हो, सुख चाहिए हो, धर्म चाहिए हो तो वहाँ उसे जाना पड़ेगा। जिस दुकान में मिले, वहाँ जाना पड़े न उसे? आहाहा!

मुमुक्षु : माल पत्र में भेजे घर में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मालवाला भेजे तो इसे लेने जाना, वह आवे इतने को देना तो पड़े न देखो न ऐसा। आहाहा! रतिभाई! क्या कहा, यह सब तुम्हारे पैसे और कारखाने?

मुमुक्षु : कारखाने के पैसे अभी सेठियाओं का नींद नहीं लेने देते।

पूज्य गुरुदेवश्री : राजकोट में इतना अधिक नहीं होगा अभी। मुम्बई में होगा अभी। धीरे-धीरे फिर आवे, वह अलग बात है। मुम्बई में बहुत छापा पड़ते हैं। परन्तु वह कहाँ बापू! आहाहा!

यहाँ तो यह मन, वचन और काया जिसका नजदीक व्यापार है, कम्पन हो, उसमें निमित्त चीज़ है। योग का कम्पन हो, वह स्वयं से। उसमें यह शरीर, वाणी, मन जो जड़ है, वह तो निमित्त है। अब जिसे कम्पन में निमित्त है, उसे दुःख का कारण कहना है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! स्ववस्तु कौन है और पर में क्या है,

उसका इसे माहात्म्य नहीं। अनन्त बार ऐसे क्रियाकाण्ड किये और राग में ऐसा है और धर्म ऐसा है। आहाहा!

आज कोई दो व्यक्ति आये थे। चले गये लगते हैं। श्वेताम्बर थे। यहाँ धुरन्धर है साधु वहाँ है न, नेमविजय... आचार्य है। कुछ योग हुआ होगा तो मुम्बई से आये होंगे। हमने कुछ सुना। वहाँ आये थे या हमने यहाँ सुना। एक युवा था। कहा, भाई! देखा, यहाँ तो आत्मा के धर्म की बात है, बापू! धर्म आत्मज्ञान से होता है, इसके अतिरिक्त किसी प्रकार तीन काल में धर्म नहीं होता। कहा, वह वहाँ तुम्हारे चलता नहीं। वहाँ तो यह करो... यह करो... वे बेचार प्रसन्न होते थे। ऐसी बात यह! और शान्त वातावरण ऐसा। आहाहा! और एसे बड़े मकान बड़े शहर के जैसे। लोगों को अभी बाहर लगे न? अरे... वे परद्रव्य हैं ये भी। वास्तव में तो दु:ख का निमित्त है, भाई! आहाहा! ऐई..!

परद्रव्य है, उसके ऊपर लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है। चाहे तो वीतराग की वाणी और वीतराग को भी सुनने बैठे तो विकल्प होता है और दु:ख है, कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात। समझ में आया? समाधि की बात चलती है न? समाधि अर्थात् सुखरूप दशा। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह समाधिस्वरूप है। अर्थात् कि तीनों सुखस्वरूप है। आहाहा! उस सुख के भाव को प्रगट करने का साधन तो वह द्रव्य-वस्तु है। आहाहा! उसे प्रगट करने का साधन पर तो नहीं, राग भी नहीं और एक समय की पर्याय का आश्रय भी नहीं। आहाहा! जिसमें पूरा आनन्द पड़ा है, ध्रुव। उसका आश्रय लेने से जो शान्ति... शान्ति... शान्ति... सुखरूप समाधि, सुखरूप दशा, उसे धर्म कहा जाता है और उसे मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। आहाहा! अरे! सुनने को मिले नहीं, उसे कहाँ जाना है? अनन्त काल से भटकता है।

मुमुक्षु : अनन्त काल से भटका है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (अनन्त काल से) भटका बिना भान भगवान, सेवे नहीं गुरु सन्त को। इसका अर्थ यह कि हमने क्या कहा है, वह उसने जाना नहीं। यह तो अपने आता है न तीसरी गाथा में नहीं आता? अनात्मा ज्ञानी ने आत्मज्ञानी को सेवन नहीं किया। सेवन में पैर दबाना था? आहाहा! उन्हें जो कहना है, उस भाव को इसने माना

नहीं। आहा! समाधितन्त्र अर्थात्? समाधिस्वरूप औषधि है यह। जिससे भवरोग मिटे। समझ में आया? जिससे भवदु:ख मिटे, भवरोग मिटे, भवभ्रमण मिटे। आहाहा! वह यह समाधि औषध है। वह औषध अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह औषध और समाधि है। वह समाधि का कारण तो परमात्मा स्वयं है। आहाहा! कहो, बाबूभाई! गड़ी (बात) लाकर यहाँ रखी वापस। यह वह साधन-फाधन है न? यह मन्दिर और यात्रा और सम्मेदशिखर को।

मुमुक्षु : वह तो परमागम मन्दिर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमागम मन्दिर, वह भी उसके ऊपर लक्ष्य जाये तो राग होता है। आहाहा! ऐसी चीज़ है, बापू! वह बना तो उसके कारण से बना है। यह आयेगा अभी।

जैसे - अन्धे की गति में लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है... अन्ध चलता है और लंगड़ा बैठा है। ऊपर बैठा है। **अन्धे की गति में...** गति करता है ऐसे। **लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है...** अन्ध चलता है, वह अपने उपादान की पर्याय से चलता है। वह कहीं वह आँखों से बताता है, इसलिए चलता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **अन्धे की गति में...** गति करता है न? ऐसे चलता है, ऐसा। उसमें **लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है...** अन्ध शरीर की क्रिया से चलता है, वह तो स्वतन्त्र है। यह वह ऊपर से (पंगु) कहता है कि ऐसे चल, इसलिए चलता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सुमनभाई! ऐसी बातें हैं। इसमें तुम्हारे तेल का साफ करना, वह तो कहीं रह गया। आहाहा! सुनने में मन निमित्त है। आहाहा! तो यह कहते हैं कि मन भी दु:ख का निमित्त है। आहाहा!

मुमुक्षु : तो सुनना या नहीं सुनना, यह निर्णय करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुनना, न सुनना, उसमें आ जाता है। आहाहा! उसे विकल्प का काल होता है सुनने का, परन्तु वास्तव में तो पर की ओर का लक्ष्य है। आहाहा! गजब बातें। '**परदव्वादो दुग्गइ**' कहकर तो गजब कर दिया है। यह सन्त करे, हों! वीतरागी मुनि यह कहे। आहाहा! जिन्हें दुनिया की पड़ी नहीं। सत्य की शरण में

गये हैं, उसे जगत के प्राणी असत्यरूप से भासित होते हैं। उन्हें यह ठीक पड़ेगा या नहीं? उन्हें कुछ दरकार नहीं है। आहाहा! प्रभु! परन्तु आप सुनाते हो न भाषा! बापू! यह पाँच इन्द्रियाँ हैं न यह जड़। वे सुनने में निमित्त हैं, ज्ञान होता है स्वयं से। तथापि वे जड़ इन्द्रियाँ हैं, वे स्वयं दु:ख का निमित्त है। आहाहा! भारी कठिन! वस्तु की स्थिति ऐसी है। हो, आवे, वह अलग बात है भाव। परन्तु वह स्वयं दु:खरूप है।

लोग कहे न, ठीक श्वास लें तो सुख पड़े। यहाँ तो कहते हैं श्वास की क्रिया दु:ख का निमित्त है। आहाहा! भाई! तेरा आत्मा आनन्द का सागर, उसे ऐसे निमित्त से कुछ लाभ हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह चलनेवाले को लंगड़ा आँख से बताता है, इसलिए वह निमित्त है, परन्तु उससे चलने की क्रिया हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सुमनभाई! वहाँ इंजीनियरी में नहीं, यह बात वहाँ कलकत्ता में। कलकत्ता कहाँ, मुम्बई। कलकत्ता तो हमारे कपूरभाई। आहाहा! आहाहा! है तो बैठे एकान्त में। आहाहा!

कहते हैं, **अन्धे की गति में...** गति अर्थात् वह चलता है न! उसमें **लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है अर्थात् जैसे उस गति और दृष्टि में कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं,...** अर्थात् कि लंगड़े की दृष्टि कर्ता और चलने का कार्य उसका कर्म, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! जिसे भव का अन्त लाना है, भवसिंधु चौरासी के समुद्र का अवतार अनन्त। वह वहाँ दु:खी है। क्योंकि यदि सुख हो तो उसन भगवान की वाणी समवसरण में अनन्त बार सुनी है। यदि उससे सुख प्रगटे तो उसे सुख एक बार सुनने में लगना चाहिए। आहाहा! परन्तु यह सुना है, वह परलक्ष्य में रखकर सुना है। स्वलक्ष्य किया नहीं इसे। आहाहा! सुनने में भी भगवान की वाणी में तो ऐसा आया था, तू स्वलक्ष्य कर, तेरी चीज़ पड़ी है, वहाँ नजर कर। आहाहा! लोगों को निश्चयाभास जैसा लगता है। आहाहा! पूरी दुनिया में से तेरे सुख के लिये कारण हो तो प्रभु! तेरा आत्मा है। आहाहा! परद्रव्य सब दु:ख के निमित्त। निमित्त, हों! परद्रव्य सुख के निमित्त, ऐसा नहीं। आहाहा!

निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; इसी तरह शरीर की गति का कर्ता, आत्मा नहीं

है। शरीर चले, वह कर्म-कार्य और उस लंगड़े की दृष्टि कर्ता, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखता है (तो) ऐसा दिखावे, देख इस रास्ते चलना, इस रास्ते चलना ऊपर बैठा-बैठा लंगड़ा (बतलाता है), तथापि वह चलने की क्रिया उसके कारण से हुई है। दिखता है निमित्तमात्र, इसलिए उससे हुआ नहीं। आहाहा! अरेरे! वीतरागमार्ग तो देखो! ओहोहो! जिसे... कहेंगे अभी यह।

किसी समय दोनों के मध्य, मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होता है... आहाहा! **परन्तु कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं होता।** आत्मा का ज्ञान, कर्ता और देह की क्रिया, कर्म—ऐसा कभी है नहीं। आहाहा! **अज्ञानी को संयोगसम्बन्ध के कारण, दोनों के एकपने का भ्रम हो जाता है...** निमित्त है और वह नैमित्तिक क्रिया स्वतन्त्र होती है। उसमें इसे भ्रम हो जाता है। **और इसलिए वह शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर की क्रिया, जीव करता है—ऐसा मानता है।** ऐसा यह इसे मान्यता में भ्रम उत्पन्न हुआ है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! शरीर, वह जीव को दुःख का निमित्त है; तथापि शरीर को जीव का ज्ञान निमित्त है, परन्तु उसे दुःख नहीं उसे वहाँ।

मुमुक्षु : शरीर, वह धर्म का निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही खोटी है यहाँ। '**शरीराद्यं खलु धर्म साधनम्**' ऐई! यह तो व्यवहार की बातें की हैं। आहाहा! यह शरीर रजकण जगत के, मिट्टी के पिण्ड।

दूसरे द्रव्यों में प्रदेश का विस्तार है, इसलिए उसे सप्रदेशी कहा जाता है। परमाणु के स्कन्ध को स्कन्धरूप से है, इसलिए उसे सप्रदेश कहा जाता है। क्या कहा यह? दूसरे द्रव्य पुद्गल के अतिरिक्त हैं, वह तो उसका (प्रदेशरूप) विस्तार है, इसलिए यहाँ प्रदेश को सप्रदेशी कहा जाता है। स्कन्ध को सप्रदेशी विस्तार हुआ, इसलिए नहीं, परन्तु स्कन्धपना हुआ है, इस अपेक्षा से उसे सप्रदेशी कहा जाता है, नहीं तो है तो अप्रदेश प्रत्येक परमाणु। आहाहा!

मुमुक्षु : सप्रदेशी तो व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी इस प्रकार से। वह स्कन्ध हुआ है न? एकरूप की पर्याय की योग्यता है इतनी स्निग्धता की, रूक्षता की। उसके कारण स्कन्ध का उसे

कहा जाता है। वह परमाणु विस्तार को प्राप्त हुआ है, इसलिए सप्रदेशी है, ऐसा नहीं। क्या कहा यह, समझ में आया?

मुमुक्षु : स्कन्ध विस्तार पाता है, इसलिए परमाणु....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे परमाणु विस्तार पाया, इसलिए स्कन्ध हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मा और धर्मास्ति तो विस्तार प्राप्त हैं प्रदेश से, इसलिए वे सप्रदेशी हैं। और परमाणु को सप्रदेशी... परमाणु विस्तार प्राप्त हैं, इसलिए सप्रदेशी हैं—ऐसा नहीं। इसकी बात चलती है अभी। आहाहा! यह परमाणु स्कन्धरूप हुए हैं, परन्तु परमाणु विस्तार पाया है, ऐसा नहीं। समझ में आया? ऐई... कान्तिभाई!

धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, वह आकाश और जीव वह भी विस्तार प्राप्त है, इसलिए सप्रदेशी है। असंख्य और अनन्त (प्रदेशी)। काल तो एक समय का है, एक प्रदेश, एक द्रव्य, वह कहीं विस्तार प्राप्त नहीं है, तथा स्कन्धरूप हुए नहीं हैं। आहाहा! काल का एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ स्कन्धरूप हुआ नहीं तथा एक द्रव्य ऐसे विस्तार पाकर प्रदेश हुए। उसमें कुछ... वह तो एक ही है। आहाहा! समझ में आया?

यह स्कन्ध हुआ है, वह परमाणु विस्तार पाया इसलिए (सप्रदेशी) नहीं, इतना यहाँ कहना है। मात्र ऐसी एक प्रकार की पर्याय में स्निग्धता-रूक्षता की योग्यता से स्कन्ध हुआ, तथापि वह परमाणु तो परमाणु में ही है। उसकी पर्याय में ही है। उसमें कोई दूसरे की पर्याय में प्रविष्ट हो गया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! परमाणु विस्तार पाया, इसलिए स्कन्ध हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या भगवान की शैली! सत्य को सिद्ध करने की! ओहोहो! कहते हैं कि यह शरीर तो, शरीर की दशा को ज्ञान निमित्त है, इतना। परन्तु इससे शरीर की अवस्था को ज्ञान निमित्त है, इसलिए ज्ञान कर्ता और शरीर तथा स्कन्ध की अवस्था ऐसे-ऐसे होती है, वह उसका कार्य, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! लो! **शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर की क्रिया, जीव करता है—ऐसा मानता है।** आहाहा!

अब दृष्टान्त दिया है। जयधवल, पेरा २४४, पृष्ठ ११७, पुस्तक ७वीं। **'बज्झ कारण निरपेक्खो वथ्थु परिणामो।' वस्तु का परिणमन, बाह्यकारण से निरपेक्ष होता**

है। आहाहा! ऐसे शरीर जो ऐसे चलता है, वह उसके परिणाम हैं, वे बाह्य कारण से निरपेक्ष हैं। ज्ञान निमित्त है, उसके कारण से निरपेक्ष उसके परिणाम हैं। आहाहा! सेठ! यह समझ में आये ऐसा है।

मुमुक्षु : शरीर के परमाणु भिन्न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भिन्न-भिन्न है और उससे हैं। यह जो ऐसे-ऐसे होता है, उसे ज्ञान जानता है और ज्ञान उसमें निमित्त है, इसलिए यह परिणाम होते हैं, ऐसा नहीं है। बाह्य कारण की निरपेक्षता से उसके परिणाम होते हैं। आहाहा! सिद्धान्त तो देखो! एक टुकड़ा भी समझे, एक न्याय समझे (तो निहाल हो जाये)। आहाहा!

जगत के जितनी द्रव्य हैं, उनके उस काल में जो परिणाम होते हैं, पर्याय, वह बाह्य कारण से निरपेक्षरूप से होते हैं। आहाहा! निमित्त कहना और उसे निरपेक्ष कहना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! है न, देखो न! '**बज्झ कारण**' अर्थात् **बाह्य कारण निरपेक्ष...** पहला '**बज्झ**' है न '**बज्झ**'? बाह्य कारण '**कारण निरपेक्खो वथ्थु परिणामो।**' यह तो समझे न? जयधवल का वाक्य है। व्यवहारनय के कथन (शास्त्र) हैं। आहाहा!

उस-उस परिणाम का वह जन्म काल है, ऐसा कहते हैं, कि वह-वह परिणाम वहाँ-वहाँ जो पर्याय जड़ की ऐसी होती है, यह भाषा की पर्याय होती है, उसे यह होंठ की, निमित्त की निरपेक्षरूप से भाषा की पर्याय होती है। आत्मा की पर्याय के विकल्प की अपेक्षा तो उसे नहीं। परन्तु यह होंठ की अपेक्षा से निमित्त है वह तो। उससे भाषा होती है, ऐसा नहीं है। उस भाषा के परिणाम को होंठ के परिणाम निरपेक्षरूप से काम करते हैं यह। उसकी अपेक्षा रखकर यहाँ पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तुम्हारा टाईल्स का चलता है न बड़ा? वह कारीगर निमित्त है, इसलिए वहाँ होता है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : बड़े भाई की चतुराई है इसलिए वहाँ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी चतुराई नहीं वहाँ उसकी। सब चतुराई सब तुमको लगती होगी न चतुराईवाले, कि यह सब तेल-बेल समान। आहाहा!

भगवान! यह तो भगवान के घर की बातें हैं, भाई! आहाहा! परम सत्य, परम सत्य का यह उद्घाटन है। आहाहा! उसमें किसी की अपेक्षा रखकर वह परिणाम जड़ के, चैतन्य के हों... आहाहा! आत्मा में सम्यग्दर्शन के परिणाम परद्रव्य की निरपेक्षता से होते हैं, अर्थात् विकल्प व्यवहार है, इसलिए निश्चय हुआ, शास्त्र में भाषा ऐसी आती है। यह परमात्मप्रकाश में बहुत आता है, व्यवहार साधन, निश्चय साध्य, व्यवहार साधन। परन्तु इसका अर्थ यह है कि उस समय, इतनी बात है। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, उसके अन्दर में स्वसन्मुख होकर जो प्रतीति हुई सम्यग्दर्शन की, उस परिणाम को बाह्य कारण की निरपेक्षता है, बाह्य कारण की उसे अपेक्षा नहीं है। ऐसा ही वस्तु के परिणाम का स्वभाव है। आहाहा! तो वह पर्याय सत् है। सत् को पर की अपेक्षा कैसी? सत् अहेतुक है। आहाहा! यह सब वहाँ लगते हैं न उसमें? छहढाला में। नियत का हेतु। ऐई!

मुमुक्षु : हेतु नियत को होई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हेतु नियत को होई।

मुमुक्षु : वह तो निमित्त का ज्ञान कराया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! वह तो निमित्त कौन है, उसका ज्ञान करे। आहाहा!

आत्मा में नियत-निश्चय परिणाम को दूसरे किसी भी परिणाम की अपेक्षा बिना होते हैं, निरपेक्षरूप से होते हैं, देखो न! **'बज्झ कारण निरपेक्खो'** यह महासिद्धान्त है। दो कारण से कार्य होता है, इसमें लोग उलझन में आ गये हैं। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में यह बहुत आता है। वह तो एक निमित्त है, उसका साथ में ज्ञान कराया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें, बापू! आहाहा! बहुत कठिन। यह भाषा निकलती है, उसे कहते हैं कि आत्मा का विकल्प उठा, इसलिए निकलती है, उसकी अपेक्षा है ही नहीं, और ज्ञान में ऐसा आया है कि सत्य ऐसा होना चाहिए बोलने में, इसलिए उसे ज्ञान की अपेक्षा हुई, इससे वाणी ऐसी निकलती है (—ऐसा नहीं है)। आहाहा!

आगम के—शास्त्र के शब्द हैं, उन्हें सुनते हैं तो यह ज्ञान होता है, ऐसी ज्ञान को

होने में सुनने की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा कि मूर्ति में तो कुछ नहीं परन्तु शास्त्र में तो कुछ है न ज्ञान पृष्ठ में? बराबर ज्ञान ऐसा समझावे तो उसमें कुछ ज्ञान नहीं? यह शास्त्र के पृष्ठ में भी ज्ञान नहीं। आहाहा! आत्मा को आत्मज्ञान होने में शास्त्र के पृष्ठ की निरपेक्षता से ज्ञान होता है। आहाहा! कहो, सुजानमलजी! आहाहा! पर्दा फटा। भ्रम का पर्दा तोड़ डाला। आहाहा! हरिभाई आये?

मुमुक्षु : तबीयत अच्छी नहीं इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? ठीक। डॉक्टर नहीं है? यहाँ आते हैं, प्रेम है। डॉक्टर भी बीमार पड़े हैं? वे हरकिशन में गये थे न? बड़ा डॉक्टर भाई, उसे सँभालनेवाला था कोई। उसे पहिचानते हो न। हरकिशन नहीं? एक बड़ा था। ... वहाँ हम गये थे। हमारे भाई के लिये गये थे न धीरुभाई के लिये। ... नहीं क्या? चुन्नीलाल के लिये। चुन्नीलाल यह अपने झोबालिया। धीरुभाई के भाई। वे वहाँ थे न बीमार। वहाँ गये थे? तो उनकी बहू आयी थी। वे डॉक्टर पड़े थे उस ओर। महाराज! दर्शन करना है। चलो भाई, कहा! डॉक्टर थे कार्यकर। भान बिना का। कुछ सुनता साधता बराबर। कोई ऐसे दीन हो गया दीन। हाय... हाय... मर गया कहते हैं। मर गया। अपने यह नहीं चुन्नीभाई तुम्हारे। जोबालिया में बीमार थे न? हरकिशन नहीं? हरकिशन। खाट नहीं थी भाई अपने इस ओर खाट थी। गये थे तब वह बहू आयी थी, अन्दर थे। आओ भाई कहा। यह डॉक्टर, लो! आहाहा!

इस शरीर के जिस समय के जो परिणाम जिस प्रकार से होनेवाले हैं, उन्हें पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा! शरीर में निरोगता होने के परिणाम में भी दवा को और पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! धीरुभाई! यह पर के परिणाम होने में तुम्हारे जैसे कार्यकर्ता की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब शब्द है। इन्होंने मिलाया है छोटाभाई ने बहुत (व्यवस्थित)। यह सिद्धान्त बहुत अच्छा रखा है। वे छोटाभाई थे। कैसे भाई कहलायें वे? पढ़े हुए न। पढ़े हुए का ... बी.ए. नहीं? हाँ, बी.ए.। यह निकाला देखो! जयधवला में से यह टुकड़ा रखा। छोटाभाई थे। यहाँ व्याख्यान में आते थे। गुजर गये। अन्त में हम वहाँ गये थे। आहाहा!

मुमुक्षु : बी.ए. एस.टी.सी.

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह बी.ए. बी.ए.

मुमुक्षु : सहायक....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें व्यवहार की ऐसी है। होवे तो भी उसकी अपेक्षा रखकर परिणाम नहीं होते। समझ में आया? आहाहा!

यह रोटी दाँत के बीच में चूरा होता है न? वह चूरा होने में दाँत की अपेक्षा है ही नहीं, कहते हैं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : दाँत बिना हो जाये न चूरा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दाँत बिना ही उसके परिणाम दाँत के अभाव में उसके परिणाम हुए हैं। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! आहाहा! भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य, भगवान ने देखे हुए एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण, भगवान ने देखे हुए अनन्त गुण की एक-एक समय की उस-उस काल की पर्याय, उसे पर की अपेक्षा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय (सत्) है। विकार परिणाम को पर की अपेक्षा नहीं है। इस परिणाम में तो वह नहीं आवे? आहाहा! ऐई.. चेतनजी! विकार आवे या नहीं? **'बज्झ कारण'** बाह्य कारण निरपेक्ष वस्तु के परिणाम। फिर विकार हो या अविकार हो, मोक्षमार्ग हो या बन्धमार्ग हो, मिथ्यात्व हो या समकित हो, उसे बाह्य कारण की अपेक्षा बिना के वे परिणाम हैं। आहाहा! यह बड़ी धमाधम चली थी तब। आहाहा!

बापू! द्रव्य, गुण और पर्याय तीन सत् है। (प्रवचनसार गाथा) १०७ में आया नहीं? द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्। १०७ गाथा नहीं? सत् का विस्तार है। निमित्त का विस्तार है? मूल गाथा है। ओहोहो! द्रव्य सत्, गुण सत् और उस काल की पर्याय, वह सत् का उसका वह विस्तार है। आहाहा! जैसे बहुत प्रदेश में विस्तारवाला द्रव्य, उसे सप्रदेशी कहते हैं। इसी प्रकार द्रव्य, गुण का विस्तार पर्याय में जाता है। आहाहा! वह स्वयं विस्तरित होती है वहाँ पर्याय, सत्‌रूप से विस्तरित होती है। आहाहा!

वास्तव में तो वह पर्याय परद्रव्य की अपेक्षा बिना हुई है, परन्तु उस परिणाम को द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा! अरे... यह सत् है या नहीं? है न। है और वह सत् है। अब उसे पर की अपेक्षा से... आहाहा! भारी गड़बड़ चली है अभी। इस सत् को... चोर कोतवाल को दण्डता है, ऐसा है। तुम्हारा एकान्त है, एकान्त है। अनेकान्त नहीं। अरे... अनेकान्त है। स्व से होता है और पर से नहीं होता, यह अनेकान्त है। स्व से होता है और निमित्त से होता है, यह अनेकान्त नहीं। यह तो एकान्त है। आहाहा! समझ में आया? गजब बात डाली है, हों!

'निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है।' देखा! होता है। **निमित्त होने पर भी,...** कुम्हार निमित्त होने पर भी घड़े की पर्याय, कुम्हार की अपेक्षा बिना घड़े की पर्याय हुई है। ऐई! यह तुम्हारे इंजीनियर-फिंजीनियर सब। मकान की पर्याय होने में इंजीनियर निमित्त, परन्तु उस निमित्त के निरपेक्षपने मकान की पर्याय हुई है। आहाहा! द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय का सत्, सत् का विस्तार है। यह सत् का विस्तार है, निमित्त का विस्तार नहीं है। आहाहा! अरे... ऐसा सत्! ऐसा स्वतन्त्र सत्, इसे न जँचे, यह कहाँ जायेगा? आहाहा! भाई! पराधीन होकर, पर के कारण होता है, यह वस्तु की स्थिति नहीं है। आहाहा!

हमको यह गाली दी, इसलिए उसके ऊपर क्रोध आया, ऐसा है ही नहीं। क्रोध की पर्याय को गाली के निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं। कठिन बातें, भाई! भाई ने अच्छा निकाला है। यह निकालना, हों! यह पुस्तक बाद में। ७वाँ पुस्तक। ७वाँ है। पृष्ठ-११७। पैरा-२४४, ऐसा है। पैरा अर्थात्? पेरेग्राफ किये। ठीक। पेरेग्राफ। इतने अधिक पेरेग्राफ? २४४। नम्बर होगा। आहाहा! नम्बर दिये होंगे। आहाहा! क्या सत् की प्रसिद्धि! प्र-सिद्धि। उस-उस द्रव्य के, उस-उस काल के परिणाम प्र-सिद्ध, अपने से सिद्ध हैं। निमित्त की अपेक्षा से वे सिद्ध हैं नहीं। आहाहा! यह सब तुम इंजीनियर और फिंजीनियर और सब जहाँ-तहाँ मिथ्या बड़प्पन मारते हो न! मकान ऐसा बना देंगे, अमुक ऐसा कर देंगे। इसके बिना पैसे दें वे मुफ्त में? आठ हजार वेतन देते होंगे तो कुछ चतुराई से क्रिया होती होगी, इसलिए देते होंगे या नहीं?

मुमुक्षु : कौन वेतन दे और कौन वेतन ले?

पूज्य गुरुदेवश्री : दे कौन? ले कौन? बापू! आहाहा! यह भगवान आत्मा तो... जड़, उस-उस परिणाम को उस-उस काल में दे और वह परिणाम वह स्वयं ले। आहाहा! सम्प्रदान भी यह। रखता है न यह? देनेवाला भी यह, लेनेवाला भी यह परिणाम का। आहाहा!

आत्मा दूसरों को आहार-पानी दे नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। मुनि को आहार-पानी देते हुए आहार-पानी आत्मा दे सकता है, ऐसा नहीं। आहाहा! यह आहार और पानी के परिणाम उससे उस काल में उससे हुए, उन्हें पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें नग्न-खुल्ली बात। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब जगह ऐसा समझ लेना। एक और दो = तीन आवे, उस जगह वहाँ उसे उस प्रकार से समझ लेना। आहाहा! भाई! यह तुझे क्या हुआ? तुझे परद्रव्य का अभिमान! मैं हूँ तो यह होता है। यह सब व्यवस्था दुकान की, धन्धे की, परिवार की, कबीला की।

मुमुक्षु : ऐसे समय में स्वयं जिताये या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी जिताये नहीं। गोण्डल क्या? रामजीभाई जीतते थे, वह तो उस समय वह पर्याय ऐसी होने की थी। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पागलों के कायदा भी अलग होते हैं। आहाहा! यह तो परमात्मा के अथवा द्रव्य के कायदा हैं यह।

मुमुक्षु : यह भगवान के कायदा, वे लौकिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य है न वह। जड़ेश्वर है न? विभाव ईश्वर, स्वभाव ईश्वर, जड़ ईश्वर—तीन ईश्वर हैं। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ, वहाँ भान हुआ, वह स्वभाव का ईश्वर है। उसका भान न वर्ते और विभाव उस समय उस विभाव का ईश्वर है, परन्तु

वह कर्म के कारण विभाव हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ईश्वरनय और अनिश्वरनय आया था न! आहाहा! उसमें ही लिया है। आहाहा! ईश्वरनय वहाँ दृष्टान्त दिया है न? माँ पिलाती है। धाय माँ (दूध) पिलाती है। वह ऐसे निमित्त के वश होता है। आत्मा निमित्त के वश, ईश्वरता की शक्ति द्वारा निमित्त के वश होता है। आहाहा! निमित्त उसे वश करता नहीं, निमित्त के वश होता है, वह निरपेक्षरूप से निमित्त की अपेक्षा बिना वश होता है। आहाहा! देखो, यह समाधि। इस प्रकार ज्ञान में यथार्थपना आवे तो उसे शान्ति हो। नहीं तो खदबदाहट। आकुलता... आकुलता... आकुलता... हो। समझ में आया?

अन्तरात्मा क्या करता है—यह कहते हैं— अब ९१ से विरुद्ध की बात लेते हैं। यह सिद्धान्त बहुत ऊँचा है। वस्तु का परिणाम। है न? वस्तु परिणाम अन्तिम। **'बज्झ कारण निरपेक्खो' वस्तु का परिणमन,...** उस पहले शब्द का अर्थ बाह्य कारण से निरपेक्ष। समझ में आया? दो कारण से कार्य (कहा), परन्तु दूसरे कारण से निरपेक्ष उसका कार्य होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो उपादान से हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे ही हुआ है, होता है। यह बड़ा घोटाला... आहाहा! बड़े मानधाता फँस गये इसमें। उसे मिला नहीं था। सुनने को मिला नहीं था। इस जाति की योग्यता न हो, वहाँ क्या हो?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा था न तब। सब एक ही बात है न! ६२वीं गाथा तो विकार के लिये है और यह तो सबके लिये है। (पंचास्तिकाय) ६२ गाथा में कर्म की पर्याय होना और विभाव की होना, उसकी बात वहाँ है। और यह है, वह प्रत्येक द्रव्य के निर्मल और मलिन... आत्मा में निर्मल-मलिन है न? दूसरे चार (द्रव्यों) में कहाँ है? उस परिणाम का होना, निमित्त के बाह्य कारण की अपेक्षा रखे बिना होता है। ओहोहो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने से है। धर्मास्ति क्या करावे? तब धर्मास्ति निमित्त

कहलाता है। निमित्त का अर्थ निरपेक्षरूप से स्वयं गमन करता है। स्वयं गति परिणमन को धर्मास्ति निमित्त, ऐसा शब्द है न? तो उसका अर्थ क्या हुआ?

मुमुक्षु : सब निमित्त धर्मास्तिकायवत् है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब धर्मास्तिकायवत् कहे। ३५ गाथा, इष्टोपदेश। आहाहा! भाई! तू स्वतन्त्र में आ जा। दूसरे के परिणाम में तेरी पराधीनता है, इसलिए होते हैं यह रहने दे, और तेरे परिणाम में पर की अपेक्षा है, इसलिए होते हैं, यह रहने दे। आहाहा! तुझे तेरे परिणाम की उत्पत्ति में तू कारण है, ऐसा होने से उसकी दृष्टि द्रव्य पर जायेगी। आहाहा! समझ में आया? उसे शान्ति होगी, उसे सुख होगा, उसे समाधि होगी। वे बाबा समाधि करते हैं, वह बात यहाँ नहीं है। आहाहा! ओहोहो!

प्रवचनसार में ऐसा कहा १०२ गाथा में, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का जन्म अर्थात् उत्पत्ति काल है। आहाहा! जेठाभाई! ऐसी बात है। कर्म के कारण विकार नहीं होता, ऐसा कहते हैं। जेठाभाई के साथ बात हो गयी न! वह रामविजय कहे, कर्म से विकार हो तो हम चर्चा करें। यह कहे कि ऐसा नहीं है। कर्म से विकार होता है, यह हमारे मान्य नहीं है। ना करते हैं। तुम्हारा आ गया है इसमें, नहीं? आत्मधर्म में। एक जैन ने ऐसा कहा और एक कर्मवादी ने ऐसा कहा है। उसको कर्मवादी ठहराया है। दोनों को चर्चा हुई थी। रामविजय के साथ। उनके गुरु थे न रामविजयजी? उनके पास शिक्षण दिया होगा। यदि यहाँ से मिला रहे तो अपने को बदलना नहीं, ऐसा कहे। ऐसा था।५० प्रश्न में।५० प्रश्न किये थे न?

यदि अपने में हो, अर्थात् कि श्वेताम्बर में से ऐसा निकले तो फिर अपने बदलना नहीं। परन्तु कुछ निकला नहीं, ऐसा कहे। आहाहा! उसने ऐसा कहा। कर्म से विकार होता है, ऐसा तुम्हें मान्य है? तो हम चर्चा करेंगे। यह कहे, कर्म से विकार होता है, यह हमें मान्य ही नहीं है।

मुमुक्षु : एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या करे? आहाहा!

यहाँ कहा न, वस्तु के परिणाम परद्रव्य के कारण की अपेक्षा नहीं रखते। आहाहा! अरे! एक सिद्धान्त (का) भी यदि (यथार्थ) निर्णय करे तो उसे सत्य का शरण मिले। आहाहा! ६२वीं गाथा में कर्म की पर्याय भी आत्मा में राग की अपेक्षा रखे बिना वह परमाणु की कर्मरूप पर्याय होती है, ऐसा कहना है। ज्ञानावरणीय जो बँधता है, वह परमाणु की वह कर्मरूप होने के काल में वह हुई है। वह इसे अवर्णवाद–ज्ञान का अवर्णवाद किया, ऐसी निमित्त की अपेक्षा रखकर ज्ञानावरणीय कर्म, कर्मरूप परिणमित हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बातें हैं न! यह प्रश्न वापस चला था वहाँ (संवत्) २००६ के वर्ष। विकार न करे तो कर्म क्यों नहीं होते, इसलिए विकार करे, इतनी अपेक्षा तो है न उसे? बिल्कुल नहीं। न करे तो उस समय परमाणु में कर्म पर्याय होने की योग्यता नहीं होती। इसमें प्रश्न क्या तेरा? आहाहा! गजब निमित्त और उपादान! गजब बातें हैं।

आत्मा के ज्ञान परिणाम होने में चश्मे के निमित्त की बिल्कुल अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। निकाल दो चश्मा, होगा ज्ञान? लो, अभी कहा था। अभी आया था, तब कहा था वहाँ लींबड़ी, चन्द्रशेखर। फिर विरोध की पुस्तक बनायी। हे भगवान! बापू! किसका विरोध करता है, भाई? तुझे खबर नहीं। आहाहा! जीवा, जीवाभाई न? जीवा प्रताप का भतीजा है। आया था, लींबड़ी आया था। वहाँ थे न तुम?

कहते हैं, वह विकार के परिणाम मिथ्यात्व के हों निगोद के, जीव को, हों। वस्तु परिणाम वह बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं रखते। आहाहा! वेश्या को देखकर एक को ऐसे परिणाम आये कि अरे... यह जवान मर गयी, धर्म नहीं किया। एक को ऐसे परिणाम हुए कि यह जीवित होती तो मैं विषयसेवन करता। आहाहा! एक को ऐसे परिणाम हुए कि यह व्यक्ति हट जाये तो मैं इसे खाऊँ—कुत्ते को ऐसे परिणाम हुए। उन परिणाम को उस वेश्या की—निमित्त की अपेक्षा नहीं, ऐसा कहत हैं। ऐई! समझ में आया?

साधु था वैरागी। उसने ऐसा देखा कि अरे... आहाहा! ऐसा देह मुर्दा। इसने आत्मा का कुछ नहीं किया। ये परिणाम हुए। कुत्ते को ऐसे हुए कि यह लोग देखने को खड़े हैं, यह हट जायें तो खाऊँ। और एक लम्पटी युवक खड़ा था, उसे ऐसा हुआ कि

(यह) जीवित होती तो मैं विषयसेवन करता, इसके साथ रमण करता। आहाहा! अब इतना एक निमित्त है न? तो भी ऐसे तीन प्रकार के परिणाम हुए, वे निमित्त से हुए? आहाहा!

'निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है'। आहाहा! शास्त्र का श्रवण कान में पड़ने पर भी उसे उस काल में जो ज्ञान के परिणाम होते हैं, उन्हें शास्त्र के शब्दों की अपेक्षा नहीं है।

मुमुक्षु : प्रेरक निमित्त तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक भी... प्रेरक कहो या उदासीन कहो। सब धर्मास्तिकायवत् है। प्रेरक में तो वह स्वयं इच्छावान है, उसके लिये नाम दिया है। परन्तु उसके द्वारा... लो! यह है देखा। यह इतना हुआ तो चला, ऐसा नहीं। यह इसे ऐसा गति होने में अँगुली के निमित्त की प्रेरक की आवश्यकता नहीं। उसके परिणाम उसके काल में अँगुली की प्रेरणा के निमित्त की अपेक्षा रखे बिना हुए हैं। यह अभी वह कहता था, आया था। लो, यहाँ लकड़ी पड़ी, यह अपने उठाकर रखें तो हो। अपने आप उठे? अपने आप उठती है, सुन न!

मुमुक्षु : अपने बीड़ी सुलगावें तो सुलगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह सुलगने की हो, उसकी पर्याय होने की हो, वैसी होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह वह मनसुख, वह आया था दाढ़ीवाला। आहाहा!

अब उससे उल्टी ९१वीं गाथा में जो है। **अन्तर को (भेद को) नहीं जाननेवाला, भेद को ग्रहण नहीं करनेवाला पुरुष, लँगड़े की दृष्टि को अन्ध पुरुष में जोड़ता है,...** यह ९१। अब भेद को जाननेवाला। यह क्या है? यह कहते हैं, लो।

श्लोक - ९२

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह -

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥ ९२॥

दृष्टभेदः पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत्। तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत्। कोऽसौ ? दृष्टात्मनः देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥९२॥

अन्तरात्मा क्या करता है—यह कहते हैं—

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद।
त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद॥ ९२॥

अन्वयार्थ - (दृष्टभेदः) जो लँगड़े और अन्धे के भेद का तथा उनकी क्रियाओं को ठीक समझता है, वह (यथा) जिस प्रकार (पंगोर्दृष्टिं) लँगड़े की दृष्टि को अन्धे पुरुष में (न योजयेत्) नहीं जोड़ता—अन्धे को मार्ग देखकर चलनेवाला नहीं मानता; (तथा) उसी प्रकार (दृष्टात्मा) आत्मा को शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा, (आत्मनः दृष्टिं) आत्मा की दृष्टि को—उसके ज्ञान-दर्शनस्वभाव को, (देहे) शरीर में (न योजयेत्) नहीं जोड़ता है-शरीर को ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

टीका - भेद जाननेवाला अर्थात् लँगड़े और अन्धे का भेद (अन्तर) जाननेवाला पुरुष; जैसे - लँगड़े की दृष्टि को, अन्धे में नहीं जोड़ता, (आरोपित नहीं करता); इसी प्रकार वह आत्मा की दृष्टि को, देह में आरोपित नहीं करता। वह कौन ? दृष्टात्मा अर्थात् जिसने देह से भेद करके आत्मा को जाना है, वह (अन्तरात्मा)।

भावार्थ - जो अन्धे और लँगड़े का भेद भले प्रकार जानता है, वह दोनों के संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर लँगड़े की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करता अर्थात् अन्धे को दृष्टिहीन और लँगड़े को दृष्टिवान समझता है; इसी तरह भेदज्ञानी अन्तरात्मा, आत्मा और शरीर के सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर, कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता अर्थात् वह शरीर को चेतनारहित जड़ और आत्मा को ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही समझता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध होने पर भी, उपयोगरूप लक्षण से आत्मा पहिचाना जाता है। जैसे - सोने और चाँदी का एकपनेरूप बन्ध होने पर भी, उनके वर्णादि द्वारा उन दोनों को भिन्न-भिन्न परखा जा सकता है, उस तरह।[1]

अन्तरात्मा को शरीर और आत्मा के लक्षणों का भलीभाँति ज्ञान है; इसलिए वह दोनों को एकरूप अथवा एक को दूसरेरूप नहीं मानता॥९२॥

श्लोक - ९२ पर प्रवचन

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥ ९२॥

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद।
त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद॥ ९२॥

टीका - भेद जाननेवाला अर्थात् लँगड़े और अन्धे का भेद (अन्तर) जाननेवाला पुरुष; जैसे - लँगड़े की दृष्टि को, अन्धे में नहीं जोड़ता, (आरोपित नहीं करता);... अन्धे की दृष्टि, अन्धे के कारण चलती है और लंगड़े की दृष्टि, ज्ञान है, वह ज्ञान के कारण जानता है। बस। आहाहा! **इसी प्रकार वह आत्मा की दृष्टि को, देह में आरोपित नहीं करता।** लंगड़े की दृष्टि को अंधे में आरोपित नहीं करता। उसी प्रकार धर्मी जीव भेदज्ञानी आत्मा की दृष्टि को देह में आरोपित नहीं करता। **वह कौन? दृष्टात्मा अर्थात् जिसने देह से भेद करके आत्मा को जाना है, वह (अन्तरात्मा)।** आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

---

१. .....तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्षते।
सुवर्णरजतयो र्बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिर्भेदवत्॥
(श्री सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत टीका, अध्याय-२, सूत्र-८)

आषाढ़ कृष्ण ८, गुरुवार, दिनांक ३१-०७-१९७५, श्लोक-९२-९३, प्रवचन-१०६

इसका भावार्थ है। ९२ गाथा। **जो अन्धे और लँगड़े का भेद भले प्रकार जानता है,...** दृष्टान्त लिया है न? कि अन्धा चलता है, उसके कन्धे पर एक लंगड़ा बैठा है। लंगड़ा आँख से उसे बतलाता है और वह अन्धा चलता है। इसी प्रकार यह शरीर है, वह अन्धा है, वह जड़-मिट्टी-धूल। आत्मा है, वह पंगु है। अर्थात् कि आँखवाला है, परन्तु वह चल सकने की क्रिया करा सके, यह आत्मा में नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अन्धे और लँगड़े का भेद भले प्रकार जानता है, वह दोनों के संयोग के कारण,... दोनों का भले संयोग हो, ऊपर लंगड़ा बैठा, नीचे अन्धा चलता हो, दोनों के भेद में **भ्रम में पड़कर लँगड़े की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करता...** (कि) यह अन्ध है, वह जानकर चलता है। ऐसे अन्धे को और लगड़े को भिन्न जाने (कि) यह लंगड़ा जाननेवाला है और अन्धा चलनेवाला है। वह चलनेवाले में ज्ञान है, ऐसा नहीं। वह तो जड़ है, अन्धा है यह शरीर तो। आहाहा! यह तो दृष्टान्त पहले, हों!

संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर लँगड़े की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करता अर्थात् अन्धे को दृष्टिहीन और लँगड़े को दृष्टिवान समझता है;... अन्धे को दृष्टिहीन और लंगड़े को दृष्टिवान। **इसी तरह भेदज्ञानी अन्तरात्मा,...** जिसे सच्च—सत्य ज्ञान हुआ है, ऐसा जो धर्मी जीव **आत्मा और शरीर के सम्बन्ध से...** आत्मा और शरीर का संयोग सम्बन्ध है, ऐसे नजदीक। परन्तु **संयोग सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर, कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता...** अर्थात्? धर्मी जीव शरीर की क्रिया मुझसे—आत्मा से होती है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! अन्धा अन्धे की क्रिया जो जड़ की, शरीर की वह, अन्ध करता है, लंगड़ा नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह हिलना, चलना, बोलना यह सब क्रियायें अन्ध जड़ की है। आहाहा! उसे लोग धर्म मानते हैं कि यह शरीर की क्रिया मैंने की, पूजा की, भक्ति की, स्वाहा, यात्रा, पैर-टाँग मैंने ऊँचे किये, शत्रुंजय चढ़ा इसलिए यह देह की क्रिया मैंने की और मैंने यात्रा की। आहाहा! इसी

प्रकार मूढ़ जीव जड़ की क्रिया अन्धी है और अन्धे की क्रिया है, वह आत्मा की क्रिया है, ऐसा अज्ञानी मानता है। चिमनभाई! यह तुम्हारा क्या कॉन्ट्रेक्टर का काम और सब? कॉन्ट्रेक्टर का काम, यह सब वह जड़ की-अन्ध की क्रिया है वह तो।

मुमुक्षु : मकान-बँगले के बँगले रचे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बँगले के बँगले रचे, वह अन्ध जड़ की क्रिया है। जड़ में चेतन नहीं। जड़ की क्रिया से होता है। सेठ! सेठ को तो बड़े-बड़े मकान हैं वहाँ।

मुमुक्षु : बड़ा परिवार है तो मकान भी बड़ा चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा सेठ रहता है, वह छह लाख का मकान है और छोटा सेठ रहता है, वह बड़ा मकान गहरे-गहरे गये थे वहाँ बड़ा मकान है गहरे-गहरे। बहुत लाखों का। ऐसे तो इनके कितने ही मकान हैं।

मुमुक्षु : अभी सरकार की इनके ऊपर कड़ी नजर है। लाखोंपति बहुत कहने जैसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! परन्तु वह तो जड़ के पति कहलाये। आहाहा!

लक्ष्मी अन्धे, शरीर अन्धा, यह मिट्टी अन्धी... आहाहा! आँख के कोडा हैं, वे अन्धे हैं। यह कोडा देखते नहीं। कोडा (के) निमित्त से देखे परन्तु यह कोडा देखते नहीं। यह तो जड़ है, मिट्टी, यह तो अन्ध है। अन्दर ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, वह जानता है। आहाहा! अज्ञानी को खबर नहीं। ऐसा का ऐसा धर्म को माने। देह की क्रिया यह करूँ, मैं करता हूँ... मैं करता हूँ... मैं करता हूँ... आहाहा! शरीर निरोगी हो तो धर्म की क्रिया ठीक हो सके। क्या कहा?

कि अन्ध है, वह चलता है और अन्ध के कन्धे पर बैठा, वह पंगु चलता नहीं, वह देखता है। अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि यह अन्धा जानकर चलता है। बराबर पैर ऐसे रखे, ऐसे रखना। वह ऊपर कहता है कि देख! यह गाड़ी के रास्ते रास्ते में बच में नहीं परन्तु इस ओर चल। गाड़ी के रास्ते चले न? बीच में नहीं चल सके। बीच में तो ऊँचा-नीचा हो और उगा हुआ हो न ऐसा। इसलिए ऐसे पहिये जहाँ हो, वहाँ चले।

अज्ञानी को ऐसा भासित होता है कि यह अन्धा जानकर चलता है, यहाँ बराबर। परन्तु जाननेवाला तो लंगड़ा अन्दर बैठा है। वह चलता नहीं, उसी प्रकार चलने की क्रिया भी करता नहीं। आहाहा! कपूरभाई! देखो आज और नजदीक आये वापस उस ओर से। कल कहना था कि भाई! यहाँ आओ न सामने। आहाहा! देखो यह।

यह देह अन्ध है। यह आँख जो है, वह अन्ध है। यह कान है, वह अन्ध है। जीभ है, वह अन्ध है। यह स्पर्श है, वह अन्ध है। यह अन्ध की क्रिया लंगड़ा जैसे जाने, वैसे ज्ञानी आत्मा जानता है कि ऐसा होता है, परन्तु वह स्वयं नहीं कर सकता उसकी क्रिया। आहाहा! कठिन बात! संयोग में दोनों रहे होने पर भी। अन्धा और लँगड़ा संयोग में दिखने पर भी, संयोग की क्रिया... ज्ञानी वह लँगड़ा संयोग की क्रिया अन्धे की करता है, ऐसा (धर्म के) चतुर ऐसा नहीं मानते। समझ में आया? वैसे ही धर्म के चतुर... कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप जाननेवाला है। वह जाननेवाला जाने। और भाषा द्वारा कदाचित् उसे ऐसा कहे। परन्तु वह भाषा भी जड़ की है। आहाहा! अन्ध की है। आहाहा!

अन्धे पर लंगड़ा चढ़ा है, उसी प्रकार यह जड़-मिट्टी-धूल है, यह तो शरीर। इसका हिलना, चलना, पूजा में स्वाहा ऐसा होना, यात्रा में शरीर ऐसा हिलाना। आहाहा! वाँचने की क्रिया में भी शरीर और इन्द्रिय जिस लाईन पर... है, उसका ज्ञान करे अभी, परन्तु उस लाईन के ऊपर आँख की क्रिया करे, वह आत्मा की नहीं है। आहाहा! सेठ! ऐसा बहुत सूक्ष्म है। तुम्हारे तो बड़े कितने ही काम होते हैं वहाँ। कितने बीड़ी के बड़े क्या कहलाते हैं? गोदाम। देखा है या नहीं? आहाहा! कौन करे? बापू!

आत्मा का स्वरूप तो ज्ञानस्वरूप है और वह ज्ञानस्वरूप इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय वह जड़-अन्धी है।

मुमुक्षु : इन्द्रियज्ञान से ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रिय का ज्ञान कहे, वह भी निमित्त का कथन है। ज्ञान तो ज्ञान की पर्याय में स्वयं से हुआ है, इन्द्रिय से हुआ नहीं। आहाहा!

चैतन्य के अस्तित्व में जो ज्ञान का घोलन और पर्याय हुई, वह कहीं अन्ध आँख

और इस शरीर के कारण हुई नहीं। और शरीर तथा आँख ऐसे काम करे, ऐसे-ऐसे होकर, वह कहीं जाननेवाले के कारण वह क्रिया हुई नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आँख मींचकर ऐसे घूमे तो पड़ न जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : पड़ न जाये, वह पड़ने की क्रिया (होने की) तो जड़ की हो तो होती है। उसमें आँख मींची, इसलिए जाननेवाला नहीं अन्दर (ऐसा नहीं है)। जाननेवाला तो जानता है। आहाहा! हरिभाई! बहुत ऐसा काम है। यह धर्म के नाम से भी यह यात्रा शरीर से, यह दया पालना शरीर से। यह सब अन्ध की क्रियाओं को आत्मा मानता है कि यह मेरी हैं। आहाहा!

जिसमें जड़, वाणी, मन का प्रवेश नहीं और जिसकी सत्ता में यह वाणी, मन और जड़ का अस्तित्व नहीं। आहाहा! वह तो यह जाननेवाला जानता ही है। आहाहा! इन्द्रियों के व्यापार का लक्ष्य छोड़कर, मन के व्यापार का लक्ष्य छोड़कर, जो अन्तर में ज्ञान का प्रकाश नजर में पड़े, वह परमात्मा का स्वरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा का रंग कैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका रंग अरंग है। आहाहा!

इन्द्रियोंसम्बन्धी अन्ध की क्रिया का लक्ष्य छोड़कर, मनसम्बन्धी के विकल्प भी अन्ध हैं। आहाहा! उनका भी लक्ष्य छोड़कर, जो चैतन्य प्रकाश का पूर प्रभु जो ज्ञान में वहाँ ज्ञात होता है, वह परमात्मा स्वयं है। आहाहा! यह आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप है। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा! टाईल्स में यह सब वह क्या कहलाता है? भात डालते हैं। क्या कहते हैं उसे? डिजाईन-डिजाईन। देखा था एक बार उस जामनगर में। है न अपने वह वढवाणवाला, नहीं? वह कोई है। वहाँ दूध पीया था और फिर ऐसे गये। डिजाईन थी ऐसी एक। नमूने सब भिन्न-भिन्न प्रकार के। स्थानकवासी है। आहाहा! जैसी पत्थर में डिजाईन डालनी हो, वैसी डिजाईन डालते हैं। कहते हैं कि वह क्रिया आत्मा करता है, ऐसा मानना, वह मूढ़ जीव है।

मुमुक्षु : भले मूढ़ रहा परन्तु पैसेवाला तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसेवाला नहीं। रागवाला नहीं तो पैसेवाला कहाँ से आया? वह तो ज्ञानवाला है। ज्ञानवाला, यह भी भेद है। आहाहा! वह तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य है।

विकल्प और मन के और इन्द्रियों के ओर के विकल्प छोड़कर, क्योंकि वे सब अन्ध हैं। आहाहा! देखनेवाले को जिसे देखना है, जाननेवाले को जिसे जानना है, उस वस्तु में तो विकल्परहित होकर अन्तर्मुख चैतन्य के प्रकाश का अस्तित्व का भान हो तो वह स्वयं परमात्मस्वरूप चिदानन्द घन है। आहाहा! वह परमात्मस्वरूप भगवान इन्द्रिय और शरीर की क्रिया जो अन्धी है, उन्हें जड़ करता है, आत्मा नहीं करता। आहाहा! जगत से बहुत फेरफार।

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर, कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता... आहाहा! अँगुली द्वारा पृष्ठ फिरे ऐसे। मेरे ख्याल में था कि यह पृष्ठ चाहिए, इसलिए अँगुली फिरकर यह पृष्ठ नजर में आया, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसमें आया नहीं था? डगले-डगले—पगले-पगले। प्रवचनसार में आया था। पर्याय-पर्याय में इसे विवेक होता है ज्ञानी को। आहाहा! ऐसा कहते हैं। पगले-पगले शब्द था संस्कृत टीका में। आहाहा! समय-समय की ज्ञान की पर्याय में समय-समय में और पगले-पगले अर्थात् पर्याय-पर्याय में राग की क्रिया और जड़ की क्रिया से भिन्न का भान उसे रहा ही करता है। आहाहा! कहो, पोपटभाई! ऐसी बातें, भाई! वह कहते हैं।

आत्मा की कल्पना नहीं करता... व्यवस्थित काम इन्द्रियों से हो, जो इसके ख्याल में हो कि यह हाथ द्वारा यह रोटी टूटती है और यह रोटी ऐसे आवे मुँह में। आहाहा! परन्तु उस संयोग की क्रिया में आत्मा की क्रिया है, ऐसा ज्ञानी नहीं जानता। आहाहा! है? भावार्थ। **अर्थात् वह शरीर को चेतनारहित जड़...** आहाहा! यह तो मिट्टी-जड़ जानता नहीं, यह आँख जड़ जानती नहीं। आहाहा! कान सुनने का ज्ञान (काम) करता नहीं। वह तो जड़ है।

मुमुक्षु : आत्मा के प्रदेशों में।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके?

मुमुक्षु : आत्मा के प्रदेशों में।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश अर्थात् जानता है। जानता है। वह कहीं प्रदेश में रहा हुआ जो ज्ञान... प्रदेश तो उसका क्षेत्र है, उसका स्वदेश है। आहाहा! वह स्वदेश में रहा हुआ जो ज्ञान, वह देह की क्रिया के काल में संयोग दिखता होने पर भी... ऐसा है न? देखो न!

शरीर के सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर, कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता... आहाहा! वीतरागमार्ग भारी सूक्ष्म, बापू! लोगों ने अभी चलाया है—यह पूजा करो, भक्ति करो, यह करो न। जड़ की क्रिया करो, तुमको धर्म होगा। आहाहा! कदाचित् उसमें शुभभाव हो, लो न! वह भी अचेतन जड़ है। आहाहा! समझ में आया? यह आ गया है अपने वहाँ ७२ गाथा में। राग, वह अचेतन है। क्योंकि राग अन्धा कहो या अचेतन कहो—दोनों एक ही बात है। आहाहा! राग जो दया, दान, भक्ति, व्रत का विकल्प उठा, वह कुछ जानता नहीं कि मैं विकल्प राग हूँ। उसे जाननेवाला ज्ञान तो भिन्न है। बात तो ऐसी है कि जिस काल में जिस प्रकार का राग-द्वेष होने का हो, वही उस काल में उसका ज्ञान करता हुआ (ज्ञान) प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया?

जैसी शरीर की क्रिया होने की होती है और जैसा यहाँ राग होता है या द्वेष होता है उस सम्बन्धी का उस प्रकार का, उसी काल में ज्ञान में स्व-परप्रकाशक की परिणति स्वतः खड़ी होती है। आहाहा! उसे फिर वहाँ समय-समय में भेद करना पड़ता है, (ऐसा नहीं है)। यह भेद हुआ, वह भेद ही चलता है। समझ में आया? रतिभाई! यह ऐसा मार्ग है। आहाहा!

शरीर को चेतनारहित... अर्थात् कि यह इन्द्रियाँ जो हैं, वे सब चेतनारहित, ज्ञानी जानता तो है, यह जड़ है। आहाहा! शरीर के अवयव हैं न, इसलिए वह शरीर है। शरीर के अवयव हैं, वे कहीं आत्मा के अवयव नहीं यह। वे जड़ हैं, अचेतन हैं और आत्मा को ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही समझते हैं। आहाहा! देखो, यह समाधि! समाधितन्त्र नाम है न? समाधिशतक कहते हैं। परन्तु वह समाधितन्त्र कहा है अर्थात् कि समाधि शास्त्र। तन्त्र का अर्थ शास्त्र कल कहा था और या समाधि-औषधि। तन्त्र के दो अर्थ होते हैं।

आहाहा! समाधि औषधि है। राग और पर से भिन्न जानकर जो शान्ति आवे, उसका नाम समाधि, वह भव को टालने का औषध अर्थात् दवा है। आहाहा! भवरोग को टालने की यह दवा है। समझ में आया?

विशेष - आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध होने पर भी,... एक जगह आत्मा और देह होने पर भी, **उपयोगरूप लक्षण से आत्मा पहिचाना जाता है।** जानने-देखने के लक्षण से, लक्ष्य अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! यह राग की क्रिया हो और शरीर की क्रिया हो, उस लक्षण से आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा नहीं है, वह तो जड़ है। आहाहा! जानने-देखने के लक्षण से वह द्रव्य लक्ष्य में आता है। लक्षण से लक्ष्य में आता है। आहाहा! लक्षण से लक्ष्य में लक्ष्यवाला द्रव्य आता है। आहाहा!

आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाह... अवगाह अर्थात् व्यापना। **सम्बन्ध होने पर भी, उपयोगरूप लक्षण से आत्मा पहिचाना जाता है। जैसे - सोने और चाँदी का एकपनेरूप बन्ध होने पर भी,...** दृष्टान्त दिया है न? सर्वार्थसिद्धि का कहकर।

मुमुक्षु : समयसार का।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु इसे सर्वार्थसिद्धि में दिया है।

...तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्ष्यते।
सुवर्णरजतयो बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिर्भेदवत्॥

दृष्टान्त उसका दिया है। नहीं तो आता है समयसार में। परन्तु इन्होंने पढ़ा है न बहुत? उसमें से दृष्टान्त दिया है।

सोने और चाँदी का एकपनेरूप सम्बन्ध... सोना और चाँदी दोनों एक क्षेत्र में ऐसे रहने पर भी, सोना सोनेरूप है, चाँदी चाँदीरूप है। आहाहा! **उनके वर्णादि द्वारा उन दोनों को भिन्न-भिन्न परखा जा सकता है, उस तरह।** सोने का पीला वर्ण है और चाँदी का श्वेत वर्ण है। एक जगह सोना और (चाँदी) रहा होने पर भी... आहाहा! परमाणु का स्कन्ध। स्कन्ध है न वहाँ तो? एक-एक परमाणु कहा न? वह परमाणु का स्कन्ध है, वह चाँदी का वह सफेद और परमाणु का स्कन्ध है सोने का, वह पीला। दोनों की भिन्न-भिन्नता, उनके रंग ग्रहण से भिन्न दिखता है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो स्कन्ध की है न इकट्ठी बात? स्कन्ध की है भाई यह। एक परमाणु नहीं। स्कन्ध की है। चाँदी का स्कन्ध और सोने का स्कन्ध। यह कहा था न? कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, जीव, इनका जो विस्तार है, वह ऐसे प्रदेश का विस्तार है; इसलिए वह सप्रदेशी है। और परमाणु को सप्रदेशी कहना, वह परमाणु विस्तरित होकर ऐसे होता है, इसलिए सप्रदेश नहीं परन्तु परमाणु स्कन्ध में जुड़ जाता है, इसलिए स्कन्ध की अपेक्षा से परमाणु को सप्रदेशी कहा जाता है। आहाहा!

धर्मास्ति और जीव का सप्रदेशीपना तो उसके असंख्य प्रदेश के विस्तार द्वारा जानने में आता है, और परमाणु सप्रदेशपना, उसके विस्तार द्वारा नहीं, क्योंकि परमाणु विस्तृत पाकर दो-तीन-चार (प्रदेश)रूप होता है। आहाहा! यह स्कन्ध की बात चलती है न? चाँदी की और सोने की। तो वह स्कन्ध जो हुआ है, वह परमाणु विस्तरित होकर हुआ है, विस्तार होकर हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! विस्तार होने पर तो एक परमाणु दो रूप, तीन रूप, चार रूप हो तो उस परमाणु का विस्तार कहने में आता है, तो उसे इस प्रकार सप्रदेशी कहा जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह चाँदी के और सोने के स्कन्ध जो हैं, वे उनके रंग से इसे ज्ञात हो कि यह पीला, वह सोना; यह सफेद, वह चाँदी। आहाहा! जहाँ पीला दिखता है, वह तो अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। वहाँ एक परमाणु नहीं है और जो चाँदी दिखती है, वह अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। यह तो दृष्टान्त देना है न? आहाहा!

एकपनेरूप बन्ध होने पर भी, उनके वर्णादि द्वारा उन दोनों को भिन्न-भिन्न परखा जा सकता है, उसी तरह। अन्तरात्मा को शरीर और आत्मा के लक्षणों का भलीभाँति ज्ञान है;... आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है; शरीर अचेतन, वह जड़स्वरूप है, ऐसे आत्मा के और अन्तरात्मा के और शरीर तथा आत्मा के, ऐसे दो हैं न? अन्तरात्मा अर्थात् धर्मी जीव को, **शरीर और आत्मा के लक्षणों का भलीभाँति ज्ञान है; इसलिए वह दोनों को एकरूप अथवा एक को दूसरेरूप नहीं मानता।** दोनों को एकरूप अथवा एक को दूसरेरूप। आहाहा! भिन्न मानता-जानता है। भले यह अनन्त परमाणुओं का वह पिण्ड है। आत्मा स्वयं तो असंख्य प्रदेशी पिण्ड है। वह कहीं दो

आत्मा, चार आत्मा होकर असंख्य प्रदेशी नहीं हुआ। वह तो उसके प्रदेश का विस्तार होकर है। तथापि परमाणु का विस्तार होकर स्कन्ध हुआ है, परमाणु लम्बाकर दो-तीन-चाररूप हुए, ऐसा नहीं है। यह स्कन्ध को और आत्मा के लक्षण को ज्ञानी भिन्न-भिन्न जानता है। आहाहा! ऐसा जानना और ऐसा....

तिर्यंच को इतना अधिक ज्ञान नहीं होता, परन्तु यहाँ तो अधिक जहाँ उसे विपरीत मान्यताओं के शल्य घुस गये होते हैं, उसे विशेष से भिन्न प्रकार के भेदज्ञान के भावों को उसे जानना पड़ेगा। जैसे है, उसे एकदम आनन्द का अनुभव हुआ। आहाहा! समझ में आया? यह ज्ञानस्वभावी वह मैं अर्थात् ज्ञान के साथ रहा हुआ आनन्द, उस आनन्द का जहाँ स्वाद आया, इसलिए ख्याल में आया कि यह आत्मा है, और इसके साथ यह रागादि का यह आनन्द से उल्टी दशा है। बस। भले आस्रव है और बन्ध है, ऐसा न जाने। आहाहा!

ज्ञान का, आनन्द का वेदन ऐसा ज्ञात हुआ। उससे (विपरीत) रागादि दुःखरूप लगते हैं, वे मुझमें नहीं, वे इससे दूसरी चीज़ है। भले नाम न आवे। आहाहा! परन्तु उसका भावभासन हो गया। भावभासन का अर्थ? भाव जैसा है, उसका ज्ञान हो गया है। आहाहा! यह अधिक ऐसे जानपने का बोल उसे न हो। आहाहा! यह अधिक भेद... जिसे बहुत प्रकार की विपरीतता घुस गयी हो, उसे बहुत प्रकार से उसका भेदज्ञान करना पड़ेगा। किसी पहलू से भी कहीं एकता हो जाये पर के साथ, (ऐसा न हो) इसके लिये उसे भेदज्ञान के सब पहलू जानने पड़ेंगे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

विशेष। विशेष हो गया।

श्लोक - ९३

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह -

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥ ९३॥

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते। केषाम्? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम्। आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः पुनरक्षीणदोषस्य मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बन्धिन्यः सर्वावस्थाः सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि विभ्रमः प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासा-

भावात्। अथवा सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि न विभ्रमः केषाम्? आत्मदर्शिनां दृढ़तराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् यतस्तत्रेन्द्रियाणां स्वविषये निद्रया प्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति। तर्हि कस्याऽसौ विभ्रमो भवति? अक्षीणदोषस्य बहिरात्मनः। कथम्भूतस्य? सर्वावस्थात्मदर्शिनः सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवं शीलस्य॥९३॥

बहिरात्मा और अन्तरात्मा की कौन-सी अवस्था भ्रान्तिरूप है और कौन-सी अभ्रान्तिरूप है, वह कहते हैं —

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रान्त।
अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त॥ ९३॥

अन्वयार्थ - (अनात्मदर्शिनाम्) आत्मस्वरूप का वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है—ऐसे बहिरात्माओं को (सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव) केवल सोने व उन्मत्त होने की अवस्था ही (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है किन्तु (आत्मदर्शिनः) आत्मानुभवी अन्तरात्मा को, (अक्षीणदोषस्य) मोहाक्रान्त बहिरात्मा की (सर्वावस्थाः) सर्व ही अवस्थाएँ-सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओं की तरह, जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती हैं।

टीका - सुप्त और उन्मत्तादि अवस्था ही विभ्रमरूप प्रतिभासती है। किसको ? आत्मस्वरूप नहीं जाननेवालों को अर्थात् आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान से रहित बहिरात्माओं को। आत्मदर्शी को अर्थात् अन्तरात्मा को अक्षीण दोषवाले अर्थात् जिनके दोष क्षीण नहीं हुए हैं, वैसे मोह से घिरे हुए बहिरात्मा सम्बन्धी की सर्व अवस्थाएँ— जागृत, प्रबुद्ध, अनुन्मत्तादि अवस्था भी, सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था की तरह, विभ्रमरूप प्रतिभासती हैं क्योंकि उसको (बहिरात्मा को) यथार्थरूप से वस्तु के प्रतिभास का अभाव है।

अथवा—

सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था भी, (यहाँ एव शब्द, अपि के अर्थ में है।) विभ्रमरूप (नहीं भासती)। किसकी ? आत्मदर्शियों की, क्योंकि दृढ़तर अभ्यास के कारण, उस अवस्था में भी आत्मा के विषय में अविपर्यास (अविपरीतता) होती है और स्वरूप संवेदन में वैकल्य का (च्युति का) अभाव होता है।

यदि सुप्तादि अवस्था में भी आत्मदर्शन हो तो जागृत अवस्था की तरह, उसमें भी आत्मा को सुप्तादि का व्यपदेश (कथन) किस प्रकार घटेगा ? इसलिए वह भी अयोग्य हैं।

(समाधान :-) वहाँ निद्रा के कारण, इन्द्रियों को स्वविषय में प्रतिबन्ध है परन्तु वहाँ आत्मदर्शन का प्रतिबन्ध नहीं है; इसलिए उसका व्यपदेश घटित होता है।

तब किसकी वह विभ्रमरूप लगती है ? अक्षीण दोषवाले बहिरात्मा की। कैसे (बहिरात्मा को) ? सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की अर्थात् बाल-कुमारादिरूप और सुप्त, उन्मत्तादिरूप सर्व अवस्थाओं को जो आत्मा मानता है, वैसे स्वभाववाले की (बहिरात्मा की)।

भावार्थ - संस्कृत टीकाकार ने प्रस्तुत श्लोक को निम्नरूप में समझकर दूसरा अर्थ भी किया है —

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थापि विभ्रमो नात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः ॥ ९३ ॥

अर्थात् आत्मदर्शी पुरुषों की निद्रावस्था और उन्मत्तावस्था भी विभ्रमरूप नहीं

होती और सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवालों की (बहिरात्मा की)—जिसके मिथ्यात्वादि दोष क्षीण नहीं हुए, उसको वह (निद्रावस्था और जागृतावस्थादि सर्व अवस्थाएँ) विभ्रमरूप हैं।

जो आत्मदर्शी अन्तरात्मा है, उसके सुप्तादि अवस्था भी विभ्रम नहीं है, तो जागृतादि अवस्थाएँ तो विभ्रमरूप होंगी ही कैसे ? नहीं होती, क्योंकि आत्मस्वरूप के दृढ़तर अभ्यास के कारण उसका ज्ञान, उन अवस्थाओं में आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता। इन्द्रियों की शिथिलता और रोगादिवश कदाचित् उसको उन्मत्तता भी आ जाए, तो भी उसके आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटते; बराबर कायम ही रहते हैं परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा को बाल, कुमारादिरूप तथा सुप्त, उन्मत्तादिरूप सर्व अवस्थाओं में देहाध्यास / देह में आत्मबुद्धि होने से उसकी सभी क्रियाएँ विभ्रमरूप-मिथ्या हैं।

अन्तरात्मा को निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन होने से, समस्त अवस्थाओं में सुप्त या जागृत, उन्मत्त या अनुन्मत्त अवस्था में उसकी क्रियाएँ विभ्रमरूप नहीं होतीं, परन्तु बहिरात्मा की सर्व अवस्थाओं में निरन्तर अज्ञानचेतना का परिणमन होने से, उसकी सभी क्रियाएँ विभ्रमरूप-मिथ्या होती हैं।

इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्मा की अवस्था में महान अन्तर है। अन्तरात्मा सदा आत्मस्वरूप में जागृत रहता है और बहिरात्मा की दशा इसके विपरीत होती है।

श्लोक - ९३ पर प्रवचन

अब ९३। **बहिरात्मा और अन्तरात्मा की कौन-सी अवस्था भ्रान्तिरूप है और कौन-सी अभ्रान्तिरूप है, वह कहते हैं—** बहुत श्लोक वह है। आहाहा!

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥ ९३॥

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रान्त।
अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त॥ ९३॥

आहाहा! **टीका - सुप्त और उन्मत्तादि अवस्था ही विभ्रमरूप प्रतिभासती है।**

सो रहा हो और जिसे उन्मत्तता हुई हो। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, हों! समकिती को उन्मत्तता के समय भी समकित का भान है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी को उन्मत्त और सुसुप्त अवस्था में सो रहा है, आहाहा! **विभ्रमरूप प्रतिभासती है। किसको ? आत्मस्वरूप नहीं जाननेवालों को...** सोया हुआ और उन्मत्तादि दशा में ही विभ्रमरूप प्रतिभासित होता है अज्ञानी को। **आत्मस्वरूप नहीं जाननेवालों को अर्थात् आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान से रहित बहिरात्माओं को।** आहाहा! बहिरात्मा को निद्रा में सो रहा हो और उन्मत्तदशा हो, तब ही उसे भ्रम-विभ्रम है, ऐसा मानता है। उस दशा में विभ्रम होता है, ऐसा मानता है।

आत्मदर्शी को अर्थात् अन्तरात्मा को अक्षीण दोषवाले अर्थात् जिनके दोष क्षीण नहीं हुए हैं, वैसे मोह से घिरे हुए बहिरात्मा सम्बन्धी की सर्व अवस्थाएँ— जागृत, प्रबुद्ध,... क्या कहते हैं ? ज्ञानी को तो अज्ञानी की सभी दशाओं में वह अज्ञान-भ्रम उसे भासित होता है। आहाहा! **आत्मदर्शी को अर्थात् अन्तरात्मा को अक्षीण दोषवाले अर्थात् जिनके दोष क्षीण नहीं हुए हैं, वैसे मोह से घिरे हुए बहिरात्मा...** आहाहा! उसके **सम्बन्धी की सर्व अवस्थाएँ—जागृत,...** (अज्ञानी) जानपने के प्रबुद्धवाला हो। आहाहा! ज्ञानी को तो वह सब समय भ्रम भासित होता है। आहाहा! अज्ञानी भ्रम में पड़ा है। जागता हो, प्रबुद्ध हो। आहाहा!

अनुन्मत्तादि... अर्थात् उन्मत्तदशा न हो, ऐसा। जानपने की जरा उन्मत्तदशा भी न हो। बराबर प्रबुद्ध जानपनेसहित विचिक्षणरूप से वर्तता हो, तथापि ज्ञानी को उसकी सब दशाओं में भ्रम भासित होता है। आहाहा! उस भ्रम की भूमिका में उसे सब है। आहाहा! **अनुन्मत्तादि अवस्था भी, सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था की तरह,...** ऐसा। जागृत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्त उन सब दशाओं को **सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था की तरह, विभ्रमरूप प्रतिभासती हैं...** आहाहा! क्या कहा, समझ में आया ?

अज्ञानी की बहिरात्मा की दशा जागृत, प्रबुद्ध और कहा न ? अनुन्मत्त। उन्माद नहीं। चतुराई, चतुर का चतुराईपना। बात, ऐसे बैठा हो तो बात करता हो। ऐसी दशा को ज्ञानी उसे **सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था की तरह,...** वह सोता और जानपने की अवस्था की

भाँति **विभ्रमरूप प्रतिभासती हैं...** क्या कहा? समझ में आया या नहीं आया? समझ में नहीं आये इतने शब्द से?

मुमुक्षु : जागता हो वह भी विभ्रम।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधिक लेना है।

कहते हैं कि अन्तरात्मा—धर्मात्मा को अज्ञानी किस प्रकार भासित होता है? अज्ञानी उसे कैसा भासित होता है? कि अज्ञानी जागृत और प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि दशा की भाँति वह सुप्त और उन्मत्तदशा जैसा उसे भासित होता है। सबमें उसे विभ्रम और मिथ्यात्व भासित होता है। आहाहा! अन्तरात्मा को, इतना। अक्षीणमोह—जिसके दोष क्षीण हुए नहीं। अर्थात् जिसे मिथ्या भ्रम गया नहीं, ऐसे अज्ञानी को ज्ञानी अन्तरात्मा... आहाहा! **मोह से घिरे हुए बहिरात्मा सम्बन्धी की सर्व अवस्थाएँ—जागृत,...** हो, जाननेवाली हो। आहाहा! शास्त्र की बातें भी जानपने से बात करता हो। आहाहा! समझ में आया?

अनुन्मत्तादि अवस्था... की भाँति। जागृत और प्रबुद्ध और अनुन्मत्त वह सोता, अज्ञान के उन्मत्त की भाँति विभ्रमरूप प्रतिभासित होता है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? जिसे सत्य की खबर ही नहीं। राग से और पर से भिन्न है, ऐसी दशा की खबर नहीं, वह सब दशाओं में ज्ञानी को तो सब उसकी दशाओं में विभ्रम भासित होता है। आहाहा! साधु नाम धराता हो और लाखों लोगों को उपदेश करता हो, परन्तु जिसे राग और देह की क्रिया मेरी है, ऐसा मानकर जो भ्रम में पड़ा है, ऐसे भ्रम में पड़े हुए जीव की जागृत या प्रबुद्ध या अनुन्मत्तदशा, वह सोता और पागल जैसी दशा ही उसे भासित होती है। पागल है। आहाहा! भारी यह लिया है। इसके सामने अर्थ लेंगे, हों!

सम्यग्दृष्टि जीव, उसकी उन्मत्तादि दशा दिखाई दे, निद्रा दिखायी दे, तथापि उसका आत्मज्ञान—पर से भिन्नपना, उसे कोई रोक सके, ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा! समझ में आया? निद्रा में इन्द्रियों का विषय रुका, परन्तु स्व विषय रोके, ऐसी ताकत किसी की नहीं है। आहाहा! समझ में आया? रोग की अवस्था ऐसी होती है।

कहा था न, श्रीमद् के लिये नहीं कहा था? श्रीमद् जब अन्तिम... तब (कहा) मनसुख! माँ को खेद होने नहीं देना, मैं स्वरूप में जाता हूँ, ऐसा कहा। सोते। सोते और वस्त्र डाला ऊपर। उसमें घरघराहट चली। ऐसा घरघराहट चली कि ४-५ गाँव, गाँव क्या घर। वहाँ सुनाई दे। इसलिए वे झबेरचन्दभाई कहे, उनके बहनोई झबेरभाई थे। झबेरभाई नहीं? वहाँ रहते थे न उस डेला में करशनभाई के सामने राजकोट। वे कहें, आहाहा! यह दशा? यह धर्मी की दशा ऐसी होती है? अपने को बात बैठती नहीं।

फिर जब बात हुई कि बापू! तुम नहीं जानते, भाई! वह तो देह की क्रिया के काल में ऐसी स्थिति हो। परन्तु अन्दर आनन्द में पड़े हैं और इसकी खबर भी नहीं। भाई! वस्तु की स्थिति अलग है। समझ में आया? वह तो देह में जरा शक्ति थोड़ी थी। क्योंकि खड़े हुए न? खड़े होकर ऐसे क्या कहलाये तुम्हारे? आरामकुर्सी। उसमें ऐसे पोढ़े और वस्त्र ऐसे जरा रखा वहाँ घरडियो चला। क्योंकि स्वयं तो अन्दर ध्यान में हैं, शान्ति में हैं। लोग मानो कि देखो ऐसी! बापू! वह तो देह की क्रिया है, उसमें उसके ज्ञान के, आनन्द के प्रतिबन्ध कोई कर सके, ऐसा वहाँ उस काल में भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह कोल-करार करके गये हैं, कहीं मुफ्त में नहीं गये। 'इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश।' आहाहा! यह बात तो अन्दर की बातें हैं। समझ में आया?

'अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे,' अभी निर्बलता दिखती है, कि अभी कुछ ज्ञान अत्यन्त स्थिर हो सके, ऐसी ताकत नहीं। कुछ ज्ञान अटकता है। आहाहा! इसलिए ....

अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे,
इससे देह एक धारकर, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।

अक्षर-अक्षर सत्य है। समझ में आया? आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है। वह यहाँ कहना चाहते हैं कि ऐसी स्थिति देखकर अज्ञानी को ऐसा होता है कि यह तो अज्ञानी की जैसी यह क्रिया हुई। आहाहा! और अज्ञानी की क्रिया प्रबुद्धरूप से, जागृतरूप

से, अनुन्मत्तादिरूप से होती है, अनुन्मत्तादिरूप से, तो भी ज्ञानी तो उसे भ्रम में पड़ा हुआ देखता है। आहाहा! बहुत बातों में अन्तर, भाई! आहाहा! यह कहते हैं। इसके लिये यह गाथा ली है।

क्योंकि उसको (बहिरात्मा को) यथार्थरूप से वस्तु के प्रतिभास का अभाव है। बहिरात्मा को यथार्थरूप से वस्तु का भान प्रतिभास अर्थात् ज्ञान में भास यथार्थ हो, उसका उसे अभाव है। आहाहा! भले वह ग्यारह अंग पढ़ा हो, नौ पूर्व की लब्धि प्रगट हुई हो। आहाहा! परन्तु वह मोह से घिरा हुआ है। आहाहा! समझ में आया? यह तो समाधि का अधिकार है न? जिसे राग में और पर में एकत्वबुद्धिरूप से, असमाधिपने बहिरात्मा वर्तता है। आहाहा! मरते हुए देह को साध्यपने देह छोड़े अज्ञानी, तो भी उसका विभ्रम है। आहाहा! और ज्ञानी को कदाचित् उन्मत्त अवस्था जैसा अन्त में दिखायी दे। आहाहा! यह माप कौन करे? समझ में आया? आचार्य ने यह बात डाली है। आहाहा! अन्तिम टोच की बात डाली है।

कि अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यात्व से घिरा हुआ है, उसे प्रबुद्धपना, जागृतपना, उन्मत्तपने का अभाव वर्तता है, उस काल में भी ज्ञानी उसे सोता और निद्रित और उन्मत्ता जो दशा... आहाहा! जागृत और प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्था में भी उसे सुप्त और उसके जैसा देखते हैं वे तो। आहाहा! अरे... इसे कुछ खबर नहीं, क्या कहते हैं यह? समझ में आया? मरते हुए ऐसा कहे मुझे सुनाओ, शास्त्र सुनाओ। और वह सुनता है, इसलिए वह समकिती है, ऐसा नहीं है। ऐसी बातें, बापू! क्योंकि अभी उसकी दृष्टि में ही मिथ्यात्व घिरा हुआ है। आहा! ऐसी बात है। राग के विकल्प से प्रभु परमात्मस्वरूप का अस्तित्व अत्यन्त भिन्न है। यह जहाँ भासित नहीं हुआ, इसलिए उसे राग और देह की क्रिया उपशमरूप से भी मेरी है, ऐसी मान्यता से वह घिर गया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कठिन मार्ग, भाई! आहाहा!

यथार्थरूप से वस्तु के प्रतिभास का अभाव है। अथवा—सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था भी, (यहाँ एव शब्द, अपि के अर्थ में है।) विभ्रमरूप (नहीं भासती)। आहाहा! **किसकी? आत्मदर्शियों की,...** आहाहा! जिसे आत्मदर्शन हुआ है, वह जीव कोई

निद्रा में पड़ा हो उसे उन्मत्त जैसी जरा भाषा भी निकल जाये अन्दर से। आहाहा! ऐसी बात है यह। उसका कारण कि दृष्टि के विषय को प्रतिबद्ध करनेवाली कोई चीज़ वहाँ उसे है नहीं। आहाहा! भले निद्रा में इन्द्रिय का विषय रुका। समझ में आया? परन्तु दृष्टि का विषय जो है, उसे रोकने को कोई समर्थ नहीं है उस काल में। आहाहा! पोपटभाई! ऐसी बातें है। आहाहा!

सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था भी, विभ्रमरूप (नहीं भासती)। आहाहा! देखा! धर्मी को धर्मी की दशा ऐसी होती है तो भी उसे विभ्रम है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! आहाहा! फिर से। सोते हुए निद्रा, उन्मत्तादि में कोई अवस्था भी विभ्रमरूप भासित नहीं होती। **किसकी ? आत्मदर्शियों की,...** आत्मदर्शन हुआ है, ऐसे जीव सोते हों या कोई उन्मत्त जैसी दशा दिखाई दे परन्तु उसे प्रतिबद्ध करनेवाला वहाँ कोई है नहीं। इसलिए उसे विभ्रम है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा!

फिर से। निद्रा में सोता (हो) तो इन्द्रिय का विषय रुका। आहाहा! उन्मत्त में जरा चारित्र की अस्थिरता का कोई भाग आया। आहाहा! क्या सन्तों की पद्धति! उसमें भी **(यहाँ एव शब्द, अपि के अर्थ में है।)** अर्थात् उसे भी विभ्रमरूप भासित नहीं होती। आहाहा! अपने को तो विभ्रम है नहीं, परन्तु ज्ञानी को उसकी (जैसी) ऐसी अवस्था अज्ञानी की (दूसरे अज्ञानी की) देखकर विभ्रम है, ऐसा उसे भासित नहीं होता। आहाहा! यह तो अन्तिम टोंच की बातें हैं। आहाहा! मरण के समय भी धर्मी को किसी को ऐसी स्थिति ऐसी हो जाये। परन्तु तो भी ज्ञानी को, उसे यह विभ्रम है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा!

क्योंकि दृढ़तर अभ्यास के कारण, उस अवस्था में भी आत्मा के विषय में अविपर्यास (अविपरीतता) होती है... अर्थात् विपरीतता होती है, ऐसा नहीं। अविपरीतता होती है, ऐसा। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य (प्रवचनसार) ९२वीं गाथा में कहते हैं न? हमें आगम कुशलता और अन्तर की सावधानी द्वारा हमने मिथ्यात्व का नाश किया है। वह फिर से अब हमारे होनेवाला नहीं है। आहाहा! अरे... तुम छद्मस्थ मुनि, पंचम काल के और ये अमृतचन्द्राचार्य तो भगवान के पास गये भी नहीं थे, परन्तु

इस भगवान के पास गये थे न! आहाहा! ज्ञान की पर्याय द्वारा सपाटी बाँधकर द्रव्य में अन्दर गये थे। आहाहा!

'दिट्ठ मग्गे' ऐसा पाठ है न धवल में? मार्ग देखा है न ज्ञान द्वारा, ऐसे गये थे अन्दर। उस द्वारा ज्ञानी अन्दर क्रीड़ा करते हैं। आहाहा! समझ में आया? दुनिया से तो बहुत फेरफारवाली बातें हैं। अब अज्ञानी जागृत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्त है, तो भी कहते हैं कि वह भ्रम में पड़ा है और ज्ञानी सोता हो, उन्मत्तवत् है, तो भी उसे भ्रम नहीं। आहाहा! क्योंकि भ्रम का प्रतिबन्ध जिसे उठ गया है, उसे निद्रा या उन्मत्त अवस्था में समकित को कोई रोके कि आत्मा के ज्ञान को रोके, वह चीज़ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी गजब बातें! दिगम्बर सन्तों के सिवाय यह बात कहीं सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। कहाँ ले गये हैं?

बाहर में जरा अस्थिरता जैसा दिखाई दे, और निद्रा में भी पड़ा हो, तथापि अन्तर विषय जो चैतन्य को पकड़ा है, उस विषय का प्रतिबन्ध करनेवाले मोह का तो नाश हुआ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात, देखो न! अब शास्त्र में रखते हैं कैसी! एक-एक की विवेक की बातें की हैं। आहाहा! विवेक-विवेक। पर से भिन्न ऐसा विवेक अर्थात्... प्रौढ़ विवेक आया था न? (समयसार) ४१३ गाथा। व्यवहार में आरूढ़ है, वह व्यवहार में मूढ़ है। चाहे तो साधु नग्न दिगम्बर अट्ठाईस मूलगुण पालता हो परन्तु वह भ्रम में पड़ा है। आहाहा! और समकिती ज्ञानी निद्रा में पड़ा है। निद्रा में तो इन्द्रिय का विषय रुक गया है, परन्तु अन्दर के विषय को किसी ने रोका नहीं। आहाहा! समझ में आया? और उन्मत्त जैसी अवस्था कदाचित थोड़ी दिखाई दे अस्थिरता के कारण, वह तो अस्थिरता का कारण है जरा। उसके आत्मदर्शन को कोई विघ्न करे, वह राग आत्मा के दर्शन को विघ्न करे, ऐसी ताकत राग में नहीं है। आहाहा! अस्थिरता का जरा राग आया, परन्तु एक गुण दूसरे गुण को नुकसान कर सके, यह है ही नहीं। आहाहा! ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं कि अस्थिरता के भाग के कारण जरा उन्मत्त जैसा दिखाई दिया। आहाहा! परन्तु जो दर्शनशुद्धि हुई है, उसे कोई रोकनेवाला कोई चीज़ है नहीं। वह तो अस्थिरता का भाग जरा आ गया। आहाहा! समझ में आया? बातें वह भी।

आहार लाओ। भाई! आता है न भगवती आराधना में। संथारा किया है न! पण्डितमरण। उसमें किसी समय ऐसा विकल्प (आवे कि) आहार लाओ। (साथ के) मुनि कहते हैं कि हे आत्मा! अभी तुम कहाँ हो? यह क्या कहते हैं? इसका भान है वहाँ। ऐई! भगवती आराधना में आता है। संथारा किया है, अन्दर आनन्द में रमते हैं और उनके सेवक अर्थात् सेवा करनेवाले। कड़ाही-कड़ाही कहलाती हैं। उसमें हलुवा पके और कडाही होती है न? कडाही लोहे की, इसी प्रकार इनका संथारा पकने में मुनि उपस्थित होते हैं, सेवा, ध्यान रखनेवाले। उसमें उन्हें विकल्प आया आहार का। अरे... मुनि महाराज! परन्तु यह तो छठवाँ गुणस्थान आया और विकल्प आ गया। अन्तर्मुहूर्त में एकदम सातवें में जाते हैं। ऐई! तथापि वहाँ उपदेश किया ऐसा चलता है। भगवती आराधना में। मुनि महाराज! मुनिराज! आप कहाँ हो? यह क्या है? वहाँ तो एकदम मुड़ जाते हैं। समझ में आया? आहाहा!

जिसे आत्मदर्शन हुए, जिसे आत्मऋद्धि-आत्मसम्पत्ति की प्रतीति अनुभव में हुई। आहाहा! यह सब सम्पत्ति-बम्पत्ति आहार से लेकर पर सब सम्पदा आपदा है। और यह (आत्म) सम्पदा, वह सुखरूप है। आहाहा! उसे यह अनुभव में, कहते हैं कि कोई विघ्न करनेवाला राग अस्थिर हुआ, नींद आ गयी नींद, इसलिए उसे विभ्रम हो और विभ्रम है, ऐसा उसे भी नहीं और देखनेवाले ज्ञानी को भी आता नहीं। आहाहा! सेठ! यह तो सादी भाषा है। आज अभी बहुत सूक्ष्म नहीं। परन्तु धीरे-धीरे यहाँ गुजराती सीख लेना। क्या तुम्हारे वहाँ कहाँ? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : आवाज....

पूज्य गुरुदेवश्री : घड़ते हैं? कैसे है यह? ...दूसरे को जाना चाहिए। यह कहते हैं कि आवाज बराबर आती नहीं। ऐई!

मुमुक्षु : हॉल के हिसाब से....

पूज्य गुरुदेवश्री : हॉल के हिसाब से?

मुमुक्षु : प्रतिध्वनि पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? होगा। अपने को किसी ने कहा तो नहीं।

मुमुक्षु : दरवाजा खुलवा...

पूज्य गुरुदेवश्री : दरवाजा खुल्ला रखना चाहिए। यह खुल्ला है। यह बन्द है। खुल्ला रखना चाहिए। उसे कह देना चाहिए। आहाहा!

आत्मा के विषय में अविपर्यास (अविपरीतता) होती है और स्वरूप संवेदन में वैकल्य का (च्युति का) अभाव होता है। आहाहा! उन्मत्त और निद्रा-अस्थिरता में स्वरूप से हट (गये) जैसा दिखता है, (परन्तु) स्वरूप से (हटना) उसे होता नहीं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ९, शुक्रवार, दिनांक ०१-०८-१९७५, श्लोक-९३, प्रवचन-१०७

समाधितन्त्र। पहला, दूसरा और तीसरा पेरेग्राफ है। **यदि सुप्तादि अवस्था में भी आत्मदर्शन हो तो जागृत अवस्था की तरह, उसमें भी आत्मा को सुप्तादि का व्यपदेश (कथन) किस प्रकार घटेगा ?** क्या कहते हैं ? कि जो यह आत्मा है, सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीर्थंकर ने जो देखा, वह अन्दर आत्मा अत्यन्त शुद्ध निर्मलानन्द है। ऐसा जिसे राग से और पर से भिन्न पड़कर जिसे आत्मदर्शन हुआ है, सम्यग्दर्शन हुआ है। आहाहा! अर्थात् कि राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि का विकल्प हो, परन्तु वह राग है। आहाहा! उससे भिन्न पड़कर भगवान आत्मा अभेद रत्नत्रय को जो (आत्मा का) आश्रय करके प्रगट करता है। आत्मा का आश्रय करके अभेद रत्नत्रय प्रगट करता है। आहाहा! अर्थात् कि आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उसके सन्मुख होकर, निमित्त, राग और पर्याय से विमुख होकर... सूक्ष्म बात। जो सम्यग्दर्शन अन्दर हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ और स्वरूप की स्थिरता का अंश भी हुआ। कहते हैं, ऐसे जीव को सोता हो-निद्रा में हो, जरा उन्मत्त अवस्था भी हो, राग की जरा अवस्था हो ऐसी, तथापि आत्मदर्शन हो, तथापि वहाँ आत्मा का सम्यग्दर्शन है। आहाहा! तो कहते हैं कि ऐसी **अवस्था की तरह, उसमें भी आत्मा को सुप्तादि का...** नींद का और उन्मत्तता का किस प्रकार घटित होता है ? ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? आहाहा!

सम्यग्दृष्टि जीव को जागृत अवस्था में तो ठीक, परन्तु जागृत अवस्था की भाँति उसे नींद की अवस्था हो, निद्रा की अवस्था हो, उन्मत्त की अवस्था हो, उसमें उसे आत्मदर्शन कैसे घटित होता है ? अथवा वह नींद में है, ऐसा कैसे घटित होता है ? ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। कहते हैं कि उसे नींद में-निद्रा में, उन्मत्तपने में उसे उन्मत्तपना और नींदपना कैसे घटित होता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! जब उसे जागृत अवस्था की भाँति उसे नींद की अवस्था में भी आत्मदर्शन कहो, तो उसे नींदपना घटित (हो) कैसे ? ऐसा कहते हैं। समझ में

आया? शिष्य का प्रश्न है। है? भाई! यह तो वीतरागमार्ग मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

अभी सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या, उसकी बातें नहीं मिलती। यह पूजा करो, भक्ति करो, यात्रा करो, व्रत पालन करो और तप करो—यह धर्म। ऐसा अज्ञानियों ने मनाया है और माना है। इस वीतरागमार्ग में यह नहीं है। आहाहा! वीतराग जिनेन्द्रदेव परमेश्वर सर्वज्ञ प्रभु ऐसा कहते हैं कि उसे जब राग से... राग है, विकल्प हो। अभी यह बात हुई भाई थोड़ी पहले, कि परमात्मप्रकाश में, द्रव्यसंग्रह आदि में बहुत जगह भेदाभेदरत्नत्रय, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा आता है। और शुभराग का कर्ता है, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा आता है। अभी कहा न, भाई! समझ में आया? तब वे लोग उसमें से कहते हैं कि यह शुभराग, वह भेदरत्नत्रय नहीं है।

ऐई! रतनचन्दजी में आया था पहले। ऐसा नहीं, भाई! यह शुभराग जो है—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का, उस राग का कर्ता हो, वह भेदाभेदरत्नत्रयवाले को नहीं। उसे भेद राग है सही, अभेद स्वरूप की दृष्टि है आनन्द की, उसका ज्ञान है और उसकी रमणता है, परन्तु पूरी नहीं, इसलिए राग साथ में है सही। उस राग को भेदरत्नत्रय कहकर मोक्ष का कारण है, ऐसा आरोप से कहा। और स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान है, वह यथार्थ मोक्ष का कारण है, ऐसा कहा, परन्तु इससे पुण्य का राग, भेदरत्नत्रय अर्थात् राग नहीं, पुण्य नहीं, ऐसा नहीं है। है राग, परन्तु राग का कर्तृत्व नहीं है। आहाहा! कठिन बात! बहुत सूक्ष्म मार्ग, बापू! जन्म-मरण को टालने का उपाय वीतराग का, वह पूरी जाति ही अलग है। आहाहा! अरे... चौरासी के अवतार में दुःखी होकर भटकता है। चार गति में यह दुःखी है, हों! सेठ! पैसेवाले भी दुःखी?

मुमुक्षु : पैसे को और सुख को क्या सम्बन्ध?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब यह बड़ा वैभव... बड़ा वैभव देखो तो इनके घर में सुविधा। ऐई! बड़े राजा जैसा वैभव है इनके घर में।

मुमुक्षु : आप उसे वैभव नहीं कहते, आत्मा के वैभव को वैभव कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धूल का वैभव नहीं। आहाहा! इस आत्मा में वह नहीं।

आहाहा! उसका लक्ष्य करे तो भी राग होता है, ऐसा वह वैभव है। यह दु:ख होता है। आत्मा के अतिरिक्त... आहाहा! मन, वचन, काया और श्वास है न, इससे लेकर सब परद्रव्य दु:ख का निमित्त है। आहाहा! राग हो अन्दर, वह भी दु:ख का कारण है। आहाहा! कारण भी दु:खरूप ही है।

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जीव को जागृत अवस्था की भाँति निद्रा अवस्था में और उन्मत्त अवस्था में यदि तुम उसे समकिती और आत्मदर्शी कहो, तो वह नींद में है और उन्मत्त में है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा तुम उसे कैसे कहते हो? आहाहा! ऐई! आहाहा! समझ में आया सेठ! फिर से। कि **सुप्तादि अवस्था में भी...** नींद में और उन्मत्तपना जरा हो रागादि। उसे **आत्मदर्शन हो तो जागृत अवस्था की तरह, उसमें भी आत्मा को...** नींद में है, उन्मत्त में है, ऐसा कथन किस प्रकार घटित हो? आहाहा! शिष्य का प्रश्न समझ में आता है? पोपटभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा अपने घर में आया। आहाहा! जो पुण्य और पाप के राग में और उसके फल में जो अटका था (कि) यह मैं हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। वह समकिती नहीं, वह जैन नहीं। आहाहा! जिसे पुण्य और पाप के भाव और उसके फलरूप से अनुकूल-प्रतिकूल संयोग, उनमें जिसका लक्ष्य है और वे मुझे मेरे हैं। आहाहा! वह तो मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं। उसे वीतरागमार्ग की खबर नहीं। समझ में आया? आहाहा! जो दु:ख के निमित्त। आहाहा! '**पदव्वादो दुग्गइ**' गजब बात है न! तो परद्रव्य में मन, वचन और काया, कर्म सब आते हैं। आहाहा! उसमें लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, परिवार, देव-गुरु और शास्त्र— यह सब परद्रव्य में आते हैं, भाई! और परद्रव्य के लक्ष्य से तो राग ही होता है। इसलिए परद्रव्य है, वह दु:ख का, राग का कहो या दु:ख का निमित्त है। आहाहा! गजब बात!

वीतरागमार्ग और प्रभु आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर प्रभु है। उसका जिसे अन्तर भान (कि जो) सुख का कारण है, ऐसी सुख की दशा आनन्द की स्वाद की उत्पन्न हुई है। आहाहा! उस जीव के लिये तुम जागृत अवस्था में, अनिद्रा में, अनुन्मत्तपने में तुम उसे आत्मदर्शन है, ऐसा कहो भले, परन्तु वह सुषुप्त अवस्था में भी है तो वह सुषुप्त अवस्था ही उसे नहीं कही जाती।

ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया? भारी कठिन। जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ वीतराग का मार्ग, भाई!

कहते है, वह नींद—निद्रा में है, ऐसा उसे कैसे कहते हो? तुम कहते हो कि वह तो आत्मा का भानसहित जागृत है अन्दर। समझ में आया? आहाहा! तो ऐसी जरा राग की उन्मत्तता जैसी दिखाई दे, ऐसी अवस्था उसकी है, वह अवस्था उसमें नहीं, ऐसा कहो। आहाहा! **उसमें भी आत्मा को सुप्तादि का...** निद्रा, उन्मत्तपना, अप्रबुद्धपना, विशेष ज्ञान का विकास जहाँ नहीं निद्रा में। समझ में आया? ऐसा **(कथन) किस प्रकार घटेगा? इसलिए वह भी अयोग्य हैं।** शिष्य कहता है, हों! निद्रा में उसे आत्म-सम्यग्दर्शन रहे, आत्मा का भान अन्दर रहे। आहाहा! और उसे तुम कहते हो कि उसे आत्मदर्शन सम्यक् है। है निद्रा में सुषुप्त है, (तथापि) उसे जागृत आत्मा है, ऐसा तुम कहो, आहाहा! समझ में आया? अजागृतदशा में जागृत आत्मा है, ऐसा तुम कहो, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? वह अयोग्य है महाराज! शिष्य कहता है, हों!

(समाधान :-) वहाँ निद्रा के कारण, इन्द्रियों को स्वविषय में प्रतिबन्ध है... आहाहा! नींद में यह पाँच इन्द्रिय का जो विषय है, उसमें उसका अभाव है। है? **निद्रा के कारण प्रतिबन्ध है...** उसके पाँच विषय जरा भी निद्रा में (कार्यरत) नहीं है। **परन्तु वहाँ आत्मदर्शन का प्रतिबन्ध नहीं है;...** आहाहा! कैसा स्पष्टीकरण किया है! आहाहा! पाँचों ही इन्द्रिय के विषयों की ओर का लक्ष्य नहीं, निद्रा में। इसलिए। पाँच इन्द्रिय के विषय का निरोध—प्रतिबन्ध है। परन्तु उस काल में भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु आनन्द का नाथ प्रभु, ऐसा जो सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा जो ज्ञान हुआ है, वह जागृत ही है। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा कठिन मार्ग! यह क्या? इसकी अपेक्षा वे व्रत पालना, अपवास करना, यात्रा करना, वह सरल था और यह महँगा कर डाला। एक व्यक्ति कहे।

अरे..! बापू! भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का पन्थ वीतराग है, और उस वीतरागभाव से धर्म होता है। वह तो सब राग क्रिया है। यहाँ तो शिष्य का यह प्रश्न था कि उसे जागृत अवस्था की भाँति उसे निद्रा की अवस्था में भी आत्मदर्शन है तो उसे निद्रा की अवस्था ही नहीं कही जाती।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा जागृत है और यहाँ निद्रा में है, ऐसी दो बातें किस प्रकार मिलान खाये? बात समझ में आती है? आहाहा! कठिन बात, भाई!

तो कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन न, प्रभु! आहाहा! अन्दर का जो सम्यग्दर्शन का विषय, वह आत्मा जो है, वह तो ज्ञात हो गया, वहाँ भी जाना है। उसे वहाँ प्रतिबन्ध करनेवाला कोई रहा नहीं। आहाहा! क्या कहा? निद्रा के काल में और उन्मत्त अवस्था जैसी काल की दशा में... आहाहा! और निद्रा में इन्द्रिय का विषय जो है, उसका वहाँ रुकना हो गया। उसका वहाँ प्रतिबन्ध है। आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे रोकनेवाला वहाँ कोई है नहीं। आहाहा! रतिभाई! यह ऐसी बातें हैं। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप ज्ञान के प्रकाश का पुंज प्रभु आत्मा तो है। ज्ञानप्रकाश का पुंज है। आनन्द का सागर है। आहाहा! ऐसा सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में, उसका विषय होकर जो ज्ञात हुआ और स्वसंवेदन हुआ, वह ज्ञान। सम्यग्दर्शन हुआ—जानी हुई चीज़ ऐसी है, ऐसी प्रतीति हुई, उसे सुषुप्त में उसे प्रतिबन्ध करनेवाला कोई है नहीं। आहाहा! कहो, गिरधरभाई! आहाहा! उसे निद्रा में पाँच इन्द्रिय के विषय का प्रतिबन्ध हो गया, रुक गये। अन्दर जो विषय सम्यग्दर्शन को विषय कहा है और स्वसंवेदन को जो आत्मा का ज्ञान कहा है, उसे प्रतिबन्ध करनेवाला तो उसमें है नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? क्या ऐसा मार्ग? कहे। ऐसा उपदेश कैसा? कपूरभाई! कलकत्ता में पैसा मिले परन्तु यह मिले, ऐसा वहाँ नहीं है।

मुमुक्षु : .... मिलते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं मिलते, बातें ममता मिलती है। धूल में पैसे में पैसे रह गये। इसके पास आते हैं? इसकी पर्याय में—आत्मा की पर्याय में—अवस्था में वह पैसा आता है? आया अर्थात् माना कि मुझे आये, यह ममता उसकी पर्याय में आयी है। आहाहा!

यहाँ तो उसकी पर्याय में आत्मा आया, उसकी बात चलती है। आहाहा! जिसकी

पर्याय में—अवस्था में आत्मा आया, आत्मा समीप आया। आहाहा! जो दूर था, वह समीप आया। उसका विषय तो उस काल में भी उसके विषय को रोकनेवाला कोई है नहीं। आहाहा! समझमें आया? रतिभाई! आहाहा!

वहाँ निद्रा के कारण, इन्द्रियों को स्वविषय में प्रतिबन्ध है... आहाहा! इन्द्रियों का विषय है, वह तो पर है। उस निद्रा में उसका प्रतिबन्ध है। वहाँ परविषय नहीं होता। आहाहा! **परन्तु वहाँ आत्मदर्शन का प्रतिबन्ध नहीं है;...** आहाहा! गजब बात है न! भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन में, जो प्रतीति में आया है, सम्यक् स्वसंवेदन में जो ज्ञानस्वभाव का स्व से प्रत्यक्ष वेदन हुआ है, उसे कोई रोकनेवाली निद्रा के अन्दर नहीं है। आहाहा! कठिन बातें भाई! जेठाभाई!

वहाँ आत्मदर्शन का प्रतिबन्ध नहीं है;... आहाहा! जहाँ अन्दर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, उसका विषय जो आत्मा, वह जाना, अब उसके विषय को रोकना वह कहाँ है वहाँ? आहाहा! चिमनभाई! ऐसा सब कॉन्ट्रैक्टर-फॉन्ट्रैक्टर में तुम्हारे मुम्बई में नहीं आता होगा यह। भटकने के रास्ते आवे वहाँ सब। आहाहा! क्या परमात्मा, सन्तों ने क्या स्पष्टीकरण (किया)! आहाहा! भाई! एक बार बात करते हैं, वह सुन न, भाई! आहाहा! जैसी जागृत अवस्था में और अनुन्मत्त अवस्था में और प्रबुद्ध अवस्था में जैसा आत्मा का दर्शन—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान वर्तता है, और है, वैसी ही चीज़ उसकी निद्रा में, उन्मत्तदशा में है। आहाहा! अरेरे!

भगवान! एक बार सुन, भाई! तुमने जहाँ आत्मा का पता लिया, वह दर्शन को विघ्न करनेवाली निद्रा है? निद्रा, वह तो पाँच इन्द्रिय के विषय को प्रतिबन्ध किया है। आहाहा! परन्तु स्वविषय को प्रतिबद्ध करनेवाला वहाँ कोई है नहीं। कान्तिभाई! आहाहा! आचार्यों ने भी गजब काम किया है न! भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इतने शब्दों में तो गजब किया है। परन्तु बात इसे बैठनी चाहिए, हों! आहाहा!

शिष्य का क्या प्रश्न था कि निद्रा अवस्था उसे नहीं कहना चाहिए, यदि उसे आत्मजागृति वहाँ रहती हो तो उसे निद्रा अवस्था ही नहीं कहना चाहिए, ऐसा शिष्य का

प्रश्न है। बराबर है? तब गुरु कहते हैं, भाई! एक बार सुन, भाई! निद्रा अवस्था में पाँच इन्द्रिय के विषय वहाँ रुके हैं, परन्तु भगवान का दर्शन जो सम्यक् हुआ, स्वसंवेदन ज्ञान है, उसे रोकनेवाला वहाँ कोई खड़ा है? आहाहा! समझ में आया? कहो, सेठ! समझ में आता है न? आहाहा! मिथ्यात्व है, उसका नाश किया है, ऐसा कहते हैं। और अज्ञान का नाश किया है, और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान जिसे स्वविषय से प्रगट हुआ है। आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, उसका विषय तो वस्तु है, उस वस्तु का विषय तो उसके ज्ञान में, दर्शन में वर्तता ही है। नींद में भी वह वर्तता है, कहते हैं। आहाहा! सुजानमलजी! आहाहा!

सम्यग्दर्शन क्या चीज़, बापू! आहाहा! लोग ऐसा मान बैठे कि हम श्रावक हैं, और ऐसे मुनि हैं, वह वस्तु कुछ दूसरी है। आहाहा! प्रथम में प्रथम चारित्र और विशेष ज्ञान का मूल तो सम्यग्दर्शन है, अब वह सम्यग्दर्शन कैसे हो, उसकी खबर न हो और यह व्रत, तप को अंगीकार किया, वह हमारा चारित्र। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे ही लोग जैनशासन कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैनशासन, बापू! ऐसा नहीं है। आहाहा!

उसमें एक श्लोक आया है, भाई! परमात्मप्रकाश में (आया है) कि ग्रन्थ की ममता ज्ञानी को नहीं होती। ग्रन्थ शब्द के दो अर्थ हैं, ग्रन्थ शब्द से परिग्रह और ग्रन्थ शब्द से शास्त्र की रचना होना, वह। आहाहा! हमें उसका ममत्व नहीं होता। परमात्मप्रकाश में 'ग्रन्थ' शब्द आता है न? यह निर्ग्रन्थस्वरूप भगवान आत्मा जो है... आहाहा! राग, वह गाँठ—ग्रन्थी है। उससे भिन्न भगवान आत्मा है, ऐसा जहाँ अन्तरज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, धर्म की वहाँ से शुरुआत होती है। वह धर्म की शुरुआत की दशा, कहते हैं कि जागृत और प्रबुद्ध अवस्था में तो होती ही है, परन्तु निद्रा अवस्था में भी वह दशा ऐसी ही रहती है। क्योंकि उसे रोकनेवाला कौन है? निद्रा में पाँच इन्द्रिय के विषय रुक गये हैं। आहाहा! दलील तो देखो!

जरा उन्मत्त अवस्था में जरा थोड़ी स्थिरता रुक गयी है। परन्तु उसे स्वसंवेदन ज्ञान और दर्शन में जो आत्मा ज्ञात हुआ और माना और अनुभव किया, उसका अटकना

वहाँ कहाँ हुआ ? उसे रोकनेवाला कौन है वहाँ ? आहाहा! पाँच इन्द्रिय के विषय बिना का जो विषय। आहाहा! गजब है न! जो पाँच इन्द्रिय का विषय है, वह तो शब्द, रूप, गन्ध, (रस), स्पर्श (आदि है)। इसके बिना का स्वविषय स्व चैतन्यमूर्ति को जिसने ध्यान में विषय बनाकर... आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, उसे निद्रा अवस्था में रोकनेवाला कौन है ? कहते हैं। आहाहा! सेठ! ऐसी बात तो किसी समय सुनी भी नहीं होगी। सागर में नहीं। सागर में पैसा और वैभव है न बड़ा। दोनों सेठियों को प्रेम बहुत, भाई! हों! सुनने का सब। इनकी उस प्रमाण की। राजकोष में थे, दिल्ली में एक थे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखकर पहले उतरे थे और अहिंसा मन्दिर... वह करोड़पति है। पैसा बहुत है। यह शैली अलग। इन सेठियों की शैली अलग। सबको हमने तो बहुतों को देखा है न! उसे बापू! कितनों को तो यह पैसा हो और खर्च करने में भी उसका घमण्ड हो, हम यह खर्च करते हैं, हम यह करते हैं। और हम होशियार हैं इसलिए दस-दस, बीस-बीस लाख हम वर्ष के पैदा करते हैं। यह सब घमण्ड अज्ञानी को होता है। आहाहा! कौन पैदा करे, बापू ? बुद्धि के बारदान भी करोड़ों पैदा करते हैं और बुद्धि के खां हों, उसे दो हजार कमाना पड़े महीने में (तो) पसीना उतरता है। यह पैसा कहीं बुद्धि से मिलता है ? ऐसा नहीं है। वह तो पूर्व के पुण्य के रजकण ऐसे पड़े हों, वे गलने के समय उसे यह दिखता है, यह पैसा, पाँच, पचास लाख, करोड़, दो करोड़। समझ में आया ? आहाहा!

शान्तिलाल खुशाल गोवा में देखो न! दो अरब चालीस करोड़। अपना बनिया दशाश्रीमाली स्थानकवासी। दो अरब चालीस करोड़। मर गया बेचारा। उसकी बहू अभी सात महीने से असाध्य है, भाई! सेठ! दो अरब चालीस करोड़। चालीस-चालीस लाख के मकान, सात महीने से असाध्य है। वह तो गया। यह तो उसकी बहू असाध्य... क्या कहलाता है वह तुम्हारे ? हेमरेज। यह हेमरेज नहीं होता ? नस टूट जाती है। असाध्य है। सात-आठ महीने से ऐसे के ऐसे असाध्य पड़ी है बँगले में। आहाहा! चालीस-चालीस लाख का बँगला है। दो अरब। उसकी दो भानेज अपने यहाँ ब्रह्मचारिणी

हैं। अभी यहाँ हैं। उनकी बहिन की लड़कियाँ। एक लड़का आया है। वह कल गया। यह दशा। अब तेरी धूल क्या करे वहाँ? जिसे रोग असाध्य। आहाहा! वह बीछिया वाला है। उसका दामाद। अपना प्रमुख है यहाँ का। वह रसिक नहीं? लालचन्दभाई। रसिक घोळकियो। नहीं वह बोलता? बहुत बोलता है। अपने यह क्या उसके भाई का लड़का, उसका दामाद है शान्तिलाल का। वह यहाँ आया है। कामाणी। कामाणी नहीं मोटाणी, अपने उतरे थे न वहाँ? यहाँ आया था। मेरी सासु सात महीने से असाध्य है, कहे। पैसे कितने? कि दो अरब चालीस करोड़। अब धूल के तेरे। धूल की खबर भी नहीं कि मेरे पास यह है या नहीं।

यहाँ तो आत्मवैभव वह अन्तर आनन्द का नाथ जिसे सर्वज्ञ ने कहा वह। आहाहा! ऐसे वैभव का जिसे पर्याय में उसका स्वाद आया, उसका वेदन आया है। आहाहा! वह जागता उसे वेदता है। नींद के समय भी जागता वेदता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कर्म-बर्म अवरोधक नहीं होता वहाँ? आहाहा! भाई! कर्म बेचारा कौन? भूल मेरी अधिकाई। कर्म तो जड़-मिट्टी-धूल है, उसने कहाँ भूल करायी है? भूल थी, वह तो मैंने टाली है। आहाहा! मिथ्याभ्रम जो भूल थी, वह स्वभाव के भान से तो टाली है। अब उसे रोकनेवाला कौन निद्रा में? ऐसा कहते हैं। उन्मत्त अवस्था हुई अप्रबुद्ध अर्थात् बहुत प्रबुद्धता—विचिक्षणता उघाड़ की न हो। जानपना विशेष न हो, परन्तु उसे अन्तर में जो दृष्टि और विकास हुआ है, उसे रोकनेवाला कौन है उस काल में? आहाहा! गजब आचार्य की बातें! गजब बात है!

इसलिए उसका व्यपदेश घटित होता है। क्या कहते हैं? कि वह निद्रा में भी भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शन और ज्ञान के विषय को लक्ष्य में लेकर वेदता है। आहाहा! इसलिए उसका व्यपदेश घटित होता है। अर्थात्? वह निद्रा में है, उन्मत्त अवस्था में है, ऐसा कथन घटित होता है, कहते हैं। समझ में आया? मुझे भिन्न-भिन्न बात है यह। **तब किसकी वह विभ्रमरूप लगती है? तब किसकी वह विभ्रमरूप लगती है? अक्षीण दोषवाले बहिरात्मा की।** जिसने राग को अपना माना है। आहाहा! राग से पुण्यबन्ध होता है, उसे मेरा माना है, वह पुण्यबन्ध के फल यह धूलादि मिले,

पैसा आदि, उसे मेरा माना है, ऐसे बहिरात्मा की विभ्रम दशा है। वह जागता हो तो भी विभ्रम है और निद्रा में भी (विभ्रम)। आहाहा! समझ में आया?

अक्षीण दोषवाले बहिरात्मा की। कैसे (बहिरात्मा को) ? सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की... बालपना, वह मैं; युवापना, वह मैं; वृद्ध, वह मैं; मनुष्य, वह मैं; देव, वह मैं मैं; नारकी, वह मैं; निर्धन, वह मैं; सधन, वह मैं—ऐसी सब अवस्थायें मेरी अपनी हैं, ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव ऐसे बहिरात्मा को निद्रा में या जागृत में उसे विभ्रमदशा वर्तती है। आहाहा! समझ में आया? उसे भ्रमणा में अज्ञान वर्तता है। आहाहा! अक्षणीदोष—मिथ्यात्व का दोष जिसे नहीं टाला।

सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की... यह बालपना, वह मेरा, युवकपना मेरा, सधनपना वह मैं, निर्धन वह मैं, दरिद्र वह मैं, धनवान वह मैं, मूर्ख वह मैं, और पण्डित वह मैं। यह सब अवस्थायें हैं, उन्हें अपनी मानता है। आहाहा! समझ में आया? **बाल-कुमारादिरूप और सुप्त, उन्मत्तादिरूप सर्व अवस्थाओं को जो आत्मा मानता है,...** नींद, वह मेरी; उन्मत्त, वह मैं—ऐसा जिसने माना है, वह सब अवस्था में उसे विभ्रम है, मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? वह प्रबुद्ध हो, जागृत हो, अनुन्मत्त हो, उन्मत्त न हो, तो भी वह मूर्ख और बहिरात्मा है। क्योंकि वह पर को अपना माना है और स्व को भूल गया है। आहाहा! समझ में आया? यह तो समझ में आये ऐसी बात है। यह कहीं बहुत सूक्ष्म, ऐसी नहीं है।

सर्व अवस्थाओं को जो आत्मा मानता है, वैसे स्वभाववाले की (बहिरात्मा की)। उसे विभ्रम अवस्था। आहाहा! भावार्थ में जरा स्पष्ट किया है थोड़ा। **संस्कृत टीकाकार ने प्रस्तुत श्लोक को निम्नरूप में समझकर दूसरा अर्थ भी किया है—** है न ९३? **अर्थ - आत्मदर्शी पुरुषों की...** आहाहा! आत्मा पवित्र पूर्णानन्द हूँ, ऐसी प्रतीति और अनुभव हुआ, ऐसे समकिती जीव की अर्थात् कि आत्मदर्शी... वह आत्मदर्शी हुआ। आहाहा! इन्द्रिय के विषय का वह दर्शी नहीं। आहाहा! ऐई! यह राग होता है, उसका भी वास्तव में दर्शी नहीं। वह आत्म... आहाहा!

आत्मदर्शी पुरुषों की निद्रावस्था और उन्मत्तावस्था... जरा गहलता आंशिक

दिखाई दे थोड़ी। **भी विभ्रमरूप नहीं होती...** उसे भ्रमणा नहीं होती। यह विभ्रम— मिथ्यात्व नहीं होता। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा की धर्मकथा है। यह कहीं वार्ता नहीं। एक था राजा और एक थी रानी। रानी कुपित हुई तो राजा मनाने गया, ऐसा तो घर-घर में होता है। यह तो आत्मा कुपित कैसे है ? और कुपित में से छूटा कैसे ? अपना भान नहीं था तब कुपित था, वह राग और पर की अवस्था को अपनी मानता था। ऐसे जीव को जागृत अवस्था हो, या अनुन्मत्त अवस्था हो, विभ्रम में पड़ा हो वह। जो अपनी चीज़ नहीं, उसे मानकर उसमें पड़ा है। आहाहा! यह छह-छह लड़के, कितनी उपाधि है ?

मुमुक्षु : लड़के वह विभ्रमदशा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मेरे माना है, यह विभ्रम है। और लड़के कमाते हैं, अब मुझे निवृत्ति मिलेगी, यह भ्रमणा है। यह तो दृष्टान्त, हों! जिसे जो हो, वैसे लागू करना। यह तो दृष्टान्त, भाई सामने है। आहाहा!

प्रभु! तेरी दशा तो राग और बाह्य की दशा से भिन्न तेरी दशा है। आहाहा! उस दशा में, जहाँ दशावान का दशा में भान हुआ, उसे ऐसी चाहे जो दशा बाहर में हो, परन्तु उसे अपनी नहीं मानता। इसलिए नींद में भी वह जागृत ही है। आहाहा! और अज्ञानी जागृत अवस्था में भी विभ्रम में पड़ा है, सो रहा है, नींद में है। आहाहा! समझ में आया ? जो राग को और पर को अपना मानता है, प्रत्येक अवस्था में निर्धन तो कहे मैं निर्धन हूँ, सधन तो कहे मैं सधन हूँ, परन्तु वह तो जड़ की दशा तेरे घर में कहाँ से आयी ? सधन और निर्धन कहाँ से आया तू ? आहाहा! ऊँघ गया है ? ऊँघ जाता है। ऊँघ है न, निद्रा आ जाती है। यह पुस्तक लिया, वह ले लिया इन्होंने। यह ऊँघ गये हैं। यह बात सच्ची और अभी यह ऊँघने का समय है न ? आहाहा!

सुननेवाले ऐसे हों। ऐसा पहले आठवीं गाथा में आता है, भाई! टग... टग... टग... देखता है, यह क्या कहते हैं ? क्या कहते हैं यह ? न समझे तो ऐसा कहे, क्या कहते हैं यह ? ऐसा आता है। टग-टग उसके सामने ही देखता है कहनेवाले के (सामने)। फेरफार (हो लक्ष्य में), वह श्रोता धर्म को सुनने के योग्य ही नहीं। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! ऐई!

यहाँ कहते हैं **सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवालों की...** विभ्रमदशा सब— प्रत्येक काल में, उसे होती है, ऐसा कहते हैं। जागृत हो, व्यापार में बैठा हो, बड़ा विचिक्षणता से बहियों के नामा जाँचता हो। समझ में आया? परन्तु वह विभ्रम मूढ़ है। उस दशा में भी वह मूढ़ है, वह विभ्रम है, मिथ्यात्वी है। आहाहा! उसे जैन परमेश्वर आत्मा किसे कहते हैं, उसकी उसे खबर नहीं। आहाहा! उसका इसे दर्शन-मिथ्यादर्शन है। स्वदर्शन नहीं, मिथ्यादर्शन है। आहाहा! मिथ्यादर्शन अर्थात्? जो अवस्थायें पर की, राग की, उसे मेरी (माने), वह सब मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन इसकी दशा है। आहाहा! फिर भले वह सामायिक करता हो और प्रौषध करता हो तथा प्रतिक्रमण करता हो, और यात्रा करता हो, परन्तु उन सब दशा में वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि वह आत्मा के स्वभाव की जागृतदशा को भूल गया है। और इस (जागृत) के अतिरिक्त की सब अजागृत अवस्था जड़ की, उसे ही अपनी मानकर बैठा है। आहाहा! वह सब काल में वह विभ्रम में ही पड़ा है, कहते हैं। आहाहा! चाहे तो भगवान की स्तुति में हो, परन्तु वह मानो कि स्तुति करता हूँ, वह मैं हूँ। यह स्तुति है, वह जड़ की भाषा है। वह मैं करता हूँ, ऐसी पर की विभ्रम दशा वहाँ ही उसे वर्तती है। आहाहा! ऐई!

स्वाहा। देखो! पूजा करे (तब) नहीं आता? चावल और वह सब क्रियायें चावल चढ़ाने की मैं करता हूँ। वह तो जड़ की क्रिया है। यह हाथ चलता है, वह भी जड़ की क्रिया है। परन्तु उस अवस्था से मेरी अवस्था है और मैं करता हूँ, ऐसी मान्यतावाले को उस समय विभ्रम-मिथ्यात्व वर्तता है। आहाहा! समझ में आया? पर को बचने का काल हो और स्वयं वहाँ पहुँचा और बचाया उसे। इसलिए वह मुझसे बचा, और मैंने यह हाथ ऐसे किया, इसलिए बच गया। वह हाथ की क्रिया जड़ की और वह बचा (वह) क्रिया उसकी। उसे 'मैंने बचाया', ऐसी मान्यता, उस दशा में भी वह मिथ्यादृष्टि भ्रम में पड़ा है। आहाहा!

और धर्मात्मा निद्रा में और निद्रा में पड़ा हो। आहाहा! मुनि को तो बहुत अल्प निद्रा होती है। अल्प, बहुत अल्प। एक पौन सेकेण्ड के अन्दर। सच्चे मुनि की बात है। जिसे भगवान सन्त-मुनि कहते हैं, उन्हें तो पिछली रात्रि में जरा पौन सेकेण्ड निद्रा

आवे, वहाँ जाग जाते हैं। आनन्द में आवे। और ऐसी पिछली रात्रि में थोड़ी आवे। परन्तु समकिती हो और गृहस्थाश्रम में हो तो उसे और पाँच-सात घण्टे नींद आवे, परन्तु उस निद्रा के काल में वह जागृत है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और अज्ञानी जागृत काल में भी भ्रम में-विभ्रम में वह पड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

जिसके मिथ्यात्वादि दोष क्षीण नहीं हुए,... देखा! उसकी भ्रमणा गयी नहीं कि यह वाणी, राग, पुण्य, शरीर, वाणी, वे मेरे नहीं। मेरी चीज़ तो आनन्दमय और ज्ञानमय है। ऐसा जिसे—अज्ञानी को भान नहीं है। भले वह जैन नाम धराता हो, तो भी उसके मिथ्यात्वादि दोष गये नहीं। आहाहा! समझ में आया? **उसको वह (निद्रावस्था और जागृतावस्थादि सर्व अवस्थाएँ) विभ्रमरूप हैं।** आहाहा! शैली देखो न कैसी? समयसार से दूसरी शैली। इसका स्पष्टीकरण किया। बाकी है तो वह शैली। आहाहा!

जो आत्मदर्शी... देखा! उसे राग हो, युद्ध का राग हो, विषय का राग हो तो भी वह तो आत्मदर्शी है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि राग को अपनी अवस्था है और मेरी है, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! उसे तो मैं जानता हूँ, यह भी व्यवहार है। आहाहा! मैं मुझे जानता हूँ, इस प्रकार अन्तरात्मा को निद्रा अवस्था में भी यह दशा होती है। आहाहा! समझ में आया?

दृष्टान्त दिया है न, नहीं? मोक्षमार्गप्रकाशक में। कि नौकर है, वह सेठ का काम करे, वह बोले भी ऐसा कि हमें ब्याज भरना पड़ता है। यह मुम्बई में देखो न आठ बजे भरे तो आज का खताया जाता है। आज का दिन। आठ के बाद करे तो उस दिन का खताया जाता है। पैसा-पैसा भरे न? यह तो दृष्टान्त है। तो यह पैसे भरने आया हो उसको कहे नौकर। हमारे भी पैसा बराबर भरने पड़ते हैं, इसलिए आठ से पहले हो तो आज के दिन में खताये जायेंगे, नहीं तो हमारे भी नहीं खताये जायेंगे। हमारे-हमारे कहता है, परन्तु अन्दर में जानता है कि हमारा कुछ नहीं है। उसके लाभ और हानि का मालिक तो सेठ है। भाषा तो ऐसी कहे, हमारे ऐसा है, हमारे भी ऐसा करना पड़ता है, हमारे ऐसा करना। भाई! अब तू लाया दस बजे और आज की तिथि में खतायें तो नहीं खताये जायेंगे। हमारे भी इस तिथि में खतावे तो हमारे पैसा भरने पड़ते हैं। ऐसा बोले

भी, परन्तु अन्दर में कुछ नहीं होता। आहाहा! ऐई! समझे? दृष्टान्त दिया है मोक्षमार्गप्रकाशक में (दिया है)। समयसार में आया होगा।

आत्मदर्शी अन्तरात्मा है,... अन्तरात्मा अर्थात् आत्मा का जाननेवाला और माननेवाला। अर्थात् कि आत्मदर्शी अर्थात् शुद्ध चैतन्यघन वस्तु, उसका जिसे अन्तर में भान हुआ है, राग और पर से जिसे भेदज्ञान वर्तता है, वह भेदज्ञान निद्रावस्था में भी रहता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इन्द्रियों के विषय रुक गये, परन्तु उसका स्वविषय है, उसे रोकनेवाला वहाँ कोई है नहीं। आहाहा! देखो, यह आत्मा की स्थिति! अरे! ऐसा मनुष्यपना उसमें, वास्तविक वीतराग परमात्मा, किसको दर्शन कहते हैं, किसको समकित कहते हैं? किसको मिथ्यात्व? इसकी कुछ खबर नहीं होती। यह जीवन पशु जैसा जीवन है। सेठ! फिर भले करोड़ोंपति और अरबोंपति हो। आहाहा! वह पशु जैसा अवतार है। दुनिया महिमा करे, लो!

मुमुक्षु : पागल....

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल को।

आत्मदर्शी अन्तरात्मा है, उसके सुप्तादि अवस्था भी विभ्रम नहीं है,... नींद और उन्मत्त अवस्था से मिथ्यात्व नहीं, वहाँ भ्रमणा नहीं। आहाहा! **तो जागृतादि अवस्थाएँ तो विभ्रमरूप होंगी ही कैसे? नहीं होती,...** स्पष्टीकरण अधिक किया। **क्योंकि आत्मस्वरूप के दृढ़तर अभ्यास के कारण...** आहाहा! आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्यघन भगवान का दृढ़तर अभ्यास किया, राग से भिन्न करके। आहाहा! यह अभ्यास। यह संसार के अभ्यास नहीं करते? बी.ए. और एल.एल.बी. का पूंछड़ा लगाते हैं न? यह एल.एल.बी. यह वकील होते हैं न, और एम.ए. यह डॉक्टर सब अज्ञान, कुज्ञान है सब यह। आहाहा! समझ में आया?

यह तो आत्मस्वरूप का अभ्यास। आहाहा! विकल्प रागमात्र से भिन्न मेरी चीज़, ऐसा दृढ़तर अभ्यास के संस्कार अन्दर पड़े हैं। उस संस्कार को निद्रा भी नहीं रोक सकती। आहाहा! उन्मत्त अवस्था भी उसे रोक नहीं सकती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **क्योंकि आत्मस्वरूप के दृढ़तर अभ्यास के कारण उसका ज्ञान, उन अवस्थाओं में**

आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव को धर्म की जिसे शुरुआत अन्तर से हो गयी है, राग से और शरीर से भिन्न ऐसा भान हुआ है, और उसका दृढ़तर संस्कार तथा अभ्यास अन्दर हो गया है, उसे निद्रा अवस्था में भी उसके ज्ञान से च्युत नहीं होता। आहाहा! वह सोवे तब नहीं यह नाक का वह होता? खर्राटे चलते हैं जरा, क्या कहते हैं? नाक का।

मुमुक्षु : नसकोरा बोले।

पूज्य गुरुदेवश्री : खर्राटा बोले। खर्राटा बोले। सो रहा हो तो खर्राटा बोले। सर्वत्र सुनाई दे। समकिती को खर्राटा बोले परन्तु वह अन्दर जागृत है, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि भेदज्ञान हुआ है, उस काल में भी वह वर्तता है। करना नहीं पड़ता कुछ। आहाहा! कितने ही तो ४०-४० वर्ष हुए न, इसलिए दृढ़तर रूढ़-रूढ़ हो गया। बहुतों को तो ऐसा हो गया (है कि) यह तो अपने सुनते हैं, यह तो अपने को है। सब भ्रम है। अज्ञान है। नयी पर्याय के समय नया क्या है, यह सुनने की जिसे दरकार नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सुनने से राग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुनना आये बिना रहता नहीं और सुननेवाले की दशा कहनेवाले के ऊपर बराबर देखा ही करे, वह दशा उसकी होती है। गणधर जैसे भी चार ज्ञान और चौदह (पूर्वधारी) गणधर, सुनने बैठे, फिर ध्यान अन्यत्र रखे? विकल्प है तब तक ऐसे ध्यान-लक्ष्य रखे। आत्मा हो वहाँ अन्दर उतर जाते हैं। आहाहा! मुनि हैं न! सच्चे मुनि को छठवाँ-सातवाँ, और विशेष तो यह है कि सातवें में आये (तब) क्या बात गयी, उसका सातवें के समय ख्याल नहीं था परन्तु तो भी वह सन्धि कर डालते हैं। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

छठवें गुणस्थान में मुनि विकल्प में हैं, इसलिए लक्ष्य है, यह भगवान कहते हैं उसका लक्ष्य है। है तो राग। परन्तु तुरन्त अप्रमत्तदशा, सच्चे मुनि की दशा उसे कहते हैं। यह तो सब अभी तो समझने जैसी बातें हैं। मुनि तो उसे कहते हैं कि ऐसे तीन कषाय (चौकड़ी) का नाश हुआ है, निद्रा भी एक पौन सेकेण्ड की ही होती है, एक सेकेण्ड

की निद्रा आवे तो मुनिपना नहीं रहता उसे। यह तो कहे, लोग अभी मानते हैं न सब? यह सब साधु है और सब आचार्य है और उपाध्याय है। कोई धूल भी नहीं है। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, उस मार्ग की रीति ही अलग है। कहते हैं... आहाहा! यह निद्रा में और कोई भाषा ऐसी निकल गयी अस्थिरता की, तो भी वह स्वरूप से च्युत नहीं होता। आहाहा!

इन्द्रियों की शिथिलता और रोगादिवश कदाचित् उसको उन्मत्तता भी आ जाए,... यह तो स्पष्टीकरण किया है। इन्द्रियों की शिथिलता हो गयी और रोगादिवश उसे उन्मत्तता है। आहाहा! **तो भी उसके आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटते;...** जिसने भ्रमणा टाली है और निभ्रम—अभ्रमदशा जिसने प्रगट की है। आहाहा! रात और दिन उसकी स्व धारा पर से भिन्न ही वर्तती है। फिर नींद में हो या जागृत में हो। आहाहा! उस चीज़ की लोगों को कीमत नहीं। और बाहर में त्याग किया, और यह किया और यह किया। जिस आत्मा में पर का त्याग-ग्रहण है ही नहीं। पर के ग्रहण-त्याग से तो शून्य है। आहाहा! उसके बदले पर के ग्रहण-त्यागवाला, वह धर्मी और वह साधु। आहाहा! बाहर की बातें बापू! जगत के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग दुनिया के साथ अभी मिलान खाये, ऐसा नहीं है।

कहते हैं **तो भी उसके आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटते; बराबर कायम ही रहते हैं...** आहाहा! स्व जो आत्मा, उसका वेदन जिस ज्ञान में ज्ञान का और प्रतीति जो समकित में, वह तो उसे कायम रहती है। आहाहा! **अज्ञानी बहिरात्मा को बाल, कुमारादिरूप...** अर्थात् युवक आदि **सुप्त, उन्मत्तादिरूप...** सोता हो और मस्तिष्क फेर (उन्मत्त) हो जाये **सर्व अवस्थाओं में देहाध्यास / देह में आत्मबुद्धि होने से उसकी सभी क्रियाएँ विभ्रमरूप-मिथ्या हैं।** आहाहा! है न?

अन्तरात्मा को निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन होने से,... स्पष्ट बहुत अच्छा किया है छोटाभाई ने। अन्तरात्मा को ज्ञानचेतना का तो परिणमन है। परिणमन है, उस परिणमन को रोके कौन? आहाहा! राग की तीव्रता हो, तो भी स्वसंवेदन ज्ञान के परिणमन को रोके कौन? आहाहा! और जड़ की अवस्था भी अनेक प्रकार की हो,

शरीर, वाणी, इन्द्रियों की। उसमें आत्मा की जागृतदशा को रोके कौन? आहाहा!

जब समुद्र में ज्वार आता हो, तब भले ११० डिग्री की धूप हो, तो भी ज्वार को रोक सके? भरती समझते हो? बाढ़। समुद्र के मध्य में से जब समुद्र उछलता है, उसे बाह्य में १०८-११० डिग्री की धूप हो, वह रोक नहीं सकती, उसी प्रकार उसे भाटा का काल हो, समुद्र का भाटा का काल, तब पचास इंच बारिश और हजारों नदियाँ चारों ओर से अन्दर पड़े, वह भाटा के काल में वे बाहर की चीज़ ज्वार लावे, (ऐसी) सामर्थ्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त सुख का और अनन्त गुण का सागर, वह मध्यबिन्दु पर दृष्टि पड़ने से वह उछला पर्याय में। आहाहा! उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाओ, उन्मत्त अवस्था हो जाओ, ज्ञान भी याददाश्त भूल जाये, इन्द्रिय का ज्ञान भूल जाये। आहाहा! तथापि उसकी दशा जो ज्वार हुई है, सम्यग्दर्शन और ज्ञान, स्वरूप की प्रतीति और भान, उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। **उसकी सभी क्रियाएँ...** अज्ञानी की सभी क्रियायें मिथ्या हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण १०, शनिवार, दिनांक ०२-०८-१९७५, श्लोक-९३-९४, प्रवचन-१०८

९३ गाथा की अन्तिम दो लाईनें हैं। **इस प्रकार बहिरात्मा...** इस प्रकार अर्थात्? प्रत्येक क्षण में देह की क्रिया मैं करता हूँ और राग, वह मेरी चीज़ है, ऐसा प्रत्येक क्षण में बहिर् अर्थात् आत्मा के स्वभाव में वह चीज़ नहीं, उसे वह अपनी मानता है। **बहिरात्मा और अन्तरात्मा...** जो राग और शरीर की क्रिया मेरी नहीं। मैं कोई ज्ञानानन्द, सहजानन्दस्वरूप हूँ। ऐसा जाननेवाला... बड़ा अन्तर अवस्था में है। आहाहा! दोनों की **अवस्था में महान अन्तर है।** क्योंकि देह की क्षण-क्षण में होती अवस्था मैं एक हूँ जाननेवाला, तो ऐसी अवस्था होती है जड़ में। ऐसा माननेवाला और राग जो है विकल्प विभाव है, इस त्रिकाल स्वभाव में वह चीज़ नहीं, तथापि उस राग का कर्तव्य मेरा है। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह मेरा कर्तव्य है। ऐसा माननेवाला अज्ञानी क्षण-क्षण में पर अवस्था को अपनी मानता है। आहाहा! प्रत्येक क्षण सब अवस्थाओं में शरीर और राग से भिन्न हूँ, ऐसा जाननेवाला अन्तरात्मा की अवस्था और बहिरात्मा की अवस्था (में) बड़ा अन्तर है।

अन्तरात्मा सदा आत्मस्वरूप में जागृत रहता है... चाहे तो युद्ध आदि हो, रागादि हो। आहाहा! विषय की वासना आदि हो, परन्तु उसमें से दृष्टि को उठा लिया है। आहाहा! अन्तरात्मा। अन्तर स्वरूप (में) अन्तर्मुख होने से जो वस्तु की अनुभवदृष्टि हो, वह अन्तरात्मा प्रत्येक क्षण में राग और पर की क्रिया अपनी नहीं मानता। आहाहा! ऐसा बड़ा अन्तर है। वह **सदा जागृत रहता है...** अर्थात् कि राग और देह की क्रिया होने पर भी उसका जाननेवाला रहता है। यह बड़ा अन्तर है।

और बहिरात्मा की दशा इसके विपरीत होती है। किसी भी पल उसकी जागृति नहीं होती। बहिर् आत्मा जो वस्तु के त्रिकाली स्वभाव में नहीं, ऐसी चीज़ को और राग को तथा देह को अपना कर्तव्य माननेवाला, वह मूढ़ प्रत्येक क्षण मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! चाहे तो फिर साधुपना पालता हो बाहर की क्रिया का, पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण को। तो भी वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि जो क्रिया राग की

और देह की, वह सब चीज़ स्वरूप में नहीं है। और स्वरूप की दृष्टि हुए बिना उसे अपना मानता है, वह क्षण-क्षण में मिथ्यात्व से—राग और देह की क्रिया की एकत्वबुद्धि से लिप्त होता है। आहाहा! समझमें आया?

श्लोक - ९४

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह -

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥ ९४॥

न मुच्यते न कर्मरहितो भवति। कौऽसौ? देहात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। कथम्भूतोऽपि? विदिताशेषशास्त्रोऽपि परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि देहात्मदृष्टिर्यतः देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः पुनरपि कथम्भूतोऽपि? जाग्रदपि निद्रयाऽनभिभूतोऽपि। यस्तु ज्ञातात्मा परिज्ञातात्मस्वरूपः स सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढ़तराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात्॥९४॥

सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की भी, अशेष (सम्पूर्ण) शास्त्रों के परिज्ञान के कारण, निद्रारहित (जाग्रत) हुए की मुक्ति होगी — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं —

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त।
निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त॥ ९४॥

_अन्वयार्थ_ - (देहात्मदृष्टिः) शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा, (विदिताशेषशास्त्रः अपि) सम्पूर्ण शास्त्रों का जाननेवाला होने पर भी तथा (जाग्रत् अपि) जागता हुआ भी (न मुच्यते) कर्मबन्धन से नहीं छूटता है किन्तु (ज्ञातात्मा) जिसने आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न अनुभव कर लिया है—ऐसा विवेकी अन्तरात्मा, (सुप्तोन्मत्तः अपि) सोता और उन्मत्त हुआ भी (मुच्यते) कर्मबन्धन से मुक्त होता है-विशिष्टरूप से कर्मों की निर्जरा करता है।

टीका - मुक्त नहीं होता—कर्मरहित नहीं होता। वह कौन ? शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा। कैसा होने पर भी ? सर्व शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी-सर्व शास्त्रों का परिज्ञानवाला होने पर भी, क्योंकि वह देहात्मदृष्टि है अर्थात् देह और आत्मा के भेद की रुचिरहित है। फिर वह कैसा (होने पर भी) है ? जागृत होने पर भी — निद्रा से अभिभूत (घिरा हुआ) नहीं होने पर भी।

जो ज्ञानात्मा है अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप जाना है (अनुभव किया है), वह सुप्त और उन्मत्त होने पर भी, मुक्त होता है—विशिष्ट कर्मनिर्जरा करता है क्योंकि उसको दृढ़तर अभ्यास के कारण, सुप्तादि अवस्था में भी आत्मस्वरूप के संवेदन में वैकल्य (च्युति) नहीं होती।

भावार्थ - जिसको शरीर में आत्मबुद्धि है—जो शरीर को ही आत्मा मानता है अर्थात् शरीर की क्रिया, आत्मा करता है—ऐसा मानता है, वह भले ही समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो और जागृतावस्था में (समान अवस्था में) हो, तो भी भेदविज्ञान के अभाव से, उसको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु जिसको शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान है और आत्मस्वरूप के अनुभव का दृढ़तर अभ्यास है, वैसा अन्तरात्मा, निद्रावस्था में अथवा उन्मत्तावस्था में होने पर भी, विशिष्ट प्रकार से कर्मों की निर्जरा करता है क्योंकि उसको निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन है। यह कर्मनिर्जरा, उसके मुक्ति के कारणरूप होती है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानी जीव को ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान हो, वह अपने शास्त्रज्ञान से अन्य को मुग्ध करे, प्रशंसा का पात्र बने, परन्तु वह आत्मज्ञान शून्य होने से उसका समस्त ज्ञान, आत्महित के लिए कार्यकारी नहीं है; बाधक है। गधे पर लदे हुए शास्त्रों के भार के समान वह ज्ञान, उसको बोझरूप है ॥९४॥

श्लोक - ९४ पर प्रवचन

अब शिष्य का प्रश्न है कि **सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की...** देह की, राग की अवस्था को भी माने। **भी, अशेष (सम्पूर्ण) शास्त्रों के...** ज्ञान है। उसे शास्त्र

का ज्ञान है। आहाहा! तो वह जाननेवाला **(जाग्रत) हुए की मुक्ति होगी...** जागृत है, ऐसा कहते हैं। शिष्य का प्रश्न है, हों! आहाहा! **सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की भी,...** ऐसा। भले कहते हैं राग और देह की अवस्था आत्मा की माने, परन्तु उसे शास्त्र का ज्ञान है न? सेठ! उसे शास्त्र का ज्ञान है। ज्ञान में उसे आया है धारणा में कि राग और देह मेरा नहीं है, ऐसा कहते हैं। ऐई! आहाहा! तो वह तो जागृत है न शास्त्र का ज्ञान है इसलिए? आहाहा! तो उसकी तो मुक्ति होगी न?

हजारों शास्त्र जाने, शास्त्र रच जाने। आहाहा! परन्तु प्रत्येक राग और देह की अवस्था में पर्यायबुद्धिवाला है, उसे ही अपना मानता है। आहाहा! **ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं—** ऐसा जो बोलता है कि शास्त्रों का ज्ञान है या नहीं? पत्थर की शिला में शास्त्र लिखे हों, तो वह पानी में नहीं डूबेगा न? आहाहा! शास्त्र लिखे हों, समयसार, प्रवचनसार पत्थर की शिला में उत्कीर्ण कर। यह देखो न उत्कीर्ण नहीं किया? लो! संगमरमर में उत्कीर्ण किये हैं, लो! अब यह पत्थर पानी में डूबे या नहीं पत्थर को पानी में? शास्त्र लिखे हैं न इसमें? आहाहा! इसी प्रकार जिसके ज्ञान में क्षयोपशम में मिथ्याज्ञान के प्रसंग में उसे ग्यारह अंग नौ पूर्व की लब्धि ज्ञान हो। पूरा तो पढ़ने से पढ़ा नहीं जाता। ऐसी लब्धि होती है। तो उस लब्धिवाले को भले उस प्रत्येक अवस्था में पर को अपना माने, परन्तु ऐसा पठन का ज्ञान बहुत विकास है, उसकी तो मुक्ति होगी या नहीं? आहाहा! उसका उत्तर...

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥ ९४॥

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त।
निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त॥ ९४॥

नीचे है यहाँ? यह श्लोक नहीं होगा। इसमें है। भाई ने किया है न छोटाभाई ने। आहाहा!

टीका - मुक्त नहीं होता—कर्मरहित नहीं होता। मुक्त नहीं होता अर्थात् कर्मरहित नहीं होता। **वह कौन? शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला...** अर्थात् कि जिसकी दृष्टि राग

और शरीर के ऊपर ही है। त्रिकाली शुद्ध भगवान अभेद चैतन्यमूर्ति में दृष्टि का उसे अभाव है। आहाहा! समझ में आया? दृष्टि फेर से वह मानता है राग और शरीरादि की पर्याय मैं विचिक्षण हूँ, इसलिए बराबर बोल जानता हूँ। शास्त्र का ज्ञान मुझे बराबर है, ऐसा भाषण बराबर कर सकता हूँ। और मुझमें विचिक्षणता ज्ञान के उघाड़ के कारण वह तो जो कोई पूछे, उसका जवाब दे सकता हूँ। आहाहा! परन्तु कहते हैं, वह शरीर में बुद्धि—आत्मबुद्धि है। आहाहा!

वास्तव में तो यह शास्त्र का ज्ञान है, वह मेरा ज्ञान है, वह आत्मबुद्धि भी मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि ऐसे नौ पूर्व और ग्यारह अंग तक तो अभव्य भी पढ़ गया ग्यारह अंग और अनन्त भाव में, अनन्त काल में नौ पूर्व की लब्धि तक चला गया है। यदि वह धर्म हो, अबन्धपरिणाम हो तो उसकी अल्प काल में मुक्ति होना चाहिए। आहाहा! परसत्तावलम्बी ज्ञान स्वसत्ता के भान बिना हुआ... आहाहा! वह परसत्तावलम्बी ज्ञान भले कण्ठस्थ किया हो और बराबर याद रखे। आहाहा! मुझे कहना पड़ेगा, वाँचना पड़ेगा, इसलिए बात को धारण कर लूँ। आहाहा! वह देहात्मबुद्धि है, वह सूक्ष्म शल्य है। आहाहा!

जो ज्ञान, दूसरे को समझाने के लिये करता है, उस ज्ञान का प्रयोजन अन्य है, इसलिए वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! मैं धार लूँगा शास्त्र के ज्ञान को तो जगत को समझा सकूँगा, जगत मुझे पसन्द करेगा। मुझे कुछ गिनती में गिनेगा। आहाहा! वह सब देहात्मबुद्धि, परात्मबुद्धि है। आहाहा! वह भले पढ़ा हुआ हो, कहते हैं। करोड़ों-अरबों श्लोक कण्ठस्थ धारणा और पानी के पूर की भाँति उसका जवाब दे। समझ में आया? आहाहा! परन्तु उस धारणा में प्रयोजन तो अकेला पर का ही है। स्व का आया नहीं उसमें। तो उस ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहते। यह ज्ञान, वह तो अज्ञान है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है, टीका नहीं? तीसरे अध्ययन, चौथे में। जो ज्ञान यथार्थ हो शास्त्र का, तथापि उसका प्रयोजन दूसरा करे, दूसरे को समझाने में, दूसरे को विस्मयता प्राप्त कराऊँगा। मेरे जानते में यह धारणा से दूसरे को विस्मयता प्राप्त कराऊँगा, ऐसा जिसे प्रयोजन है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! बात तो, बापू! अन्तर की

बातें बहुत सूक्ष्म। आहाहा! समझ में आया? वह यहाँ कहते हैं।

सर्व शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी... आहाहा! यहाँ तो सर्व शास्त्र की बात की है। मर्यादा भी बाँधी नहीं कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व। आहाहा! व्याकरण का, संस्कृत का शब्दार्थ, भावार्थ सब जिसे कण्ठस्थ है। आहाहा! समझ में आया? **सर्व शास्त्रों का परिज्ञानवाला होने पर भी,...** पहला शब्द ऐसा रखा है कि **सर्व शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी...** फिर स्पष्टीकरण किया कि **सर्व शास्त्रों का परिज्ञानवाला होने पर भी,...** ऐसा। परि अर्थात् समस्त प्रकार से शास्त्र के सब पहलू जानता है। आहाहा!

क्योंकि वह देहात्मदृष्टि है अर्थात् देह और आत्मा के भेद की रुचिरहित है। आहाहा! कि राग और ज्ञान पर का, उससे भिन्न ज्ञान जो भेदरुचि चाहिए। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! निगोद में से निकलकर ग्यारह अंग पढ़े, अब वहाँ तो अक्षर का अनन्तवाँ भाग था। वहाँ से मनुष्य हो, परन्तु वहाँ शुभभाव तो होता है न? शुभभाव-अशुभभाव तो धारावाही निगोद में भी होते हैं। शुभभाव की यह कोई नवीन बात नहीं है। निगोद के जीव को भी शुभ-पुण्यभाव और अशुभ-पापभाव धारावाही क्षण-क्षण में हुआ ही करते हैं। तो उसमें से उसे पुण्यबन्ध होकर मनुष्य हुआ, वह उसे वहाँ तो अक्षर का अनन्तवाँ भाग था, यहाँ आकर ग्यारह अंग और नौ पूर्व का उघाड़ हो गया। आहाहा! तब उसे ऐसा हुआ कि मैं कुछ ज्ञान मेरा बढ़ा। ऐई! वह भी बहिरात्म बुद्धि है।

बाह्य सम्बन्धी का ज्ञान वह मेरा, यह बहिरात्मबुद्धि है। आहाहा! समझ में आया? पैसा मेरा, शरीर की क्रिया मेरी, वह तो और एक ओर रह गया। आहाहा! शास्त्र की धारणा का ज्ञान, सर्व शास्त्र पढ़ा, बड़ा पण्डित हुआ। आहाहा! तथापि देहात्मदृष्टि है। उसे भगवान द्रव्यस्वभाव जो अभेद शुद्ध है, उसके साथ यह (धारणा) ज्ञान को और राग को एकरूप मानता है। आहाहा! पोपटभाई! ऐसा है। सवेरे का तो सूक्ष्म था, १८वीं। आहाहा! यह एक सूक्ष्म बात की। आहाहा!

जैसे शरीर मेरा, राग मेरा, वैसे यह उघड़ा हुआ ज्ञान है पर के लक्ष्यवाला वह मेरा, वह सब देहात्मबुद्धि है। समझ में आया? भाई में तो एक शब्द है निहालभाई में, कि जैसे-जैसे क्षयोपशम होता जाता है, वैसे-वैसे उसे मद बढ़ता जाता है। एक जगह

है। अभिमान बढ़ता जाता है। यह मुझे हुआ... यह मुझे हुआ... यह मुझे जानकारी हुई, दूसरे की अपेक्षा मैं जानकारी में बढ़ा हूँ, ऐसे उसे गहरे-गहरे मद चढ़ जाता है। आहाहा! समझ में आया? वह भी देहात्मबुद्धि है। आहाहा! भाई! मार्ग बहुत अलग। आहाहा!

फिर वह कैसा (होने पर भी) है? जागृत होने पर भी — निद्रा से अभिभूत (घिरा हुआ) नहीं होने पर भी। ऐसा कि शास्त्र का ज्ञान है, उसमें निद्रा से घिरा हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया? कहो, जेठाभाई! यह तो शास्त्रज्ञान निकाल डाला। आहाहा! **निद्रा से अभिभूत (घिरा हुआ) नहीं होने पर भी।** जागता रहता है। आहाहा! दिन और रात। कितने ही ऐसे होते हैं कि नींद नहीं लेते। यह गोण्डल सम्प्रदाय के थे न भाई वे। कौन? उनके गुरु थे न बड़े। साढ़े पाँच वर्ष निद्रा नहीं ली। डुंगरशी? डुंगरशी। डुंगरशी अर्थात् क्या? कहते हैं। जागृत, तथापि दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि देह की क्रिया, मैं हूँ तो होती है। उसके अस्तित्व से उसका होता है, ऐसा न जानकर, मेरे अस्तित्व की विचिक्षणता के कारण से देह की व्यवस्थित क्रिया होती है। आहाहा! और मेरे स्वभाव में भले न हो, परन्तु (मैं) प्रशस्तराग करता हूँ न? राग की मन्दता मैं करता हूँ न? ऐसी जिसे अन्दर देहबुद्धि, देहात्मबुद्धि है, इससे आगे जाने पर वह जानपने का भाव। आहाहा! वह तो परज्ञेय को जानने का भाव है। वह स्वज्ञेय को जानने का नहीं। आहाहा! वह परज्ञेय को जानने का भाव जागृति होने पर भी, वह तो मिथ्यादृष्टि को स्वभाव की अन्तर की रुचि का जहाँ अभाव है, उसका सब ज्ञान बहिरात्मपने का है। आहाहा! कठिन बात, भाई!

एक शास्त्र में आया है न कि पण्डितों को शास्त्र, वह संसार है। आहाहा! यह ऐसा है और वैसा है, ऐसा है और वैसा है। बातों में ओगाळे परन्तु स्वयं कौन अभेद है, उसकी तो दृष्टि की खबर नहीं। समझ में आया? योगसार में आता है। (आचार्य) अमितगति (कृत योगसार)। शास्त्र संसार है। आहाहा! प्रभु! संसार तो उदयभाव होता है न? कि यह उदयभाव है वह। आहाहा! समझमें आया?

बहुत वर्ष पहले एक चर्चा चली थी साधुओं में। (संवत्) १९८० के वर्ष में, ८०

के। ८० न? लींबड़ी आये तब नहीं? ७९ में। ८० में। राणपुर में यह जयचन्दभाई थे न रामजीभाई के ससुर और मूलचन्दजी के बीच चर्चा चलती थी। मैं ऊपर (था)। ८० की बात है। वह कहे, यह जो नौवें ग्रैवेयक साधु होकर गया, वह क्षयोपशमभाव से था राग। उनकी ऐसी चर्चा चलती थी। और यह श्वेताम्बर उसे क्षयोपशम कहते हैं। अर्थात् वह क्षयोपशम राग की मन्दता भले हो परन्तु वह क्षयोपशमभाव था।

मुमुक्षु : यहाँ जड़ क्षयोपशम कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा था न। यह कहते हैं परन्तु वह क्षयोपशमभाव तो द्रव्यनिक्षेप से कहा था। वह तो आता है नियमसार में, पंचास्तिकाय में दो जगह आता है। परन्तु वह क्षयोपशमभाव ही नहीं है, वह व्यवहार से उसे क्षयोपशम कहा है। आहाहा! यह बात। निश्चय और व्यवहार की बातें बहुत सूक्ष्म। व्यवहारनय उसे क्षयोपशम कहता है, निश्चयनय उसे उदय कहता है। आहाहा! नीचे बातें चलती थीं। हम ऊपर थे। यह सब ऐसा कहते हैं। बापू! उदयभाव है। आहाहा! यह तो ८० की बात है।

नौवें ग्रैवेयक में जाये वह धर्म का क्षयोपशमभाव है, इसलिए जाता है। ऐसी क्रिया करे, राग की मन्दता, चमड़ी उतारकर नमक छिड़के, (तो भी) क्रोध न करे, शान्त... शान्त... दिखाई दे। मन, वचन, काया की क्रिया में इसी प्रकार से उसकी पद्धति की प्रकृति हो कि ऐसे शान्त दिखायी दे। समझ में आया? परन्तु है वह सब उदयभाव। क्योंकि जहाँ भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य द्रव्य, उसकी दृष्टि जहाँ आयी नहीं, वहाँ तो सब ज्ञान के उघाड़भाव भी सब निश्चय से वहाँ उदयभाव में जाते हैं। कोई भी लाभ क्षयोपशम का हो तब तो अमुक काल में उसका मोक्ष होना ही चाहिए। और ऐसा तो पठन अनन्त बार किया है। जैसे आचरण क्रियाकाण्ड नौवीं ग्रैवेयक में गया, वह अनन्त बार किये हैं। वैसे जानपना भी अनन्त बार किया है। वह वस्तु कहाँ है? आहाहा! छोटभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

मुमुक्षु : क्षयोपशम....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अधिक यह बात चलती है। देखो न, चलती है न! उसकी तो बात चलती है न, बापू!

मुमुक्षु : हमारे सुनने का....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो चलता है अपने।

बहिरात्मा अर्थात् बाह्य चीज़ को, अरे... एक समय की पर्याय को भी आत्मा माननेवाला। आहाहा! तो यह पर्याय तो क्षयोपशम की है, द्रव्यनिक्षेप की। आहाहा! उसे भी अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। आहाहा!

जो ज्ञानात्मा है... अर्थात् कि आत्मा जो शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, वह पर्यायबुद्धि और रागबुद्धि और उघाड़ की बुद्धि को छोड़कर, परमात्मस्वरूप प्रभु पूर्ण परमात्मा भगवान ईश्वर स्वयं है, उसका जिसे अन्तर्मुख होकर ज्ञान हुआ है। आहाहा! वह बहिर्मुख था। समझ में आया? आहाहा! निहालभाई में एक शब्द है कि धार रखकर क्या तुझे दूसरे को बतलाना है? कि मुझे कुछ आता है, दूसरे की अपेक्षा मुझे (अधिक) आता है। जवाब देना आता है, ऐसा तुझे करना है? धार रखकर क्या करना है तुझे? है न भाई? आहाहा!

उसका तो अन्दर बहुत वह भाव। परन्तु उसने नहीं माना। किसी का उसका आग्रह कि उन्हें तुम निश्चयाभास कहो। अब उसे भाई उसे क्या? रामजीभाई कहे, भाई! तुझे क्या काम है दूसरे का? वह चाहे वह हो न, ले। यह रामजीभाई बहुत बार कहते हैं। तब वह कहे न, उसे निश्चयाभास निश्चित करो तो हम वहाँ आयेंगे। परन्तु भाई तुझे काम? वे ज्ञानचन्दजी हैं न? वे आये थे पीछे। हम न हों, तब देखने आये थे। पीछे। उसमें पत्र में ऐसा था पहले। तुम उन्हें निश्चयाभासी सिद्ध करो तो हम अभी आयेंगे, नहीं तो तुम नहीं हो, तब वहाँ आयेंगे। पीछे से आये थे। भाई भी गये थे न? अरे... भगवान! क्या है भाई? आहाहा!

मुमुक्षु : अब दूसरे निश्चयाभासी हों, सच्चा निश्चय....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दूसरे को परखना तुझे न आवे और दूसरे का क्या काम है तुझे? परखना तुझे आता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह तो सम्यग्ज्ञान में जो चीज़ हो, वह उसे ज्ञात हो जाती है। यह चीज़ वह नहीं रहती। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र पण्डितों का संसार है....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह है न! पण्डितों का संसार है। परन्तु एक जगह वहाँ भी कहा नहीं? कि तुम यह धारणा से बात करते हो, वह कौवे जैसी बोल की बात है, (ऐसा) मुझे तो लगता है। आहाहा! कौवा जैसे बोले... आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है। अपने को नम्बर की खबर नहीं। आहाहा! वह बात यहाँ चलती है।

जिसने आत्मस्वरूप जाना है (अनुभव किया है), वह सुप्त और उन्मत्त होने पर भी,... आहाहा! वह निद्रा में हो और कुछ पागल जैसी भी सहज हो जाये ऐसी दशा। बहुत कठिन रोग हो और उसके कारण सहज यह हो जाये। **होने पर भी, मुक्त होता है—विशिष्ट कर्मनिर्जरा करता है...** आहाहा! वह मुक्त होता है। आहाहा! क्योंकि अन्दर आत्मदर्शन कायम काम करता ही है। आहाहा! जिस आत्मदर्शन की प्रतीति हुई और जो आत्मा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान और श्रद्धा कार्य करता है या नहीं? वह यों ही पड़े हैं वे? आहाहा!

वह सुप्त और उन्मत्त होने पर भी, मुक्त होता है — विशिष्ट कर्मनिर्जरा करता है... ऐसा कहते हैं। विशिष्ट अर्थात् खास। **क्योंकि उसको दृढ़तर अभ्यास के कारण,...** आहाहा! **सुप्तादि...** और उन्मत्त **अवस्था में भी आत्मस्वरूप के संवेदन में वैकल्य (च्युति) नहीं होती।** आहाहा! कल कहा नहीं था? कि भाई! निद्रा में है न? तो निद्रा में है तो इन्द्रिय का विषय रुका है। परन्तु स्वरूप का विषय जो दृष्टि में आया, वह कहाँ रुका है? वहाँ तो काम किया ही करता है। आहाहा! समझ में आया? निद्रा अवस्था में दर्शन है न, रुक गया है। इन्द्रियों का विषय है, वह रुक गया है। परन्तु इससे आत्मदर्शन हुआ है, उस दर्शन की रुकावट वहाँ कहाँ है? जो श्रद्धा और ज्ञान आत्मा के झुकाव का हुआ है, आत्मा के सन्मुख का वह श्रद्धा-ज्ञान काम करता है या पड़ा है यों ही? काम करता है श्रद्धा, श्रद्धा का, ज्ञान ज्ञान का। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ - जिसको शरीर में आत्मबुद्धि है... साधारण 'शरीर में आत्मबुद्धि' ऐसा लिखा है परन्तु इसका अर्थ बहुत लम्बा है। समझ में आया? आहाहा!

मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा आया है न? सभा बहुत हो और अपने को प्रसन्नता आवे। बहुत लोग... आहाहा! मेरी बात सुनते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में है।

मुमुक्षु : वह जोश चढ़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जोश चढ़े। पोरस चढ़े। पाट पर बैठकर ऐसे लाखों लोग बैठे हों और बातें करे। आहाहा! वह जोशअज्ञान का है। समझ में आया? आहाहा!

शरीर की क्रिया, आत्मा करता है—ऐसा मानता है,... इसका स्पष्टीकरण किया है। भाई! शरीर को आत्मा माने अर्थात् क्या? ऐसे बिना भान के शरीर और आत्मा तथा शरीर और आत्मा मेरा पृथक् है, ऐसा जानने में मानता है। ज्ञान जानपना ग्यारह अंग में नहीं आया यह?

मुमुक्षु : वह तो बाहर की बात आयी, अन्दर में कहाँ गया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बातें कहकर उघाड़ में मानी है इसने। आहाहा! ग्यारह अंग में नहीं आयी? और वास्तव में तो उसे उस पर्याय में द्रव्य का ज्ञान तो है। परन्तु परलक्ष्य के क्षयोपशम में द्रव्य का ज्ञान। ऐसे द्रव्य सन्मुख होकर नहीं। आहाहा! क्योंकि वह नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा में, वह नव पर्याय के ज्ञान में आत्मा, षट्द्रव्य का ज्ञान नहीं? द्रव्य का नहीं? ग्यारह अंग में है वह। परन्तु वह द्रव्य है, वह यह सत्ता है इतना। कैसा है और कैसे है, यह अनुभव कर माना नहीं। आहाहा! समझ में आया?

उसके ज्ञानकी पर्याय में उसका विषय जो द्रव्य शुद्ध अभेद आया नहीं। आया नहीं उसे जाना है कि यह द्रव्य ऐसा है-ऐसा है। यह स्वविषय किया नहीं। समझ में आया? आहाहा! अभी के साधारण लोग सम्प्रदायवालों को ऐसा लगता है कि यह क्या है यह? हरिभाई! ऐसा लगता है। बापू! मार्ग तो, बापू! भाई! अरे... वीतराग का विरह पड़ा। वीतराग तो ऐसा कहते हैं और ऐसा मार्ग है। आहाहा!

जिसको शरीर में आत्मबुद्धि है—जो शरीर को ही आत्मा मानता है अर्थात् शरीर की... होती दशायें। भाषा की, हिलने की, चलने की, आहाहा! दया पालने की। ऐसी शरीर की क्रिया हो वह मुझसे है, मेरी है। मैंने ध्यान रखा, इसलिए शरीर,... जीव देखा, ख्याल में आया, इसलिए शरीर को मैंने ऊँचा रखा। पैर को ऊँचा रखा। नहीं तो

पैर वहाँ पड़ता तो (वह जीव) मर जाता। ऐई! ऐसी शरीर की क्रिया देखो, शास्त्र में ऐसा आता है। ईर्यासमिति से चलनेवाले सन्त, ऐसे (जीव) आवे तो पैर को ऊँचा रखना। ऐसा आवे, लो! वह तो उसका भाव—शुभविकल्प ऐसा हो। आहाहा! परन्तु पैर ऊँचा रखना या नीचे पड़ना, वह कोई क्रिया आत्मा की नहीं है। आहाहा! जीव देखा और पैर इस ओर कर दिया, पानी के ऊपर जोर से सामने ऊँचा हो गया पैर। इसलिए वह क्रिया मैंने की है। (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसा मार्ग है, सेठ! आहाहा!

मुमुक्षु : यह सत् नारायण की कथा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सत् नारायण की कथा है। बात सच्ची। वह गप्प मारे। आहाहा! सत्य नारायण की कथा आती है न, खबर हो तो। हमार गांडाभाई भी करते थे वहाँ। वह फावाभाई के पिता एक बार की बात है। करे, यह क्या कहा गांडाभाई ? सत्य नारायण की कथा। बेचारे को कुछ भान नहीं होता। यह धीरुभाई है न, इनका पुत्र नहीं मनहर ? सूरत में है न ? अभी उसके पास ७० लाख रुपये हैं। ६० लाख। कोई करोड़ कहता है, परन्तु ६० लाख हैं। यह फावाभाई का मकान है न! इनके पिता थे गांडाभाई। सत्य नारायण की कथा करे। परन्तु यह क्या करता है, कहा, यह जैन होकर ? कुछ भान नहीं होता। गांडा नाम वह गांडा अर्थात् पागल। बनिया का कुछ भान नहीं होता। क्या करें हम, क्या हम जैन हैं। आहाहा!

यह तो सत्य प्रभु, सत्य नारायण परमात्मस्वरूप जो है, उसे भूलकर शरीर की क्रिया मेरी है, राग मेरा है, अरे... परलक्ष्यी ज्ञान भी मेरा ज्ञान है, ऐसे देहात्मबुद्धिवाले अज्ञानी जागृत होने पर भी और शास्त्र का जानपना, पानी के पूर की भाँति उसका जानपना काम करता हो, तथापि वह सब अज्ञान है। आहाहा! पोपटभाई! ऐसी बातें हैं। धर्मात्मा **निद्रावस्था में अथवा उन्मत्तावस्था में होने पर भी मुक्त होता है।** आहाहा! यहाँ नीचे भावार्थ में है।

वह भले ही समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो और जागृतावस्था में (सभान अवस्था में) हो,... सभान अर्थात् यह जानना-देखना, हों! वह सभान नहीं। **तो भी भेदविज्ञान के अभाव से,...** आहाहा! राग और यह बाहर के जानपने से भेद किये बिना **भेदविज्ञान**

के अभाव से, उसको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती,... आहाहा! **परन्तु जिसको शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान है और आत्मस्वरूप के अनुभव का दृढ़तर अभ्यास है, वैसा अन्तरात्मा,...** यह ज्ञान के साथ आनन्द लावे, वह भेदज्ञान है। ज्ञान के साथ आनन्द हो, वह ज्ञान, ज्ञान है। परन्तु अकेला जानपना, वह आनन्द नहीं। वह तो सब दुःखरूप दशा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें भारी। वे तो कहें दया पालो और यह करो। लो!

हमारे हीराजी महाराज को बेचारों को इतना बस '**अहिंसा समयचेव**' पर जीव को जरा भी नहीं मारना, वह अहिंसा सिद्धान्त का सार है। ऐसा हीराजी महाराज कहते थे। ऐई... केशुभाई! तुमने तो कहाँ बहुत सुना था वहाँ? परन्तु देखा तो है न हीराजी महाराज को? चातुर्मास (संवत्) १९७१ में था। लाठी में था, ७१। वे (संवत्) १९७४ में गुजर गये। '**एवम्खु णाणिणो सारं**' ऐसा बोले। महिलायें हजारों हो, सामने देखे बिना। ऐसे बैठे हों।

भगवान ऐसा कहते हैं, भाई! '**एवम्खु णाणिणो सारं**' ज्ञानी का यह सार है कि '**जं न हिंसइ किंच**' किसी भी प्राणी का घात नहीं करना। उसमें स्वयं प्राणी है या नहीं? यह रह जाता है। आहाहा! '**एवम्खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंच**' जिनके मरण के समय पाँच-पाँच लाख के आसामी, दस-दस लाख के आसामी (भी)। २० वर्ष का पुत्र मरे, वैसे रोते थे। कांप में भाई! ऐसा मीठडा! कांप में नहीं? पुल के नीचे जलाया था। हम आये, फिर उठाया था। हम पाँच कोस दूर थे न। हम जिस गाँव में आये, उस गाँव में उठकर कांप में गये थे। हमको फिर दोपहर में खबर पड़ी। एक व्यक्ति कहे कि एक साधु रास्ते में काल कर गये हैं। मैंने कहा, वह हीराजी महाराज। पहला तो जगजीवन का लगता था निर्बलता जैसा। वे साथ में थे। फिर एक व्यक्ति कहे, लम्बे हैं और बबूल के नीचे सोते थे, मर गये रास्ते में ऐसे। फिर कहा, हीराजी महाराज हैं। वहाँ रात्रि में दो व्यक्ति आये। हीराजी महाराज गुजर गये हैं, सवेरे तुम जल्दी आओ। फिर यहाँ से हम गये।

परन्तु जब हम गये, मांडवी तैयार थी। मांडवी समझे न? उसे पालकी कहते हैं

न! परन्तु जहाँ उठाया उन्हें... यह दिवालीबाई आर्जिका। आँसू की धारा रोवे... रोवे... रोवे... मोहनलालजी, मणिलालजी सब थे। धरमशी। गृहस्थ रोवे, हों! परन्तु वस्तु की दृष्टि बिना के हैं। परप्राणी को नहीं मारना, यह जैनसिद्धान्त का सार है, ऐसा उसने जाना, उसने सब जाना, ऐसा कहते थे। आहाहा!

यहाँ तो सिद्धान्त का सार यह है कि जिसने आत्मा को मार डाला है कि मैं अल्प पर्यायवाला हूँ, रागवाला हूँ, पर की क्रिया करनेवाला हूँ। उसने आत्मा को मार डाला है। उसका जीवन टिकता कितना है, इसकी उसे खबर नहीं है। समझ में आया? उसका जीवन तो अनन्त आनन्द और ज्ञान से भरपूर अभेद शुद्धद्रव्य से टिकता वह जीवन उसका जीवन है। उसे नहीं माना और यह मात्र पर्याय और राग को मानकर वह तो जीव की अपनी हिंसा की है। आहाहा! और वह राग की एकता नहीं करना और अपने पूर्ण शुद्ध चैतन्य को अपना जानना, इसका नाम अहिंसा है कि जिस अहिंसा में वीतरागी पर्याय खड़ी होती है। वह अहिंसा सिद्धान्त का सार है। समझ में आया? आहाहा!

भेदविज्ञान के अभाव से, उसको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु जिसको शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान है और आत्मस्वरूप के अनुभव का दृढ़तर अभ्यास है, वैसा अन्तरात्मा, निद्रावस्था में अथवा उन्मत्तावस्था में होने पर भी,... आहाहा! **विशिष्ट प्रकार से कर्मों की निर्जरा करता है...** आहाहा! अनन्त काल में नहीं हुई (ऐसी) निर्जरा करता है। यह समझाना है न! निर्जरा करता है अर्थात् निर्जरा वहाँ होती है, उसे करता है-ऐसा (कहा)। समझाना है तो ऐसा कहे न? समझ में आया? ओहोहो!

क्योंकि उसको निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन है। ज्ञानस्वरूपी भगवान की एकाग्रता वह ज्ञान का परिणमन कायम है। चाहे जिस स्थिति में भी ज्ञान का परिणमन वहाँ आवृत्त हो जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **यह कर्मनिर्जरा, उसके मुक्ति के कारणरूप होती है।** यह कर्मनिर्जरा। शुद्ध उपयोगरूपी आत्मा को जिसने जाना है वह शुद्ध उपयोग से वहाँ निर्जरा होती है। आहाहा! पुण्य-पाप से नहीं और अकेले पर के क्षयोपशम ज्ञान से नहीं। आचरणरूप शुद्ध उपयोग, जानने-देखने का उपयोग अकेला, ऐसा नहीं। शुभ-अशुभभावरहित अर्थात् अशुद्धभाव रहित शुद्ध के उपयोग में

जिसने पूर्ण ध्येय, शुद्ध को पूर्ण पकड़ा है। आहाहा! उसका जो शुद्ध उपयोग, वह निर्जरा का कारण है। समझ में आया? **यह कर्मनिर्जरा, उसके मुक्ति के कारणरूप होती है।**

विशेष - अज्ञानी जीव को... अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। टीका, भावार्थ और विशेष। तीन प्रकार डाले हैं। आहाहा! **अज्ञानी जीव को ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान हो,...** लो! नौ पूर्व पढ़ने से नहीं पढ़े जाते, हों! ऐसा जिसका क्षयोपशम उघड़ जाता है। **अज्ञानी जीव को ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान हो, वह अपने शास्त्रज्ञान से अन्य को मुग्ध करे,...** स्पष्ट किया है न! शास्त्र ज्ञान से लोगों को डोलाये ऐसे। आहाहा! भारी शास्त्रज्ञान! वाह! ऐई!

प्रशंसा का पात्र बने,... सभा प्रशंसा करे कि ओहो! ऐसा शास्त्र का पठन। सब परलक्ष्यी। लोग उसे पसन्द करके उसे पण्डित और ज्ञानी माने। प्रसन्न करे कि अहाहा! **परन्तु वह आत्मज्ञान शून्य होने से...** परन्तु वह ज्ञान आत्मा का नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आत्मज्ञान, कहा न? जो ज्ञान आत्मा का न हो, वह ज्ञान तो परलक्ष्यी ज्ञान है। वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! क्षयोपशम सब वह आत्मज्ञान नहीं। आत्मज्ञान। आत्मा वस्तु जो है, उसके सन्मुख होकर जो उसमें से वेदन आना, उस आत्मज्ञान बिना के जीव ऐसे ग्यारह अंग के पठनवाले भी, **उसका समस्त ज्ञान, आत्महित के लिए कार्यकारी नहीं है;...** आहाहा! **उसका समस्त ज्ञान, आत्महित के लिए कार्यकारी नहीं है;...** इसका अर्थ—वह तो अहित के लिये है। आहाहा! मार्ग तो देखो, बापू! आहाहा!

राग, वह मेरा नहीं; शरीर मेरा नहीं, वाणी मेरी नहीं, उसका मैं कर्ता नहीं, परन्तु परलक्ष्यी ज्ञान मेरा नहीं। आहाहा! यहाँ कोई कीमत नहीं, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा अभेद की दृष्टि होकर जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की कीमत है। सुजानमलजी! ऐसी बात है, भाई! गर्व चढ़ा हो, उसे उतार डालनेयोग्य है।

मुमुक्षु : सब अपने को ज्ञानी मान ले तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो कहा न, गर्व है खोटा। माने परन्तु उसे ज्ञान का, आनन्द का वेदन आया नहीं न कहीं से, मान ले? वह तो अज्ञान से मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अज्ञानी माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस माने। यह तो बात चलती है। आहाहा!

अपने शास्त्रज्ञान से अन्य को मुग्ध करे,... आहाहा! भाषण दे लाखों लोगों में। दो-दो घण्टे धारावाही शास्त्र के आधार बिना, इतना कण्ठस्थ हो। **परन्तु वह आत्मज्ञान शून्य होने से...** परन्तु आत्मा जो है चैतन्यमूर्ति परम आनन्द का धाम, उसका उसे ज्ञान नहीं। वह ज्ञान उसका नहीं। वह ज्ञान आत्मा का नहीं। वह पर का है। आहाहा! **उसका समस्त ज्ञान, आत्महित के लिए कार्यकारी नहीं है; बाधक है।** लो। समूळगूं... अब साधक तो नहीं, आहाहा! तब नुकसानकारक है, ऐसा कहना है वापस। आहाहा! क्योंकि जैसे-जैसे उघाड़ होता जाता है, वैसे-वैसे उसे अन्दर अभिमान बढ़ता है। आहाहा! दूसरे की अपेक्षा तो मैं कुछ बढ़ा हूँ। कुछ जाननेवाले नहीं, उनकी अपेक्षा तो मेरा कुछ ज्ञान बढ़ा है या नहीं? मैं कुछ बढ़ा हूँ या नहीं? आहाहा!

बाधक है। दृष्टान्त देते हैं। चाहे जहाँ से निकालकर। आता है अनुयोग द्वार में दृष्टान्त। **गधे पर...** चन्दन की लकड़ी हो। उस चन्दन की लकड़ी को ढोता है। **गधे पर लदे हुए शास्त्रों के भार के समान...** दृष्टान्त है ऐसा अनुयोग में। चन्दन भारवाही खरोखर। खर (अर्थात्) गधा।

मुमुक्षु : जहा खरो....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जहा खरो चन्दन भारवाही। यह अनुयोग द्वार का। जहा खरो अर्थात् गधा, चन्दनभारवाही। ऐसे गधे जैसा उसने ग्यारह अंग और नौ पूर्व का भार वहन किया है। आहाहा!

गधे पर लदे हुए शास्त्रों के भार... यहाँ तो लिया है, हों! चन्दन की-सूखड़ की लकड़ियाँ गधे के ऊपर हों, इससे कहीं गधा सुगन्धवाला होगा? इसी प्रकार शास्त्र का बोझा हो, इसलिए कहीं आत्मा ज्ञानवाला होगा? आहाहा! ज्ञानी हो, धर्मात्मा हो और बोलना कम आवे और बाहर में ऐसी समझाने की शक्ति न हो, तो वह जानपनेवाला शास्त्र के जानपनेवाला ऐसा माने कि इसे क्या आता है? हमको सब आता है। आहाहा! तू मर गया है, बापू! आहाहा! भाई! तुझे तेरे जीव के भेदज्ञान की खबर नहीं, भाई!

आहाहा! बात-बात में दूसरे को छोटा कर डालता है और स्वयं मानो कि मैं जानपने में अधिक हूँ, ऐसा सिद्ध करता है। यह वस्तु तो नुकसान-बाधक है, कहते हैं। आहाहा!

गधे पर लदे हुए शास्त्रों के भार... आहाहा! शास्त्र का ज्ञान तो जैसे गधे पर शास्त्र का (बोझा), ऐसा है, कहते हैं। आहाहा! **वह ज्ञान, उसको बोझरूप है।** कहो, क्योंकि जो ज्ञानस्वभावी भगवान है, उसे स्पर्शकर तो ज्ञान आया नहीं। यह तो ज्ञान के राग की मन्दता और कोई क्षयोपशमभाव से ऐसा भाव हुआ। आहाहा! स्पष्टीकरण बहुत अच्छा किया है। भाई, छोटाभाई ने अच्छा लिखा है। **वह ज्ञान, उसको बोझरूप है।** आहाहा! नुकसान करनेवाला है। समझ में आया? कहो, हरिभाई! ऐसा जानपना भी बोझारूप कहा। राग की क्रिया और देह की तो और कहीं! आहाहा!

वक्ता हो जाये, भाषण करना आवे, सभा को रंजन करना आवे; इसलिए वह मानो कि हमे यह ज्ञान है, दूसरे की अपेक्षा अधिक (जानते हैं)। वह बोझा है, कहते हैं। भगवान आत्मा जहाँ निर्मलानन्द प्रभु, उसमें दृष्टि करके उसका ज्ञान जो नहीं, उस ज्ञान को ज्ञान कहते नहीं। आहाहा! ९४ हुई, लो। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ९५

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह -

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥ ९५॥

यत्रैव यस्मिन्नेव विषये आहितधीः दत्तावधाना बुद्धिः। ''यत्रात्महितधीरति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्राहित-धीरिति।'' स हितमुपकारक इति बुद्धिः। कस्य? पुंसः। श्रद्धा रुचिस्तस्य तत्रैव तस्मिन्नेव विषये जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते आसक्तं भवति॥९५॥

(सुप्तादि अवस्थाओं में भी) वह अवैकल्य (अच्युति) किस कारण से होती है, यह कहते हैं —

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥ ९५॥

_अन्वयार्थ_ - (यत्र एव) जहाँ ही — जिस किसी विषय में ही (पुंसः) पुरुष को (आहितधीः) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है, (तत्रैव) वहीं अर्थात् उसी विषय में उसे (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होती है और (यत्र एव) जहाँ ही अर्थात् जिस विषय में ही (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होती है, (तत्रैव) वहाँ ही - उस विषय में ही (चित्तं लीयते) उसका मन लीन हो जाता है-तन्मय बन जाता है।

_टीका_ - जहाँ ही अर्थात् जिस विषय में ही बुद्धि लगती है अर्थात् बुद्धि दत्तावधानरूप (लग्न) होती है। 'यत्रात्महितधीरिति'—ऐसा भी पाठ है। (उसका अर्थ यह है कि) जहाँ आत्महित की बुद्धि है अर्थात् जहाँ आत्मा का हित-उपकार होता है अर्थात् जहाँ 'वह हितकर-उपकारक है'—ऐसी बुद्धि होती है, वहाँ 'धी' अर्थात् बुद्धि (लगती है)। किसकी? पुरुष की। उसकी श्रद्धा-रुचि वहाँ ही अर्थात् उस विषय में ही उत्पन्न होती है। जहाँ ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ ही चित्त लीन होता है-आसक्त होता है।

भावार्थ - जिस विषय में किसी पुरुष की बुद्धि, सावधानीपूर्वक लगी रहती है

अर्थात् जो विषय उसको हितकर या उपकारक लगता है, उसमें उसको श्रद्धा उत्पन्न होती है और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ चित्त लीन हो जाता है। चित्त की यह लीनता ही सुप्त-उन्मत्त अवस्था में भी पुरुष को उस विषय से हटा नहीं सकती अर्थात् वह पुरुष, उस विषय से च्युत नहीं होता; उसमें लीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

भेदविज्ञान द्वारा श्रद्धापूर्वक आत्मस्वरूप के जो संस्कार जाग्रत हुए हैं, उनका बल किसी भी अवस्था में— जागृत, सुप्त अथवा उन्मत्त अवस्था में चालू रहे बिना नहीं रहता; इसलिए आत्मार्थियों को भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप के संवेदन के लिए आत्मरुचिपूर्वक ऐसा अविरत प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मश्रद्धा में कोई भी बाह्यपरिस्थिति विघ्नरूप नहीं हो अथवा उसको च्युत नहीं करे।

जैसे-जैसे स्व-पर-पदार्थों के भेदविज्ञान द्वारा, आत्मा का उत्तमस्वरूप स्वसंवेदन में विकसित होता जाता है; वैसे-वैसे सहज प्राप्त रमणीय पञ्चेन्द्रिय के विषय भी रुचते नहीं हैं अर्थात् उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा उत्पन्न होती है।[१] *॥९५॥*

आषाढ़ कृष्ण ११, रविवार, दिनांक ०३-०८-१९७५, श्लोक-९५, प्रवचन-१०९

..... अर्थात् समाधिशास्त्र अथवा समाधि औषध। तन्त्र के दो अर्थ होते हैं। एक शास्त्र होता है और एक औषधि होता है। यह समाधि एक औषधि है भवभ्रमण मिटाने के लिये (औषधि है)। मिथ्यात्व और अज्ञान जो संसार का मूल है, उसे मिटाने की यह सम्यग्दर्शन समाधि, सम्यग्दर्शन समाधि है यह। आहाहा! सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, यह तीनों औषधि है, मिथ्यात्व और अज्ञान और अविरति मिटाने के लिये। यह यहाँ कहते हैं।

(सुप्तादि अवस्थाओं में भी)... निद्रा में हो या उन्मत्त अवस्था थोड़ी हो गयी हो

---

१. यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्। तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥

अर्थात्, जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व, अनुभव में आता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचते नहीं - रुचिकर नहीं लगते। *(श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३७)*

अथवा अप्रबुद्ध बहुत विशेष ज्ञान की विचिक्षणता न हो। शास्त्र आदि का ज्ञान न हो तो भी अच्युति है। धर्मी जीव की आत्मा के ऊपर बुद्धि गयी है, इसलिए वहाँ उसका हित है, ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा करे। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप है, उसमें जिसकी बुद्धि, यह हितकर है, (ऐसा) जानकर बुद्धि जहाँ गयी है अर्थात् ज्ञान जहाँ काम किया है, वहाँ श्रद्धा काम करती है। आहाहा! समझ में आया? और जहाँ श्रद्धा काम करती है, वहाँ चित्त लीन हो जाता है। यह बात यहाँ करते हैं।

संसार में भी देखो न जिसे जहाँ मन चिपटता है। व्यभिचारी को व्यभिचार पर जहाँ, तो उसे यह आता है कि यह स्त्री आयी, वह यह पुरुष आया। उसे ऐसा ही दिखता है, भासित होता है। जिसमें बुद्धि लगी है, उसमें उसे श्रद्धा बैठी है और उसमें उसका झुकाव स्थिरता का उसमें उसका झुकाव है। आहाहा! यह बहुत ऐसा नहीं कहते कि हमारे आगाखानवाले ऐसा कहते हैं। हमको आगाखान दर्शन देते हैं। वह तो कहीं गया होगा।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥ ९५॥
जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥ ९५॥

आहाहा! **टीका - जहाँ ही अर्थात् जिस विषय में ही बुद्धि लगती है...** विषय अर्थात् जिस चीज़ को ध्येय में लिया है, उस विषय में उसकी बुद्धि वहाँ लगती है। आहाहा! **अर्थात् बुद्धि दत्तावधानरूप (लग्न) होती है।** यह सामान्य बात की है। अब कहते हैं कि '**यत्रात्महितधीरिति**' यह अब आत्मा में उतारते हैं। **(उसका अर्थ यह है कि) जहाँ आत्महित की बुद्धि है...** आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, ऐसी जहाँ बुद्धि जहाँ जमी है। ज्ञान में आत्मा आनन्द है, ऐसी हित की बुद्धि जहाँ जमी है। आहाहा! है?

जहाँ आत्महित की बुद्धि है अर्थात् जहाँ आत्मा का हित-उपकार होता है... मेरा भगवान आत्मा मेरे हित के लिये उपकारी चीज़ है। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र एक ओर

रखे रहे। जिसके ज्ञान में, हों! अकले शास्त्रज्ञान की बात नहीं। यह कहेंगे आगे। शास्त्रज्ञान किया हो, तथापि वह हितकर भगवान का–आत्मा का स्वभाव वहाँ बुद्धि गयी नहीं, उसके शास्त्र के पठन को भी मूर्ख कहा है। आहाहा! कहो, समझ में आया? क्योंकि शास्त्र को पढ़कर तो करने का तो उसमें यह था। वस्तु जो भगवान पूर्णानन्द का सागर है, वहाँ बुद्धि को स्थापित करना था। उसे न स्थापित कर अकेले शास्त्र की–ज्ञान की बातें करे। आहाहा! योगसार में है और यहाँ कहेंगे आगे। कहीं है। मूर्ख कहेंगे। शास्त्र पठन, परन्तु आत्मज्ञान जाने नहीं, वह मूर्ख (है, ऐसा) आता है। है वह श्वेताम्बर का। उसमें होगा। परमात्मप्रकाश।

यहाँ यह कहते हैं, आहाहा! जिसकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान, मतिज्ञान। आत्मा का स्वभाव शुद्ध हितकर है, ऐसा जिसने मतिज्ञान में जाना, वह ज्ञान वहाँ ही लग रहा है। समझ में आया? चाहे वह लाख व्यापार बाहर का हो, निद्रा में हो, उन्मत्त अवस्था हो, परन्तु उसकी–ज्ञानी की बुद्धि तो आत्मा में गयी है। जिसने उस आत्मा को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाया है। समझ में आया? उसकी बुद्धि में वह हितकर दिखाई दिया है। आहाहा! मतिज्ञान में आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य, वह हितकर है। बाकी कोई चीज़ हितकर है नहीं। आहाहा! ऐसा जिसे ज्ञान में स्वहितकर ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी मति वहाँ गयी है।

अर्थात् जहाँ 'वह हितकर-उपकारक है' — ऐसी बुद्धि होती है, वहाँ 'धी' अर्थात् बुद्धि (लगती है)। धी अर्थात् बुद्धि। आहाहा! मक्खी शक्कर की डली पर गयी हो और बुद्धि वहाँ मिठास पर गयी है, वहाँ लीन हो जाती है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द का स्वाद जिसने मतिज्ञान में से जाना है। आहाहा! ऐसी बात है जरा। उसे उसके अतिरिक्त कहीं सुहाता नहीं। आवे, राग हो, शरीर हो, परन्तु धर्मी की बुद्धि भगवान आत्मा आनन्द का सागर है, ऐसा जो मतिज्ञान ने उसे पकड़ा है, आहाहा! वहाँ बुद्धि लगती है।

किसकी? 'पुंसः' '**पुंसः**' दूसरा शब्द है। **पुरुष की।** पुरुष शब्द से (आशय है) आत्मा। पुरुष की ही और स्त्री की नहीं, ऐसे स्त्री–पुरुष वह तो है नहीं आत्मा में। यह

तो भगवान पुरुषोत्तम पुरुष... आत्मा स्वयं पुरुषोत्तम पुरुष है। ऐसी जिसकी बुद्धि लगी है आत्मा की। **उसकी श्रद्धा-रुचि वहाँ ही अर्थात् उस विषय में ही उत्पन्न होती है।** आहाहा! उसका विश्वास और श्रद्धा वहाँ उत्पन्न होती है। कहो, पोपटभाई! बहुत बापू! आहाहा! निरालम्बी प्रभु अन्दर स्वावलम्बन में जब मति जाती है, कहते हैं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! तब वहाँ उसे श्रद्धा उत्पन्न होती है कि ओहो! यह आत्मा पूर्णानन्द सागर, ऐसी इसे प्रतीति उत्पन्न होती है। यह विकल्प बिना की बात है, हों! आहाहा! समझ में आया? और विकल्प बिना की ज्ञानदशा में आत्मा विकल्प बिना का नजर में न आवे, उसे विकल्प बिना की श्रद्धा न हो। ऐसी मार्ग की रीति, बापू!

जो आत्मा की बुद्धि हितकररूप से जहाँ लगी है। आहाहा! वहाँ **उसकी श्रद्धा-रुचि वहाँ ही अर्थात् उस विषय में ही उत्पन्न होती है।** समझ में आया? यहाँ तो एकदम समाधि की बात है न? समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। समाधि अर्थात् वह बाबा चढ़ा जायें न, वह बात यह नहीं है। आहाहा! आधि, व्याधि, उपाधि रहित वह समाधि। आधि अर्थात् संकल्प-विकल्प, व्याधि अर्थात् शरीर की रोग दशा, उपाधि अर्थात् संयोग व्यापारादि। यह तीन उपाधि, व्याधि और आधि, इनसे पार आत्मा, उसे दृष्टि में आने पर जो समाधि होती है, शान्ति होती है, उसे यहाँ समाधि कहते हैं। समझ में आया?

लोगस्स में नहीं आता? 'समाहिवरमुत्तमदिंतु' उसे अर्थ की कहाँ खबर है? लोगस्स हांके जाये। 'लोगस्स, उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे... समाहिवरमुत्तमदिंतु'—क्या इसका अर्थ?

मुमुक्षु : लोगस्स अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसने कहा था न एक बार कहा था। मोहनलालजी के शिष्य थे वे। विरमगाम थे वयोवृद्ध। वहाँ सुन्दर वोरा के उपाश्रय में रुकते हों, वहाँ वढवाण में। वे भी वहाँ थे। एक बार मैंने पूछा। गुरु के साथ मिलान नहीं खाया। क्योंकि वस्त्र धोने के लिये रखा था। वृद्ध व्यक्ति और गरीब मनुष्य। उसमें मिलान नहीं खाया तो पूरे दिन वस्त्र धोने हों तो अकेले पड़े रहे। साधु, हों! लींबडी संघाडा के थे। मैंने

उनसे पूछा कि यह सामायिक वह त्रस है या स्थावर? तब जवाब ऐसा दिया था कि मेरे गुरु ने मुझे सिखाया नहीं। ऐई! सुन्दर वोरा के उपाश्रय में वढवाण। तुम तो उस दरियापरे जाते थे, नहीं? सुन्दर वोरा। नजदीक पड़े, इसलिए यह हिम्मतभाई साथ में जाते थे। ठीक। दूसरे तो कितने... ऐसे सुन्दर वोरा के उपाश्रय। उस सुन्दर वोरा में हमारा आवास वहाँ न अधिक। फिर किसी समय दरियापरे जाते। हमारे तो सब समान थे न लोग। दरियापरे के उपाश्रय में जाते। तीन-तीन हजार लोग इकट्ठे होते दरियापरा के उपाश्रय में। धर्मशाला नहीं सामने? उपाश्रय के सामने? सामने। तीन-तीन हजार लोग सम्प्रदाय में। सुनने में लोग ऐसा बोले कि अपने महाराज बड़े हैं। सुनना, ऐसा। क्या कहते हैं इसकी खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा है प्रभु! जहाँ तेरी मति जाती है, वहाँ तेरी श्रद्धा उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! इस संसार में देखो न! कोई विषय कषाय में मति चिपटती है, वह मरकर भी वह काम करता है। आहाहा! इसमें मरण है, तो भी उसे गिनता नहीं, ऐसी उसकी श्रद्धा उसमें उत्पन्न होकर लीन होती है उसमें। आहाहा! भ्रमणा। इसी प्रकार आत्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसमें जिसका ज्ञान-मति-बुद्धि गयी है। आहाहा! अर्थात् कि जिसे ज्ञान की पर्याय में प्रभु पूर्णानन्द का नाथ, वह ज्ञेय हितकर करके जाना है, उसकी उसे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसका उसे समकित उत्पन्न होता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जहाँ ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ ही चित्त लीन होता है। आसक्त हो जाये अन्दर। ज्ञायकभाव जिसे ज्ञान में लेकर श्रद्धा उत्पन्न हुई, वहाँ उसका चित्त लीन होता है वहाँ। आहाहा! वहाँ उसकी ज्ञान की पर्याय निर्विकल्प होकर लीन होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश, लोगों को ऐसा लगता है। क्या परन्तु इसमें? करना क्या हमारे? वह करने का यह है, बापू! आहाहा! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने जो किया, वह तुझे करने का कहते हैं। आहाहा!

देखो न! यह सब कैसे सुनते हैं! वे कहें करोड़पति चालीस करोड़। स्त्री ५८ वर्ष की मर गयी। जाओ। यह वह राजकुमार की माँ। सर हुकमीचन्दजी की स्त्री, वह

मर गयी अभी, कहते हैं, इन्दौर। सर हुकमीचन्द (की पत्नी और) राजकुमार की माँ। अभी गुजर गयी नहीं? २९ तारीख को। भाई को वहाँ खबर है न! आहाहा! यह बँगला और सब पड़ा रहा। कहाँ उसमें था वह साथ में जाये? आहाहा! वास्तव में तो राग भी उसकी चीज़ नहीं तो, यह राग हुआ, वह राग भी साथ में कहाँ से जाये? आहाहा! उसका तो ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है, ऐसी उसकी महासत्ता है। महासत्ता अर्थात् महा अस्तित्वरूप पदार्थ है। आहाहा! उसकी जिसे ज्ञान में जमावट हुई... आहाहा! वहाँ उसकी श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ उसका ज्ञान लीन हो जाता है। चित्त शब्द प्रयोग किया है परन्तु ज्ञान है। उसका नाम समाधि है। समझ में आया?

जिस विषय में किसी पुरुष की... यह सामान्य बात की। पहली लाईन में है न? **जिस विषय में किसी पुरुष की बुद्धि, सावधानीपूर्वक लगी रहती है अर्थात् जो विषय उसको हितकर या उपकारक लगता है,...** आहाहा! विषय के लम्पटी जो स्त्री के साथ का प्रेम हो, उसे वही उसके ज्ञान में भासित होता है और श्रद्धा भी वहाँ बस उसे, परिवार छोड़े, कबीला छोड़े। आहाहा! आवास का स्थान छोड़े। रहेठाण समझे न? जहाँ रहता हो। आहाहा! सब छोड़कर अकेली (स्त्री) के साथ रहे। समझ में आया? क्योंकि उसे वहाँ प्रेम में उसे वह भासित हुआ है कि यह मेरे ठीक है। आहाहा! जिसे जिस विषय में प्रेम हुआ, उस विषय में उसे आस्था बैठती है। श्रद्धा। वहाँ वह लीन होता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों हो गये।

पहले ज्ञान लिया यहाँ। (समयसार गाथा) १७-१८ में आता है न, भाई! पहले ज्ञान में आत्मा ज्ञात हो, तब उसकी प्रतीति होती है, ऐसा कहा। (गाथा) १७-१८। आहाहा! जाने बिना श्रद्धा किसकी? जो वस्तु अन्दर जानने में न आवे, ज्ञान में भाव का भासन न हो, भाव ऐसा स्वभाव, त्रिकाल। उसका भासन अर्थात् ज्ञान में भाव यह है, ऐसा भासन न हो, तो उसकी प्रतीति किस प्रकार? समझ में आया?

ज्ञान में भाव अर्थात् द्रव्यस्वभाव का भासन अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो। हाँ, भले वह पर्याय में भाव आवे नहीं, परन्तु उस भाव का जो स्वरूप है, वह ज्ञान में आता है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु जो है, उसका ज्ञान होने पर, ज्ञान की पर्याय

में कहीं वस्तु आती नहीं। समझ में आया? परन्तु ज्ञान की पर्याय ने जिसे ज्ञेय बनाया है, उसका ज्ञान होता है। आहाहा! और जिसका ज्ञान हुआ, उसकी उसे श्रद्धा होती है। यहाँ ज्ञान से पहली बात उठायी है। श्रद्धा होती है और फिर ज्ञान होता है, ऐसा नहीं लिया। १७-१८, ऐसा लिया था न? आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! एकदम तो यह रुचे भी नहीं। क्या यह वह कहते हैं यह? वह तो आत्मार्थी हो तो उसे... आहाहा! उसका अर्थी हो, उसे वह श्रद्धा उत्पन्न होती है। आहाहा! परन्तु राग का अर्थी... आहाहा! अकेले बाह्य शास्त्र के जानपने का अर्थी, उसे यह अर्थीपना प्रगट नहीं होता। आहाहा!

जिस विषय में किसी पुरुष की बुद्धि,... आहाहा! **सावधानीपूर्वक लगी रहती है अर्थात् जो विषय उसको हितकर या उपकारक लगता है, उसमें उसको श्रद्धा उत्पन्न होती है...** इस व्यापार में जिसकी बुद्धि लगी तो व्यापार में चिपटा ही रहता है पूरी जिन्दगी। परन्तु तुझे उसमें क्या लाभ है? एक पूरा हुआ तो दूसरा। अवधि पूरी हुई ५५ वर्ष की। नौकरी में से। तो फिर दूसरा निकाले उसमें से व्यापार या धन्धा। क्योंकि उसे उसमें उसका चित्त वहाँ लगा हुआ है। उस बुद्धि में उसे लाभ दिखता है। हम कुछ लाभ करते हैं। आहाहा! भाई गये, एक थे न वे पोरबन्दरवाले? पालिताणा नहीं आये? है? गये। वे पहले वहाँ पोरबन्दर थे, अब वहाँ पूरा हुआ, इसलिए अब फिर कहे, वापस पोरबन्दर कुछ नया करना है। आज थे। मोरबीवाले थे न? मोरबी। ऐसे ५५ वर्ष पूरे हुए तो वापस दूसरा निकाले। आहाहा! आत्मा का जानना और श्रद्धा करना, उसमें समय नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : महापुरुषों को....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान महापुरुष ही है। पुरुषोत्तम पुरुष है यह आत्मा तो। आहाहा!

रामचन्द्रजी जैसे पुरुषोत्तम पुरुष थे न? आहाहा! पुरुषोत्तम पुरुष। वे भी सीताजी गयी, तब वृक्ष को पूछे, पत्थर को पूछे, सीता! एक तो साधर्मी का प्रेम है। स्त्रीरूप का एक ओर... आहाहा! समकिती थी। सीताजी समकिती आत्मज्ञानी। आहाहा! रामचन्द्रजी आत्मज्ञानी। महापुरुष जिन्हें... आहाहा! ऐसे गहल जैसे दिखाई दे, वह सीता कहीं देखी? ऐई... लक्ष्मण! साथ में थे न लक्ष्मण? छोटा भाई। भाई! तूने सीता (को) कहीं देखा?

सीताजी को ऐसे ले जाता है न रावण। फिर उसके गहने फेंकती जाती हैं वहाँ से ऐसे—विमान में से। उसमें से एक गहना पैर का, क्या कहलाता है वह ? नुपुर–झांझर। वह हाथ आया। इसलिए लक्ष्मण को पूछते हैं, भाई ! यह नुपुर सीताजी का है ? भाई ! एकबार मेरी नजर पैर पर गयी थी। भले भाई की स्त्री, परन्तु मातातुल्य है न ! अंग देखने का समय नहीं मिलता। आहाहा ! ऐसे वासुदेव पुरुष। प्रभु ! तात ! मेरी नजर एक बार सीताजी के पैर पर गयी थी। यह नुपुर तो उनका लगता है। बाकी मुझे कुछ खबर नहीं है। आहाहा ! जिसने बारह–बारह वर्ष वनवास में तीन व्यक्ति इकट्ठे रहे। तीन–तीन व्यक्ति इकट्ठे। तो भी कहते हैं कि मुझे सीताजी का दूसरा अंग क्या, इसकी मुझे खबर नहीं। आहाहा ! कहो, समझ में आया ? इस नुपुर पर एक नजर गयी थी पैर पर ऐसे, कि यह नुपुर उनका लगता है। अरे... यह कहाँ से ? रावण ले गया और उसमें से अपना नुपुर डालते गये लगते हैं। जंगल के रास्ते। यह लगता है। आहाहा !

उस समय भी जागृतिदशा आत्मदर्शी थीं। समझ में आया ? आहाहा ! यह उन्मत्त जैसी दशा लगती है। वृक्ष को पूछे, पर्वत को पूछे, ऐसा लगे। उन्मत्त, यह तो उन्मत्त का दृष्टान्त है न थोड़ा ? और अन्तर में कुछ नहीं था। अहाहा ! भगवान आत्मा का जहाँ अन्तर ज्ञान हुआ है और वहाँ उसकी सम्यग्दर्शन की दशा उत्पन्न हुई है, वहाँ उसे स्वरूपाचरण और स्थिरता जगी है। उसे ऐसे विकल्प और ऐसी दशा उसे तोड़ सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा ! रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष बलदेव कि वासुदेव जिसकी आज्ञा, तात ! ऐसा बोले। तात ! मुझे सीताजी की दूसरी खबर नहीं, मेरी माँ की। आहाहा ! माता की मुझे दूसरी खबर नहीं। यह एक लंगर जैसा ऐसा था, ऐसा था। आहाहा ! ऐसी उनकी संसार की पद्धति की रीति तो देखो ! सज्जन पुरुषों का व्यवहार भी कैसा होता है ? आहाहा ! सज्जन अर्थात् 'ज' डबल है। सत् जन। जिन्हें आत्मदर्शन हुआ है, जिन्हें आत्मज्ञान हुआ, वह सत्जन सज्जन है। वह सत् का जन है। वह राग का नहीं, पुण्य का नहीं, पर का नहीं। आहाहा ! वासुदेव। तीन खण्ड में उनके जैसा कोई पुण्यशाली नहीं। आहाहा ! उसे भी रामचन्द्रजी पूछे तो ऐसा जवाब। देखो तो सही ! और उस समय भी रामचन्द्रजी को आत्मदर्शीपना गया नहीं। समझ में आया ? आत्मदर्शीपना वहाँ च्युत नहीं हुआ। आहाहा ! सुजानमलजी ! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहाहा !

चित्त की यह लीनता... इस ज्ञान ने जिसे ज्ञेय बनाकर हितकर में जहाँ ज्ञान पहुँचा है। आहाहा! उसमें उसकी श्रद्धा होकर वहाँ एकाग्रता हुई है, **यह लीनता ही सुप्त-उन्मत्त अवस्था में भी...** निद्रा में, घोर निद्रा आठ घण्टे की हो। आहाहा! परन्तु यह तो कहा था। निद्रा में तो पाँच इन्द्रिय के विषयों को देखते रोका। परन्तु भगवान आत्मा जो ज्ञान और श्रद्धा में अनुभव में आया, उसे रोकनेवाला कोई जगत में चीज़ नहीं। आहाहा! आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। पंचम काल के मुनि अभी तो हजार वर्ष पहले (हुए हैं)। हमारे आगमकुशल और आत्मज्ञान से मिथ्यात्व की दृष्टि घात हो गयी है, अब फिर से उत्पन्न नहीं होगी। प्रभु! परन्तु तुम भगवान के पास गये नहीं? भगवान के पास देखकर कहा नहीं? तुम छद्मस्थ मुनि! मिथ्यात्व फिर से होगा नहीं, ऐसा कहे छद्मस्थ मुनि। देखो तो सही। आहाहा! हमको अब... छद्मस्थ मुनि पंचम काल के। आहाहा! अतिनिर्मल विज्ञानघन ऐसा जो आत्मा, उसमें अन्तर्मग्न है। आहाहा! वह हमारा अन्तर निमग्नपना सम्यग्दर्शन और ज्ञान का हुआ, अब बदलेगा नहीं। आहाहा!

अरे! इतना सब पूछा नहीं भगवान के पास। अभी कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान के पास गये थे। पाँचवें काल के उत्पन्न हुए हैं न, इसलिए उनको क्षायिक समकित नहीं हुआ। परन्तु ऐसा तो हुआ कि वह ज्ञान और सम्यग्दर्शन जो हुआ है क्षयोपशम, वह क्षायिक को प्राप्त करायेगा और बीच में नहीं गिरेगा, ऐसी दशा तो हो गयी है। समझ में आया? आहाहा!

बहिन को जातिस्मरण में यह आया है कि वहाँ हमने भगवान के पास ऐसा सुना है। आहाहा! यह बहिन मौजूद रही। बैठी हैं या नहीं? आहाहा! कि क्षायिक दो प्रकार के हैं—यह मूल क्षायिक और एक जोड़नी क्षायिक। आहाहा! जोड़नी क्षायिक अर्थात् कि वर्तमान क्षयोपशम (समकित) है, परन्तु वह क्षायिक में ही जानेवाला है, वह अब नीचे पड़नेवाला ही नहीं है।

मुमुक्षु : इसका नाम जोड़नी?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका नाम जोड़नी। यह बहिन का वाक्य जब सुना तब... यह

प्रवचनसार ९२ (गाथा) की जब सुनी तब ओहो! यथार्थ बात है। यह जातिस्मरण में आया है, वह यथार्थ आया है। आहाहा! समझ में आया? यह कहा कि हमें भले क्षायिक वर्तमान में नहीं। क्योंकि पंचम काल के उत्पन्न हुए, श्रुतकेवली के पास भी उसे क्षायिक नहीं होता। परन्तु हमको यह दशा हुई है। आहाहा! कि जो क्षायिक समकित लेकर ही रहेगा। समझ में आया? ऐई! पण्डितजी! आहाहा! बहुत लम्बी बात इतनी सूक्ष्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : योग अच्छा हो गया इस काल में तो। सब योग।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब योग हो गया है। ओहोहो!

देखो! यह एक। इनको जातिस्मरण में यह बात आयी, वह सत्य क्यों है? वह इस प्रकार सत्य है कि अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि हमारा समकित मिथ्यात्व का नाश करके उत्पन्न हुआ, फिर से क्षय होनेवाला नहीं है। इसका अर्थ कि वह समकित अब क्षायिक में जायेगा। हैं हम क्षयोपशमी अभी। आहाहा! परन्तु वह क्षयोपशम सकित अप्रतिहत है। आहाहा! समझ में आया? अरे!

पुरुष को उस विषय से हटा नहीं सकती... आहाहा! कोई ऐसा कर्म का उदय नहीं। ऐसा कहते हैं हमको। आहाहा! कि हमारी जहाँ दृष्टि और ज्ञान जमा है, उसे कोई च्युत करे, ऐसा कर्म का उदय नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह भी समाधिशतक (के रचयिता) भगवान के पास गये थे। पूज्यपादस्वामी गये थे। देखो, यह उनकी एक स्थिति का वर्णन। यह आपबीती करते हैं यह सब, हों! आहाहा! जो कुछ सत्य का पुकार होता है न, वह अन्दर का होता है। आहाहा!

कहते हैं कि **वह पुरुष, उस विषय से च्युत नहीं होता;...** आहाहा! ऐसे पंचम काल के मुनि... और कुन्दकुन्दाचार्य ने तो ऐसा कहा न, भाई! कि अतिनिर्मल ऐसा विज्ञानघन आत्मा, अतिनिर्मल ऐसा जो विज्ञानघन आत्मा, उसमें अन्तर्लीन। ऐसे सर्वज्ञ भगवान, आहाहा! हमारे गुरु (उनसे लेकर) अति निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्लीन थे। आहाहा! देखो! समझ में आया? सर्वज्ञ से लेकर उनके गुरु। सर्वज्ञ तो चौथे काल में थे। और उनके गुरु तो पंचम काल में थे। आहाहा! वे भी छद्मस्थ थे। आहाहा! परन्तु

हम कोलकरार से कहते हैं, हम महाव्रतधारी हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! हम सत्य कहते हैं। आहाहा! कितनी दशा की दृढ़ता का अनुभव। आहाहा! जिस अनुभव द्वारा सर्वज्ञ से लेकर यहाँ गुरु तक की एक दशा का पुकार किया है, उन्होंने। आहाहा! समझ में आया?

यह श्वेताम्बर में तो ऐसा आता है। ... भगवन्त ने ऐसा कहा, मैंने सुना है, वह तुमसे कहता हूँ। यहाँ कहते हैं कि वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो आत्मा में से हुआ है, वह तुमसे कहते हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह सन्तों की दशा देखो! इस दशा को परखना सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

उस पुरुष को उस विषय से हटा नहीं सकती... बाहर की कोई चीज़, जिसका जहाँ चित्त जमा, उसे उठावे कौन? आहाहा! बनिया भी जहाँ माल पोसाये, वहाँ माल उठाते हैं न?

मुमुक्षु : वहाँ ही जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ ही जाये और माल उठाये। इतना एक साथ ५०-५० गाड़ी, सौ गाड़ी, दो सौ गाड़ी उठावे। पोसाता माल है। यहाँ ढाई में लूँगा, वहाँ साढ़े तीन या तीन इत्यादि पैदा होंगे। ऐई! आहाहा! पोसाते माल में फिर पानी न करे वह। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा पूर्ण शुद्ध जिसे पोसाया, प्रीति हुई, उसमें शब्द आता है न? निर्जरा अधिकार में आता है। वहाँ प्रीति हुई, वहाँ सन्तोष हुआ, वहाँ तृप्ति हुई है। आहाहा! समझ में आया? उस संस्कार को कौन हटावे? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

काले पत्थर पर छैनी मारकर उत्कीर्ण किया, उस उत्कीर्ण को अब कौन रोके? इसी प्रकार शाश्वत्, शाश्वत् पत्थर जैसा प्रभु शाश्वत्। आहाहा! वह कठिन अपेक्षा से, वह शाश्वत् अपेक्षा से। आहाहा! नित्यानन्द सहजानन्द प्रभु शाश्वत्, उसकी जिसने सम्यग्ज्ञान और संस्कार की उत्कीर्णता उसमें की। आहाहा! उस उत्कीर्णता को अब कौन मिटावे? समझ में आया? आहाहा! पंचम काल के सन्त ऐसा करे।

भेदविज्ञान द्वारा श्रद्धापूर्वक आत्मस्वरूप के जो संस्कार जाग्रत हुए हैं,... आहाहा! राग से भिन्न पड़कर भगवान का ज्ञान हुआ है। आहाहा! शास्त्रज्ञान से नहीं, विकल्प से

भी नहीं। भेदविज्ञान शब्द प्रयोग किया है न? उससे भिन्न पड़कर जिसने आत्मा के संस्कार प्रगट किये हैं। आहाहा! **भेदविज्ञान द्वारा श्रद्धापूर्वक...** अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा दो। **आत्मस्वरूप के जो संस्कार जाग्रत हुए हैं,...** वह अन्दर जमे हैं। आहाहा! समझ में आया?

उनका बल किसी भी अवस्था में... उसका बल किसी भी अवस्था में **जागृत, सुप्त अथवा उन्मत्त अवस्था में...** जागृत में हो या सुप्त-निद्रा में हो या उन्मत्त अवस्था में हो। आहाहा! **चालू रहे बिना नहीं रहता;...** आहाहा! जिसका परिणमन जहाँ अन्तर पर के अवलम्बन बिना, चैतन्य के अवलम्बन से जहाँ हुआ, उस ध्रुव का जहाँ अवलम्बन आया, उसकी पर्याय को फिर गिराये (ऐसा) कौन, कहते हैं? आहाहा! समझ में आया? देखो, यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य। यह वस्तु ऐसी है। इसके बिना सब यह करे, पूजा, व्रत, भक्ति, और तप। सब रण में शोर मचाने जैसे हैं। संसार है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए आत्मार्थियों को... अब क्या करना? इसलिए कहते हैं, यह सब कहा तो **आत्मार्थियों को...** आहाहा! **भेदविज्ञान द्वारा...** राग से और पर्याय से भी दृष्टि उठाकर। आहाहा! निमित्त से तो उठे, वह अलग बात है, परन्तु विकल्प से दृष्टि उठाकर और एक समय की पर्याय पर जो लक्ष्य अनादि का वहाँ उसकी रमणता है, उससे भी हटाकर। आहाहा! **भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप के संवेदन के लिए आत्मरुचिपूर्वक ऐसा अविरत प्रयत्न करना...** आहाहा! बहुत अच्छा डाला है। आहाहा! भाई छोटाभाई ने। मेलवाला, शास्त्र का आधार देकर। आहाहा!

प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मश्रद्धा में कोई भी बाह्यपरिस्थिति... आहाहा! भले क्षायिक न हो, परन्तु जो संस्कार द्रव्यस्वभाव के अन्तर में पड़े हैं, उसे अब कौन मिटा सकता है? आहाहा! समझ में आया? उसे तो स्वप्न में भी यह आवे। चिदानन्द आत्मा हूँ, दूसरी कोई चीज़ नहीं। आहाहा! जिसका जिसे स्वप्न आवे, उसका उसे प्रेम हो, ऐसा आवे। आहाहा!

तो कहते हैं, भेदविज्ञान द्वारा आत्मार्थी जीव ने, जिसका आत्मा जिसे प्रयोजनरूप

है। आहाहा! ऐसे जीव को **भेदविज्ञान द्वारा,...** राग से, मन से, वचन से, काया से पृथक्पने द्वारा **आत्मस्वरूप के संवेदन के लिए...** आत्मस्वरूप का वेदन, आनन्द के वेदन के लिये। **आत्मरुचिपूर्वक ऐसा अविरत प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मश्रद्धा में...** आत्मश्रद्धा। वह मूल चीज़ यह है। इसके बिना सब बातें यह व्रत, तप और अमुक। आहाहा! **कोई भी बाह्यपरिस्थिति विघ्नरूप नहीं हो अथवा उसको च्युत नहीं करे।** ऐसी स्थिति खड़ी करे कि जिसे बाह्यस्थिति विघ्न हो नहीं और कोई च्युत नहीं कर सकता। आहाहा!

जैसे-जैसे स्व-पर-पदार्थों के... भगवान ज्ञानस्वभाव और रागादि परभाव, ऐसे दोनों के स्व-पर के **भेदविज्ञान द्वारा, आत्मा का उत्तमस्वरूप...** भगवान उत्तमस्वरूप, शुद्ध वीतरागमूर्ति आत्मा। भगवानस्वरूप, भगवत्स्वरूप आत्मा है। आहाहा! ऐसा **उत्तमस्वरूप स्वसंवेदन में विकसित होता जाता है;...** आहाहा! निहालभाई ने उसमें दृष्टान्त दिया है न गुब्बारे का। गुब्बारा-गुब्बारा। वह पोला फूलता है और यह वस्तु का स्वभाव परिपूर्ण पड़ा है, उसकी एकाग्रता की दृष्टि में वह पोला नहीं परन्तु ठोस फूलता है। समझ में आया? वह नहीं आता गुब्बारा-गुब्बारा? वह तो ऐसे इतना करे तो ऐसे फूले। कागज का होता है। वह तो पोला है परन्तु भम्म। यह दूध का उफान आता है, वह कहीं दूध बढ़ता है? पोला उफान है सब। आहाहा! यह तो नक्कोर चिदानन्द ध्रुव, उसे—ध्येय को ध्यान में लेकर... आहाहा! जिसमें अन्तर संस्कार डाले हैं, वे ध्रुव संस्कार हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

संवेदन में विकसित होता जाता है;... उसका आनन्द विकसित होता जाता है। आहाहा! शक्ति में से व्यक्ति प्रगट होती जाती है, ऐसा कहते हैं। शक्ति तो पूर्ण है। उसमें जितना ज्ञान और दर्शन में लीन होता गया अन्दर में, उतना वह विकास पाता है। समझ में आया? यह मार्ग है, बापू! आहाहा! करने का हो तो पहले में पहला यह है। फिर चारित्र की लीनता और विशेष होती है। यह तो पहला दर्शन, ज्ञान-दर्शन और स्वरूप के आचरण से होता है। वह समाधि है। आहाहा!

जैसे-जैसे स्व-पर-पदार्थों के भेदविज्ञान द्वारा, आत्मा का उत्तमस्वरूप... उत्तम

स्वरूप शब्द प्रयोग किया है। उत्तम पदार्थ कहा है न, महापदार्थ? प्रवचनसार में १९२ गाथा। महापदार्थ है। प्रभु महापदार्थ है। उत्तम पदार्थ है। उसका स्वरूप **संवेदन में विकसित होता जाता है; वैसे-वैसे सहज प्राप्त रमणीय पञ्चेन्द्रिय के विषय भी रुचते नहीं हैं...** आहाहा! इन्द्राणी के करोड़ों इन्द्राणियाँ और वह भी वैक्रियिकशरीरवाले, उनके विषय में उसे प्रेम नहीं रहता। आत्मा का प्रेमी-परमात्मा का प्रेमी, उसे विषय की भावना में रुचि नहीं रहती। उसकी सुखबुद्धि उड़ जाती है। आहाहा! आसक्ति हो, परन्तु सुखबुद्धि उड़ जाती है। आहाहा! यह ९६-९६ हजार स्त्रियों में रहा हुआ चक्रवर्ती, (सुख) बुद्धि उड़ गयी है। सुखबुद्धि गयी, वह गयी। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जैसे-जैसे उसे पदार्थ में—आत्मा में वेदन आनन्द का, ज्ञान का, श्रद्धा का विशेष निर्मल होता जाता है, वैसे-वैसे सहज प्राप्त। हठ से लेना, ऐसा नहीं। सहज कोई पुण्य के कारण विषयों की सामग्री मिले, **पञ्चेन्द्रिय के विषय भी रुचते नहीं हैं...** आहाहा! 'अर्थात् उनके प्रति उपेक्षा और उदासीनता उत्पन्न होती है।' आहाहा! समझ में आया? श्लोक बहुत अच्छा है। आहाहा! विषयों की अनुकूलता सहज मिल जाये, जबरदस्ती पहनकर हठ से नहीं, तो भी उसे विषय में प्रेम नहीं रहता। आहाहा!

उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा... रस उड़ गया। आत्मा के आनन्दरस के समक्ष वह सब पर में रस उड़ गया। समझ में आया? भले गृहस्थाश्रम में दिखाई दे, परन्तु वह गृहस्थाश्रम में नहीं है, वह आत्मा की दशा में है। समझ में आया? आहाहा! कहा था न एक बार? श्रीमद् को पूछा गया कि श्रीकृष्ण कहाँ हैं? तब जवाब दिया, श्रीकृष्ण आत्मा में हैं। तुझे अमुक गति और अमुक गति कहना वह तो उसमें... ऐई! आहाहा! कोई ऐसा पूछनेवाला मिला कोई। ऐसी विचिक्षणता से जवाब दिया। जहाँ है, वहाँ वे आत्मदर्शन, आत्मज्ञान में है। वे नहीं राग में और नहीं गति में, ले! आहाहा!

मुमुक्षु : जवाब सुन्दर।

पूज्य गुरुदेवश्री : जवाब ऐसा। आहाहा!

'हरि का मार्ग है शूरों का, कायर का नहीं काम।' हरि शब्द से (आशय) आत्मा। अज्ञान और दोष को हरनेवाला ऐसा भगवान हरि। 'हरि का मार्ग है शूरों का,

कायर का...' नपुंसक का वहाँ काम नहीं है। आहाहा! वीरों के अखाड़े में जाना है, वह वीर का काम है। आहाहा! समझ में आया? भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, जिसके गुण की संख्या का पार नहीं होता। क्षेत्र से ऐसे आ गया इतने में मानो असंख्य प्रदेश में। प्याज का टुकड़ा ले प्याज, तो टुकड़ा हाथ में आ गया। परन्तु वह तो क्षेत्र से हाथ में आया है। उसके जो गुणों की संख्या है—अनहद। उसकी हद विकल्प के माप में नहीं आती। आहाहा! वह तो निर्विकल्प प्रतीति के माप में वह आयेगा। समझ में आया? आहाहा!

निगोद के एक... एक बार नहीं कहा था? निहालभाई में ऐसा लिखा था। तीन काल के सिद्ध से निगोद का एक... बनारसीदास का वाक्य है। कितना है वह?

मुमुक्षु : ३६वाँ पत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ३६वाँ पद। कहा था मैंने ही कहा था। सच्ची बात है। अभी कहा नहीं था?

एक निगोद शरीर में अे ते जीव बखान,
तीन काल के सिद्ध सम एक अंश परिमाण।

एक अपेक्षा से कहा है। यहाँ तो तीन काल के (सिद्ध) से तो जीव की संख्या अनन्तगुनी है और निगोद के जीव तो कहीं थोड़े हैं। परन्तु यहाँ मुझे अब दूसरी बात करनी है थोड़ी श्रद्धा की कहनी है। कि...

सो पिण्ड निगोद अनन्तरास, जियरुप अनन्तान्तभास,

भर रहे लोक नभ में सदीव ज्यों घडा मांहि भर रहे धीव

'केवली गम्य यह अनंतता साधक के अनुमान ज्ञान में' प्रत्यक्षवत् है।

निष्कम्प गम्भीर ध्रुव स्वभाव के आश्रय से सहज गहरे-गहरे उतरते-उतरते यह ज्ञान हम सबको प्रत्यक्ष हो जाओ, यही भावना। प्रत्यक्षवत् है वह प्रत्यक्ष हो जाओ। समझ में आया? निर्मल ज्ञान ऐसा हो जाये कि प्रत्यक्ष सब दिखाई दे, ऐसा कहते हैं। विशेष कहा जायेगा........ (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ९६

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह -

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥ ९६॥

यत्र यस्मिन्विषये अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः। ''यत्रैवाहितधीरति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः।'' कस्य? पुंसः। तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः तस्मिन् विषये लय आसक्ति-स्तल्लयः कुतो? नैव कुतश्चिदपि॥९६॥

फिर चित्त कहाँ अनासक्त होता है, वह कहते हैं —

जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग॥ ९६॥

अन्वयार्थ - (यत्र) जिस विषय में (पुंसः) पुरुष की (अनाहितधीः) बुद्धि, दत्तावधानरूप नहीं होती, (तस्मात्) उससे (श्रद्धा) श्रद्धा (निवर्तते) हट जाती है- उठ जाती है और (यस्मात्) जिससे (श्रद्धा) श्रद्धा (निवर्तते) हट जाती है, (चित्तस्य) चित्त की (तल्लयः कुतः) उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं होती।

टीका - जहाँ अर्थात् जिस विषय में बुद्धि संलग्न नहीं होती अर्थात् बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती। 'यगेवाहितधीरिति'—ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ यह है कि जहाँ अहितबुद्धि, अर्थात् अनुपकारक बुद्धि होती है। किसकी? पुरुष की। उस विषय से श्रद्धा वापस फिरती है। जिससे श्रद्धा वापस फिरती है, उस विषय में चित्त की लीनता कैसे हो सकती है? उस विषय में चित्त का लय अर्थात् आसक्ति कहाँ से होगी? कहीं से भी नहीं होगी।

भावार्थ - जिस वस्तु को पुरुष, हितकारी नहीं समझता, उस वस्तु में उसको रुचि उत्पन्न नहीं होती और जिस वस्तु में रुचि नहीं होती, उस वस्तु में उसका मन किस प्रकार लगेगा? नहीं लगेगा।

अज्ञानी जीवों को इन्द्रियों के विषय इष्ट लगते हैं — हितकारी लगते हैं; इसलिए उनकी रुचि उनमें उत्पन्न होती है और उनमें मन लगता है; ज्ञानी को वे विषय अनिष्ट नहीं लगते अपितु उनके प्रति होनेवाला राग, अनिष्ट-अहितकारी लगता है; इसलिए उसकी रुचि उनसे हटती है और उनमें मन नहीं लगता। वह उन विषयों के प्रति उदासीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है-घटती जाती है; वैसे-वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप, स्वानुभव में आता जाता है, स्वसंवेदन का विषय बनता जाता है।[१] ॥९६॥

आषाढ़ कृष्ण १२, सोमवार, दिनांक ०४-०८-१९७५, श्लोक-९६-९७, प्रवचन-११०

९६, समाधितन्त्र। 'और चित्त कहाँ अनासक्त होता है, वह कहते हैं'—चित्त कहाँ चिपकता नहीं, वह कहते हैं।

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥ ९६॥

जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग॥ ९६॥

नीचे इसका श्लोक है।

टीका - जहाँ अर्थात् जिस विषय में बुद्धि संलग्न नहीं होती... अर्थात् बुद्धि वहाँ चिपकती नहीं। दत्त अवधान नहीं होती, ऐसा। आहाहा! यह सामान्य बात की। अब '**यत्रैवाहितधीरिति**' इस पाठ की व्याख्या करते हैं। ऐसा भी उसका अर्थ है कि जहाँ अहितबुद्धि—हितकर नहीं। ऐसी चीज़ में बुद्धि लगती नहीं। अहित बुद्धि अर्थात्

---

१. यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि। तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

अर्थात्, जैसे-जैसे सुलभ (सहज प्राप्त) इन्द्रिय-विषय भी नहीं रुचते, वैसे-वैसे स्वात्म-संवेदन में उत्तम निजात्म-तत्त्व आता जाता है। (श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३८)

अनुपकारक बुद्धि होती है, जो आत्मा को उपकार न हो और नुकसान करनेवाली हो, ऐसी जहाँ बुद्धि होती है, **उस विषय से श्रद्धा वापस फिरती है।** जिसमें हितकर नहीं, लाभ नहीं, वहाँ से बुद्धि वापस मुड़ती है। वहाँ बुद्धि काम...

मुमुक्षु : लाभ न दिखाई दे इस ओर...

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ से बुद्धि वापस मुड़ती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रद्धा वापस फिरती है। जिससे श्रद्धा वापस फिरती है, उस विषय में चित्त की लीनता कैसे हो सकती है ? पहले था सुलटा, इसलिए यह उल्टे की बात है। गाथा... **उस विषय में चित्त का लय अर्थात् आसक्ति कहाँ से होगी ?** जिसमें जीव को हितकर और ठीक न लगे, वहाँ चित्त काम नहीं करता। चित्त काम न करे तो श्रद्धा वहाँ से वापस मुड़े। श्रद्धा वापस मुड़े तो उसमें लीनता कहाँ से होगी ? आहाहा!

भावार्थ - जिस वस्तु को पुरुष, हितकारी नहीं समझता, उस वस्तु में उसको रुचि उत्पन्न नहीं होती... धन्धे में भी जहाँ लाभ न देखे, उस धन्धे में जाये व्यापार करने ? न जाये।

मुमुक्षु : पोसाण हो वहाँ ही जाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ लाभदायक देखता है कि भाई! ढाई रुपये में माल आयेगा और यहाँ तीन उपजेंगे, तब तो जाये। परन्तु वहाँ ढाई का लाऊँगा और यहाँ सवा दो उपजेंगे, तो वहाँ चित्त लगता नहीं और वह व्यापार करने जाता नहीं। फिर श्रद्धा बदलती है आहाहा! यह व्यापारी की। इसी प्रकार जिसे आत्मा में हितकर लगा नहीं, अहितकर लगता है, वहाँ उसकी बुद्धि जाती नहीं। आहाहा!

यह तो एकदम उपदेश की शैली है न। ऐसे तो जिस समय जो पर्याय उत्पन्न हो, उसे कोई ध्रुव की आवश्यकता नहीं। १०१ (गाथा, प्रवचनसार) में आता है न ? १०१। उत्पाद पर्याय होती है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाह! उसे व्यय की अपेक्षा नहीं। उस समय की जो पर्यय उत्पन्न होती है, वह स्वतन्त्र होती है। परन्तु कहते हैं कि जिसे अहितकर लगी, वह अहितकर की पर्याय कैसे उत्पन्न करे ? समझ में आया ? परन्तु उस पर्याय का काल ही ऐसा वहाँ है।

मुमुक्षु : अहितकर शुभ-अशुभ.... सम्यग्दर्शन लगे सरल तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन में हितकर लगता है आत्मा, इसलिए सम्यक् की पर्याय होती है, तथापि वह पर्याय होती है द्रव्य के आश्रय से, अर्थात् कि पर्याय वहाँ से आती है न, इस अपेक्षा से आश्रय कहा। बाकी तो पर्याय, पर्याय के कारण से ही उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह तो प्रवचनसार में है। वीतराग के सिद्धान्त का सार, उसमें यह आया है। आहाहा!

मात्र यह सम्यग्दर्शन आदि की पर्याय धर्म की, द्रव्य के आश्रय से कही, उसका आश्रय (कहने का) आशय इतना कि द्रव्य में से आती है और द्रव्य की ओर ढली है, इसलिए द्रव्य का आशय कहने में आता है, इतनी बात है। आहाहा! वहाँ तो ऐसा भी कहा कि वह पर्याय द्रव्य के कारण से नहीं आती। ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : उसे आलिंगन ही नहीं करती।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श नहीं करती न! यह तो अपने आ गया है। आहाहा! सत् का स्वरूप, उसे तो ज्ञाता-दृष्टारूप से रहकर जाननेयोग्य है, बस। बाकी कुछ है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसी ज्ञान और श्रद्धा होने के बाद?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् यह माना, तब उसकी दशा हुई न ज्ञाता-दृष्टा की, नहीं तो कहाँ? आहाहा! कि जब मैं पर की पर्याय कर नहीं सकता और मेरी पर्याय भी द्रव्य से नहीं होती। उत्पाद। आहाहा!

समयसार में २७० (गाथा) में कहा न? भाई! सत् ज्ञप्ति जिसकी एक क्रिया है। देखो न! ओहोहो! इसके ऊपर से तो यह आया है। सत् अहेतुक ज्ञप्ति जिसकी एक क्रिया है। भगवान आत्मा की तो जानने-देखने की एक ही क्रिया है। उस क्रिया में यह हनन और झूठ न बोलना, ऐसी जो क्रिया, उससे भिन्न नहीं करता, इसलिए उसे अपनी मानता है। आहाहा! एक समय में एक पर्याय के दो भाग। आहाहा! वह ज्ञप्तिक्रिया। भाई! यह तो मार्ग अन्दर की बहुत सूक्ष्म बातें। ज्ञप्तिक्रिया, वह भी सत् अहेतुक। उसे द्रव्य और गुण की भी आवश्यकता नहीं, ऐसी ज्ञप्तिक्रिया अहेतुक है। और उस काल में

जो राग-द्वेषमय उदय की क्रिया, वह आत्मा की नहीं है। आहाहा! उन दोनों में भेद न करके, दोनों एक कर्ता माने, वह अज्ञान है। आहाहा!

लो, और आज कार्ड आया है। सरदारशहर से कार्ड आया है। किसी महिला ने सब लिखा है। उनके कुटुम्ब में से लगता है। उसमें है न? यह क्या है? क्या लिखा है यह? वह कार्ड आया है। यह तो विनयवन्दन। सरदारशहर। 'बहुत दिनों से मेरी तुच्छ बुद्धि में...' कोई महिला उनके कुटुम्ब में से लगती है। 'यह आ रहा है कि ज्ञानी दोष को दोष जानकर, दोष से हटता है...' दोष से हटता है, यह आगम प्रमाण है। दोष से हटता है, यह आगम प्रमाण है। 'या ज्ञानी दोष को कर्ता-भोक्ता बनकर दुःखी बनता है, वह आगम प्रमाण है?' आहाहा! भगवान! यह वापस तुम आत्मधर्म में देना, ऐसा कहे। ऐसा लिखा है न? आत्मधर्म में स्पष्ट हो जाये, समाधान मिल जाये, निवेदिका प्रति कुमारी, ऐसा कुछ है।

लो, और यह याद आया। देखो, आया न इसमें? कि ज्ञप्ति एक क्रिया है और उसमें जो दोष की क्रिया जो उत्पन्न होती है, उससे भिन्न आत्मा को नहीं जानता, वह अज्ञानी है। परन्तु वह ज्ञानी (जानता है कि) ज्ञप्तिक्रिया, वह भी मेरी है, मुझमें है और दोष की क्रिया भी मेरी पर्याय में मुझसे मेरे कारण से है। आहाहा! यह दृष्टि और दृष्टि के विषय की स्वभाव की मुख्यता से चले, तब वह त्यागी दोष से रहित है। परन्तु जब उसकी पर्याय में वेदन है, ऐसा ज्ञान जाने, तब तो कहते हैं कि वेदन दुःख का और सुख का मुझमें है। आहाहा! रतिभाई! और उसका कर्ता-भोक्ता भी मैं हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : यह ज्ञान की मुख्यता से।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ज्ञान ही वस्तु विशेष जानता है न! दर्शन तो निर्विकल्प है। उसका विषय निर्विकल्प है, परन्तु उसके साथ जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान ऐसा जानता है। जब तक दोष अर्थात् दुःख, दोष अर्थात् दुःख। फिर चाहे तो दया, दान, और व्रत के विकल्प हों, वे भी दोष और दुःख हैं। एक समय में ज्ञप्तिक्रिया और वह दोष की क्रिया एक समय में होती है। और वास्तव में तो वह पर्याय अहेतुक है। दोष और ज्ञप्ति दोनों अहेतुक है। परन्तु है सही। ज्ञप्तिक्रिया जानती है कि मैं तो जाननेवाला हूँ और उसके

साथ ज्ञान जानता है। आहाहा! कि जितना सुख पूर्ण नहीं, उतना राग होता है, वह दुःख है, दोष है, अपराध है, वह मेरी दशा का अपराध है। आहाहा! और उसका परिणमन है, इसलिए कर्ता हूँ। करनेयोग्य है, वह अलग बुद्धि। आहाहा! परन्तु राग और शुभ-अशुभभाव, वे दोनों दोष हैं, वे दोनों दुःख हैं। उस दुःख की पर्याय और आनन्द की पर्याय दोनों का कर्ता और भोक्ता मैं हूँ। आहाहा!

सवेरे तो आनन्द का वेदन... क्योंकि वहाँ दृष्टि प्रधान कथन है। आहाहा! परन्तु उसी काल में ज्ञान से जब जाने। आहाहा! पर को क्या सम्बन्ध है? परद्रव्य तो उसके कारण से वहाँ खड़ा है और परिणमता है। आहाहा! परन्तु आत्मा में जितने प्रमाण में अल्प सुख का वेदन है, इसलिए वहाँ राग-द्वेष के परिणाम शुभ या अशुभ, उतना दुःख का वेदन है, वह मुझसे है, दुःख को ज्ञानी वेदता है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, भाई! और वह ऐसा जानता है कि दुःख को वेदन करे, वह अज्ञानी, उसे भान ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

सुख न हो मिथ्यादृष्टि को, दुःख न हो केवली को। सुख और दुःख की पर्याय होती है साधक को। धर्मी को-ज्ञायक को ही होती है वह। आहाहा! समझ में आया? यह प्रश्न उसे घुँटता है तब का। सेठ का नाम है उसमें। दीपचन्दजी सेठिया का नाम है, परन्तु लिखा है किसी ने और उसका वह है। वह मकान का नाम है न? ऐसा है, वह है। वह नाम। पुत्री या कोई होगी, ऐसा लगता है। उसमें की चर्चा हुई। अरे... भगवान! क्या बापू! तेरी सत्ता तो आनन्द और ज्ञान की मूल तो है। और जिस समय में वह पर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वतन्त्र द्रव्य और गुण की अपेक्षा रखे बिना होती है। और उस समय आनन्द और दुःख की पर्याय जो होती है, वह भी पर की अपेक्षा रखे बिना, द्रव्य-गुण की रखे बिना वह होती है। आहाहा! हरिभाई! ऐसी बात है, बापू! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है वहाँ। समझ में आया?

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, हमको कलुषित पर्याय में कलुषितता है। आहाहा! हम पूर्ण आनन्द को प्राप्त नहीं, अनादि से कलमाषित में आये। आहाहा! छठवें गुणस्थान में मुनि, आचार्य, जिनकी यह टीका। आहाहा! अलौकिक टीका, भगवत् टीका है।

आहाहा! वे ऐसा कहते हैं, अनादि की हमको कलुषितता अभी गयी नहीं। वह कलुषितता अनादि की है न? भले अनुभव हुआ, मुनिपना हुआ, परन्तु वह कलुषितता तो अनादि की है, जो बाकी रही है वह। आहाहा! वह कलुषितता दुःखरूप है। यह हम यह टीकाकर्ता के काल में... टीका करते हुए। पाठ ऐसा है। **'एव'** शब्द है न? भास्य, इसकी टीका से हमारी कलुषितता नाश होओ। पाठ ऐसा है। परन्तु उसका अर्थ यह। यह करते हैं न वे लोग उसमें से। देखो, यह टीका करने से भी शुद्धि होती है, ऐसा कहते हैं। बापू! टीका के काल में उन्हें विकल्प है, वह टीका के काल में विकल्प से उनकी शुद्धि बढ़े, ऐसा नहीं है। परन्तु उस काल में हमारे लक्ष्य में बहुत रटन है, ध्येय में हमारे ध्यान में वस्तु की ओर का बहुत रटन है, वह रटन करते-करते अशुद्धता टल जायेगी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अशुद्धता टीका करने के समय में तो भाव में तो विकल्प है। पर की ओर का लक्ष्य है न? आहाहा! मन, वचन और काया की ओर लक्ष्य जाता है तो वह राग है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा, प्रवचन की प्रभावना के लिये मैंने यह शास्त्र रचा है। आता है न? नियमसार में तो ऐसा कहा कि मैंने यह मेरी भावना के लिये रचा है। नियमसार में ऐसा कहा है। परन्तु उस काल में तो विकल्प है। आहाहा! परन्तु उसका घोंटन है, वह विकल्प में नहीं। आहाहा! विकल्प के ज्ञातादृष्टापने रहकर, वह विकल्प हुआ है, उससे निमित्त होकर टीका की क्रिया टीका से हुई है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जिसे ज्ञायकभाव के प्रति हितकर जिसे लगा नहीं। आहाहा! वस्तु आनन्ददायक वस्तु है, ऐसा दृष्टि में अर्थात् बुद्धि में यह आनन्ददायक है, ऐसा हितकर भासित नहीं हुआ और उसके प्रति अनादर है। आहाहा! अहितकर बुद्धि है। आहाहा! उस बुद्धि का (ऐसा) विषय है कि जहाँ वह (ज्ञायक में) लगता नहीं। यहाँ लगता है, यहाँ तो कहते हैं। अहितकर में भी बुद्धि लगती है। आहाहा! छोटाभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : और इससे श्रद्धा वापस मुड़ती है। पूर्णानन्द के नाथ में हितपना

भासित नहीं हुआ, इसलिए उसकी श्रद्धा वहाँ नहीं जाती। आहाहा! वह तेरे कारण है। कर्म का कारण है, इसलिए श्रद्धा वहाँ नहीं जाती, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

और जहाँ श्रद्धा... **उस विषय में चित्त की लीनता कैसे हो सकती है?** जहाँ श्रद्धा ही वापस मुड़े, वहाँ अन्तर में लीनता कैसे बने? आहाहा! समझ में आया? **उस विषय में चित्त का लय अर्थात् आसक्ति कहाँ से होगी?** आहाहा! **कहीं से भी नहीं होगी।** किसी प्रकार चित्त वहाँ लगता ही नहीं। आहाहा!

भावार्थ - ३८वाँ श्लोक तो ऊपर आ गया न? ९५ में आ गया। ९५वाँ अन्तिम। ओहोहो! **जिस वस्तु को पुरुष, हितकारी नहीं समझता, उस वस्तु में उसको रुचि उत्पन्न नहीं होती...** आहाहा! काला नाग देखे और बिच्छू। होता है न? ठाकरियो बिच्छू होता है। ठाकरियो अर्थात् बिच्छू में बड़ा। मैंने देखा है। एक बार मैं निकला तो बड़ा बिच्छू काला इतना लम्बा, हों! और बड़ा डिब्बा होता है न ऐसा तो काला ऐसा। जंगल यहाँ जाते। जाते अकेले, पहले जाते न अकेले। वहाँ डिब्बा और मानो रेल चलती हो इतना लम्बा ऐसा बड़ा। काला ठाकरियो। काटे तो मर ही जाये मनुष्य। यहाँ मर गया था आदमी गढडा में। लाठीवाला है न वह पोपटभाई के पुत्र का एक लड़का, बिच्छू काटा तो मर गया। कठोर बिच्छू होता है न?

अब उस बिच्छू में चित्त लगे नहीं, पकड़ने की। वहाँ श्रद्धा वापस मुड़े या नहीं। और वहाँ देखने को वह खड़ा न रहे। यह तो बिच्छू उड़े नहीं। सर्प छोटे हों न तो उड़ें, काले नाग हों, उड़े। तो देखने खड़ा न रहे वहाँ। उड़कर चिपटे यहाँ और यहाँ, ऐसे सर्प होते हैं। जिसमें चित्त को ठीक नहीं पड़ता, वहाँ श्रद्धा वापस मुड़ती है और वह चित्त वहाँ देखने खड़ा नहीं रहता। आहाहा!

जिस वस्तु को पुरुष, हितकारी नहीं समझता,... जिस वस्तु को आत्मा हितकारी नहीं समझता। पुरुष शब्द से आत्मा की बात है। आहाहा! **उस वस्तु में उसको रुचि उत्पन्न नहीं होती...** पोसाण में जो चीज़ नहीं, वहाँ रुचि कैसे उत्पन्न हो? आहाहा! **और जिस वस्तु में रुचि नहीं होती, उस वस्तु में उसका मन किस प्रकार लगेगा? नहीं ही लगेगा।**

अज्ञानी जीवों को इन्द्रियों के विषय इष्ट लगते हैं— आहाहा! **हितकारी लगते हैं; इसलिए उनकी रुचि उनमें उत्पन्न होती है...** है? उसमें यह लम्बी बात है। इन्द्रियों का विषय, इन्द्रियाँ जड़, भाव इन्द्रिय और उसका विषय, सब इन्द्रियाँ हैं। आहाहा! परन्तु यह उसने भेद किया है। इन्द्रियों का विषय, वास्तव में तो देव-गुरु और शास्त्र तथा उनकी वाणी भी इन्द्रिय का विषय है। यह गजब बात है। समझ में आया? ऐसी बात है। स्वद्रव्य के अतिरिक्त कहीं हितकर परद्रव्य हो सकता ही नहीं। इसीलिए तो ऐसा कहा....'**परदव्वादो दुग्गइ**' आहाहा! यह वीतराग के वचन! वीतराग ऐसा कहते हैं कि हमारे सामन देखोगे तो तुम्हें राग होगा। और उपदेश सुनने बैठे। वह हो, अलग वस्तु है। आहाहा! गजब बातें, बापू!

इन्द्रियों के विषय इष्ट लगते हैं... आहाहा! **हितकारी लगते हैं; इसलिए उनकी रुचि उनमें उत्पन्न होती है और उनमें मन लगता है; ज्ञानी को वे विषय अनिष्ट नहीं लगते...** ज्ञानी को वे विषय अनिष्ट लगते नहीं, **अपितु उनके प्रति होनेवाला राग, अनिष्ट-अहितकारी लगता है;...** विषय नहीं। क्योंकि वह कोई वस्तु इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। हितकर या अहितकर ज्ञेय है ही नहीं। आहाहा! भगवान अहितकर, ऐसा है ही नहीं, कहते हैं। हितकर है, ऐसा भी नहीं। आहाहा!

उनके प्रति होनेवाला राग, अनिष्ट-अहितकारी लगता है; इसलिए उसकी रुचि उनसे हटती है... आहाहा! भारी गजब काम करते हैं। **उनमें मन नहीं लगता। वह उन विषयों के प्रति उदासीन रहता है।** आहाहा!

विशेष - ३८वाँ श्लोक है, इष्टोपदेश। उससे वह। पहले था उससे उल्टा है।

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

आहाहा! **जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है...** यह प्रश्न आया है न अभी? वह राजमल ने पूछा है भाई निहालभाई का। १०१ बोल नहीं? (कुल) ६४५ बोल हैं न? उसका १०१ बोल है। कि स्त्री का विषय और देव-गुरु विषय ही है पर की ओर का। यह कैसे है? ऐसा पूछा था। समानता का उसे जो बैठा

वही कहे न समानता का फिर। कौन करनेवाला है? मक्खनलालजी नहीं। पार्श्वनाथ, वह वर्धमान (पण्डित वर्धमान पार्श्वनाथ)।

मुमुक्षु : लाल बहादुर।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, लालबहादुर निकल गये थे। वर्धमान पार्श्वनाथ। रतनचन्दजी तो पहले अभी। जवाब उन्होंने दूसरा दिया है। रतनचन्दजी ने नहीं। वह दिये हैं वर्धमान पार्श्वनाथ। ऐसा माननेवाले ऐसा कहे, तीव्र मिथ्यादृष्टि है। भगवान को जो विषय ठहरावे... अरे प्रभु! सुन न, भाई! ३१वीं गाथा में क्या कहा भगवान ने? '**जो इंदिये जिणित्ता**' कहा। ३१ गाथा, इन्द्रिय तीन प्रकार से—जड़ इन्द्रिय, (भावेन्द्रिय तथा) इन्द्रिय के विषय। तीनों को इन्द्रिय कहा है। भाई! यह तो झेलना कठिन, बापू! आहाहा! यह विषय को जीते, वह जैन। परन्तु उस विषय में ललचा जाये। विषय कहा उसे तो। विषय को भी उसे इन्द्रिय ही कहा। इन्द्रिय का विषय, वह इन्द्रिय। आहाहा! काम कठिन बापू, भाई!

जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है-घटती जाती है; वैसे-वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप, स्वानुभव में आता जाता है,... ऐसा ढला है न अन्दर? इष्टोपदेश का ३८ श्लोक है। **जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है-घटती जाती है; वैसे-वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप, स्वानुभव में आता जाता है,...** परसन्मुख से हट जाता है, वैसे स्वसन्मुख में झुक जाता है। आहाहा! समझ में आया? अरे! मार्ग कठिन, भाई! सुनना, कहना और सुनने से लाभ नहीं होता। वह होता है, परन्तु वह विकल्प है। अणीन्द्रिय भगवान की ओर का वह झुकाव नहीं। समझ में आया?

यह इष्टोपदेश में आ गया है। वह इन्द्रिय से जानता ही नहीं, तथा इन्द्रिय से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। गजब बात है!

मुमुक्षु : शुरुआत ही वहाँ से की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरुआत वहाँ से की है। आहाहा!

जिसे इन्द्रिय से जानना नहीं होता, ऐसा लिया है और जिसका... दूसरा बोल है।

जो इन्द्रिय से जाननेवाला नहीं है। इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। आहाहा! अब स्वयं टीका करते हैं। टीका होती है, दूसरों को समझाने को। तो कहते हैं कि तेरा जानना तुझसे होता है, हमारे से नहीं। आहाहा! पोपटभाई! ऐसा मार्ग है, भाई! तू अणीन्द्रिय है न? तो अणीन्द्रिय से अपने को जाने और पर को भी अणीन्द्रिय से जाने। आहाहा! अर्थात् कि जिसे निश्चय से ऐसी स्वरूपग्राही दृष्टि हुई, फिर पर को जाने। आहाहा! समझ में आया?

जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है-घटती जाती है; वैसे-वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप, स्वानुभव में आता जाता है, स्वसंवेदन का विषय बनता जाता है। है न? '**तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥**' स्वसंवेदन बढ़ता जाता है। आहाहा! आत्मा की ओर के झुकाव में नहीं आवश्यकता विकल्प की, नहीं आवश्यकता मनुष्यपने की, नहीं आवश्यकता गुरुदेव की, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जैसे-जैसे वह बाहर से हटता जाता है, वैसे-वैसे अन्दर में स्थिर होता जाता है।

मुमुक्षु : चारित्र की अपेक्षा की बात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : दर्शन की अपेक्षा से यह बात है। दर्शन और ज्ञान, चारित्र वह सब अन्तर में से, अन्तर के आश्रय से अर्थात् कि अन्तर के झुकाव से होता है, ऐसा। बाहर झुकाव से नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई!

स्वसंवेदन का विषय बनता जाता है। ऐसा कहते हैं, देखो न! स्वयं अपने ज्ञान की पर्याय में स्व को विषय करता हुआ स्वसंवेदन खड़ा होता है। पर की अपेक्षा छोड़ता है तब, ऐसा। आहाहा! ऐसा मार्ग, भाई! जैसे-जैसे परसन्मुख का झुकाव का भाव छोड़ता है, वैसे-वैसे स्वसन्मुख के झुकाव के भाव में वेदन में बढ़ जाता है। आहाहा! यह अकेले चारित्र की अपेक्षा की बात नहीं, हों! श्रद्धा की अपेक्षा से भी यह है।

परसन्मुख के झुकाव में श्रद्धा ऐसा मानती है कि वहाँ दुःख है। उसके साथ ज्ञान जानता है परन्तु ऐसा लिया है न? सर्वविशुद्ध में श्रद्धा के साथ ज्ञान लिया है। जैसे वह भगवान आत्मा अनाकुल अणीन्द्रिय वस्तु में झुकता जाता है, वैसे स्वसंवेदन स्व के आश्रय से बढ़ता जाता है। आश्रय का अर्थ इतना कि उस ओर ढलता है। उस पर्याय को

कुछ खबर (प्रत्यक्ष ज्ञान) नहीं कि यह द्रव्य है। बस, उस ओर ढली तो आश्रय लिया, ऐसा कहा जाता है। और फिर पर्याय भी द्रव्य में से आती है न? कहीं अध्धर से तो आती नहीं। व्यवहार जब लें तो द्रव्य में से। भेद पड़कर आती है पर्याय। आहाहा! अकेला अभेद द्रव्य जो है, उससे यदि आवे तो एक ही प्रकार की पर्याय समान आनी चाहिए। परन्तु वह भेद अर्थात् ऐसे द्रव्य का भेद अन्दर योग्यता जो शक्ति है, वह बाहर आती है, इस अपेक्षा से द्रव्य में से आती है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? तथापि वह पर्याय, पर्याय से हुई है, जिसे द्रव्य के भी आश्रय की आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

१०१ में ऐसा रखा न आलम्बन। १०१ प्रवचनसार में ऐसा रखा है आलम्बन नहीं। पर्याय को द्रव्य का आलम्बन नहीं। उत्पन्न होता भाव उत्पाद के आश्रित है, ऐसा लिखा है। १०१ (गाथा)। उत्पाद होता भाव उत्पाद के आश्रित है। आहाहा! क्या वीतराग का तत्त्व! यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा वाणी में आया है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ तो निमित्त से कुछ होता नहीं, ऐसा आया वहाँ तो। यह सब विवाद बाधा यह।

श्लोक - ९७

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह -

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥ ९७॥

भिन्नात्मानमाराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं उपास्याराध्य आत्मा आराधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशोऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः। अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह वर्तिरित्यादि। दीपाद्भिन्ना वर्तिर्यथा दीपमुपास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति॥९७॥

जिसमें चित्त लीन होता है, वह ध्येय भिन्न तथा अभिन्न (ऐसे दो प्रकार का) होता है, वहाँ भिन्नात्मस्वरूप ध्येय का फल दर्शाते हुए कहते हैं —

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव॥ ९७॥

अन्वयार्थ - (आत्मा) यह आत्मा, (भिन्नात्मानं) अपने से भिन्न आत्मा की (उपास्य) उपासना करके, (तादृशः) उन्हीं के समान (परः भवति) परमात्मा होता है; (यथा) जैसे- (भिन्ना वर्तिः) दीपक से भिन्न बत्ती भी (दीपं उपास्य) दीपक की उपासना करके—उसका सामीप्य प्राप्त करके, (तादृशी) उसके जैसी - दीपकस्वरूप (भवति) हो जाती है।

टीका - भिन्न आत्मा की अर्थात् आराधक से पृथक्भूत अरहन्त-सिद्धरूप आत्मा की उपासना करके—आराधना करके; आत्मा अर्थात् आराधक पुरुष; वैसा अर्थात् अरहन्त -सिद्धस्वरूप समान; पर अर्थात् परमात्मा होता है। यहाँ इसी का दृष्टान्त कहते हैं—बत्ती इत्यादि। जैसे - दीपक से भिन्न बत्ती, दीपक की उपासना अर्थात् पाकर 'तादृश' (उस जैसी) होती है अर्थात् दीपकरूप होती है; उसी प्रकार।

भावार्थ - जैसे बत्ती, दीपक की उपासना करके (दीपक का गाढ़-नजदीकी

सम्बन्ध साधकर), तद्रूप (दीपकरूप) हो जाती है; इसी तरह यह आत्मा, अपने से भिन्न आत्मा की (अरहन्त-सिद्धरूप परमात्मा की) उपासना करके, स्वयं उनके समान परमात्मा हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अरहन्तादि भिन्न साध्य की उपासना द्वारा अर्थात् उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्यज्ञान द्वारा, जो जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक्‌पने जाने और उनकी प्रतीति करे तथा तत्पश्चात् अरहन्तादि पर की ओर का लक्ष्य भी छोड़कर, स्वसन्मुख होकर, सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अपने चैतन्यस्वरूप में स्थिरता करे, तो उसका मोह, नाश को प्राप्त होता है और वह परमात्मा होता है।[1]

आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह निश्चयउपासना अर्थात् अभिन्न साध्य की उपासना है और अरहन्तादि भिन्न साध्य की उपासना, वह व्यवहारउपासना है।

सम्यग्दृष्टि जीव को साधकदशा में अस्थिरता के कारण, भगवान की पूजा-भक्ति आदिरूप पुण्यबन्ध की संप्राप्ति का हेतुभूत शुभराग भूमिकानुसार आता है परन्तु वह उसको आत्महित के लिए भला नहीं मानता। वह राग को रोग के समान जानता है; इसलिए उसको उसमें हेयबुद्धि वर्तती है अर्थात् उसको राग का राग नहीं है, उसका स्वामित्व नहीं है; उसका वह शुभराग प्रातःकालीन लाल संध्या जैसा है। जैसे - प्रातःकाल की लाल संध्या का अभाव होने पर, तुरन्त ही सूर्य के तेजस्वी प्रकाश का आविर्भाव होता है; इसी तरह सम्यग्दृष्टि के हेयबुद्धि से वर्तते हुए शुभराग का अभाव होने पर, उसका अतिक्रम होने पर, आत्मा के निर्मल प्रचण्ड प्रकाश का आविर्भाव होता है। रागरूप सविकल्पदशा का—(व्यवहार का) अभाव होने पर, वीतरागरूप निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। उस दशा में जीव को वचनातीत अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भिन्न आत्मा की उपासनारूप शुभराग का अभाव, वह मोक्ष का-परमात्मपद का साक्षात् कारण है॥९७॥

---

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-८०

श्लोक - ९७ पर प्रवचन

अब यह दृष्टान्त देते हैं। व्यवहार का दृष्टान्त देंगे पहला। **जिसमें चित्त लीन होता है, वह ध्येय भिन्न तथा अभिन्न (ऐसे दो प्रकार का) होता है,...** भगवान तीर्थंकर सर्वज्ञ परमात्मा, वह ध्येय में ले, वह परवस्तु है और स्वध्येय में ले, वह स्ववस्तु है। **जिसमें चित्त लीन होता है, वह ध्येय भिन्न तथा अभिन्न (ऐसे दो प्रकार का) होता है, वहाँ भिन्नात्मस्वरूप ध्येय का फल दर्शाते हुए कहते हैं—** क्या कहते हैं? आत्मा से भिन्न भगवान, उसके ध्येय का फल दर्शाकर कहते हैं।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥ ९७॥

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव॥ ९७॥

ज्ञानप्रधान कथन है न? दीपक, दीपक को स्पर्श करावे तो दीपक होता है।

टीका - भिन्न आत्मा की अर्थात् आराधक से पृथक्भूत अरहन्त... भिन्न आत्मा की व्याख्या की। आराधक जो स्वयं जीव, उससे **पृथक्भूत अरहन्त-सिद्धरूप आत्मा की उपासना करके—आराधना करके;...** आहाहा! पहले उसका लक्ष्य होता है, इतना। फिर लक्ष्य बदल डालता है। **'जो जाणदि अरहंतं'** का आया न? परन्तु वहाँ निमित्त से कथन है। वहाँ अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय मन से जान ले, ऐसा शब्द है। मन से अर्थात् विकल्प से जानता है। फिर उस पर्याय को अन्तर में समाहित करता है, संक्षेप करके। और उसके पश्चात् ऐसा ही करेगा और ऐसा ही होगा। उसे वहाँ लिया है। ऐसा है। उसे वहाँ लिया है। क्या कहा, यह समझ में आया? फिर से।

अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला, उन्हें मन से जान ले, पश्चात् वह अपने में समाता है। पर्याय को गुण में संक्षेपण करता है। वासना का अन्तर जाकर नाश कर डालता है। वह उसने जाना, इसलिए करता है, ऐसा नहीं। यह तो निमित्त से कथन है। समझ में आया? आहाहा! ऐसे यहाँ भी यह कथन है।

भिन्न आत्मा की अर्थात् आराधक से पृथक्भूत... आराधना करनेवाला भगवान आत्मा, उससे पृथक् अरिहन्त और सिद्ध। **सिद्धरूप आत्मा की उपासना करके—आराधना करके;...** देखो! छठवीं गाथा में तो ऐसा कहा कि पर का लक्ष्य छोड़कर द्रव्य की सेवा करनेवाला, यह वस्तु है, उस ओर झुककर जो शुद्धता प्रगट हुई, उसे वह शुद्ध है, ऐसा मालूम पड़ा। आहाहा! उपासना शब्द है न वहाँ भी? द्रव्य की उपासना। भगवान की नहीं। यहाँ तो भगवान की लेते हैं। निमित्त से कथन है न! भेद की बात की। आहाहा!

आराधना करके;... अरिहन्त और सिद्ध की। उनके आत्मा की आराधना की। **आत्मा अर्थात् आराधक पुरुष; वैसा अर्थात् अरहन्त-सिद्धस्वरूप समान;...** अरिहन्त और सिद्ध समान, **पर अर्थात् परमात्मा होता है।** आहाहा! मात्र यह लक्ष्य हुआ था, पश्चात् अन्तर में झुकाया है, इसलिए उसने पर से पर का आराधक होकर होता है, ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात है। समझ में आया? यह दृष्टान्त देते हैं बहुत। इस गाथा का। देखो! परमात्मा के ध्यान से भी आत्मा परमात्मा होता है। तुम कहो, परमात्मा परद्रव्य है, उनके लक्ष्य से राग होता है। बापू! अपेक्षा समझ भाई! ज्ञान में उसे अरिहन्त के, सिद्ध के गुणों का ख्याल आया, वह ख्याल आया, ऐसा ही मैं हूँ अन्दर में, ऐसी जिसकी दृष्टि हुई और पर से आराधक होकर पर आत्मा होता है, ऐसा कहने में आता है। ऐई! धीरुभाई! कठिन मार्ग बापू! आहाहा! एक न्याय बदलने से पूरा चक्र बदल जाता है। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

वैसा अर्थात् अरहन्त -सिद्धस्वरूप समान; पर अर्थात् परमात्मा होता है। यहाँ इसी (अरिहन्त) का दृष्टान्त कहते हैं—बत्ती इत्यादि। जैसे - दीपक से भिन्न बत्ती, दीपक की उपासना... आहाहा! बत्ती है न, बत्ती दीपक की? वह दीप से भिन्न बत्ती है। उस **दीपक की उपासना...** छूकर। दीपक जलता है, उसमें बत्ती ऐसे छुआते हैं। दीपक से दीपक होता है। श्रीमद् में बहुत आता है। यह वहाँ तो वह अर्थ कि कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र निमित्त में नहीं होते। उसके लक्ष्य में गुरु, देव... अरिहन्त और सिद्ध लक्ष्य में आये हैं पहले। ऐसा कहते हैं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र लक्ष्य में आकर यहाँ काम होता

है, ऐसा नहीं है। मात्र लक्ष्य में पहले परमात्मा अरिहन्त और सिद्ध, उनका केवलज्ञान, एक समय की पर्याय इतनी बड़ी, जो तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने, ऐसा जहाँ लक्ष्य, उसे ज्ञान की पर्याय की पूर्णता की सत्ता जगत में है। आहाहा! उस सत्ता का स्वीकार होकर और वस्तु के स्वभाव के स्वीकार में जाता है, तब वह परमात्मा होता है। समझ में आया?

उस बत्ती में अग्नि हुई, वह तो वास्तव में स्वयं से हुई है। दीपक को स्पर्श कर हुई नहीं। परन्तु उसका निमित्तपना था, उसे गिनकर उपादान में वैसा प्रकाश हुआ, ऐसा कहने में आया। आहाहा! यह निमित्त के माननेवालों को इसमें से बहुत निकलता है। ऐसा नहीं। मात्र उसे अरिहन्त सर्वज्ञ ऐसे हैं... एक समय में भी जिनकी पर्याय में अन्दर बहुत सूक्ष्मता हो, तब इतनी पर्याय की सत्ता व्यवहार से इसके लक्ष्य में आती है। समझ में आया? क्या कहा यह?

अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ की पर्याय की सत्ता... एक गुण की एक पर्याय का इतना सामर्थ्य (कि) तीन काल-तीन लोक को जाने! और जब ज्ञान के लक्ष्य में इस बात को लेता है कि ऐसी महत्ता जो ज्ञान की पर्याय की, वह जिसकी पर्याय में लक्ष्य से आवे, तब वह पर्याय द्रव्य पर ढल जाती है। समझ में आया? आहाहा! परपर्याय का स्वकार अपनी पर्याय के लक्ष्य से भी नहीं होता। पर का यथार्थ स्वीकार तो तब कहलाता है कि स्वस्वरूप में से ज्ञान आया, तब वह परप्रकाश का ज्ञान उसे—स्वरूपग्राही को हुआ। आहाहा! समझ में आया? यह वे कहें, तुम सब अर्थ बदलते हो। बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! यह तेरे हित के लिये मार्ग है। दुःखी होकर भटकता है। आहाहा!

व्यापारी को भी ऐसे कष्ट आ पड़ते है न, कहीं (हल) नजर में न पड़े, फिर मर जाये, जहर पीवे। कहीं सूझ न पड़ती हो न। हीरा चूसे और मर जाये। आहाहा! श्रेणिक राजा जैसे समकिती, क्षायिक समकिती। और तीर्थंकरगोत्र समय-समय बाँधते हैं। उस समय जब... है यह तीर्थंकरगोत्र बँधती है। आहाहा! विकल्प वैसा आया कि ऐसा हुआ। परन्तु यह अपघात किया नहीं। आत्मा का घात वहाँ हुआ नहीं। समझ में आया? उस काल में भी क्षायिक समकित है, वह समकित, समकित का कार्य करता है या नहीं?

वह पूर्णानन्द के नाथ को स्वीकार कर श्रद्धा पड़ी है। आहाहा! समझ में आया? भारी अटपटा मार्ग लगे दुनिया को। तथापि वह अपघात नहीं, मात्र चारित्र का दोष है, चारित्र का, वह भी उनके जानने में है। जानने के बाहर यह बात नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

हजारों राजा जिन्हें चँवर ढोरते थे और जिन्हें तीर्थंकरपद बँध गया और सम्यग्दर्शन है, वहाँ यह विकल्प होता है। अभी कोई कहता था कि यह तो तीर्थंकरगोत्र बाँधे, ऐसा करे। तीर्थंकरगोत्र नहीं? क्या कहता था कोई? आहाहा! भाई कहते थे उज्जैनवाले। तीर्थ की रक्षा करे, वह तीर्थंकरगोत्र बाँधे; नहीं? मक्षी में विवाद उठा है न वापस दोनों का? दिगम्बर का और श्वेताम्बर का। इनके पिता वहाँ मन्त्री हैं न? फूलचन्दजी झांझरी। और वहाँ वापस श्वेताम्बर का विवाद, बड़ी धर्मशाला बनायी है और तूफान-तूफान। ऐसा कैसे करे? कि तीर्थ की रक्षा करे, तीर्थंकरगोत्र बँधे। ऐई! अरे, परन्तु मिथ्यादृष्टि को तीर्थ की रक्षा का सच्चा भाव आता ही नहीं। वह तो कृत्रिम सब बात है। आहाहा! जिसे अन्तर सम्यक् चैतन्य की मूर्ति का प्रकाश आया नहीं, उसे वह विकल्प तीर्थंकरगोत्र का उसे नहीं हो सकता। आहाहा! वह तो मिथ्यादृष्टिरूप से तीर्थ की रक्षा करे, तीर्थंकरगोत्र बाँधे। ऐई! पण्डितजी! अरे... भाई! यह वस्तु ऐसी नहीं होती। आहाहा!

जिसे द्रव्य—वस्तु ही दृष्टि में आयी नहीं। द्रव्य ऐसा है, ऐसा भासित ही नहीं हुआ। उसे तीर्थंकरगोत्र का विकल्प हो ही नहीं सकता। आहाहा! तथापि वह तीर्थंकरगोत्र का विकल्प भी है तो नुकसानकारक। आहाहा! निहालभाई ने लिखा है न, तीर्थंकरगोत्र बाँधने का जो भाव, उसे नपुंसक गिनते हैं। गुरुदेव ने ऐसा कहा है, ऐसा करके लिखा है। आहाहा! राग है न! राग है, उतनी नपुंसकता है। आहाहा! वीर्य तो स्वरूप की रचना करे। वीर्य उसे कहते हैं, आहाहा! स्वरूप की-शुद्धस्वरूप की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। उसमें आया है न? ४७ शक्ति में। वीर्य किसे कहते हैं? आत्मा का वीर्यबल किसे कहते हैं कि वह आत्मा के स्वरूप की शुद्धता की रचना करे। राग की रचना करे, वह स्वरूप का वीर्य नहीं है। आहाहा! कायर का तो कलेजा काँप जाये, ऐसी बातें हैं।

आहाहा! आत्मार्थी को यह बात बैठे ऐसी है। आहाहा! उसमें वाद-विवाद से कुछ पार पड़े, ऐसा नहीं है।

कहते हैं, **यहाँ इसी का दृष्टान्त कहते हैं—बत्ती इत्यादि। जैसे - दीपक से भिन्न...** दीपक से भिन्न है न बत्ती दूसरे की? **दीपक की उपासना...** उस दीपक की सेवा करके। अर्थात् पाकर, ऐसा। दीपक की उसको प्रकाश को पाकर। **'तादृश' (उस जैसी) होती है...** उसके जैसा दीपक हो जाता है ऐसा। **अर्थात् दीपकरूप होती है; उसी प्रकार।** दीपक को बत्ती स्पर्श कराने से बत्ती दीपकरूप हो जाती है। उसी प्रकार भगवान के अरिहन्त के, सिद्ध के ज्ञान को लक्ष्य में लेकर स्वसन्मुख ढलता है, वह परमात्मा हो जाता है। समझ में आया? आहाहा!

जैसे बत्ती, दीपक की उपासना करके (दीपक का गाढ़-नजदीकी सम्बन्ध साधकर),... ऐसा **तद्रूप (दीपकरूप) हो जाती है;...** बत्ती दीपकरूप हो जाती है। यह तो भावभावक नहीं लिया? अपने वहाँ लिया है। भगवान स्वयं भावक है और वह भाव्य है, यह बात भी जहाँ छूट जाती है। भावनमस्कार। समयसार में आया है पहला भावनमस्कार। **आत्मा, अपने से भिन्न आत्मा की (अरहन्त-सिद्धरूप परमात्मा की) उपासना करके, स्वयं उनके समान परमात्मा हो जाता है।** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण १३, मंगलवार, दिनांक ०५-०८-१९७५, श्लोक-९७-९८, प्रवचन-१११

९७ गाथा, समाधितन्त्र, उसका विशेष। **अर्हंतादि...** अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय इत्यादि संत। **भिन्न साध्य की उपासना द्वारा...** वह भिन्न साध्य है। तथापि पहली गाथा में कहा न? '**वंदित्तु सव्व सिद्धे**' सिद्ध हैं, वे आत्मा के साध्य के स्थान में हैं, ऐसा आता है। साध्य। आत्मा का साध्य सिद्धपद है। ध्येय और आश्रय कौन, यह अलग बात है। आश्रय, अवलम्बन, झुकाव द्रव्यस्वभाव पर है पर्याय का। परन्तु पर्याय को साध्य जो सिद्धपना प्रगट करना है, इसलिए सिद्ध है, वह आत्मा के साध्य के स्थान में हैं। इस अपेक्षा से यहाँ बात ली है। नहीं तो ऐसा कहा न पहले? वे तो परद्रव्य हैं और परद्रव्य से तो दुर्गति होती है, ऐसा कहा है। क्योंकि परद्रव्य के ऊपर से... स्वद्रव्य में से आनन्द में से छूटता है, तब उस परद्रव्य पर लक्ष्य जाता है। आहाहा! इसलिए वह विकल्प तो आत्मा की चैतन्य की जाति नहीं। इस बात की अपेक्षा बराबर है। परन्तु यहाँ यह बात जो ली है कि सिद्ध जैसा मेरा स्वरूप है, ऐसे सिद्ध को साध्य में-लक्ष्य में लेकर। वे कहते हैं, देखो! इन्होंने स्पष्टीकरण स्वयं किया है।

उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्यज्ञान द्वारा,... ८०वीं गाथा का अर्थ किया है। प्रवचनसार की ८० है न पहली? मार्ग ऐसा सूक्ष्म है कि यह मार्ग इसे पहले समझना, पश्चात् उसे अन्तर का आश्रय करे, तब कल्याण हो, ऐसा है। लाख बात की बात और अनन्त बार की बात। यह अरिहन्त और सिद्ध को लक्ष्य में ले भले। परन्तु फिर लक्ष्य बदल डालकर... समझ में आया? पाठ तो ऐसा है यहाँ तो। '**वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति**' दीपक की बत्ती दूसरे दीपक की उपासना करती है, ऐसा है। पाठ—शब्द तो ऐसा है। यह निमित्त से कथन है। उपादान में उसे—बत्ती को जलने की योग्यता थी, उसमें दीपक का निमित्त हुआ, बस! ऐसा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में सिद्ध होने की साध्य में दृष्टि थी, परन्तु वह आत्मा के पर लक्ष्य बदल करके... यह कहा।

उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्यज्ञान द्वारा,... सच्चा ज्ञान होने पर **जो जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक्पने जाने...** ज्ञान की प्रधानता से बात है न? द्रव्य-

गुण और पर्याय को जानना, वह कहीं विकल्प का कारण नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद से विचारना, वह विकल्प है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य जो अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानना, वह भी मन से कहा है अर्थात् वह विकल्प है। और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना, यह भेद पाड़कर जानना है, वह विकल्प है। परन्तु वह ज्ञान जाने, ज्ञान का स्वभाव तो सब जानने का है। वह ज्ञान जाने द्रव्य-गुण-पर्याय को—तीन को जाने। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है जरा।

यह तो रागी है, इसलिए ऐसे भेद को जानने से इसे राग होता है, परन्तु वह तो राग है, वह उसके कारण से राग, परन्तु वह ज्ञान का दोष नहीं। ज्ञान तो द्रव्य-गुण-पर्याय को... आहाहा! जाने, पर को जाने... जब तक तो स्वस्वरूप की दृष्टि नहीं, तब तक पर को जाने अकेला, वहाँ तक तो उसे विकल्प होता है। उसमें आया है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? कोई मुनि को उपसर्ग हो, सिंह का देह कोई दीपड़ा का। तो वे ध्यान में हों तो उन्हें निर्विकल्प ध्यान में तो उसकी खबर नहीं कि यह है। परन्तु विकल्प उठता है, तब ख्याल में न आवे कि यह उपसर्ग है, ऐसा नहीं है। ख्याल में आवे इतना, हों! है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में है। वह सातवें में होगा। समझ में आया? वह तो अभी याद आया। और वहाँ तो यहाँ तक कहा है। वीतरागभाव से पर को भी जाने तो वह विकल्प का कारण नहीं, ऐसा लिखा है। भाई! वहाँ ऐसा लिखा है। वह ज्ञान की जानने की स्व-पर की शक्ति के सामर्थ्य से बात की है, बस। आहाहा! समझमें आया?

ज्ञान स्व को जाने या पर को जाने। वह जानना तो उसका स्वरूप है। परन्तु उसमें भेद उठावे कि यह ऐसा है। वह तो वहाँ राग हो जाये। वह यहाँ विकल्प से पहले अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जाने। यहाँ यह बात नहीं ली। यहाँ तो उन अरिहन्त के गुणों को जहाँ जाना, उनके ओर की उपासना हुई तो आत्मा में उपासना हुई, ऐसा कहा है। समझ में आया? यह तो बातें, बापू! अन्तर के स्वभाव की बातें हैं। यह कहीं बाहर के वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। उसमें से यह निकालते हैं लोग, कि देखो! देव-गुरु, देव की श्रद्धा और देव के ज्ञान से भी आत्मज्ञान होता है।

मुमुक्षु : वह अपने सन्मुख होकर करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पहले ज्ञान करता है, उसमें अपना स्वभाव जो चेतनद्रव्य है, अभेद है, वहाँ उन्मुख हुआ है, उसका आश्रय किया है। समझ में आया? यह आश्रय किया कहो, उन्मुख हुआ कहो, ढलता है उस ओर कहो, सब एक ही बात है। यह शब्दफेर की बात है। शास्त्र में तो आश्रय शब्द प्रयोग किया है। और उसमें आश्रय है, बहुत जगह भाई में—निहालभाई में। आश्रय है। यह तो जरा उन्हें वह आश्रय वह पर्याय स्वतन्त्र है न, इसलिए जरा विचार आया था। ऐसा ख्याल है एकदम। ऐसा कि पर्याय स्वतन्त्र है उसे... वह पर्याय स्वतन्त्र है, वह स्वतन्त्ररूप से स्व का आश्रय करती है। आहाहा! समझ में आया?

पर्याय स्वतन्त्ररूप से स्व की ओर झुकती है। आहाहा! परमात्मस्वरूप स्वयं साक्षात् प्रभु परमात्मस्वरूप है। उस ओर पर्याय झुकती है। ऐसे तो ऐसा भी कहा है न, पर्याय ध्यान करे तो करो, मैं किसका ध्यान करूँ? इसमें एकान्त नहीं, यह वस्तुस्थिति है। वह पर्याय ऐसा जानती है, पर्याय ऐसा जानती है कि यह ध्रुव है, वह किसका ध्यान करे? यह तो मैं जो उसकी ओर झुकती हूँ, वह मेरा ध्यान है। ऐसी बातें। थोड़े से अन्तर में बहुत अन्तर पड़ जाये, ऐसा है। आहाहा!

यहाँ तो यह बात आयी है न इसलिए जरा भाई ने फिर छोटाभाई ने तो ८० गाथा का आधार लेकर स्पष्टीकरण किया है। यह निहालभाई ने लिया है। भाई! एक ओर कहो कि निमित्त से कुछ लाभ नहीं तथा एक ओर अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानने से सम्यग्दर्शन होता है (ऐसा आवे)। है न? उसमें है। आहाहा! उसमें अपेक्षित बात है। समझ में आया? यहाँ तो सीधी बात ली है कि सिद्ध के और अरिहन्त के गुण, उसकी ज्ञान की पर्याय में आवे। आहाहा!

सवेरे यह कहा था न? अनन्त सिद्धों को मेरी पर्याय में और तुम्हारी पर्याय में स्थापित करता हूँ। आहाहा! क्या कहते हैं यह? जिसकी पर्याय में अनन्त सिद्ध बैठे, वह पर्याय ढल जाती है द्रव्य पर। समझ में आया? वह पर्याय वहाँ रह सके, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : बहिर्लक्ष्यी नहीं रहती, अन्तर्लक्ष्यी हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्लक्ष्यी हो जाती है। ऐई! छोटाभाई! अन्तर अनन्त-अनन्त

सिद्धों और... ओहोहो! अनन्त केवलज्ञान की पर्यायवाले अनन्त सिद्ध, अनन्त आनन्द की पर्यायवाले अनन्त सिद्ध, अनन्त वीर्य की पर्यायवाले अनन्त सिद्ध, अनन्त दर्शन की पर्यायवाले सिद्ध, अनन्त गुण की पूर्ण पर्यायवाले अनन्त सिद्ध। आहाहा! वे जहाँ पर्याय में पधराता है। आहाहा! वह पर्याय बहिर्मुख नहीं रह सकती। उस पर्याय का वजन अनन्त सिद्ध स्थापन करने से उसका ढलना ऐसा ही हो जाता है। आहाहा! कैसी शैली उठायी है! पहली गाथा से गजब बात की है न! आहाहा! टीका, वह भी टीका, उसके भाव! आहाहा!

पश्चात् सिद्धगति कैसी है और उसका वर्णन किया है न, फिर ध्रुव और अचल को अवलम्बन किया है परन्तु सिद्ध को... आहाहा! एक समय की ज्ञान की पर्याय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... सिद्ध जो कि सिद्ध की संख्या से काल असंख्यगुणा है वापस। इतने सिद्ध हैं। छह महीने आठ समय में ६०८ होते हैं न? तो छह महीने आठ समय में असंख्य समय है। और सिद्ध होते हैं ६०८, इतने। इसलिए उनसे काल असंख्यगुणो हो गया है। आहाहा! ऐसे सिद्ध जो भूतकाल के समय से असंख्यवें भाग की संख्यावाले। समझ में आया? अनन्त सिद्धों को पर्याय में धारकर, वे तो परद्रव्य हैं न? परन्तु परद्रव्य की जो शक्ति की पूर्णता, उसे जो पर्याय में स्वीकार पर्याय करती है। समझ में आया? ओहोहो! गजब बातें हैं! वह पर्याय वहाँ बाह्यलक्ष्यवाली रह नहीं सकती। वह सहन नहीं कर सकती अनन्त सिद्धों को। आहाहा! अनन्त सिद्धों को पर्याय बहिर्लक्ष्य में सहन नहीं कर सकती। ऐई... कान्तिभाई! आहाहा!

जहाँ अनन्त-अनन्त सिद्ध की पर्याय का पिण्ड पड़ा है पूरा, वहाँ वह पर्याय ढल जायेगी। आहाहा! ऐसे ढलने से अब तू सुन, कहते हैं। आहाहा! अकेला सुनने में तो विकल्प है। आहाहा! छद्मस्थ को कहनेवाले को विकल्प है, सुननेवाले को विकल्प है। केवली को कहने में विकल्प नहीं और सुननेवाले को विकल्प है। तथापि वह इस प्रकार से हम जब तुझे समयसार कहते हैं, उद्यम किया है, ऐसा कहा। यदि हो जाये, तब तो काम तेरा हो जायेगा, कहे। ऐसा पूरा समयसार हो गया। व्यवसाय किया है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और इस प्रकार जिसने अनन्त सिद्धों को... श्रोता को ऐसा, प्रभु,

ऐसा कहते हैं कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा! ओहोहो! भाई! तू प्रभु है न? परन्तु कितना प्रभु! कि अनन्त सिद्धों को पर्याय में जान, तो भी तेरा ज्ञान बाकी रह जाता है। समझ में आया? ऐसे अनन्त सिद्ध की दशा जिसने दशा में स्थापित की है, वह दशा परलक्ष्यी नहीं रह सकती। समझ में आया? ऐसी बात है, बापू! आहाहा! समझ में आया?

ऐसा यहाँ यह लेना। भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय, कि उनकी पर्याय उनकी पूर्ण लो सिद्ध की। वह जिसने ज्ञान की पर्याय में ली तो एक को कहो कि अनन्त सिद्ध की पर्याय कहो। आहाहा! वह ज्ञान पर्याय जानती है, वह ज्ञान अन्तर में ढल जाता है। पाठ तो ऐसा है कि उसे स्पर्शकर ज्ञान होता है। शब्द तो ऐसे हैं न? दीपक को स्पर्श कर दीपक होता है। ऐसे सिद्ध की पर्याय को उसका ध्यान करके आत्मा, सिद्ध परमात्मा होता है। कान्तिभाई! आहाहा!

उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्यज्ञान द्वारा,... सत्य ज्ञान कहा न सच्चा? अर्हंतादि **जो जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक्पने जाने...** परन्तु वह जहाँ उसे ज्ञान में यह चीज़ है, ऐसे ज्ञात हुई। समझ में आया? आहाहा! वहाँ जीव ऐसा ही लिया है (गाथा) ८० में। कि '**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं**' यह तो वह ऐसा लक्ष्य है, उसका लक्ष्य यहाँ जायेगा। ऐसा ही आत्मा लिया है वहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा जीव....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जीव। और उस जीव का पूर्णपना पाँचवीं (गाथा) में कहा। '**जदि दाएज्ज**' भाई! तुझे सुनाता हूँ। अनन्त सिद्धों को तेरी पर्याय में स्थापित कर सुनाता हूँ। वह वापस '**जदि दाएज्ज**'... पहले तो कहा '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं**' स्वरूप की एकता और पर से विभक्तता मैं दिखलाऊँगा। इतनी बात आयी। '**जदि दाएज्ज**' यदि दिखलाऊँ। आहाहा! तुझे अनन्त सिद्ध को तो पर्याय में स्थापित किया है। इसलिए लक्ष्य पर्याय में वहाँ रह नहीं सकेगा। ऐसे ढल गयी है। अब तू उसे अनुभव को प्रमाण करना। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें वीतरागमार्ग। आहाहा! इस प्रकार की पद्धति कहीं नहीं है सर्वज्ञ के अतिरिक्त। आहाहा!

यह सबमें देखो न, बुद्ध भी मोक्ष गये न। चिमनचकु। बड़ा लेख है। भगवान मोक्ष गये। वेदान्त, वह सच्चा है। वेदान्त ही सच्चा है। और एक लेख यह आया है। अरेरे! ऐसे जैन सम्प्रदाय में ऐसी बातें, बापू! धर्म को कलंक लगाती है। अपने आत्मा को कितना भारी...

मुमुक्षु : अपने भाव को कलंक लगाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कलंक लगाती है, बापू! आहाहा! सर्वज्ञ केवली परमात्मा का कहाँ ज्ञान और कहाँ बुद्ध का गृहीत मिथ्यादृष्टि का कहाँ ज्ञान! आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : उनकी कहने-कहने की पद्धति में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पद्धति के अन्तर की उसे खबर नहीं। आज यह एक पुस्तक आयी है। वह चम्पकसागर नहीं भाई! वह चम्पकसागर। जूनागढ़ में मिला नहीं था? श्वेताम्बर साधु है। यहाँ का वाँचन है, तथापि वापस सब खिंचड़ा। वह पुस्तक आयी है। साधुचर्या दो पुस्तकें आयी हैं। साधुचार्य और जिनपूजा महत्त्व। आहाहा!

जहाँ वस्त्र लेने का भाव है। वहाँ आत्मा के धर्म में उग्रता हो सकती ही नहीं। समझ में आया? और जहाँ ऐसे मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता जिसकी पर्याय में है, वह पर्याय द्रव्य की ओर ढल ही नहीं सकती। आहाहा! समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि अनन्त सिद्धों का ज्ञान और आत्मा तथा यह ज्ञान इसे ऐसे स्पर्श करता है। जैसे वह बत्ती स्पर्श करती है न ज्ञान को? और दूसरे दीपक को। बत्ती एक दीपक की बत्ती दूसरे दीपक को स्पर्श करे और उजाला हो। ऐसे स्पर्श का अर्थ यह। आहाहा! उसके निमित्त के लक्ष्य में यह सिद्ध ऐसे हैं, ऐसा ज्ञान आया, वह स्वयं से आया है। वह स्वयं से पर्याय में आया है। उस पर्याय को अब अन्तर में ढालता है। समझ में आया? तब उसे सम्यग्ज्ञान होता है। अकेले सिद्ध के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक्पने जाने... भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय जानकर। **और उनकी प्रतीति करे...** जाने और प्रतीति करे, ऐसा लिया है न? यहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात है। **तथा तत्पश्चात् अरहन्तादि पर की ओर का लक्ष्य भी**

छोड़कर,... आहाहा! ऐसा जीव यहाँ लिया है। समझ में आया? और ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है कि स्वद्रव्य को जाने और परद्रव्य-गुण-पर्याय को जाने। जानने में क्या है? समझ में आया? पंचाध्यायी का एक श्लोक लिया है।

हे महाप्राज्ञ! तू सबको जान—द्रव्य-गुण-पर्याय सबको। वह तो ज्ञान का स्वभाव है। महाप्राज्ञ की है एक गाथा। ९० में है। चल गयी। वीरजीभाई के साथ। वीरजीभाई है न? वीरजीभाई थे न? वकील-वकील। जामनगर। ९० की चर्चा में चला था। उसे कहते हैं कि देखो, कहा यह महाप्राज्ञ कहकर कि ज्ञान का स्वभाव है कि सबको जानना, वह जानने के लिये कहीं विकल्प हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया? हे महाप्राज्ञ! ऐसा करके वहाँ लिया है। पंचाध्यायी में। जान न। जानने में क्या? जानने का तेरा स्वभाव है। लोकालोक और तुझे जानने का तेरा स्वभाव है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

जब पर को सिद्ध भगवान को जाना, अर्थात् जरा इन्होंने ८०वीं गाथा की शैली ली है यहाँ। पाठ ऐसा है। यहाँ तो पाठ ऐसा है कि सिद्ध को जानने से सम्यग्ज्ञान स्वयं को होता है। इसलिए लिया है। आहाहा! परन्तु यहाँ कहते हैं कि उनकी **ओर का लक्ष्य भी छोड़कर, स्वसन्मुख होकर,...** स्वसन्मुख कहो, स्वद्रव्य का आश्रय कहो, स्वसन्मुख झुकाव कहो, उन्मुख कहो, स्वद्रव्य की ओर का झुकाव कहो, सब एक अपेक्षा है। **सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अपने चैतन्यस्वरूप में स्थिरता करे, तो उसका मोह, नाश को प्राप्त होता है...** यह ८०वीं गाथा का अर्थ किया है। **और वह परमात्मा होता है।**

आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह निश्चयउपासना अर्थात् अभिन्न साध्य की उपासना है और अरहन्तादि भिन्न साध्य की उपासना, वह व्यवहारउपासना है। निश्चय की उपासना का ९८ में आयेगा। यह भिन्न की उपासना की यह गाथा है। और ९८ में अभिन्न की उपासना की गाथा आयेगी। समझ में आया? ओहोहो! **आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह निश्चयउपासना अर्थात् अभिन्न साध्य की उपासना है...** अभिन्न साध्य। ... यह कहते हैं, देखो!

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥ ९५॥

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥ ९५॥

ऐसे आनन्द की पहिचान बिना अपनी जाति में क्या चीज़ है, उसकी खबर बिना, स्वरूप से... दीपक से दीपक होता है। बत्ती दीपक को स्पर्श करे और जले। उसका अर्थ ही उसकी उपादान की योग्यता से वहाँ अग्नि हुई। ऐसे सिद्ध की पर्याय को जाना तो उसकी अपनी योग्यता के कारण वह द्रव्यसन्मुख ढल गया है। समझ में आया? वाद-विवाद से कुछ पार नहीं पड़ता, बापू! यह तो सत्य की बातें हैं। आहाहा! गणधर सन्तों ने सत्य के प्रवाह में... सत्य का प्रवाह मिटा जगत में शास्त्र का। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि जीव को साधकदशा में अस्थिरता के कारण, भगवान की पूजा-भक्ति आदिरूप पुण्यबन्ध की संप्राप्ति का हेतुभूत शुभराग भूमिकानुसार आता है... यहाँ सब सुना, फिर लिखा है न। उन्होंने लिखा है सामने। वे यहाँ रहते थे न पहले। आते रहते थे। उन्होंने लिखा है। भाई! मैंने महाराज के निकट सब सुना है, फिर यह मैंने बनाया है। आत्म भगवान पूर्णानन्दस्वरूप की स्थिरता अन्तर रमणता, वह पर्याय है। वह निश्चय उपासना है। वह अभिन्न साध्य की उपासना है।

सम्यग्दृष्टि जीव को साधकदशा में अस्थिरता के कारण, भगवान की पूजा-भक्ति आदिरूप पुण्यबन्ध की संप्राप्ति का हेतुभूत शुभराग भूमिकानुसार आता है परन्तु वह उसको आत्महित के लिए भला नहीं मानता। आहाहा! यह भला कहाँ है? वह तो अमृत का समुद्र प्रभु, उससे विरुद्ध होकर विकल्प उठा, वह तो जहर का घड़ा है। आहाहा! समझ में आया? स्वसम्बन्धी या परसम्बन्धी चाहे जो विकल्प उठे, दुःखरूप है।

परन्तु वह उसको आत्महित के लिए भला नहीं मानता। वह राग को रोग के समान जानता है;... आहाहा! **इसलिए उसको उसमें हेयबुद्धि वर्तती है...** राग होता है तो भी वह हेयबुद्धि से जानता है। **उसको राग का राग नहीं है,...** आहाहा! राग का राग

नहीं। राग आया, उसकी योग्यता के कारण से। उस समय की पर्याय की उत्पत्ति का काल है, वह राग आता है। परन्तु उसे वह हेयबुद्धि से जानता है। समझ में आया? इसका अर्थ? कि वह स्वयं स्वसन्मुख ढला है ज्ञान, इसलिए राग को भिन्न जानता है। पर्याय में वह राग को मिलाता नहीं, इसलिए उसे हेयरूप से जानता है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? यह हेय है, ऐसा नहीं। परन्तु आत्मा में उस राग को मिलाता नहीं और दशा ऐसी है, इसलिए उसे हेयरूप से जानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अब यहाँ तो अभी देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, यात्रा, वह अभी धर्म हो गया। अरेरे! क्या हुआ प्रभु के मार्ग का? कहाँ रह गया मार्ग? भाई! प्रभु का अर्थात् तेरा। प्रभु ने तो कहा, परन्तु मार्ग तो इसका है न?

भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति है। वीतरागमूर्ति आत्मा है। वीतराग चैतन्य प्रतिमा आत्मा है। आहाहा! उसके आश्रय से जो दशा होती है, वह वीतराग होती है, उसका नाम जैनधर्म। उसका आश्रय छूटकर जितना विकल्प उठे... कर्ताकर्म (अधिकार) में कहा है न कि मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, नित्य हूँ, ऐसा भी एक विकल्प उठता है (समयसार) कर्ताकर्म (अधिकार) में, १४३ गाथा। आहाहा! वह भी कर्ता होकर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह विकल्प (कि) मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, जाननेयोग्य हूँ, जाननेवाला हूँ, ऐसा जो विकल्प उठता है, उसका कर्ता होकर वह मेरा कर्म है, ऐसा माने, उसने चैतन्य से विरुद्ध माना है। आहाहा! समझ में आया?

उसको राग का राग नहीं है, उसका स्वामित्व नहीं है;.... कर्ताबुद्धि नहीं न? कर्तव्यबुद्धि नहीं। परिणमन है, इसलिए कर्ता है। आहाहा! समझ में आया? यह तो सर्वत्र यह आवे तब विवाद उठते हैं। यह प्रश्न है न, भाई! सेठिया की लड़की को और लड़के को। यह आत्मा ज्ञानी है, यह राग से-दोष से हटता है, वह आगमप्रमाण है, ऐसा कहा है। और दूसरा आगमप्रमाण ऐसा है कि आत्मा कर्ता और भोक्ता और दुःखी है, ऐसा कोई प्रमाण है आत्मा का ज्ञानी के लिये? ऐसा पूछा था। आहाहा! भाई! यह अनन्त प्रमाण है। जितने अनन्त ज्ञानी हो गये, उन्होंने जब तक राग था, वहाँ तक कर्ता भी था, भोक्ता भी था और दुःखी था। समझ में आया?

छठवें गुणस्थान में मुनि (ने) कहा न? '**कल्माषितायां**' हमारी कलुषितदशा अनादि की है, मुनि है। तीन कषाय का जहाँ अभाव है। परन्तु वह कषाय है न? वह कलुषितता दुःखरूप हमको अनादि की है, हम यह आत्मा के लक्ष्य से जो टीका होती है, उस टीका के काल में हमारा लक्ष्य वहाँ जोरदार जायेगा, इसलिए अशुद्धता टल जायेगी। उसे अशुद्धता वास्तव में तो इस भव में टली नहीं, परन्तु जितना इस ओर ढले, उतनी अशुद्धता टल जायेगी; बाकी रहेगी, वह भविष्य में टलेगी। आहाहा! समझ में आया?

'**स्वामित्व नहीं।** अर्थात्? स्वस्वामी सम्बन्ध नाम का आत्मा में गुण है न? स्वस्वामी सम्बन्ध नाम का आत्मा में गुण है। तो उस गुण का कार्य क्या? कि शुद्ध द्रव्य सत्, गुण सत् और शुद्ध निर्मल पर्याय सत्। इस स्व का वह स्वामी, स्व अखण्ड अपने में, उसका वह स्वामी। राग का स्वामी नहीं। आहाहा! क्योंकि उसमें ऐसा कोई गुण नहीं। समझ में आया? ऐसी बातें। आहाहा! यह कहते हैं हमारे क्या करना? ऐसा कितने ही कहते हैं। यह तो जानना... जानना... जानना... जानना... यह करना। आहाहा! ऐई सुजानमलजी! जानना, यह करना नहीं? यह परिणमन पर्याय का धर्म है। जानने का कर्म करता है। आहाहा! समझ में आया? परिणाम में कर्ता, कर्म ऐसा धर्म परिणाम में पड़ा है। द्रव्य-गुण तो एक ओर रखो। परिणाम में कर्ता, कर्म छह प्रकार का धर्म पड़ा है। वह परिणाम करेगा। निर्मल परिणाम को परिणाम करेगा। आहाहा!

और उस काल में राग हो, उसे उसी प्रकार का राग उतने ही प्रकार का ज्ञान उस समय में उत्पन्न होगा। आहाहा! ऐसा ही उसका परिणाम का कर्ताकर्म से परिणमेगा। आहाहा! और और उसे द्रव्य की आवश्यकता नहीं, द्रव्य तो परिणमता नहीं। द्रव्य में कर्तागुण है, परन्तु वह तो ध्रुव सत् एकरूप है। आहाहा! समझ में आया? परिणाम का वह धर्म है, कर्ता-कर्म परिणाम यह धर्म है उसका। आहाहा! वह निर्मल परिणाम करके और उसे स्व जानकर उसका स्वामी होगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें बहुत, बापू! थोड़े अन्तर से कहाँ अन्तर है, यह पकड़ना जगत को बहुत कठिन है। अभ्यास नहीं और अन्तर में कैसे उतरना? अन्तर में कैसे उतरना? उसके अभ्यास बिना यह बात बहुत कठिन पड़ती है। समझ में आया? ऐसी बात अभी अन्यत्र सर्वत्र लोप हो

गयी है। आहाहा! इसलिए सुनने को मिलती नहीं, इसलिए इसे न्याय को पकड़ने की शक्ति भी नहीं होती। आहाहा! सुनने को मिलती नहीं, इसलिए फिर यह... वस्तु की स्थिति तो यह है। आहाहा!

कहते हैं, **उसका वह शुभराग प्रातःकालीन लाल संध्या जैसा है।** यह तो और जरा डाला है। दीपचन्दजी के अनुभवप्रकाश में से डाला है। यह राग होगा, इसलिए पीछे वीतरागता आयेगी। सवेरे की सन्ध्या (लालिमा) जायेगी तो सूर्य ही उगेगा। सन्ध्या है, इसलिए सूर्य उगेगा, ऐसा नहीं। सन्ध्या के भाव का अभाव—सन्ध्या जायेगी तो सूर्य उगेगा। इसलिए यह... जायेगा तो प्रकाश होगा। समझ में आया? यह अनुभवप्रकाश में आता है। ऐसा कि सवेरे की सन्ध्या के ह्रास के पीछे प्रकाश, शाम की सन्ध्या का ह्रास अर्थात् बाद में अन्धकार। फिर इसका ह्रास। यह राग आवे, हो, ज्ञानी को होता है। परन्तु यह अभाव करके प्रकाश करेगा। जब तक है, तब तक तो यह दोषरूप ही है। सन्ध्या है, तब तक तो उस प्रकाश के अभावरूपी सन्ध्या है। उस सन्ध्या और प्रकाश का काल एक नहीं है। उसका अभाव होने पर प्रकाश होता है, इसी प्रकार राग का अभाव, ह्रास के समय भी राग है, परन्तु उसे अन्दर हेयबुद्धि से ज्ञात हुआ, वह अब लम्बे काल नहीं टिक सकेगा। आहाहा! अथवा वह राग लंगड़ा हो गया।

जैसे बिल्ली कमर टूट जाने के बाद घिसटती हुई चलती है। इसी प्रकार यह कमर तोड़ डाली। भगवान आत्मा के नाथ को अन्दर ढंढोलकर देखा, जमा, राग छूट गया। राग लंगड़ा हो गया। समझ में आया? आहाहा! ऐसा उपदेश! लोग कहे, यह किस प्रकार का उपदेश? बापू! यह तो चैतन्य की बातें हैं, भगवान! आहाहा! धीरुभाई! ऐसा तो सुना भी नहीं होगा कहीं किसी दिन। क्या यह है कि यह क्या कहते हैं यह?

वाणी कहे और ऐसा यह कहे कि तुझे जो हमारी ओर के लक्ष्य से राग हुआ, वह राग, वह तेरे आत्मा में लक्ष्य की भूमिका में खड़ा था और वहाँ हुआ है। परन्तु उस लक्ष्य को बढ़ाकर राग को तोड़ डाले। समझ में आया? लक्ष्य का उग्र आश्रय करके, वह राग नहीं रहे अब। परन्तु है, तब तक तो है। इसलिए है, उसमें से घटाता है, इसलिए नहीं। ऐसा है? ज्ञानी राग को घटावे यह ... प्रश्न कहा, उसका है। दीपचन्द सेठिया का

बहुत वर्ष से यह प्रश्न है। ऐसी की ज्ञानी राग को घटाता है, उसे राग कहाँ से ? उसे राग को घटाता है, उसे दुःख कहाँ से ? परन्तु घटाता है, इसका अर्थ क्या हुआ ? है ?

यह तो जितना स्व का आश्रय बढ़ावे, उतना घटे, परन्तु वह पूरा आश्रय करे तो पूरा घट जाये। अब पूरा आश्रय लेने का भाव आवे साधक जीव को, किसी को करोड़पूर्व का... हो, किसी को... एक, दो, तीन भव हो। आहाहा! क्षायिक समकिती को भी तीन भव होते हैं। कम से कम, हों! किसी को चार होते हैं। वहाँ आयुष्य बँध गया हो मनुष्य का, फिर हुआ हो क्षायिक समकिती। तो वह जुगलिया में जाता है। समझ में आया ? क्षायिक समकित, वह समकित सिद्ध में रहता है। ऐसे श्रेणिक को। क्षायिक समकित अकेली दृढ़ परिणति में प्रतीति ऐसी हुई कि अंशमात्र मैल दर्शनमोह का रहा नहीं। ऐसी दशा... आहाहा! क्षायिक को उसे आश्रय तो आत्मा का है। राग में आश्रय जरा पर का है। परन्तु वह स्व के आश्रय से टालेगा। समझ में आया ? परन्तु है तब तक तो विकल्प है।

श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती। विकल्प उठा, सिर पछाड़ा। तो वह विकल्प सुखरूप होगा ? है ? भले वह राग ने राग का काम किया, जीव की श्रद्धा-ज्ञान में श्रद्धा का काम चलता है वहाँ। श्रद्धा-ज्ञान वे कहीं यों ही पड़े हैं ? उनका काम करते हैं। देखना, जानना। पर का लक्ष्य तो निमित्त है। आहाहा! ऐसे क्षायिक समकिती को भी, अरे! यहाँ नरक में है, देखो न! तो वहाँ उसे कोई दुःख है ही नहीं ? आहाहा! दुःख न हो तो सुख चाहिए और चौरासी हजार वर्ष रहनेवाले हैं। आहाहा! और चौरासी हजार वर्ष के बाद तीर्थंकर होकर यहाँ अवतरित होंगे। आहाहा! माता के गर्भ में छह महीने पहले तो इन्द्राणी आकर साफ करेगी। वह भी अभी अन्दर आनन्द और दुःख दोनों में पड़े हैं। ...चौरासी हजार वर्ष रहेगा समकित और यहाँ क्षायिक समकित... हटा नहीं सके। और वहाँ से अभी केवल(ज्ञान) नहीं पावे, तब तक हटा नहीं सकेंगे। भविष्य में। आहाहा! उन ज्ञानी को भी राग का दुःख और आनन्द का सुख दोनों एक समय में है। परन्तु स्वामी है आनन्द का। दुःख का स्वामी नहीं। तथापि उसकी दशा में परिणमन है। पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? परद्रव्य तो अन्दर भिन्न पड़े हैं। आहाहा!

कहते हैं, **शुभराग प्रातःकालीन लाल संध्या जैसा है। जैसे - प्रातःकाल की लाल संध्या का अभाव होने पर, तुरन्त ही सूर्य के तेजस्वी प्रकाश का आविर्भाव होता है;....** आहाहा! प्रकाश होता है। **इसी तरह सम्यग्दृष्टि के हेयबुद्धि से वर्तते हुए शुभराग का अभाव होने पर, उसका अतिक्रम होने पर, आत्मा के निर्मल प्रचण्ड प्रकाश का आविर्भाव होता है।** आहाहा! राग का अभाव होने पर केवलज्ञान का प्रकाश होता है। आज यह प्रश्न आया था। एक कोई कहता था। यह भुवनविजय है न भुवनविजय? वह अपने... थे वे या नहीं? उनका शिष्य अपने पास आया था एक। ... छोड़कर आया था भुवनविजय। यहाँ रहे। हरिभाई यह पालनपुर। हरिभाई के साथ बात की। कि एक समय का उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन? लो, यह आचार्य। आचार्य कहते हैं न, भाई, नहीं? कहो।

यह वहाँ भुवनविजय थे। कुण्डला में थे। वहाँ थे। वही न? सावरकुण्डला। उनका एक साधु रहता था न! ... महाराज! हम साधु-बाधु नहीं। कुछ खबर नहीं। और हमारी वृत्ति जाती है अन्यत्र। क्या करना हमारे? ऐसा कहता था। वहाँ कुण्डला थे न वहाँ आता था हमारे पास। फिर उसने तो यहाँ छोड़ दिया। साधुपना छोड़कर यहाँ आया। वापस दीक्षा ली और आया था। नहीं? यहाँ आया था। आहाहा! अब वह ऐसा कहता है कि एक समय का उत्पाद, व्यय और ध्रुव होता है? कहो अब। एक ही कहे न यह... एक समय का उत्पाद, व्यय, ध्रुव। लो! अब इतनी भी खबर नहीं।

यहाँ तो समन्तभद्र आचार्य कहते हैं, प्रभु! तेरा सर्वज्ञ का लक्षण हमको इस प्रकार से ज्ञात हुआ कि समय एक और वस्तु तीन। समय के भाग पड़ते नहीं और तीन भागवाली चीज़ उत्पाद-व्यय और ध्रुव। उस समय उत्पाद, उस समय व्यय और उस समय में ध्रुव। प्रभु! आपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव जाने, वह आप सर्वज्ञ का लक्षण है। आहाहा! अनन्त द्रव्यों के, अनन्त गुण के जो उत्पाद, व्यय और उनकी ध्रुवता, एक समय में जानी, समय के भाग नहीं पड़ते, यहाँ तीन भाग, ऐसे अनन्त उत्पाद-व्यय और ध्रुव। आहाहा! यह प्रभु! आप सर्वज्ञ का लक्षण है। चौबीस स्तुति में आता है। स्वयंभूस्तोत्र आता है न? कहो, अब यह कहे कि एक समय में यह? आहाहा! कुछ खबर ही नहीं होती। पहले ऐसा कहा, थोड़ा फिर दूसरा निकाला। कि कहाँ... कौन कहता था?

मुमुक्षु : हिम्मतभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हिम्मतभाई। ...मिश्री और घी होगा और हमारे यहाँ आटा होगा। ऐसा ... कहाँ कहा था? मोरबी में। ऐसा कि भाई सोनगढ़ में भले मिश्री और घी हो, हमारे यहाँ आटा होता है। अरेरे! अरे भाई! आटा भी कहाँ है और मिश्री भी कहाँ है?

वह चन्द्रकान्त ऐसा कहता था, चन्द्रशेखर नहीं? चन्द्रशेखर। महाराज! तुम सिंह तो मैं सिंह का बच्चा हूँ। अरे... भाई! कौन कहता है, बापू? तुम्हारे क्या खतौनी करना है इसमें? हमारे साथ चर्चा न करो तो तुम्हारी महत्ता बढ़ेगी कहाँ से? तुम्हारी इतनी महत्ता... है। भाई! यह दुनिया दुनिया का जाने, बापू! हमारे चर्चा करनी नहीं। और चर्चा में उसने प्रयोग रखा। ... अन्दर देखो। यह चश्मा बिना ज्ञात होता है? लो, चर्चा हो गयी बड़ी। आहाहा! अरे... जानने की पर्याय स्वतन्त्र अपने से होती है, उसे तेरा चश्मा हो तो होती है, ... हो तो होती है। आहाहा! कहाँ आत्मा में है? खबर नहीं। आहाहा!

उस-उस पर्याय का वह-वह जन्मक्षण है। १०१ गाथा में ऐसा कहा कि उत्पाद के काल में उत्पाद होकर उस काल में व्यय, तथापि काल तो एक है। तथापि व्यय के कारण से उत्पाद, (ऐसा) उत्पाद को व्यय की अपेक्षा है, ऐसा नहीं। और उत्पाद को ध्रुव की अपेक्षा है, ऐसा नहीं। ऐसा भगवान के प्रवचन का सार है। फिर १०२ कही, कि जो क्षण जन्मक्षण है, उसके उत्पाद की। छहों द्रव्यों में, हों! आहाहा! अनन्त द्रव्य का उस-उस समय का जन्मकाल, क्षण अर्थात् काल, उत्पत्ति का वह काल है। उस काल में है। आहाहा! उसमें तो क्रमबद्ध है, यह सब आ गया। बहुत आ गया। आहाहा! वस्तु ऐसी है। परन्तु यह किसे बैठे? कि जिसे ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, उसे यह क्रमबद्ध बैठती है। उसकी नित्यता से हुई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और यह... ऐसा कहते हैं। आहाहा! और काललब्धि तो उस समय की उस पर्याय की थी तो उसे बैठे। अपने स्वभाव की ओर पुरुषार्थ करे, पुरुषार्थ, तब उस काल में भवितव्यता का, योग्यता का, क्रमबद्ध का ज्ञान तब उसे सच्चा (होता है)। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, राग का नाश होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है। आहाहा! **रागरूप सविकल्पदशा का — (व्यवहार का) अभाव होने पर, वीतरागरूप निर्विकल्पदशा प्रगट होती है।** उस राग के कारण नहीं। ऐसा कि सन्ध्या का राग है तो सूर्य प्रगट हुआ वह सवेरे। इसलिए यह शुभराग है, वह सूर्य प्रगट होने का कारण है, ऐसा नहीं। ऐसा कहते हैं न बहुत वहाँ। अभी कोई वहाँ कहता था। वह तो श्रेणी ऐसी है। क्या? पहले अशुभ टले, फिर शुभ श्रेणी में जाये, फिर शुद्ध हो। ऐसा वहाँ कहता था। ... ऐसे लोग बहुत आया करे न! आहाहा!

राग में आया, वह श्रेणी को बढ़ा है, ऐसा नहीं। वह तो कर्मधारा भिन्न है, ज्ञानधारा भिन्न है। आहाहा! **उस दशा में जीव को वचनातीत अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।** राग का दृष्टि में से अभाव होने पर दृष्टि द्रव्य के स्वभाव को अवलम्बकर, आश्रय करके, झुककर जो दृष्टि हुई, उस दृष्टि में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, कहते हैं। आहाहा! वह राग था, वह आकुलता थी। यह सब धरपकड़ होता है न उसमें विचार आया था। यह सब धरपकड़ नहीं करते अभी सब? मैंने कहा, यह राग की एकता में पकड़ाया है, वह धरपकड़ यहाँ करते हैं भगवान की। वह धरपकड़। आहाहा! पकड़ाता है अर्थात् राग की एकता में जेल में पड़ा है। आहाहा! यह है। ... यह वस्तु बाहर की... आहाहा!

भगवान इसकी नाड़ी पकड़कर कहते हैं कि तू राग की जेल में पड़ा है। आहाहा! हम तुझे पकड़ते हैं। तू राग में है, तू दुःखी है, तू संसार में है। तेरी दृष्टि मिथ्या है। आहाहा! उसमें तू पकड़ा गया है। उसे अब छोड़। भगवान मुक्तस्वरूप परमात्मा का आश्रय ले तो तू मुक्त हो जायेगा। पहले दृष्टि से मुक्त होगा, फिर अस्थिरता छूटकर स्थिरता होगी, पश्चात् पूर्ण स्थिरता होकर अकेला मोक्ष होगा। आहाहा! समझ में आया? राग का अभाव होने पर स्वभाव का उग्र आश्रय लेकर, इसका अर्थ कि राग की उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा। नाश करने का अर्थ यह है कि स्वभाव का आश्रय उग्र होने पर राग की उत्पत्ति नहीं होगी, उतने अंश में राग का नाश किया, ऐसा कहने में आता है। बात-बात में अन्तर। सत्य के लिये, ओहोहो!

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भिन्न आत्मा की उपासनारूप शुभराग का अभाव,... भिन्न आत्मा की अर्थात् सिद्ध आत्मा की। उन्होंने मिलाया-निमित्त से कहा है न इसलिए। **भिन्न आत्मा की उपासनारूप शुभराग का अभाव, वह मोक्ष का-परमात्मपद का साक्षात् कारण है।** ऐसा कि पर की उपासना, वह मोक्ष का कारण नहीं, ऐसा। पाठ तो यह है। निमित्त से कथन है। समझ में आया? आहाहा! पर की उपासना में तो पर की ओर का लक्ष्य है। परन्तु वह लक्ष्य छूटकर स्व की उपासना होती है। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है। समझ में आया? यह ९७ में भिन्न की उपासना की व्याख्या की।

अब, अभिन्न आत्मा की उपासना का फल कहते हैं — यह ९८ में आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ९८

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह -

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥ ९८॥

अथवा आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य आत्मा परमः परमात्मा जायते। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राहमथित्वेत्यादि। यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मा तरुरूपः स्वभावः स्वतएवाग्निर्जायते॥९८॥

अब, अभिन्न आत्मा की उपासना का फल कहते हैं —

निज आतम के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप।
बाँस रगड़ से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग॥ ९८॥

अन्वयार्थ - (अथवा) अथवा (आत्मा) यह आत्मा (आत्मानम्) अपने चित्स्वरूप को ही (उपास्य) चिदानन्दमयरूप से आराधन करके, (परमः) परमात्मा (जायते) हो जाता है, (यथा) जैसे - (तरुः) बाँस का वृक्ष (आत्मानं) अपने को (आत्मैव) अपने से ही (मथित्वा) रगड़कर, (अग्निः) अग्निरूप (जायते) हो जाता है।

टीका - अथवा आत्मा की ही अर्थात् चिदानन्दमय चित्स्वरूप की ही उपासना करके, आत्मा, परम अर्थात् परमात्मा होता है। इसी अर्थ का समर्थन दृष्टान्त द्वारा करके कहते हैं :—'रगड़कर इत्यादि'—जैसे - अपने आप ही मथकर (रगड़कर) घिसकर, वृक्ष अर्थात् वृक्षरूप स्वभाव स्वतः ही अग्निरूप होता है; इसी तरह आत्मा, आत्मा को ही मथकर—उपासित कर, परमात्मारूप होता है।

भावार्थ - जैसे - बाँस का वृक्ष, बाँस के साथ रगड़कर (मथकर) स्वयं अग्निरूप हो जाता है; इसी तरह आत्मा भी अपने चिदानन्दमय चित्स्वरूप की उपासना करके, स्वयं परमात्मारूप हो जाता है।

जैसे - बाँस के वृक्ष में, अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है और वह घर्षण से प्रगट होती है; इसी तरह आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण, शक्तिरूप से विद्यमान हैं और वे

आत्मा की आत्मा के साथ एकरूपता होने पर प्रगट होते हैं अर्थात् आत्मा अन्य बाह्याभ्यन्तर सङ्कल्प-विकल्परूप व्यापारों से अपने उपयोग को हटाकर, स्वरूप में एकाग्र कर देता है, तब उसके वे गुण (शुद्धपर्यायें) प्रगट होते हैं। आत्मा का, आत्मा के साथ संघर्ष (एकाग्रता) से, ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है; जब उसके निमित्त से कर्मरूपी ईंधन सर्वथा जल जाता है, तब वह आत्मा, परमात्मा हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण –

जब सम्यग्दृष्टि, आत्मध्यान में मग्न हो जाता है, तब ध्यान, ध्याता और ध्येय— ऐसा भेद नहीं रहता; वचन अथवा अन्य विकल्प नहीं होता। वहाँ (आत्मध्यान में) वह आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा के भाव, वे क्रिया होते हैं अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया—ये तीनों अत्यन्त अखण्ड अभिन्न हो जाते हैं, शुद्धोपयोग की निश्चलदशा प्रगट हो जाती है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी एक साथ एकरूप होकर प्रकाशित होते हैं।[१]

इस श्लोक में आचार्यदेव ने यह बताया है कि यदि जीव, अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यस्वरूप समझकर, अरहन्तादि की उपासना के राग से परान्मुख होकर, स्वसन्मुख होकर अपने शुद्धात्मा की-परमपारिणामिक कारणपरमात्मा की ही उपासना करे तो वह स्वयं परमात्मा हो सकता है। द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक जीव में परमात्मा होने की शक्ति है। यदि वह जिनोपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करे, तो उस शक्ति को सम्पूर्णरूप से व्यक्त करके, परमात्मा हो सकता है॥९८॥

आषाढ़ कृष्ण १४, बुधवार, दिनांक ०६-०८-१९७५, श्लोक-९८, प्रवचन-११२

यह समाधितन्त्र। ९७ में ऐसा कहा कि सिद्ध भगवान और अरिहन्त भगवान में लक्ष्य करके स्वयं अपने आत्मा को जगावे और ज्ञान पावे, ऐसा कहा है, यह निमित्त से

---

१. जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न, सुध उपयोग की निश्चलदशा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एके लसा॥ *(छहढाला, पण्डित दौलतरामजी, ६/९)*

कथन किया है। निमित्त ऐसा ही होता है। सर्वज्ञ... सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पूर्ण आनन्द को प्राप्त। उसे दीपक से दीपक, ऐसा कहकर कहा न? वह प्रकाशस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रकाश अपना, उसका लक्ष्य करके और स्वयं अपने लक्ष्य में आकर आत्मा का ध्यान करे तो, उसे केवलज्ञान होता है और मोक्षमार्ग होता है, ऐसा कहा।

अब यहाँ अभिन्न आत्मा की उपासना की बात है। स्वयं अपनी उपासना। वह स्वयं पर की उपासना की बात थी। आहाहा! इसका फल कहते हैं —

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥ ९८॥

निज आतम के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप।
बाँस रगड़ से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग॥ ९८॥

टीका - अथवा... अथवा अर्थात्? पहले ऐसा कहा था कि सिद्ध का ध्यान करने से आत्मा सिद्धरूप हो जाता है। यह निमित्त की अपेक्षा से (कहा था)। यहाँ आत्मा की **अथवा आत्मा की ही...** ऐसा अब दूसरा बोल कहा। **अर्थात् चिदानन्दमय चित्स्वरूप की ही उपासना करके,...** भगवान आत्मा ज्ञानानन्दमय है, वीतरागस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वीतरागस्वरूप, दर्शनस्वरूप—ऐसा उसका स्वरूप है। वास्तव में देखें तो उसका स्वरूप ज्ञान-दर्शन और चारित्र उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन जो लक्षण कहा है, वह अपेक्षा से। बाकी ज्ञान, दर्शन और चारित्र उसका लक्षण है। क्योंकि वह वस्तु स्वयं वीतरागस्वरूप है। वह चारित्रस्वरूप है।

ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है और चारित्रस्वरूप है त्रिकाल, हों! आहाहा! अर्थात् कि जिसमें से ज्ञान-दर्शन और चारित्र की पर्याय प्रगट होती है, वह गुण में त्रिकाल पड़ी ही है अभी। और सब भगवान आत्मायें ऐसे ही हैं। आहाहा! पर्याय का लक्ष्य छोड़ दे तो सब परमात्मा स्वरूप ही है। अभव्य हो या भव्य हो। आहाहा! पूर्ण वीतराग, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शनस्वरूप यह आत्मा। ऐसी दृष्टि होने पर उसे सम्हाल हो जाती है। समझ में आया? पर्याय है, उसे जाने, वह अलग बात है, परन्तु स्वयं जब पर्याय में से हटकर स्वस्वरूप के ध्यान में आया है, उसने स्वयं ऐसा है, ऐसा (जाना है)

उसमें पर भी सब ऐसे हैं, ऐसा उसमें गर्भित आ जाता है। आहाहा! समझ में आया?

वस्तु जो है, वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीतराग अर्थात् चारित्र, उस स्वरूप ही है। ऐसे तो अनन्त चतुष्टय कहे हैं न चार? वह शक्ति ही इसकी है और स्वभाव ही ऐसा इसका है। वास्तव में सत् है, उसका सत्त्वपना अकेला ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य और चारित्रस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा पूर्णानन्द प्रभु, सब आत्मायें ऐसे हैं। अभव्य भी ऐसे हैं। आहाहा! यह तो पर्याय में मुक्ति न हो, परन्तु स्वयं तो मुक्त स्वरूप ही है। आहाहा! यह अपनी बात जिसे बैठी तो सब आत्मा ऐसे ही हैं, ऐसा उसे बैठ जाता है। समझ में आया?

तो यहाँ कहते हैं कि अब मैं '**चिदानन्दमय चित्स्वरूप।**' देखा! ज्ञानानन्दमय ज्ञानस्वरूप। ऐसी भाषा। टीका है यह। '**आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य**' ऐसी टीका है यह। आहाहा! सिद्ध का भी लक्ष्य नहीं, अरिहन्त का भी लक्ष्य नहीं, उनका विकल्प है, वह भी नहीं। आहाहा! तथा पर्याय की अपूर्णता का विकास है, वह भी लक्ष्य में नहीं। वह तो सहजानन्द चिदानन्दमय चित्स्वरूप आत्मा। ज्ञानानन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा। आहाहा!

उसकी **ही उपासना करके,...** उसकी सेवा करके। आहाहा! छठवीं गाथा में कहा न? कि पर का लक्ष्य छोड़कर अर्थात् उदय, कर्म और कर्म का भाव। वहाँ परद्रव्य और परद्रव्य का भाव लेना है। वहाँ रागादि की बात नहीं लेना। परद्रव्य और परद्रव्य के भाव का लक्ष्य छोड़कर चिद्मय भगवान की जो सेवा करता है, उसे आत्मा शुद्ध पूर्णानन्द है, ऐसा प्रतीति में, अनुभव में आता है। समझ में आया? वहाँ आगे द्रव्यकर्म और भावकर्म से भिन्न, ऐसा नहीं लेना। जड़ का द्रव्यकर्म और जड़ का भावकर्म। आहाहा! अर्थात् उसका लक्ष्य जो ऐसे है, उसे ऐसा कराना है। अर्थात् उस द्रव्यस्वभाव की सेवा करने से राग भी वहाँ भिन्न पड़ जाता है, परन्तु राग से और कर्म तथा कर्म के भाव से भिन्न, ऐसा वहाँ नहीं कहना। आहाहा! क्योंकि इसका लक्ष्य जो ऐसे है, वह लक्ष्य जहाँ द्रव्य की सेवा में—उपासना में जाये। यह उपासना, वह पर्याय है।

तब द्रव्य की सेवा अर्थात् उसमें फिर राग की सेवा नहीं आयी। आहाहा! सेवा

अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! ज्ञानानन्द चिद्मय स्वरूप प्रभु। वस्तु, वह चिद्रूप है। चिदानन्दमय चिद्रूप आत्मा। ज्ञानानन्दमय चिद्रूप आत्मा। उसकी सेवा करने से। उपासना है न? यह वह देवी और देव की उपासना नहीं करते? मुफ्त की भ्रमणा अज्ञानियों की, कहते हैं। आहाहा! तेरा देव अन्दर विराजता है, बड़ा। आहाहा! परमात्मस्वरूप विराजमान है। साक्षात् मुक्तस्वरूप ही प्रभु है। समझ में आया?

ऐसा जो **आत्मा की ही...** भाई! एकान्त नहीं हो जाता? 'ही' आवे वहाँ? यह सम्यक् एकान्त ही होता है। पर की नहीं, राग की नहीं, पर्याय की भी सेवा नहीं, ऐसा है यहाँ। आत्मा की, शब्द पड़ा है न? आहाहा! आत्मा की ही अर्थात् कि आत्मा कैसा? कि चिदानन्दमय। चिदानन्दमय, हों! चिदानन्दवाला, ऐसा नहीं। आहाहा! ज्ञानानन्द से अभेद वस्तु प्रभु है। ऐसा जो चिद्रूप आत्मा, उसकी ही उपासना। आहाहा! दो जगह अन्दर ऐसा आया है अन्दर भी? '**आत्मानमेव**' और '**चित्स्वरूपमेव**' अर्थात् 'ही' दो जगह डाला है। आहाहा!

आत्मा की ही अर्थात् चिदानन्दमय चित्स्वरूप की ही... ऐसा। आहाहा! **आत्मा की ही अर्थात् चिदानन्दमय चित्स्वरूप की ही...** ऐसा। यह तो उसका आत्मा, उसमें स्वरूप आया भाव। इसलिए 'ही' वहाँ डाला और वापस यहाँ 'ही' आया। उसकी उपासना निश्चय से, स्वसन्मुख की सन्मुखता होकर जो उपासना अर्थात् सेवा हो, वह द्रव्यस्वभाव में एकाग्रता है। वह उपासना, वह सेवा। अनादि से पर्याय में एकत्वबुद्धि थी। पर्याय एक समय की व्यक्त है न, प्रगट? इसलिए वहाँ ही उसकी लीनता थी। वह लीनता छोड़कर चिदानन्दमय भगवान आत्मा। आहाहा!

पर्याय की भी एकत्वबुद्धि छोड़कर परिणाम पर्याय के हैं, उसकी एकत्वबुद्धि छोड़कर। आहाहा! उसे आत्मा चिदानन्दमय चित्स्वरूप निज-उपासना-सेवा करने से। **करके, आत्मा, परम अर्थात् परमात्मा होता है।** लो! आहाहा! भगवान की पूजा से और भगवान की सेवा करने से और भगवान की यात्रा करने से (नहीं)। आहाहा! यह तो भगवान ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द भावस्वभाव, उसकी ही उपासना करने से, उसकी ही सेवा करने से, उसके ही सन्मुख होने से, उसमें एकाग्र होने से आत्मा परमात्मा होता है।

लो, बहुत संक्षिप्त व्याख्या। आहाहा! बाहर के सहारे की उसे आवश्यकता नहीं। देव-गुरु-शास्त्र की भी उसे आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं। उसकी पर्याय के आश्रय की भी आवश्यकता नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? सेवा करती है पर्याय, परन्तु पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा जो आत्मा, उसकी ही सेवा अर्थात् कि चित्स्वरूप चिदानन्दमय चित्स्वरूप आत्मा की ही सेवा करने से परमात्मा होता है। लो, यह संक्षिप्त उपाय कहा इसे। आहाहा! पूर्णानन्द का निधान एक समय की पर्याय के पीछे पूरा आत्मा, उसे आत्मा कहते हैं, एक समय की पर्याय, वह व्यवहार आत्मा है। त्रिकाली की अपेक्षा से तो वह अभूतार्थ आत्मा है, असत्यार्थ आत्मा है। आहाहा! यह त्रिकाल की अपेक्षा से। क्योंकि जहाँ मुख्य प्रयोजन सिद्ध करना है, वहाँ तो उसे निश्चय की मुख्यता आये बिना प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए कहते हैं, **उपासना करके, आत्मा, परम अर्थात् परमात्मा होता है। इसी अर्थ का समर्थन दृष्टान्त द्वारा करके कहते हैं :—'रगड़कर इत्यादि'—जैसे - अपने आप ही मथकर (रगड़कर)...** स्वयं अपने को ही मथकर। वृक्ष-वृक्ष। **(रगड़कर)...** वृक्ष-वृक्ष घिसता है ऐसे अन्दर। वृक्ष-वृक्ष **मथकर (रगड़कर) घिसकर,...** आहाहा! भाषा कितनी की, देखा! मथकर अर्थात् रगड़कर अर्थात् घिसकर **वृक्ष अर्थात् वृक्षरूप स्वभाव स्वतः ही अग्निरूप होता है;...** आहाहा! वृक्षरूप स्वभाव स्वतः अग्निरूप हो जाता है। वृक्ष वृक्ष के साथ घिसने से, मथने से, रगड़ने से। आहाहा! वह वृक्ष स्वयं अग्निरूप हो जाता है। पावक शब्द है न? पावकरूप हो जाता है।

इसी तरह आत्मा, आत्मा को ही मथकर... आहाहा! भगवान पूर्णानन्दस्वरूप ऐसा जो आत्मा, उस आत्मा को अर्थात् अपनी निर्मल पर्याय के साथ एकाग्र अर्थात् घिसने से। आहाहा! ऐसा मार्ग बहुत...! **आत्मा, आत्मा को ही मथकर...** अर्थात् कि घिसकर अर्थात् कि रगड़कर अर्थात् कि **उपासना कर...** आहाहा! **परमात्मारूप होता है।** यह टीका का अर्थ किया। बीच में कुछ रखा है एकड़ा।

मुमुक्षु : एकड़ा विशेष में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विशेष में अर्थात् क्या? नहीं, नहीं। अन्दर-अन्दर भाई! अन्दर डाला है! तरु आत्मा। कोष्ठक में। यह किसलिए डाला? बैठता नहीं। बैठता नहीं, ऐसा है। एकड़ा नहीं। यह एकड़ा नहीं। चिह्न है। अन्दर में है न संस्कृत में। तरु आत्मा, तरुरूप स्वभाव। तरु आत्मा अर्थात् तरुरूप स्वभाव, ऐसा। वह तरु आत्मा अर्थात् तरु का स्वरूप। आत्मा शब्द पड़ा है न? तरु आत्मा अर्थात् तरुस्वरूप अर्थात् तरुरूप। ऐसा। स्वभाव उसका। ऐसा शब्दार्थ में मेल नहीं खाता हो थोड़ा।

यह तो भी आया न? '**यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मां (?)**' ऐसा। ठीक! उसके साथ जरा अटकता है। यह आत्मा अर्थात् तरु स्वरूप। वृक्ष जो तरुस्वरूप अर्थात् कि तरुरूप अर्थात् कि तरुस्वभाव '**स्वत एवाग्निर्जायते।**' आहाहा! वृक्ष का स्वभाव अग्निरूप हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा का स्वभाव, उसमें एकाग्र होने से स्वयं परमात्मा हो जाता है। आहाहा! उसे कोई दूसरे सहारे की, व्यवहार की, निमित्त की, परकारक की कोई अपेक्षा नहीं है—ऐसा उसका स्वरूप है।

भावार्थ - जैसे - बाँस का वृक्ष,... बाँस होता है न, बाँस? वह बाँस बाँस से घिसे। बहुत हवा आवे और ऐसे साथ-साथ में बाँस हो बड़े एकदम। फिर घिसे अन्दर। उसमें से अग्नि होती है। बाँस। **बाँस का वृक्ष...** स्वयं दृष्टान्त दिया। **बाँस के साथ रगड़कर (मथकर) स्वयं अग्निरूप हो जाता है;...** बाँस बाँस में घिसकर बाँस अग्निरूप हो जाता है। आहाहा! जो बाँस का स्वभाव, वह अग्निरूप स्वभाव हो जाता है। **इसी तरह आत्मा भी अपने चिदानन्दमय चित्स्वरूप की उपासना करके,...** आहाहा! यहाँ तो मानो सम्मेदशिखर में से भगवान मिलेंगे, शत्रुंजय जाये, वहाँ यात्रा की, वहाँ से भगवान मिलेंगे।

मुमुक्षु : सोनगढ़ जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ में भी आत्मा कहाँ है? आत्मा तो अन्दर में है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ से मिलेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ में कहाँ है आत्मा? आत्मा तो उसमें है। ऐई! यह

सुनते हैं, उसके विकल्प में भी आत्मा कहाँ है? आहाहा! वह तो चिद्मय, चिदानन्दमय चिद्स्वरूप पूर्ण चिद्स्वरूपी आत्मा, उसमें आत्मा आत्मा में घिसकर, रगड़कर... आहाहा! अन्तर में एकाग्र होकर, आत्मा का जो स्वभाव शक्तिरूप से है, वह परमात्मारूप हो जाता है। समझ में आया?

उन श्वेताम्बर में ऐसा आता है न भाई! यह नहीं चेतनजी! क्या कहा सवेरे? आगम की मूर्ति। क्या कहा, कहाँ गये चेतनजी? बाहर गये। आगम और मूर्ति ऐसा कि दो आधार हैं। वहाँ ऐसा बोला जाता है उन लोगों में बहुत (बोला जाता है)। अपने भाई थे न, क्या नाम उनका? महानन्दी। वे ऐसा बहुत कहते थे। भाषा है उसकी कुछ। आगम और मूर्ति दो, ऐसा कि अभी....

मुमुक्षु : दोनों खोटे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों खोटे। यही पूरी बात श्वेताम्बर में है। आहाहा!

आगम पर, मूर्ति पर। उसके अवलम्बन से-लक्ष्य से तो राग होता है। आहाहा! जो वीतरागस्वरूप प्रभु है, जिनस्वरूप ही प्रभु चैतन्य प्रतिमा है। आहाहा! उसे स्वभाव की एकाग्रता की घिसावट द्वारा ही स्वयं परमात्मस्वरूप ही है, मुक्तस्वरूप है, वह पर्याय में परमात्मा होता है। समझ में आया? यह लाख यात्रा करे और लाख भगवान की उपासना और सेवा-पूजा करे और बड़ा स्तवन करे। वह तो विकल्प है।

यहाँ सवेरे वह अपूर्व अवसर नहीं गाया जाता था? उसने उतारा था। परन्तु वह अपूर्व अवसर सुनने में तो विकल्प है। मीठी आवाज लगे, इसलिए मानो कि आहाहा! एकाग्र हो जाये। समझ में आया? आत्मसिद्धि और अपूर्व अवसर उतारा है न उसमें? रिकॉर्डिंग में। वह बहुत मीठा लगे लोगों को सुनने पर। परन्तु उसका अर्थ क्या? वह तो एक शुभराग है। उससे आत्मा को कल्याण हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो उसे सुनने पर जो ज्ञान होता है, वह भी स्वयं के कारण से परलक्ष्य से होता है, उससे भी कल्याण नहीं है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा की आत्मा उपासना करे, ऐसा कहा। तो आत्मा तो पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप है, यह आत्मा। उसकी उपासना करे आत्मा, आत्मा अर्थात् उसकी पर्याय जो निर्मल स्वभाव। आहाहा! उससे वह परमात्मा

होता है। **स्वयं परमात्मारूप हो जाता है।** ओहोहो! वृक्ष का स्वभाव, वह घिसने से अग्नि के स्वभावरूप हो जाता है, परन्तु वह तो स्वभाव में अन्तर और अग्निरूप अन्तर—यह अन्तर है। अग्निरूप होता है वृक्ष का स्वभाव।

यह तो चैतन्यस्वभाव आनन्द और ज्ञानस्वरूप ही है, मुक्तस्वरूप है, परमात्मस्वरूप है, शक्ति से, स्वभाव से, सत्व से। सत्त्व उसका उसमें एकाग्र होने पर वह जैसा परमात्मस्वरूप है, वैसा पर्याय में परमात्मारूप हो जाता है, ऐसा कहते हैं। वृक्ष का स्वभाव अग्निरूप हो जाये तो फेरफार हो गया। दृष्टान्त ही ऐसा, दूसरा क्या करे? वृक्ष स्वयं अग्निस्वभाव से हो जाता है, वह तो वृक्ष का स्वभाव अलग, और यह (अग्निरूप पर्याय) अलग। यहाँ तो जो उसका स्वभाव है, परमस्वरूप, परमात्मस्वरूप, उसमें पर्याय की एकाग्रता होने पर जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा पर्याय में परमात्मरूप हो जाता है। समझ में आया?

वृक्ष का दृष्टान्त दिया कि वृक्ष का स्वभाव वृक्ष के साथ घिसने से वृक्ष अग्निरूप हो जाता है। वह तो स्वभाव में अन्तर है और स्वभाव में अन्तर हो गया। दृष्टान्त तो यह है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप ही है स्वभाव। उसकी एकाग्रता होने पर पर्याय में परमात्मा हो जाता है, परन्तु वह तो जाति थी, वैसी हुई। वृक्ष का स्वभाव और अग्नि है, वह तो (एक) जाति नहीं थी। आहाहा! समझ में आया? दृष्टान्त तो दूसरा क्या दे? वृक्ष वृक्ष के साथ घिसने से अग्निरूप वृक्ष परिणमित हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा आत्मा के स्वभाव में घिसने से, एकाग्र होने से वह स्वभाव है तो वैसा ही परमात्मा होने का ही उसका स्वभाव है। आहाहा! वृक्ष का स्वभाव और अग्निरूप होना, वह तो पूरा दूसरा प्रकार है। समझ में आया? दृष्टान्त तो क्या करे?

इसी प्रकार आत्मा चिदस्वरूप ऐसा भगवानस्वरूप प्रभु, उसकी एकाग्रता अर्थात् मन्थन में, मन्थन में—उसकी रगड़ता में परमात्मा हो जाता है। उसे कोई पर की अपेक्षा निमित्त के सहारे की कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यहाँ तो यह कहा कि परमात्मा ने कहा वैसा इसने सुना। सुनने में इसे विकल्पवाला ज्ञान हुआ। ऐसा कहते हैं

ज्ञान, परन्तु वह ज्ञान भी यहाँ स्वभाव में एकाग्र होने में कारण नहीं। आहाहा! यह तो उसका जो स्वभाव है, उस स्वभाव में एकाग्रता, उस प्रकार की एकाग्रता। सुनकर जो ज्ञान हुआ वह तो स्वयं से हुआ है, वाणी पर है। परन्तु वह ज्ञान है, वह उसका स्वभाव नहीं। उस जाति का नहीं। आहाहा! समझ में आया? समाधितन्त्र। छोटुभाई ने किया है न? छोटाभाई ने। आहाहा!

उसका यहाँ स्वभाव ही ऐसा है कि स्व-भाव, चित्स्वरूप प्रभु में एकाग्रता की रगड़ता से जो शक्तिरूप स्वभाव है, वह व्यक्तरूप हो जाता है। वृक्ष की भाँति यह नहीं। समझ में आया? वहाँ तो वृक्ष का दृष्टान्त तो इतना कि वृक्ष वृक्ष में घिसने से अग्नि होती है। उसे कोई दूसरा निमित्त से अग्नि रखकर हुई है, ऐसा नहीं है, ऐसा। आहाहा! इतना उन्हें सिद्ध करना है। परन्तु यहाँ सिद्धान्त में यह बहुत लागू नहीं पड़ता, मात्र घिसावट, वृक्ष-वृक्ष में घिसता है, इतना अंश। दृष्टान्त का इतना अंश सिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आया?

यह अभी कहा नहीं था, वह क्या? आगम और मूर्ति? भविजन को आधार। श्वेताम्बर में यह बहुत आता है। आगम और मूर्ति भविजन को आधार। यहाँ कहते हैं वह बात झूठी है। अरेरे! आत्मा त्रिलोकनाथ अन्दर परमात्मा, उसके परमात्मा होने का आधार तो वह है। आहाहा! देखो न, एक शैली तो सन्तों की! कहते हैं कि जो हम तुझे कहते हैं और तुझे सुनने से, तेरी योग्यता से तुझे जो ज्ञान हुआ, वह घिसावट का ज्ञान नहीं। आहाहा! वह शक्ति में से व्यक्ति हुई है, वह नहीं वह ज्ञान। आहाहा!

मुमुक्षु : परसत्तावलम्बी ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : परसत्ता (अवलम्बी) वास्तव में तो वह बन्ध का ही कारण है।

यहाँ तो स्वभाव जो है, उसका स्वभाव, उस स्वभाव की पर्याय स्वभाव के साथ घिसी। आहाहा! वह स्वयं परमात्मा जैसा स्वरूप है, वैसा व्यक्ति में हो जाता है। वह तरु-वृक्ष का दृष्टान्त और इस दृष्टान्त सिद्धान्त में अन्तर है। परन्तु दृष्टान्त दूसरा क्या दिया जाये? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! उसे स्वभाव में एकाग्रता होने में कोई यात्रा के विकल्प की आवश्यकता नहीं, सुनने के विकल्प की आवश्यकता नहीं,

विकल्प से हुआ ज्ञान स्वयं से, उसकी आवश्यकता नहीं। ओहोहो! समझ में आया?

यह समाधितन्त्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह समाधि है। और तन्त्र का अर्थ सिद्धान्त होता है, शास्त्र। अथवा तन्त्र का अर्थ होता है औषधि। समाधितन्त्र। फिर दूसरा शब्द आता है समाधिशतक। यह तो वह गाथायें १०५ हैं न! इतना सूचित करने के लिये शतक कहा। परन्तु समाधितन्त्र, समाधिशास्त्र अथवा समाधि औषधि। आहाहा! भवरोग को मिटाने की समाधि औषधि है। वह आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होना, वह समाधि औषधि है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञायकस्वभाव... अरे... कैसे बैठे, बापू! परिपूर्ण वस्तु है पूरी। जो पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती, यह तो अपने आ गया है न उसमें? अलिंगग्रहण में। यह द्रव्य स्वयं पर्याय में नहीं आता, तथापि पर्याय स्वभाव के साथ एकाग्र होने पर, पर्याय में उस द्रव्य का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान आता है; वस्तु नहीं आती। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव चिद्‌मय ज्ञानमय परमानन्दस्वरूप प्रभु, उसके स्वभाव का स्वभाव में एकाग्र होने पर... आहाहा! यह तो आज सवेरे आया था न? कि आत्मा अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। छठवाँ बोल आया था। अलिंगग्रहण। वह अपना स्वभाव ही ऐसा उसका है कि स्वभाव में परिपूर्ण शान्ति... शान्ति... शान्ति... यह उसका स्वरूप ही है। परम शान्ति... परम आनन्दरस, परम अकषायरस, परम वीतरागस्वभाव, उसमें एकाग्रता होने पर परम वीतरागता परम परमात्मा हुआ जाता है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहारवाले को यह बहुत कठिन लगता है। व्यवहार साधन और निश्चय साध्य आता है? पंचास्तिकाय में आता है। यह तो साधन उस गुणस्थान में हो, उसका ज्ञान कराया है। साधन-फाधन कैसा? यह साधन, वह बाधक है। समझ में आया? आहाहा!

जैसे - बाँस के वृक्ष में, अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है... इतनी बात ली है। शक्तिरूप से विद्यमान है, ऐसा। **और वह घर्षण से प्रगट होती है;...** घर्षण से प्रगट होती है। **इसी तरह आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण, शक्तिरूप से विद्यमान हैं...** आहाहा! वह तो परमात्मस्वरूप परम आनन्द जैसा है। निगोद के जीव अँगुल के असंख्य भाग में

असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव, यह जीव उसे कहते हैं, पूर्ण आनन्द से भरपूर भगवान पूर्णस्वरूप को जीव कहते हैं। आहाहा! उसका क्षेत्र भले छोटा हो, (उससे) यहाँ सम्बन्ध नहीं है। उसके स्वभाव के सामर्थ्य की शक्ति कितनी है, वह यहाँ बतलाना है। आहाहा! एक अँगुल के असंख्य भाग में असंख्य निगोद शरीर और एक-एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुणे जीव, परन्तु कैसे वे जीव? किसे जीव कहना उसमें? आहाहा!

यह पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... ज्ञानस्वभाव पूर्ण आनन्दस्वभाव वस्तु का जो स्वभाव पूर्ण उसे जीव कहते हैं। पर्याय में अक्षर के अनन्तवें भाग की दशा, वह तो पर्याय की है। वस्तु नहीं। आहाहा! ऐसे अनन्त परमात्मा जगत में विराजते हैं। शक्तिरूप से, हों! परमात्मा हुए, वे व्यक्तिरूप से हो गये प्रगट। यह शक्तिरूप से है। परन्तु इसे बैठे शक्तिरूप से ऐसा? आहाहा! इतने क्षेत्र में इतने भाववाला पदार्थ ज्ञान अकेला ज्ञानरस, आनन्द शक्ति चिद्स्वरूप अकेला जिसका, उसका रूप ही चिद्स्वरूप है। ऐसा जिसे प्रतीति में बैठे वह घिसावट से बैठता है—उसमें एकाग्र हो तो बैठत है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

ऐसे तो अभव्य-भव्य या द्रव्यलिंगी ग्यारह अंग किये, उसे जीवद्रव्य का ज्ञान नहीं आया? जीव परिपूर्ण है, पर्याय में आता नहीं। वह सब धारा है। धारा है। परन्तु उसका विषय प्रत्यक्ष दृष्टि में धारण नहीं किया। घिसावट (स्थिरता) होकर दृष्टि में आया नहीं। आहाहा! नहीं तो ग्यारह अंग में उसे ख्याल नहीं? कि अकेली पर्याय का ही ज्ञान है उसे? द्रव्य का ज्ञान है। द्रव्य के गुण अनन्त हैं, उनका भी उसे ज्ञान है, परन्तु उस ज्ञान को जाने बिना यह सत्ता इतनी है, यह जाने बिना—ज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु यह जाना, आया और फिर जाने बिना ज्ञान। क्योंकि विषय जो वस्तु है, वह उसे विषय बना नहीं। आहाहा! दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में इतना यह विषय है, यह बात इसे आयी नहीं। इसलिए इसका ज्ञान द्रव्य और पर्याय का हुआ, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है। आहाहा! ग्यारह अंग के ज्ञान में यह हुआ, वह ज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं।

पूर्ण **ज्ञानादि गुण, शक्तिरूप से विद्यमान हैं और वे आत्मा की आत्मा के साथ**

एकरूपता होने पर... जो पर्याय परसन्मुख है, उसे स्वभाव-सन्मुख करने से... भाषा क्या है देखा! **एकरूपता होने पर...** वह पर्याय और द्रव्य एक हो जाते हैं? इसका अर्थ (यह कि) जो पर्याय ऐसे ढली थी, वह ऐसे ढली तो एकरूप हुई, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। जिनेन्द्र वीतराग त्रिलोकनाथ ने इस प्रकार जाना और इस प्रकार कहा है। सम्प्रदाय में मिले नहीं, इसलिए कहीं वस्तु बदल जायेगी? वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

आत्मा में भी... वह वृक्ष का दृष्टान्त दिया न, वह 'भी' इसलिए लिया। वृक्ष में शक्तिरूप से अग्नि थी, ऐसा कहा। इसलिए उसे लागू पड़ा। यदि शक्तिरूप से अग्नि न हो तो व्यक्तरूप से भी वह वृक्ष अग्निरूप नहीं होगा, ऐसा। इतना सिद्ध किया। वृक्ष में शक्तिरूप से तो अग्नि है। घर्षण से बाहर आती है। इसी प्रकार यहाँ शक्तिरूप से पूर्णानन्द का नाथ आत्मा है, उसे स्वीकार करने पर उसकी पर्याय में, उसकी पर्याय ने उसे जानने पर, उसमें एकाग्र होने पर वह आत्मा ऐसा है, ऐसा उसे ज्ञान हुआ, और इसलिए वह एकाग्र होकर आगे बढ़कर केवल(ज्ञान) पायेगा। आहाहा! यह तो मुद्दे की बात है, भाई! समझ में आया?

जानपना कम हो, अधिक हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। मात्र उसकी जाति की शक्ति जो है, उसकी ओर की जो स्वभाव की जाति, उसकी पर्याय की झुकी, वह परमात्मा हो जायेगा। जो स्वभाव की पर्याय को स्वभाव परमात्मा की भेंट हुई। आहाहा! जिस पर्याय के स्वभाव द्वारा पूर्णानन्द का नाथ पर्यायवान... लो, यह पर्यायवान कहा वापस। पर्याय में तो आता नहीं, परन्तु आता है न, उसका ज्ञान आता है न! वह क्या चीज़ है, उसके ख्याल में आ जाता है। समझ में आया? ऐसा जो आत्मा... आहाहा!

आत्मा के साथ एकत्वरूप होने पर, एकरूप होने पर अर्थात् जैसी जाति है, वैसी पर्याय होने पर, ऐसा। आहाहा! निर्विकल्प स्वभावरूप से होने पर उसे एकरूपता कही। प्रगट होती है। प्रगट होती है। परमात्मा का स्वरूप एन्लार्ज होकर बाहर आता है। आहाहा! जैसा सत्ता में था, वैसा पर्याय में एकाग्र होने पर आता है। उसे कोई बाह्य की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! शास्त्र दिशा दिखलाकर अलगा रहे... आनन्दघनजी में

आता है। परम आगम या शास्त्र दिशा दिखावे इसे। आहाहा! वे तो अलगा रहते हैं। फिर वे कोई साधन होते हैं यहाँ? आहाहा! समझ में आया? उसका साधन तो वह स्वभाव की एकाग्रता, वह उसका साधन है। स्वभाव की जाति की जो एकाग्रता हुई। आहाहा! उसमें सब वाद-विवाद और तकरार उठे सब, वह उसके घर में रही।

यहाँ तो 'सद्‌गुरु कहे सहज का धन्धा, वादविवाद करे सो अन्धा।' नियमसार में कहा है न, भाई! जीव की जाति अलग-अलग, भव्य-अभव्य, उसके कर्म की जाति उसके पास अलग। उसकी लब्धि भिन्न-भिन्न, तू किसके साथ वाद-विवाद करेगा? वादविवाद करके क्या विकल्प से तुझे रुकना है? उससे कुछ भी समझ जायेगा? नहीं समझेगा। आहाहा! समाधि में तो आ गया है अपने। मैं किसे समझाता हूँ? मैं किससे समझूँ? वह सब पागलपन है। आहाहा! स्वयं अपना गुरु और स्वयं अपना देव और अपना स्वभाव, वह अपना स्वरूप, वह धर्म। आहाहा!

प्रगट होते हैं अर्थात् आत्मा अन्य बाह्याभ्यन्तर सङ्कल्प-विकल्परूप व्यापारों से अपने उपयोग को हटाकर,... नास्ति से बात करते हैं। **स्वरूप में एकाग्र कर देता है, तब उसके वे गुण (शुद्धपर्यायें) प्रगट होते हैं।** शुद्ध जैसा स्वभाव है शक्ति और गुणरूप से, वैसी पर्याय प्रगट हो जाती है। समझ में आया? **आत्मा का, आत्मा के साथ संघर्ष (एकाग्रता) से,...** भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु, उसे ज्ञान और आनन्द के संघर्ष से **ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है; जब उसके निमित्त से कर्मरूपी ईंधन सर्वथा जल जाता है,...** यह तो बात की। **तब वह आत्मा, परमात्मा हो जाता है।** यह तो कर्म का अभाव हुआ, इसलिए यहाँ निर्मलता हुई, ऐसा नहीं है। उसमें वह अभाव नाम का गुण है। परपने से न होना, पररूप न होना—ऐसा उसका एक अभाव गुण है। उसमें अभावगुण का आधार स्वयं आत्मा है। उसकी दृष्टि करने से अभावरूप परिणम जाता है। कर्म टला, इसलिए अभावरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

विशेष - जब सम्यग्दृष्टि, आत्मध्यान में मग्न हो जाता है,... ध्यान का विषय जो पूर्ण परमात्मा जब ध्यान में-विषय में आता है, **तब ध्यान, ध्याता और ध्येय —**

ऐसा भेद नहीं रहता; वचन अथवा अन्य विकल्प नहीं होता। है न यह? नीचे कलश (छन्द) है छहढाला का।

> **जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ,**
> **चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ;**
> **तीनों अभिन्न अखिन्न सुध उपयोग की निश्चल दसा,**
> **प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये तीनधा ऐकै लसा॥**

चिद्भाव कर्ता... ज्ञानभाव वह कार्य और चिदेश भगवान आत्मा उसका कर्ता। आहाहा! '**चेतना किरिया तहाँ...**' यह चेतना की क्रिया वहाँ है। '**तीनो अभिन्न अखिन्न...**' तीनों कौन? ध्याता, ध्यान और ध्येये। ऐसा। '**तीनों अभिन्न अखिन्न सुध उपयोग की निश्चल दशा,**' व्रत अर्थात् चारित्र, हों! एक समय में तीनपना प्रगट हो गया एक साथ। आहाहा! समझ में आया? दौलतरामजी हैं न? छहढाला का ९वाँ श्लोक है यह। छठवीं ढाल, नीचे लिखा है। छठवीं ढाल का नौवाँ श्लोक है।

वह आत्मा ही कर्म,... आत्मध्यान में तो आत्मा ही कर्म। अर्थात्? आत्मा का निर्मल स्वभाव हुआ, वही आत्मा का कर्म। स्वभाव में एकाग्र होने पर शुद्ध चैतन्य की शक्ति में से शुद्ध की व्यक्तता प्रगट हुई, वह आत्मा का कर्म, वह आत्मा का कार्य। समझ में आया? पाठ में है न? '**चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता,...**' आत्मा ही कर्ता। चिदेश अर्थात् ज्ञान का ईश्वर आता। उस निर्मल दशा का कर्ता आत्मा है। आहाहा!

यहाँ तो यह बतलाना है न? बाकी तो पर्याय का कर्ता, कर्म, करण, षट्कारक निर्मल पर्याय के षट्कारक जो है, वह भी वस्तु में नहीं। यह (समयसार) ७३ गाथा में आ गया है। ७३ में। पर्याय में होनेवाले कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, एक समय की दशा में होते हैं, वे वस्तु में नहीं। आहाहा!

और आत्मा के भाव, वे क्रिया होते हैं... चैतन्यस्वभाव की निर्मल दशा प्रगट हुई, वह उसका कार्य, उसका कर्ता आत्मा। यहाँ तो अभेद से लेना है न? और उसकी क्रिया भी चैतन्य ही हुई। आत्मा की निर्मल क्रिया परिणति हुई। पूर्व पर्याय बदलकर हुई न, परन्तु वह अपनी चैतन्य की क्रिया है, ऐसा। अभिन्न हो जाता है। **शुद्धोपयोग की**

निश्चलदशा प्रगट हो जाती है... शुद्ध उपयोग। शुद्ध उपयोग वह इसका स्वरूप है। शुभ उपयोग इसका स्वरूप नहीं। वह तो अचेतन है। यहाँ तो शुद्ध उपयोग चैतन्य की क्रिया उत्पन्न हुई। आहाहा! यह क्रिया। यह कहते हैं न, यह क्रिया करते हैं, यह होती है, वह क्रिया नहीं। आहाहा! क्रिया जड़ की परिणति बदले, वह जड़ की क्रिया; राग की परिणति खड़ी हो, वह विभाव की क्रिया और स्वभाव की एकाग्रता होने पर क्रिया होती है, वह स्वाभाविकक्रिया। क्रिया तो है। समझ में आया?

यह **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी एक साथ एकरूप होकर प्रकाशित होते हैं।** है न? '**दृग-ज्ञान-व्रत ये तीनधा ऐकै लसा।**' आहाहा! स्वरूप की एकाग्रता की प्रतीति, स्वरूप की एकाग्रता में उसका ज्ञान और स्वरूप की एकाग्रता में रमणता, यह तीनों प्रकाशित होते हैं। आहाहा! उसमें यह है। और वह वहाँ आया था। कोटा में थे न, कोटा थे? नहीं, तुम नहीं थे। नहीं आये। कोटा में आया था। यह चौथे और पाँचवें दिन। चार दिन तो वहाँ चला। आठों दिन वहाँ था बराबर। कोई विग्रह नहीं। परन्तु पाँचवें दिन कागज, पम्पलेट छपाये। विद्यानन्दजी दर्शन में नहीं था वह जैन? उसमें कोई पम्पलेट छपाये गाँव के। कौन है वह जानते नहीं। जम्बुकुमार है न? भाई है। जुगलकिशोर। परन्तु यह कहाँ से छपाये होंगे। रखे थे वहाँ कि साधु का जो यह व्यवहार आचरण है, व्रत, नियम, क्रिया, श्रावक के बारह व्रतादि, उसे धर्म नहीं मानते, वे दिगम्बर धर्म का नाश कर डालते हैं। अरे... भगवान! गजब परन्तु पुण्य लेकर आये हैं न? पुण्य है। बाहर में प्रसिद्धि होती है। वह सुशीलकुमार गये न अभी? बाहर (विदेश)। उसकी भी विद्यानन्दजी ने महिमा की है। ओहोहो! वहाँ जाओ हमारा आशीर्वाद है। अब कहाँ स्थानकवासी और कहाँ श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता। यह भगवान का सन्देश देने वहाँ जाते हैं। अरेरे! यह बातें!

भगवान का सन्देश तो स्वभाव में एकाग्र होना, यह है। सब शास्त्र का सार तो वीतरागता है। अब वीतरागता का अर्थ क्या हुआ? कि पर की अपेक्षा छोड़कर स्व की अपेक्षा में आना, यह वीतरागता। आहाहा! यह सिद्धान्तों के सब चारों अनुयोगों में ऐसा कहना है। चारों अनुयोग का यह वीतरागता सार है। आहाहा! कहते हैं, एक साथ एकरूप होकर प्रकाशित करते हैं। आत्मारूप हुए न तीनों? ऐसा।

इस श्लोक में आचार्यदेव ने यह बताया है कि यदि जीव, अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यस्वरूप समझकर, अरहन्तादि की उपासना के राग से परान्मुख होकर,... अरिहन्त, सिद्ध, पंच परमेष्ठी का राग जो है, उससे पराङ्मुख होकर। **स्वसन्मुख होकर (जीव) अपने शुद्धात्मा की-परमपारिणामिक कारणपरमात्मा की...** आहाहा! **ही उपासना करे तो वह स्वयं परमात्मा हो सकता है।** आहाहा! समझ में आया? ऐसा कठिन मार्ग! ऐसा सूक्ष्म लगे कि व्यवहार का कुछ न कुछ सहारा?

वे भाई कहते नहीं थे वे? छोटेलालजी। व्यवहार में आवे तो थोड़ा विश्राम मिले। पहले ऐसा कहते थे। फिर बदल गये। अब बदल गये। वे छोटेलालजी थे न? है न इन्दौर में। पहले अनुकूल थे, बीच में फिर वापस फेरफार हो गया। लोगों ने रोटियाँ बन्द कीं, इसलिए और वापस अभी.... आहाहा! ऐसा कि व्यवहार में आवे वहाँ थोड़ा विश्राम मिले, थकान उतरे। थकान होगी। यह (व्यवहार) स्वयं थकान है। आहाहा! फिर ऐसा कि अन्दर जाने में उसे अनुकूल पड़े निश्चय में, ऐसा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अपने सन्मुख होने में किसी भी व्यवहार के विकल्प की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! गुण-गुणी के भेद के विकल्प की भी... यही कहा न? ध्याता, ध्यान और ध्येय—ऐसे भेद भी जहाँ नहीं। आहाहा! ध्याता आत्मा, ध्यान उसकी एकाग्रता, ध्येय वह आत्मा—ऐसे तीन भेद भी जहाँ नहीं। ऐसी स्वभाव की एकाग्रता, वह परमात्मा होने का कारण है। आहाहा!

द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक जीव में परमात्मा होने की शक्ति है। प्रत्येक जीव परमात्मस्वरूप है, उसे जीव कहते हैं। आहाहा! स्त्री, पुरुष, नपुंसक, वह तो जड़ के लिंग हैं। उसमें कहाँ है? द्रव्यभाव वेद से रहित है, आया था न? अलिंगग्रहण में आया था। द्रव्यभाव वेद से तो रहित प्रभु है। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। **यदि वह जिनोपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करे, तो उस शक्ति को सम्पूर्णरूप से व्यक्त करके, परमात्मा हो सकता है।** लो! आहाहा! अपने स्वभाव की शक्ति के सन्मुख होकर और एकाग्रता करे, साक्षात् परमात्मा हो सकता है। उसमें सन्देह को स्थान नहीं है। दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ९९

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह -

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥ ९९॥

इति एवमुक्तप्रकारेण इदं भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं भावयेत् नित्यं सर्वदा। ततः किं भवति ? तत्पदं अवाप्नोति। किं तत्पदं मोक्षस्थानं। कथम्भूतं ? अवाचांगोचरं वचनैरनिर्देश्यं। कथं तत्प्राप्नोति ? स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनगुर्वादिबाह्य-निमित्तात्। यतः प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे पुनर्न भ्रमति॥९९॥

उक्त अर्थ का उपसंहार करके, फल दर्शाकर कहते हैं —

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश॥ ९९॥

अन्वयार्थ :- (इति) उक्त प्रकार से (इदं) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूप की (नित्यं) निरन्तर (भावयेत्) भावना करनी चाहिए—ऐसा करने से (तत्) उस (अवाचांगोचरं पदं) अनिर्वचनीय परमात्मपद को (स्वत एव) स्वयं ही यह जीव (आप्नोति) प्राप्त करता है (यतः), जिस पद से (पुनः) फिर (न आवर्तते) वापस नहीं आता—पुनर्जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता।

टीका - इस प्रकार से अर्थात् उक्त प्रकार से इस भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की, नित्य अर्थात् सर्वदा भावना करनी। इससे क्या होता है ? वह पद—मोक्षस्थान (प्राप्त होता है)। वह (पद) कैसा है ? वाणी के अगोचर है अर्थात् वचनों द्वारा नहीं कहा जा सके, वैसा (अनिर्वचनीय) है। उसे किस प्रकार प्राप्त करता है ? परमार्थ से स्वतः ही (अपने आप ही), आत्मा से ही (प्राप्त करता है) परन्तु गुरु आदि बाह्यनिमित्त द्वारा नहीं। जहाँ से अर्थात् प्राप्त हुए उस पद से (मोक्षस्थान से) वह वापस नहीं आता अर्थात् फिर से संसार में नहीं भ्रमता।

भावार्थ - साधक को निर्विकल्पदशा में अपने आत्मा का आश्रय और सविकल्पदशा में अरहन्तादि की उपासनादि होती है। क्रम-क्रम से आत्मा का आश्रय

बढ़ता जाता है और भगवान की उपासनादिरूप व्यवहार, घटता जाता है। अपने आत्मा की उपासना पूर्ण होने पर, भगवान की उपासनारूप विकल्प का भी अभाव होता है; इसका नाम भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की नित्य भावना करना कहा जाता है। इस प्रकार वीतरागता पूर्ण होने पर जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है और मोक्षस्थान प्राप्त करने के बाद, जीव कभी वापस संसार में नहीं आता, क्योंकि उसके राग का सर्वथा अभाव वर्तता है। राग के बिना, संसार अर्थात् भव-भ्रमण / जन्म-मरण नहीं होता।

विशेष स्पष्टीकरण -

जिन्होंने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा का पूर्ण विकास साधा है, उन अरहन्त और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, तद्रूप होने की भावना में मग्न रहना और फिर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने का सदा दृढ़ अभ्यास करना। ऐसा करने से वचनातीत अतीन्द्रिय परमात्मपद की प्राप्ति होती है। वह पद प्राप्त करने के बाद, संसार में पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। सदा के लिए संसार के सर्व दुःखों से जीव का छुटकारा होता है और वह सदा ज्ञानानन्द में मग्न रहता है।

प्रस्तुत श्लोक में 'स्वतः एव' शब्द बहुत अर्थसूचक है। वह बताता है कि परमात्मपद की प्राप्ति अपने में से ही, अपने पुरुषार्थ से ही होती है। उसमें तीर्थंकर भगवान आदि की उपासना, दिव्यध्वनि, गुरु का उपदेश आदि बाह्यनिमित्त होने पर भी, निमित्तों से निरपेक्षपने परमपद की प्राप्ति होती है; निमित्तों से कभी नहीं होती, क्योंकि जहाँ तक निमित्तों की ओर लक्ष्य होता है, वहाँ तक आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं जाता।

परमात्मा होने की शक्ति अपने में ही विद्यमान है; उस शक्ति का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान-ज्ञान करके, आत्मसन्मुख होकर, उसे प्रगट करने का अविरत प्रयत्न किया जाए तो अवश्य परमपद की प्राप्ति होती है॥९९॥

आषाढ़ शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक ०७-०८-१९७५, श्लोक-९९, प्रवचन-११३

९९ श्लोक। समाधितन्त्र। **उक्त अर्थ का उपसंहार करके, फल दर्शाकर कहते हैं —** भिन्न और अभिन्न सेवा की बात की न दो गाथाओं में? उपासना-सेवा। अरिहन्त और सिद्ध का ध्यान करके अन्दर में उतरता है, तब उसे आत्मा का पद प्राप्त होता है। पहला दृष्टान्त यह दिया और बत्ती का दिया न? बत्ती का दीपक होती है, दूसरे दीपक को स्पर्श करे तो उजाला होता है। यह तो निमित्त से कथन है, इस प्रकार अरिहन्त और सिद्ध को लक्ष्य में लेकर, फिर अन्तर में उतरे तो उसे केवलज्ञान होता है। ऐसा है।

और बाद में ऐसा कहा, अभिन्न। वृक्ष में अग्नि की शक्ति है, वह स्वयं स्वयं को घिसकर (घर्षण से) अग्नि होकर वृक्ष में अग्नि हो जाती है। इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दघन चैतन्य की शक्ति है, उसमें एकाग्र होकर—घर्षण होकर स्वयं केवलज्ञान अथवा अनुभव को प्राप्त होता है। निश्चिन्तता से पढ़ना बाद में। हिम्मतभाई को नहीं दिया, तुमको दिया था। तुम इनके सहचारी थे सही न! इन दो का उपसंहार करते हैं।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥ ९९॥

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश॥ ९९॥

टीका **- इस प्रकार से अर्थात् उक्त प्रकार से इस भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की,...** भगवान के ध्यान से प्राप्त होना, यह भिन्न की अपेक्षा ली और अपने में एकाग्र होकर होना, यह अभिन्न की अपेक्षा। **आत्मस्वरूप की, नित्य अर्थात् सर्वदा भावना करनी।** आहाहा! शुद्ध स्वभाव जो पवित्र आनन्दस्वभाव, निजस्वभाव के रस से भरपूर तत्त्व पूरा, उसके अन्दर एकाग्रता होकर उपासना करना, यह मोक्ष का मार्ग है। **आत्मस्वरूप की, नित्य अर्थात् सर्वदा भावना करनी।** ऐसा कहते हैं।

शुद्ध चैतन्य आनन्द का सरोवर, अतीन्द्रिय आनन्द की शुद्धता का समुद्र, स्वयंभू समुद्र भगवान आत्मा। आनन्द का स्वयंभू समुद्र। उसमें निरन्तर स्वभाव के सन्मुख

होकर उसकी सेवा करना, वह करनेयोग्य है, कहते हैं। कहो, यह पूजा और भक्ति (से) नहीं होगा, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! उसमें कहाँ कमी है? वह कहाँ अपूर्ण है? वह कहाँ पंगु है? स्वभाव से भरपूर तत्त्व है। उसकी दृष्टि करके उसमें एकाग्र होना, वही मोक्ष का उपाय है। '**लाख बात की बात...**' आता है या नहीं? छहढाला में नहीं आता? '**लाख बात की बात...**' परन्तु अनन्त बात की बात '**निश्चय उर आणो, छोड़ी जगत द्वंद्व फंद निज आतम...**' निज '**आतम ध्याओ।**' आहाहा! स्वयं तीर्थ है, स्वयं गुरु है, स्वयं देव है। आहाहा! उसे एकाग्र होकर सर्वदा भावना करना, ऐसा। किसी समय भी पर से आत्मा को लाभ हो, विकल्प से, वह वस्तु नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण परमात्मस्वरूप ही आत्मा विराजता है। उसकी दृष्टि करके उसमें स्थिर होना, यह उसकी भावना कही जाती है। भावना अर्थात् विकल्प से, ऐसा भी नहीं। आहाहा! 'सर्वदा भावना करना।' यह शब्द पड़ा है न? भावना का अर्थ कि उस विकल्प से चिन्तवन करना, यह नहीं। आहाहा! भाव की भावना। स्वभावभाव की भावना, अर्थात् भाव में एकाग्रता, वह स्वभावभाव की भावना। आहाहा!

दर्शन-ज्ञान और चारित्र वह स्वभाव की भावना अर्थात् एकाग्रता है और यहाँ समाधितन्त्र है न? अर्थात् समाधिस्वरूप भगवान आत्मा, अनाकुल आनन्द की खान, निधान प्रभु है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द के सागर को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र होना, यह उसकी भावना का मार्ग और यह मोक्ष का मार्ग है। इसमें तो दो मोक्ष के मार्ग, यह तो निकाल डाले। आहाहा! वे दो कहे हैं न? वे रतनजी कहते हैं कि दो मोक्ष के मार्ग हैं। दो मोक्ष के मार्ग न माने, वे भ्रम में पड़े हैं।

टोडरमलजी कहते हैं कि दो मोक्ष के मार्ग माने, वे भ्रम में पड़े हैं। व्यवहार का मोक्ष(मार्ग) होगा दूसरा? आहाहा! बीच में विकल्प आते हैं, होते हैं, व्यवहार के विकल्प होते हैं, परन्तु वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं। वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? वाद-विवाद से ऐसी वस्तु को बिगाड़ डाला न! स्वयं ने जो पकड़ा हो न, उसे सिद्ध करने के लिये। बापू! मार्ग ऐसा नहीं है, भाई! उसकी खान में

शुद्धता और परिपूर्णता पड़ी है। कृतकृत्य वस्तु है। उसे—द्रव्य को कार्य करना, वह भी नहीं। वह तो कृतकृत्य ही वस्तु है। उसे पर्याय में कार्य करना, यह उसकी भावना कहने में आती है। आहाहा! कहो, पोपटभाई! सब पैसे के ढ़ेर हो गये, ऐसा बाहर से हो, ऐसा नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इससे क्या होता है? शुद्ध चिद्घन वस्तु आनन्दस्वरूप प्रभु सहज वीतराग निजानन्द अमृत के सागरवाला प्रभु, उसमें एकाग्र होने से अर्थात् कि उसके सन्मुख होने से, अर्थात् कि निमित्त और राग और पर्याय से विमुख होने से। आहाहा! गुरु और शास्त्र और देव से भी विमुख होकर, ऐसा कहते हैं। कहेंगे टीका में। आहाहा! ऐसी **भावना करनी। इससे क्या होता है? वह पद—मोक्षस्थान (प्राप्त होता है)।** अर्थात् पूर्ण निर्मलानन्द की दशा को वह प्राप्त होता है। आहाहा! मार्ग कठिन, भाई! क्योंकि यह भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट मुक्त है। मुक्त में एकाग्र होना, तो पर्याय में मुक्ति होती है। समझ में आया? ऐसी बात है।

अरे! अनन्त काल से लुट गया है। परसन्मुख के लक्ष्य के राग में यह लुट गया है। उसमें लाभ मानकर लुट गया है। आहाहा! कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के निमित्त से नुकसान है। ऐसा सुगुरु, सुशास्त्र के निमित्त से—लक्ष्य से भी आत्मा को राग होता है। उसका लक्ष्य वहाँ जाये तो राग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : बाहर के निमित्त से तो राग तो दुःख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो दुःख ही है। ओहोहो! भाई! तुझमें कहाँ पूर्णता नहीं? तू कहाँ अधूरा है? आहाहा! तू कहाँ न्यूनतावाला है कि जिसे पर की आवश्यकता पड़े? डाह्याभाई! आहाहा! 'डाह्या तारुं डहापण' तब नहीं कहा था एक बार? कहा था। कहा था। डाह्याभाई घोळसा। नाटक। (संवत्) १९६८-६६ वर्ष का होगा। ६४ के वर्ष। पालेज आवे साधु स्थानकवासी के इसलिए... हम स्थानकवासी थे न? उसमें हमारा घर वहाँ मुख्य। ३० लोगों की रसोई, दो दुकानें ऐसी सब। बाहर में प्रसिद्ध। फिर साधु आवे तो हम जायें। मैं तो भगत कहलाता था, इसलिए मैं तो पहले जाऊँ सामने लेने, आवकार देने।

उसमें एक बार साधु ऐसे मोहनलालजी आये थे, बरवाळा के। गुजर गये। बरवाळा के आचार्य। उन्हें खोजने गये थे भरुच। फिर बहुत खोजा। कबीरवड है एक बड़ा। वहाँ ऐसा कि मिलेंगे। परन्तु वहाँ भी नहीं मिले। फिर भरुच का स्टेशन है न, उसके सामने एक धर्मशाला है, वहाँ मिले। मिले तो जल्दी मिल गये। अब, कहा, समय है चलो, भाई! नाटक-बाटक आवे तो देखने जायें। तब तो वैराग्य के नाटक थे न? मीराबाई का नाटक। ओहोहो! वैराग्य की धुन चढ़ावे। भले तत्त्व अलग बात है। अभी के जैसे नाटक और यह क्या कहलाता है? फिल्म और पिक्चर। आहाहा! नग्नता का प्रदर्शन देखो तो। एक आदमी ऐसे महिला को हाथ डाले और चुम्बन करे, ऐसे दिखाव बाहर। अररर! सज्जनता को शोभे नहीं, ऐसा चौक में ऐसे बड़े-बड़े पोस्टर। ऐसी कोई अनीति का गजब हो गया है! वह तो नाटक में वैराग्य, हों!

फिर निवृत्त थे तो मैं और फावाभाई थे साथ में। मेरे फावाभाई नहीं? फावाभाई को पहिचानते हो? सूरत में है न लड़का मनहर? अभी ६० लाख पैसे (रुपये) हुए हैं लड़के के पास। लोग तो करोड़ कहते थे, परन्तु ६० लाख तो सही। ५०-६० लाख। उसके साथ देखने गये थे। वह डाह्याभाई थे वहाँ। बारह आने की टिकिट थी तब, भाई! तब, हों! यह तो अच्छी टिकिट लेते आवे। वापस हल्की नहीं। अपने सामने देखा था डाह्याभाई को। तो वे डाह्याभाई जब मरने पड़े। वांकानेर के। बहुत नाटक बनाये हुए। पैसे आठ दिन में पन्द्रह सौ रुपये की एक रात्रि। ऐसे आठ दिन में तीन नाटक प्रदर्शित करे। तब ६४ के वर्ष की बात है। फिर मरते हुए कहा, डाह्या! तेरा डाह्यापन तब कहें, तूने बहुत नाटक बनाये और बहुत किये, भाई! आहाहा! परन्तु अब यहाँ समाधि और शान्ति से देह छोड़ तो तेरा डाह्यपन (होशियारी) कहते हैं। आहाहा! थे अन्यमति, परन्तु वांकानेर के। आहाहा!

श्रीमद् में आता है न अन्त में? श्रीमद् में मृत्यु काल में। मनसुख! माँ को खेद नहीं होने देना। मैं स्वरूप में जाता हूँ। आहाहा! अक्षर अक्षर सत्य था। आहाहा! देह छोड़ने का अवसर, दृष्टि-अनुभव तो था। आहाहा! खड़े हुए, मनुसख को कहे, माँ... उसमें अपने आता है निहालभाई में। यह टुकड़ा आता है न? ऐसा कि श्रीमद् ने ऐसा कहा, वह बराबर कहा है। बहुत सरस। आहाहा!

भगवान आनन्द का धाम परमात्मप्रकाशस्वरूप ही स्वयं है। उसका जहाँ अनुभव हुआ, इसलिए मृत्युकाल में तो उसमें समाने की ही बात होती है। आहाहा! चारों ओर से विकल्प को समेटकर स्वरूप में, ध्यान में... आहाहा! समझ में आया? फिर शरीर की स्थिति हो। आवाज हुआ और ऐसा हुआ था, इससे कुछ नहीं। वह तो देह की क्रिया है। अन्तर में स्वयं समाधि में आनन्द में चढ़ गये। मार्ग देखा था। कैसे अन्तर में जाया जाये, यह तो देखा था। आहाहा! यही करने का है और करना हो तो यह कर्तव्य है। आहाहा! बाकी मुझे मरते समय सुनाओ यह वह—यह सब बातें शुभ विकल्प की बातें हैं। समझ में आया? और सुने और उसमें से उसे समाधिमरण हो, ऐसा नहीं है। वह तो एक शुभविकल्प होता है सुनने के काल में। लक्ष्य ही जहाँ, स्वभाव की दृष्टि ही जहाँ नहीं। आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द का नाथ के घर में गया नहीं, उसकी भावना भायी नहीं और रागादि की भावना में रुका हुआ है, उसे यह बात अन्दर नहीं आती। आहाहा! यह तो कहते हैं कि आहाहा! कैसा वह स्थान? भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, उसकी सत्ता के स्वीकार में जो अन्तर में भावना अर्थात् एकाग्रता होती है... यह भी श्रीमद् में आता है न, 'आत्म भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे।' परन्तु वह यह भावना। वह बोलना और रटना (वह नहीं)। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, देखो! आत्मभावना करना। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उस ओर ढलना और बाहर से सब छोड़ देना।

वह (पद) कैसा है ? वाणी के अगोचर है... वाणी से अगम्य है। वाणी को खबर नहीं। वाणी तो जड़ है। आहाहा! **वचनों द्वारा नहीं कहा जा सके, वैसा (अनिर्वचनीय) है।** आहाहा! **उसे किस प्रकार प्राप्त करता है ? परमार्थ से स्वतः ही (अपने आप ही), आत्मा से ही...** देखो! **परमार्थ से स्वतः ही (अपने आप ही), आत्मा से ही (प्राप्त करता है)...** यह संस्कृत टीका है, हों! **'स्वतः एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्य-निमित्तात्।'** आहाहा! कहो, अब इसमें निमित्त। टीका में है। निमित्त से नहीं। आहाहा! ऐई... चेतनजी! यह तो यहाँ आया न तुम्हारा। आहाहा! निमित्त अकिंचित्कर है वहाँ। और यह आता है न, बन्ध अधिकार में नहीं आता? अकिंचित्कर है। पर को जिलाऊँ,

मारूँ... अकिंचित्कर है। भाई! निमित्त चीज़ भले है, परन्तु वह अन्तर में उपादान को कुछ मदद करे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

परमार्थ से स्वतः ही... अरे! तेरी महत्ता तुझे न बैठे! तेरी वस्तु की शक्ति का माहात्म्य न आवे और पर से होता है, यह सब पंगुता है। आहाहा! बापू! तू कहाँ अधूरा और कम है? नहीं ऐसे बाहर में कहते कुछ? आहाहा! वह तू भीख माँगने बाहर में निकलता है जहाँ-तहाँ। तेरे यहाँ कहाँ कमी है? आहाहा! ऐसा भगवान पूर्ण आनन्द और ज्ञान का स्वभाव जिसे अन्तर में एकाग्र होकर, वह स्वयं से हुआ है। समझ में आया? कहते हैं कि भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध और आनन्द का स्वरूप है, उसमें स्वतः अपने में एकाग्र होता है। तब उसे मुक्ति होती है। उसे कोई गुरु-शास्त्र, और देव की आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु कहे और होवे तो भले रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो तो उसके घर में रहा। यहाँ कहाँ आया हो तो? क्योंकि उसकी ओर लक्ष्य जाये तो राग होगा। आहाहा! उसके घर में कहाँ है उसमें? आहाहा!

(अपने आप ही), आत्मा से ही (प्राप्त करता है)... है? देखो, शब्द है। **गुरु आदि बाह्यनिमित्त द्वारा नहीं।** संस्कृत टीका में है। अन्दर टीका में है उस ओर। देखो, चेतनजी! यह तो तुम्हारा यहीं का यहीं आया। तुम्हारा कहलाता है न वह? लो, है न? अन्दर टीका में है। '**न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात्।**' गुरु के निमित्त से आत्मा का कल्याण होता है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव का यह फरमान है। भाई! तुझमें कहाँ कचाश और हीनता है? भाई! वह तू बाहर में माँगने जाता है। गुरु की कृपा हो तो होगा, उसका यह हो तो होगा। भाई! तेरी कृपा तुझे होना चाहिए। आहाहा! है?

गुरु आदि... आदि अर्थात्? शास्त्र, देव, सत्संग **आदि बाह्यनिमित्त द्वारा नहीं।** प्राप्त हो भगवान आत्मा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह मन्दिर और यात्रा और सम्मेदशिखर की (यात्रा), उससे आत्मा प्राप्त नहीं होगा, समकित नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। ...भाई! आहाहा! हरिभाई गये? आये थे? रुके हैं। आहाहा! ओहोहो! जहाँ अन्दर निर्विकल्परूप

से स्व में आना है, उसमें से यह निमित्त का लक्ष्य कहाँ रहता है ? और निमित्त उसे क्या कर सकता है वहाँ ? आहाहा ! समझ में आया ?

उपादान का नाम ले, वे जो तजे निमित्त। वे ऐसा एक बार बोलते आये थे, भावनगर। मिल में रहते थे न नरोत्तमदास। जेसंगभाई के दामाद। उनके मिल में रहते थे। नरोत्तमभाई। जेसंगभाई को मिल है न। एक बार यहाँ आये थे। **उपादान का नाम ले, वे जो तजे निमित्त। पावे नहीं परमार्थ को, रहे भ्रान्ति में स्थित।** परन्तु वह तो उपादान का नाम लेकर कहा है। परन्तु उपादान का भाव लेकर निमित्त को तजे तो वह करनेयोग्य है। डाह्याभाई ! आहाहा ! अरे ! जीव कहाँ अटकते हैं ? यहाँ तो गुरु की भी ना की है। पोपटभाई !

मुमुक्षु : अब यहाँ आना या नहीं आना, यह निर्णय करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा नहीं था पहले केशुभाई ने ? केशुभाई है न वहाँ अपने ? स्थानकवासी। वहाँ—वढवाण में मुमुक्षु है। आये थे। अभी आये थे। बहुत बार आते हैं। होशियार व्यक्ति है। उससे कहे, तुम निमित्त से कुछ लाभ नहीं होता, (ऐसा मानते हो) तो फिर तुम वहाँ (सोनगढ़) क्या करने जाते हो ? ऐसा पूछा था। डाह्याभाई ! उससे पूछा। तब कहे कि यह निमित्त से नहीं होता, ऐसी दृढ़ता के भाव के लिये जाते हैं। एक केशुभाई है। व्यापारी है। लड़के होशियार हैं। नौकरी है। आहाहा !

कहते हैं कि तुझमें प्रभु ! परन्तु तू जहाँ ध्यान में जाये, उसकी निर्विकल्प दशा में पर निमित्त को कहाँ अवलम्बन करता है ? आहाहा ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह तो निर्विकल्पदशा है और वह निर्विकल्पदशा निर्विकल्प तत्त्व के अवलम्बन से होती है। उसमें निमित्त का अवलम्बन नहीं है। आहाहा ! भारी विवाद लोगों को ऐसी तकरार। श्रीमद् में गये थे एक दिन ? क्या कहलाता है वह ? अगास-अगास। व्याख्यान सुना सबने। रात्रि में एक मारवाड़ी आया। महाराज ! बात तो तुमने निश्चय की कही, वह तो बराबर, परन्तु उसका (कोई) साधन ? यह सब। यह भक्ति करना और यह करना। ऐई... डाह्याभाई ! अरे... बापू ! पर का साधन हो उसे ? ऐसा कि कहा है न उसमें 'निश्चय रखकर लक्ष्य में साधन करना सोय' कौन से साधन ? वह (अज्ञानी) तो व्यवहार के साधन

कहता है। **निश्चय रखकर लक्ष्य में...** लक्ष्य में अर्थात् निश्चय ध्येय है, परन्तु वह वस्तु है, जहाँ उसकी शरण में गया तो व्यवहार वहाँ रहता नहीं। आहाहा! कठिन भाई! झगड़े-झगड़े जगत के। ओहोहो!

परमात्मा का विरह पड़ा। ज्ञान-केवलज्ञान का अभाव हो गया। मन:पर्यय और अवधिज्ञान होने का काल नहीं रहा। ऐसा आता है न, भाई! परमात्मप्रकाश में। परमात्मप्रकाश में आता है। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ का भरत में विरह पड़ा और केवलज्ञान की प्राप्ति हो, उसका भी विरह पड़ा। साक्षात् भगवान का विरह पड़ा और केवलज्ञान न हो, ऐसा (केवलज्ञान होने का) अभी विरह पड़ा। आहाहा! और कोई मुनि ऐसे केवलज्ञान प्राप्त करे या अवधि(ज्ञान) प्राप्त करे, ऐसा कुछ चमत्कार देखने में रहा नहीं। ऐसे काल में जो आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करता है, वह धन्य है, कहते हैं। ऐसा कहत हैं।

मुमुक्षु : वह अल्पकाल में मुक्ति....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहा है उसमें लिखा है। आहाहा! भाई! यह तो आत्मा के श्रेय की बातें हैं, बापू! यह तो जन्म-मरण मिटने की बातें हैं। यह जन्म-मरण का अन्त कब आवे? जन्म-मरण का संयोग वह दु:ख नहीं, परन्तु अन्दर मिथ्यात्व और राग-द्वेष का भाव है, वह दु:ख है। आहाहा! संयोग से कथन तो ऐसा आता है। **'जमं दु:खं, जरा दु:खं रोगाय दु:खं मरणाय अहो दु:खो संसारो जत् किसंति जंतुणं'** जहाँ जीव क्लेश पाता है, दु:खी है। आहाहा! ऐसे संसार में से निकलना, वह संसार का भाव जो स्वभाव में नहीं, आहाहा! ऐसा जो चैतन्यस्वभाव, उसकी अन्तर की एकाग्रता, आहाहा! उस द्वारा आत्मा की शान्ति सम्यक्त्व आदि प्राप्त होते हैं। कहो, समझ में आया?

बाह्यनिमित्त द्वारा नहीं। जहाँ से अर्थात् प्राप्त हुए उस पद से (मोक्षस्थान से) वह वापस नहीं आता... है न? **'यतो नावर्तंते पुन:'** पूर्णानन्द की दशा प्राप्त हो, वह वापस गिरता नहीं अब। वह संसार में नहीं आता। अधूरी दशा उसे पूर्ण में (से) गिरकर नहीं होती। यह शब्द रखने का कारण कहा। लोग कहे न, मोक्ष में गये वे वापस जगत के जीवों को तिराने के लिये अवतरित होते हैं। गीता में है न, भाई? भाई! तुझे खबर

नहीं भाई! आहाहा! एक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ, वह मिथ्यात्व में नहीं आता। वह पूर्णानन्द की प्राप्ति हो और निचलीदशा में आवे (नहीं)—लोगों को इसकी खबर नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं **वह वापस नहीं आता...** है न पाठ में? '**यतो नावर्तते पुनः**' चौथा पद है। पूर्ण परमात्म सहजानन्द वीतराग निजानन्दी स्वरूपी प्रभु, सुख के स्वाद से भरपूर भगवान, उसमें जिसकी एकाग्रता हो, और उस एकाग्रता से ही मुक्त होता है, वह मुक्त की दशा वापस गिरती नहीं। आहाहा! समझ में आया? क्या हो? **अर्थात् फिर से संसार में नहीं भ्रमता।**

भावार्थ - साधक को निर्विकल्पदशा में अपने आत्मा का आश्रय और सविकल्पदशा में अरहन्तादि की उपासनादि होती है। राग हो, तब भगवान और देव-गुरु-शास्त्र की सेवा और वह तो राग होता है तब होती है, तथापि उस राग से आत्मा में जा सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **क्रम-क्रम से आत्मा का आश्रय बढ़ता जाता है...** पूर्णानन्द के नाथ के अवलम्बन में गया, आश्रय लिया। आश्रय शब्द पड़ा है न?

(समयसार) ११वीं गाथा में यह है। '**भूदत्थो खलु**' आश्रय। '**भूदत्थो**' का आश्रित। सत्यार्थ वस्तु का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है। कोई देव-गुरु का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा वस्तु का स्वरूप तीन काल में नहीं है। आहाहा! कठिन। तो फिर उसे ऐसी शंका रहती है कि हम यह सब पण्डित हैं, हम यह सब बातें करते हैं। हमारे से उसे ज्ञान नहीं हो तो वह हमको मानेगा नहीं, बहुमान देगा नहीं। अब परन्तु तुझे क्या काम है? आहाहा! तुझे आत्मा का काम है या दुनिया मान दे, उसका काम है? आहाहा! दुनिया की रिपोर्ट को... क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : सर्टीफिकेट।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्टीफिकेट। इसकी गुजराती भाषा क्या? प्रमाणपत्र। यह दुनिया प्रमाणपत्र दे, तब तो प्रसन्न हो। आहाहा!

मुमुक्षु : क्या तुझमें कुछ नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुझमें माल नहीं प्रमाण का? आहाहा! उसमें आता है न? निजप्रमाण वह प्रमाण है। ऐसा आता है। दूसरे सब प्रमाण नहीं।

मुमुक्षु : वह अपना।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आता है श्लोक। जयधवल में आता है। अनुभव का प्रमाण, वह प्रमाण है।

मुमुक्षु : अपने अनुभव का प्रमाण।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रमाण, वह प्रमाण है। आहाहा! कहते हैं... कहो, शिवलालभाई! यह देव-गुरु ने इनकार किया यहाँ। तुम्हारे पिता ने पूछा था (संवत्) २०१० के वर्ष। देव-गुरु-शास्त्र पर? यह वहाँ अगास (में) भक्ति बहुत करते थे। अगास जाते थे अगास। तब तो लल्लूजी थे। देव-गुरु-शास्त्र शुद्ध है, वे शुद्ध भी पर? लो इतना। यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध, वह अनन्त बार कहते हैं कि वे पर हैं। यह तुझमें उनकी नास्ति और उनमें तेरी नास्ति है। आहाहा! जिस वस्तु में जिसकी नास्ति, उससे उसे लाभ (नहीं) होता। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

जिसने आत्मा का आश्रय शुरुआत से लिया, उसे क्रम-क्रम से आश्रय की वृद्धि करते-करते... आहाहा! बढ़ता जाता है **और भगवान की उपासनादिरूप व्यवहार, घटता जाता है।** देखा! परसन्मुख का विकल्प कम होता जाता है। उससे होता नहीं परन्तु वह घटता जाता है। आहाहा! बहुत कठिन! अभी यह पण्डित और बहुत यह साधु, ऐसी बातें करे। उससे होता है... उससे होता है... अभी कहा नहीं वहाँ भाषण देता था वह सुमति। कैसा? यहाँ साधु आये थे न सात। क्या नाम था? फिर आये थे, भावनगर गये थे। सुमतिसागर? सात व्यक्ति। वहाँ भाषण देते थे, वहाँ तलोद में। लकड़ी के सहारे बिना चला जाता होगा? ऐसा भाषण दे। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि को तो लकड़ी का सहारा होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले न हो परन्तु लोग लकड़ी का सहारा लेते हैं या नहीं? वृद्धावस्था में सहारा किसलिए लेते हैं? निमित्त बिना चलता होगा? ऐसा दृष्टान्त।

मुमुक्षु : आधार लेना तो पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल आधार नहीं, वह लकड़ी लकड़ी के कारण से चलती है। उस समय हाथ में लकड़ी पकड़ी ही नहीं। हाथ से लकड़ी भिन्नरूप से रही हुई है।

मुमुक्षु : परन्तु दरबार को पकड़कर तो चलना पड़ता है। आप देखते हो खिड़की में से।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो देखते हैं न। यह तुम्हारे दरबार आते हैं न, वे। आते हैं। इस बात में कुछ दम नहीं है। एक हाथ में छतरी, एक हाथ में लकड़ी और एक हाथ में ऐसे दरबार। रजकण रजकण को स्पर्श नहीं करता और वहाँ आधार नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आप रोज देखते हो वह खोटा?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखते हैं, क्या देखते हैं? वह चलता है अर्थात् क्या? लकड़ी के कारण चलता है? दरबार के कारण चलता है वह? आहाहा! वह रजकण की क्रिया ऐसी होती है, इसलिए आत्मा चलता है, ऐसा भी नहीं है। आत्मा का क्षेत्रान्तर होता है... इस शरीर का क्षेत्रान्तर हो, इसलिए उसका क्षेत्रान्तर हो—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! मार्ग तो वीतराग का बहुत... बापू! आहाहा!

जब अनन्त द्रव्य हैं, ऐसा तुम मानते हो तो अनन्त द्रव्य को एक द्रव्य का सहारा कहो, तो एक-दूसरे को, दूसरे को तीसरा, तीसरे को चौथे का, तो अनन्त रहेंगे ही नहीं। अमरचन्दभाई! आहाहा! अनन्त द्रव्य जब कहो, अनन्त आत्मा कहो, अनन्त द्रव्य कहो, अनन्त रजकण कहो। आहाहा! उस अनन्त की अनन्तता स्वतन्त्र पर्यायरूप से होती है, तो अनन्त की अनन्तता रहेगी; नहीं तो अनन्त का अन्त आ जायेगा, उसकी दृष्टि में। वहाँ तो है वह है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

आत्मा का आश्रय बढ़ता जाता है और भगवान की उपासनादिरूप व्यवहार, घटता जाता है। आहाहा! उससे नहीं होता परन्तु अन्तर आश्रय बढ़ता जाता है और यहाँ से घटता जाता है, तब होता है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें, भाई! **अपने आत्मा की उपासना पूर्ण होने पर,...** भगवान आत्मा की सेवा पूर्ण होने पर **भगवान की उपासनारूप विकल्प का भी अभाव होता है;...** भगवान की सेवा-पूजा, वह विकल्प है, वह राग है

उसका तो अभाव होता है। आहाहा! **इसका नाम भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की नित्य भावना करना कहा जाता है।** भिन्न-अभिन्न की व्याख्या हुई। छोटुभाई ने...

इस प्रकार वीतरागता पूर्ण होने पर... आहाहा! भगवान आत्मा का आश्रय पूर्ण होने पर उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। वह **जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है...** मोक्ष प्राप्त करता है। आहाहा! उसमें मन्दिर, प्रतिमा और भगवान साक्षात् और उनकी वाणी कोई मदद नहीं करता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : यहाँ मदद करे, ऐसा समझ में कहाँ आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : मदद कौन करे? कहाँ अन्दर है, वह मदद करे? अन्दर में भाव हो, वह उसे मदद करे। यह तो आ गया नहीं? समाधिशतक में?

शरीर का भगवान आत्मा में अभाव है। तो (शरीररूप) भाव का कर्ता अभाव(रूप) आत्मा कैसे हो? पश्चात् कहा कि कर्म का जीव में अभाव है तो वह कर्म का कर्तापना अन्दर कैसे हा? पश्चात् कहा, राग का भगवान आत्मा में अभाव है, तो अभाव है, वह आत्मा राग को कैसे करे? आहाहा! ऐसे देव और गुरु में आत्मा का अभाव है तो उनसे यहाँ काम हो, ऐसा कैसे बने? आहाहा! समझ में आया? देव-गुरु का अभाव है इसमें? अब अभाव है, वह यहाँ भाव को कैसे करे? भारी रूखा लगे, हों!

केवलज्ञान प्राप्त करके (जीव) मोक्ष प्राप्त करता है और मोक्षस्थान प्राप्त करने के बाद, जीव कभी वापस संसार में नहीं आता, क्योंकि उसके राग का सर्वथा अभाव वर्तता है। राग का; जहाँ एक सम्यक् आनन्द का भान हुआ, वह भी वापस आता नहीं, तो जिसे पूर्णता हुई, वह वापस कैसे गिरे? आहाहा! इसे पूर्णता की खबर नहीं। आहाहा! **राग के बिना, संसार अर्थात् भव-भ्रमण / जन्म-मरण नहीं होता।** ऐसा कि वापस क्यों नहीं आता? ऐसा सिद्ध किया। स्व के आश्रय से वीतरागता पूर्ण प्रगट हुई, उसे राग नहीं तो राग नहीं तो वापस कैसे मुड़े? आहाहा!

क्या कहलाता है? यह जीव मर गया, उसे क्या कहा जाता है? वापस फिरा, कहते हैं न? जीव मरता है, ऐसा नहीं। जीव वापस मुड़ा। ऐसा नहीं कहते? जीव वापस हुआ, ऐसा कहते हैं न। जीव वापस हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वहाँ से नहीं

और अन्यत्र गया। रागी प्राणी है, वापस हुआ है यहाँ से, और वापस अन्यत्र गया। आहाहा! यह शोकपत्र में लिखा जाता है। पोपटभाई! अपने को तो ऐसी कुछ खबर नहीं। बातें सुनी हो।

मुमुक्षु : पत्र लिखने पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र लिखने पर। ऐसा सुना है। जीव वापस हुआ। बड़े भाई वापस हुए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अर्थात् फिर से वापस अन्यत्र जायेंगे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा जहाँ पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई, वह वापस मुड़ता नहीं अब। आहाहा! पूर्णानन्द की दशा रहेगी, उसे यहाँ मोक्ष कहा जाता है।

विशेष - जिन्होंने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा का पूर्ण विकास साधा है,... भगवान आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के लिये वह वस्तुरूप से तो है, शक्तिरूप से तो है, उसकी पर्याय में प्राप्ति के लिये। आहाहा! **जिन्होंने आत्मा का पूर्ण विकास साधा है,...** जिसकी दशा में आत्मा का पूर्ण विकास साध्य हो गया है **उन अरहन्त और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, तद्रूप होने की भावना में मग्न रहना...** आहाहा! **उन अरहन्त और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, तद्रूप होने की भावना में मग्न रहना...** अर्थात् केवलज्ञान होने के लिये आत्मा में मग्न रहना।

और फिर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने का सदा दृढ़ अभ्यास करना। आहाहा! अपना अभ्यास आश्रय करके। **ऐसा करने से वचनातीत अतीन्द्रिय परमात्मपद की प्राप्ति होती है।** आहाहा! **वह पद प्राप्त करने के बाद, संसार में पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। सदा के लिए संसार के सर्व प्रकार के दुःखों से जीव का छुटकारा होता है...** मोक्ष शब्द पड़ा है न इसलिए। मोक्ष अर्थात् छूटना होता है न? दुःख से मुक्त होता है। सुख की प्राप्ति करता है, यह तो अस्ति से (कथन है)। मोक्ष शब्द लेना है न? दुःख से छूटता है। दुःख से छूटता है, सुख से प्राप्त होता है। अस्ति-नास्ति। आहाहा!

बात यह है कि जिसे अपने स्वभाव के सामर्थ्य की खबर नहीं, उसे ऐसा कि निमित्त से होगा, मैं पंगु हूँ, मुझे सहारा मिलेगा। आहाहा! समझ में आया? सोलह

कारण भावना है न? तीर्थंकरगोत्र। यह सब तो राग है। यह मुझे तो वहाँ यह लेना था, वह अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं न लोग? अमुक अभीक्ष्ण, परन्तु अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, वह विकल्प है।

मुमुक्षु : वह तो मन का कारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन का कारण। आहाहा! यह सोलह बोल में आता है, भाई! अभीक्ष्णज्ञानोपयोग। अभीक्ष्ण—बारम्बार उसके भेद के विकल्प का विचार, वह भी विकल्प—राग है। स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता, वह वीतरागता है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी अशुद्ध उपयोग है। आहाहा! और वह अशुद्ध उपयोग तीर्थंकरप्रकृति बाँधने में निमित्त है।

भगवान आत्मा का शुद्ध उपयोग, वह बन्ध को निमित्त नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कहो, सोलह बोल लिये हैं न? दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, वैयावृत्य, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, छह आवश्यक की परिहारणी न होना, सामायिक आदि... वह सब विकल्प है वह तो। आहाहा! बन्धन आया न? सवेरे कहा था न वह? निह्नव और अन्तराय... यह रखा है हों! पुस्तक रखी थी न? नहीं? है... है। यह आज देखा था। वह सब देखा था।

प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, असातना, उपघाता—इन छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधता है। परन्तु यह भाव जो है, वह शुद्ध उपयोग से विरुद्ध भाव है। आहाहा! समझ में आया? और वह ज्ञानावरणीय बन्धन तो परमाणु की उसकी पर्याय से परिणमता है। उसे यह भाव निमित्त है। तो कहते हैं कि शुद्ध उपयोग में यह अशुद्ध उपयोग है ही नहीं। आहाहा! आत्मा का तो शुद्ध उपयोग, वह आत्मा का है। ऐसे अशुद्ध उपयोग की अस्ति है, परन्तु वह आत्मा का नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव आत्मा का नहीं। यह तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। ऐसे बहुत शब्द आते हैं, हों! उन सोलह में नहीं। दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता... लो! विनयसम्पन्नता, वह विकल्प है। देव-गुरु के बहुत विनय में आना, वह विकल्प है, राग है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! बातें कठिन, भाई!

शीलवृत्ति... अणअतिचारो। अपने व्रत में अतिचार न होने देना, ऐसा भी एक विकल्प है, राग है। आहाहा! अभीक्ष्णज्ञानोपयोग लो। यह लोग बहुत करे कि ज्ञान उपयोग अभीक्ष्ण बारम्बार ज्ञान उपयोग। परन्तु अर्थात् क्या? आहाहा! उस ज्ञान के विकल्प की चर्चा आदि, वह सब अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, वह तो विकल्प है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उपाध्याय हों वे....

पूज्य गुरुदेवश्री : उपाध्याय भी वे हैं। उपाध्याय का लक्ष्य जाये तो राग है और उपाध्याय दूसरे को पढ़ाने जाये, वहाँ राग है। यहाँ तो संवेग को विकल्प कहा है। संवेग से तीर्थंकरगोत्र बँधता है न? आहाहा! शक्ति तप-त्याग। शक्ति प्रमाण तप—त्याग, वह भी एक विकल्प है। आहाहा! वीतरागपना तो स्व के आश्रय से होता है। पर के प्रति आश्रय जाता है, वहाँ तो राग ही होता है। आहाहा! तपसी, साधु, समाधि... साधु को समाधि देना अर्थात् आहार—पानी की अनुकूलता, सेवा, वह सब विकल्प-राग है। समझ में आया?

श्वेताम्बर में ऐसा कहा जाता है पाठ में—भगवतीसूत्र में। साधु को आहार-पानी दे तो संसारपरित होता है। बिल्कुल झूठी बात है। परद्रव्य को चाहे तो तीर्थंकर हो, जब छद्मस्थरूप से और साधुपने में हों, भिक्षा लेने आवे, उन्हें आहार-पानी दे तो वह शुभराग विकल्प है। आहाहा! उससे धर्म होता (नहीं), ओहोहो! ऐसा स्वरूप इसे सुनने में भी इसको मेहनत पड़ती है। आहाहा!

मुमुक्षु : झटका लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : झटका लगता है। सच्ची बात है। वैयावृत्त्य, लो ठीक।

यह एक चर्चा चली थी हमारे बहुत वर्ष पहले, हों! कि वैयावृत्त्य करने से तीर्थंकरगोत्र बँधता है। आता है '**वैयावच्चे भंतेजीवेकिं भणइ**' २९ बोल, ७३ बोल, २९ में कहा भाई! इस वैयावृत्त्य से निर्जरा नहीं, यह तो विकल्प है। बहुत वर्ष पहले की बात है। सेंथळी है, बोटाद के पास सेंथळी गाँव है। वहाँ के एक साधु हुए न मूलचन्दजी, बोटाद का। वहाँ वह ठाकरसी गोपाणी का लड़का भूरा। शिवलालभाई! ठाकरशी गोपाणी थे न? वस्ता गोपाणी और ठाकरशी गोपाणी। उनका भूरा है न अभी अहमदाबाद

में? अपने खाड़िया के मन्दिर के पास, ऐसा है। व्याख्यान में आता है। पुराना व्यक्ति बहुत समय का।

वह वहाँ गोपाणी का अन्दर था। वह लाया था यह चर्चा। सेंथळी। कि वहाँ तो मूलचन्दजी ऐसा कहते हैं कि वैयावृत्त्य से लाभ होता है, निर्जरा होती है। मैंने कहा, बापू! ऐसा नहीं, हों! वैयावृत्त्य से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, इसका अर्थ क्या हुआ? वह तो राग है। ऐई... भाई! सेंथळी नहीं? वह साधु हुआ है सेंथळी... हुआ। अभी हुआ है। यह तो बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९८१ की बात है। गढडा में चातुर्मास के लिये जाना था न। ८१-८१। गढडा में चातुर्मास के लिये जाना था। वर्षा बहुत आ गयी थी। तब वहाँ ऐसा सीधे जाते थे। खस से सेंथळी होकर गढडा जाते थे। उस दिन की बात है। कितने वर्ष हुए? ५०। वे मूलचन्दजी ऐसा कहते हैं।

बापू! वैयावृत्त्य से तो तीर्थंकरगोत्र बँधता है, ऐसा कहा है। उसमें निर्जरा की खबर कहाँ आयी? यह प्रवचनसार में आता नहीं है? साधु को कोई रोग हो, यह हो, दूसरे साधु को उसकी वैयावृत्त्य करना चाहिए। यह विकल्प में आवे तो उसका ख्याल आवे तो वैयावृत्त्य में जाता है। बाकी ध्यान में हो तो विकल्प न आवे तो वैयावृत्त्य का लक्ष्य भी नहीं होता। आहाहा! शक्ति-तप-त्याग, साधु वैयावृत्त्य। अब यह वैयावृत्त्य। अरहन्त, आचार्य, बहुश्रुत प्रवचन भक्ति। अरिहन्त की, आचार्य की बहुश्रुत की प्रवचन की भक्ति, वह शुभराग है। तीर्थंकरगोत्र बाँधने का कारण है।

आवश्यक अपरिहारणी। छह आवश्यक को हीन न होने देना। छह आवश्यक बराबर करना, वह भी विकल्प है। आहाहा! मार्ग प्रभावना। लो! प्रवचन वात्सल्यं। मार्ग प्रभावना के लिये यह मैंने किया। आया न? नियमसार में। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय। नियमसार में तो मैंने मेरी भावना के लिये यह बनाया है। पंचास्तिकाय में प्रवचन की भक्ति से मैंने यह किया है, ऐसा कहा। विकल्प है न। ... आहाहा! मार्ग बहुत, भाई!

९९। **वह पद प्राप्त करने के बाद, संसार में पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। सदा के लिए संसार के सर्व दुःखों से जीव का छुटकारा होता है और वह सदा ज्ञानानन्द में मग्न रहता है।** आहाहा! **प्रस्तुत श्लोक में 'स्वतः एव' शब्द बहुत अर्थसूचक है।**

लिखते हैं भाई छोटाभाई विशेष। स्वत: शब्द है न? **वह बताता है कि परमात्मपद की प्राप्ति अपने में से ही, अपने पुरुषार्थ से ही होती है।** है न? आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की कोई भी उसे मदद है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

पुरुषार्थ से ही होती है। उसमें तीर्थंकर भगवान आदि की उपासना, दिव्यध्वनि,... भी आत्मा को काम करता नहीं लाभ। आहाहा! भगवान की दिव्यध्वनि से भी आत्मा को समकित नहीं होता, ज्ञान नहीं होता।

मुमुक्षु : यह परमात्मप्रकाश में ऐसा लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें आया, दिव्यध्वनि का आया है। वेद और शास्त्र। वेद अर्थात् दिव्यध्वनि और शास्त्र अर्थात् मुनियों के शास्त्र, ऐसा। दिगम्बर सन्तों ने कहे हुए। उनसे भी आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह रूखा लगता है। वीतरागभाव है न बापू यह तो। आहाहा!

दिव्यध्वनि, गुरु का उपदेश आदि बाह्यनिमित्त होने पर भी, निमित्तों से निरपेक्षपने... निमित्त से निरपेक्षरूप से **परमपद की प्राप्ति होती है;...** आहाहा! राग की, मिथ्यात्व की उत्पत्ति भी कर्म के निमित्त की उपेक्षा से (अर्थात्), जिसे परकारक की अपेक्षा नहीं। विकार होने में परकारक की अपेक्षा नहीं। निर्विकारी होने में पर निमित्त की अपेक्षा नहीं। आहाहा! यह बहुत कठिन। निमित्त को लोग भारी स्थापित करते हैं। वह यहाँ आचार्य तो निमित्त को उड़ा देते हैं। हैं? आहाहा!

'निमित्तों से कभी नहीं होती, क्योंकि जहाँ तक निमित्तों की ओर लक्ष्य होता है, वहाँ तक आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं जाता। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बात हो गयी। इसमें नहीं शब्द वह। बाद में आयेगा। यहाँ तो यह दूसरा पेरेग्राफ चलता है न अभी तो! दूसरा चलता है।

निमित्तों से कभी नहीं होती, क्योंकि जहाँ तक निमित्तों की ओर लक्ष्य होता है, वहाँ तक आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं जाता। वहाँ तक आया है। बाद का पेरेग्राफ आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल २, शनिवार, दिनांक ०९-०८-१९७५, श्लोक-९९-१००, प्रवचन-११४

९९ का अन्तिम भाग। ९९ गाथा है न? **परमात्मा होने की शक्ति अपने में ही विद्यमान है;...** समाधितन्त्र है न? समाधितन्त्र अर्थात् समाधिशास्त्र अथवा समाधिरूप औषधि, कि जिस औषधि से जन्म-मरण रोग मिटता है। तो कहते हैं कि वह जन्म-मरणरहित उसका स्वभाव ही शक्तिरूप से परमात्मा है। भगवान आत्मा का स्वभाव अबद्धस्पृष्ट अर्थात् मुक्त है। ऐसी मुक्त होने की ही उसमें शक्ति है। आहाहा! समझ में आया? यह आत्मा जो है, वह परमात्मा होने की शक्ति अर्थात् पूर्ण परमात्मदशा पर्याय में (प्राप्त) हो, ऐसी उसमें ताकत ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : त्रिकाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाल। आहाहा!

परमात्मा होने की... परमस्वरूप की प्राप्ति पर्याय में पूर्णानन्द की, पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होने की शक्ति अपने में मौजूद है। आहाहा! **उस शक्ति का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान-ज्ञान करके,...** छोटाभाई ने इसका स्पष्टीकरण साधारण स्पष्ट संक्षिप्त में किया है। परमात्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, परम-आनन्द सहज निजात्म वीतराग आत्मस्वभाव में आनन्द के रस में वह स्वरूप लीन ही है प्रभु। आहाहा! समझ में आया? वह सोलह सोलह आने (पूर्ण) आनन्दस्वभाव से भरपूर भगवान है। आहाहा! वह अपनी शक्ति का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान (करके)। परन्तु उसकी श्रद्धा में यह आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। उसे विश्वास आना चाहिए कि मैं तो पूर्ण आनन्द और पूर्ण वीतराग मुक्तस्वरूप ही हूँ। आहाहा! अरे! वस्तु है, वह तो कृतकृत्य ही है। समझ में आया? ऐसा उसका विश्वास में, रुचि में, श्रद्धा में, पोषाण आना चाहिए। आहाहा! कहो, डाह्याभाई! पहली बात यह है। आहाहा! व्यवहार-ब्यवहार के विकल्प इसके स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! और यह अल्पज्ञ रहे, ऐसा इसमें स्वभाव नहीं। आहाहा! यह तो पूर्ण ज्ञानानन्द सहजात्मस्वभाव होने की शक्तिरूप से पड़ा हुआ तत्त्व है। आहाहा!

वर्तमान पर्याय की प्रगटता के वेदन में पर्याय के पीछे क्या है, उसकी इसे प्रतीति

नहीं। आहाहा! क्योंकि प्रगट पर्याय है। वस्तु है, वह अप्रगट-अव्यक्त कही है न? अव्यक्त है, वह पर्याय की अपेक्षा से (बात है)। वस्तुरूप से तो सत्ता प्रगट ही है। आहाहा! उसकी श्रद्धा, उसकी श्रद्धा अर्थात् उसके ज्ञान में यह चीज़ भासित होती है कि यह तो पूर्ण मुक्तस्वरूप है, अबद्धस्पृष्ट है—ऐसा जिसे अन्दर ज्ञान की पर्याय में , उसे ध्येय-ज्ञेय बनाकर ध्यान में उसका ज्ञान हो, तब उसकी इसे प्रतीति हो कि आत्मा ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वस्तु मौजूद पड़ी है, यह मौजूद पड़ी है। उसकी शक्ति सिद्ध होने की उसकी शक्ति ही है। विपरीतरूप से रहना या अल्पज्ञरूप से रहना, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! ज्ञानरस—यह सत् का सत्त्व ज्ञानरस, ज्ञान से परिपूर्ण पड़ा हुआ है। आनन्द के रस से परिपूर्ण पड़ा हुआ तत्त्व है। ऐसा जो अन्दर श्रद्धागुण है, ऐसे श्रद्धागुण से परिपूर्ण पड़ा हुआ वह तत्त्व है। प्रगट श्रद्धा दूसरी बात है। और शान्त... शान्त... शान्त... अकेला शान्तरस अर्थात् कि चारित्रभाव। पर्याय की बात नहीं, त्रिकाल (चारित्रभाव) अर्थात् कि वीतरागभावस्वरूप ही यह आत्मा है। इसकी शक्ति वीतराग होने की ताकतवाली है। आहाहा! उसे प्राप्त करने के लिये बाहर से किसी साधन की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही साधन है। आहाहा!

उस शक्ति का... शक्ति अर्थात् सत्त्व, उसका सामर्थ्य, उसका स्वभाव। परमेश्वर होने का ही उसका स्वभाव है। प्रभुत्वरूप से होना, वह उसका स्वभाव है। समझ में आया? परन्तु उस शक्ति का सम्यक् प्रकार से, वह कैसे कहा? कि ज्ञान में तो इसे बैठै धारणा में। ग्यारह अंग पढ़ा है, उसमें यह बात इसे आयी थी न? नहीं आयी थी? द्रव्य का ज्ञान तो इसे आया था। परन्तु उस द्रव्य का ज्ञान स्वरूप—सन्मुख होकर 'यह है' ऐसा ख्याल में आये बिना उसकी इसे प्रतीति थी? आहाहा! समझ में आया?

यह कहा नहीं था एक बार? भाई ने प्रश्न किया था। वारिया। यह तुम आत्मा को कारणपरमात्मा कहते हो, तो कारणपरमात्मा हो, उसका कारण है तो कार्य आना चाहिए। भाई... तुम्हारे त्रिभुवनभाई। त्रिभुवनभाई, वहाँ उसे खबर है न? कारणपरमात्मा जब तुम कहते हो तो कारण है तो उसका कार्य आना चाहिए। बराबर है। परन्तु वह

कारणपरमात्मा है, ऐसी दृष्टि और विश्वास में आया है उसे? वह कारणपरमात्मा विश्वास में आवे तो वह कारणपरमात्मा है, ऐसा इसके ख्याल में आया। तो उस कारणपरमात्मा का स्वभाव पूर्णानन्द है, ऐसी प्रतीति हुई तो वह सम्यक् कार्य आया। समझ में आया?

यहाँ सम्यक् प्रकार से शब्द प्रयोग किया है न! वह साक्षात्रूप से जैसी चीज़ है, पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शान्ति, शान्ति का सागर है। ऐसी उसे स्वसन्मुख होकर उसके विषय में वह ज्ञेय होकर वह ज्ञान में ज्ञात हो, तब उसे प्रतीति यथार्थ होती है। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा मार्ग गजब, भाई! लोगों को बाहर से खोजना है और बाहर में है नहीं। आहाहा! क्योंकि बहिरात्मा उसे कहते हैं कि जो उसकी चीज़ में नहीं, उसे (अपनी) मानना। अपने को पुण्यवाला, दयावाला, दानवाला, भक्तिवाला आत्मा मानना। वह भाव तो उसमें है नहीं। उसे मानना, वह तो बहिरात्मा हुआ। जो बाह्य है, वह उसमें नहीं, उसे मानना तो बहिरात्मा है। आहाहा! जो अन्तर में है, उसे मानना वह अन्तरात्मा है। समझ में आया? बात जरा सूक्ष्म लगे परन्तु बात तो यह है। आहाहा! क्योंकि बाह्य के कोई कारण राग की मन्दता के, भक्ति के, पूजा के, यात्रा के करे, उससे वह प्राप्त हो, ऐसा वह आत्मा नहीं है। आहाहा! वह तो परमात्म-परमेश्वरस्वरूप ही है।

प्रत्येक गुण ईश्वरता धराता है। प्रभुत्व गुण है न, उसका एक प्रभुत्वगुण है। उसमें परमेश्वर होने का गुण है। उसमें शक्ति कहा न यहाँ? वह प्रभुत्व ऐसा उसका शक्ति-गुण ही है और इसलिए वह प्रभु हो सके, ऐसी ताकत वह रखता है। आहाहा! ऐसे-ऐसे अनन्त गुण प्रत्येक गुण को प्रभुत्वपना लागू पड़ता है। समझ में आया? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, ऐसे अनन्त सामान्य गुण और विशेष गुण, अनन्त हैं दोनों। अस्तित्व आदि छह है, वह तो साधारण संक्षिप्त व्याख्या करके आचार्य ने कहा। परन्तु वापस ऐसा कहा कि भाई! यदि भगवान आत्मा में वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि छह सामान्य कहे, वह इतने ही हैं, ऐसा नहीं। सामान्य अनन्त हैं। आहाहा! सामान्य गुण अनन्त हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, द्रव्यत्व ऐसे छह तो संक्षेप में-संक्षेप में समझाने के लिये कहे हैं। ऐसे अनन्त हैं एक आत्मा में। और ज्ञान, दर्शन और आनन्द, ऐसे विशेष भी अनन्त गुण हैं उसमें। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण का शक्ति का सत्त्व वह परमात्मा और उस प्रत्येक गुण

को वह ईश्वरता लागू पड़ती है। प्रभुत्व कहा न ? प्रत्येक गुण को परमेश्वरता, ईश्वरता लागू पड़ती है। ऐसी ईश्वर शक्ति का वह धनी है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

कहते हैं, उसे **सम्यक् प्रकार से श्रद्धान...** अर्थात् कि सत्य का सत्‌रूप से श्रद्धान। कल्पनारूप से, धारणारूप से—ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया ? **सम्यक् प्रकार से श्रद्धान...** और सम्यक् सच्चेरूप से उसका ज्ञान, उसे ज्ञेय बनाकर, ध्यान का ध्येय बनाकर, ध्यान में उसका विषय बनाकर जो ज्ञान होता है, वह उसका ज्ञान कहलाता है। यह शास्त्र पठन-बठन वह सब ज्ञान नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा कहा न ? **उस शक्ति का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान-ज्ञान...** उसका ज्ञान। प्रवीणभाई! शास्त्र पढ़े, वह ज्ञान नहीं। वह उसका ज्ञान नहीं। वह तो परसत्तावलम्बी ज्ञान बन्ध का कारण ज्ञान। जो शक्ति और सत्त्व है प्रभु का... ओहोहो! परमेश्वर, परमेश्वर शक्ति से पूरा प्रभु है। एक-एक शक्ति से, ऐसी अनन्त शक्ति का ईश्वरपना उसका स्वभाव ही है। ऐसी उसे सम्यक् श्रद्धा होती है, सत्य-सच्ची श्रद्धा होती है, सच्ची-सत्य-जिस प्रकार से है, उस प्रकार से प्रतीति में आवे कब ? कि उसके सन्मुख होकर जब उसमें लीन हो। फिर चारित्र लिया है।

सम्यक् प्रकार से श्रद्धान-ज्ञान करके, आत्मसन्मुख होकर,... यह तो सन्मुख हुआ, तब उसे ज्ञान और श्रद्धा हुई। परन्तु अधिक उसमें स्थिर होने की जरा यहाँ बात लेते हैं। **आत्मसन्मुख होकर, उसे प्रगट करने का अविरत प्रयत्न किया जाए...** स्वरूप में जो शुद्ध चैतन्य भगवान। आहाहा! एक तो यह बात है कि बाह्य कोई भी पदार्थ की सुन्दरता की अधिकता जिसे भासित होती है और बाह्य की चीज़ का दिखाव होने से किंचित् वीर्य में हर्षित-उल्लसित वीर्य हो, वह पर में सुख माननेवाले हैं। आहाहा! शरीर की सुन्दरता, पैसे की अनुकूलता, यह पैसे की अनुकूलता, स्त्री की अनुकूलता, मकान पाँच-पच्चीस लाख का बनाकर, क्योंकि देखने से जरा अन्दर ऐसे प्रसन्नता आ जाये तो उसे यह पर में सुखबुद्धि है। उसे स्व सत्त्व सुख की ईश्वरता से भरपूर है, उसकी उसे श्रद्धा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

कोई भी पदार्थ—इन्द्र के इन्द्रासन, करोड़ों इन्द्राणियों के संयोगवाला इन्द्र। वह

भी सुनते हुए उसे कुछ गहराई में ऐसा आवे कि आहाहा! तो उसे उस परपदार्थ में अभी प्रसन्नता है। आहाहा! इसका अर्थ कि परपदार्थ में मेरा सुख है। मुझे जो मजा आता है, वह परपदार्थ के लक्ष्य से मेरा मजा पर में है। आहाहा! मेरा मजा का स्वभाव ही मेरा अनन्त आनन्द वह मजारूप है। आहाहा! उसके ऊपर वीर्य को उल्लसित करके, वीर्य में उल्लसित होकर, जैसे ऐसे उल्लास पाता है जरा बाहर में, वह उल्लास बाहर का छोड़कर। आहाहा! अन्तर में सन्मुख होकर उसे प्रगट करने का शक्तिरूप है, उसे व्यक्त करने का, शक्ति को बाह्य में व्यक्तरूप आवे उसके लिये अविरत... आहाहा! प्रयत्न करने में आवे। अविरत अर्थात् निरन्तर उसके सन्मुख प्रयत्न किया जाये तो परमपद की प्राप्ति अवश्य होती है। उसे मुक्ति—परमात्मपद सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? यह ९९ का इन्होंने योगफल किया।

अब १००। १०० गाथा। यह रानियाँ आदि उसमें होती हैं न? क्या कहलाता है वह? अन्तर पर्दे में—अन्तर पर्दे में। पर्दे में हो वे बाहर आवे तो लोग ऐसे चल निकलें देखने के लिये। आहाहा! यह रानी साहेबा आनेवाली हैं। भावनगर की रानी बाहर निकली थी एक बार पहले। पर्दे में थीं। फिर सब छोड़ दिया था न। बाहर खुल्ले... लोग ऐसे देखने (निकले हुए)। ओहोहो! वह देखने की उसे विस्मयता आती है। वह आनन्द आत्मा की विस्मयता भूल गया है। समझ में आया? यह वडिया है न भाई वडिया? वहाँ थे भाई तब तुम और नाराणभाई को थे। (संवत्) १९९६, ९६ में। वडिया दरबार की रानी थीं। लोगों को तो....

मुमुक्षु : व्यवस्थापक थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्थापक थे। भाई खीमचन्दभाई को? व्यवस्थापक थे खीमचन्दभाई। फिर वहाँ यह राजा होशियार था जरा लौकिक। इसलिए राजा के पुत्र–कुँवर राजपद प्राप्त होने से पहले उसके पास सब लेने आते थे। क्या कहलाता है तुम्हारा वह अभ्यास।

मुमुक्षु : छोटे कुँवर हों न, उन्हें तैयार करने के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : तैयार करने के लिये वे राज के पास लाते। राजा के पास लाते।

वे राजा के कुँवर सब व्याख्यान में आते तब ९६ में। वहाँ हम जूनागढ़ से इस ओर निकले थे। मुझे तो दूसरा कहना है। लोगों को तो ऐसा कि यह राजा ऐसा होशियार, जिसके घर में राजा के कुँवर पढ़ने आवे-अभ्यास करने (आवे)। राज की पद्धति कैसी? उसकी रानी वह कैसी होगी? लोगों को देखने का मन हो। उसमें हमारे आहार के समय की प्रार्थना की दरबार ने। महाराज! घर में आहार लेने पधारो। वहाँ ब्राह्मण की रसोई है। राजा तो ठिकाने बिना के होते हैं न! परन्तु ब्राह्मण की रसोई थी। अन्दर जहाँ गये तो रानी थी, वह देखो तो तुम्हारे बड़ी बोरी जैसा (शरीर)। कोठी हो न कोठी? लटकता कुछ ठिकाना नहीं होता। तब खड़ी थी, आयी थी। लड़ती थी, अन्दर पर्दे में थी। अन्दर गये थे। ऐसे दूसरे को ऐसा होगा कि रानीसाहेबा कैसी होगी ऐसी राजा की रानी? उसकी विस्मयता जगत को लगती है।

इसी प्रकार विकल्प की आड़ में प्रभु है, उसकी इसे खबर नहीं और उसकी विस्मयता इसे लगती नहीं। यह और तो ठिकाने बिना की दिखाई दी। यह तो ठिकानेवाला है अन्दर। प्रवीणभाई! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है यह। अतीन्द्रिय आनन्द भी जिसमें परिपूर्ण सत्त्व, सत् का सत्त्व रूप से, सत् ऐसा आत्मा, उसके भावरूप से, सत्त्व अर्थात् भाव। उसके भाव की परिपूर्णता आनन्द जिसमें पड़ा है। आहाहा! सिद्ध को जो आनन्द होता है, वह तो एक समय की पर्याय का आनन्द है। ऐसा तो अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त आनन्द पड़ा है। उसकी इसे अन्तर में से सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान होकर सन्मुख होकर निरन्तर प्रयत्न करे (तो) परमात्मा हुए बिना रहे नहीं। बाहर का क्रियाकाण्ड करके व्यवहार से नहीं होता। बीच में व्यवहार आता अवश्य है, जब तक (पूर्ण वीतरागता न हो तब तक), परन्तु वह व्यवहार दखलरूप है। आहाहा!

श्लोक - १००

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य तत्पदप्राप्तिः स्यात्। न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरा-त्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः। सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह -

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥ १००॥

चित्तत्त्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि भूतजं पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति। एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तियोगस्यात्मन एव तन्मत्ते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः। सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं। सता शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरुपायमुक्तिप्रसिद्धेः अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम्। तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं। भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची। मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्म-स्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात्। अथवा अन्यथा प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्वं न भवति। तदा योगतः स्वरूपसंवेदनात्मकचित्त-वृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं। यत एवं तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा योगिनां दुःखं न भवति। आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात्॥१००॥

आत्मा है—ऐसा सिद्ध हो तो उसे उस पद की प्राप्ति सम्भव है परन्तु वह आत्मा चार तत्त्वों के समूहरूप शरीर से भिन्न, अन्य तत्स्वरूप सिद्ध नहीं होता—ऐसा चार्वाक मानते हैं और सर्वदा स्वरूप की उपलब्धि का सम्भव होने से, आत्मा सदा ही मुक्त है—ऐसा सांख्यमत है। उनके प्रति कहते हैं —

पञ्चभूत से चेतना, यत्न-साध्य नहीं मोक्ष।
योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग॥ १००॥

अन्वयार्थ - (चित्तत्वं) चेतना लक्षणवाला, यह जीवतत्त्व (यदि भूतजं) यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ हो तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यत्न से साधने योग्य नहीं रहे (अन्यथा) अथवा (योगतः) योग से अर्थात् शारीरिक योगक्रिया से (निर्वाणं) निर्वाण की प्राप्ति हो तो (तस्मात्) उससे (योगिनः) योगियों को (क्वचित्) किसी भी अवस्था में (दुःखं न) दुःख नहीं हो।

टीका - चित्तत्त्व, अर्थात् चेतनास्वरूप तत्त्व यदि भूत ही हों, अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुरूप भूतों में से उत्पन्न हुआ मानने में आवे तो निर्वाण अयत्न साध्य रहे अथवा यत्न से निर्वाण साधने योग्य न रहे। इस शरीर के परित्याग से, विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति-योग्य आत्मा का उनके मत में (चार्वाक के मत में) अभाव है क्योंकि (वे) मरणरूप (शरीर के) विनाश से, उत्तरकाल में आत्मा का अभाव (मानते) हैं।

'सांख्यमत में भूत ही अर्थात् सहज भवन सो भूत / शुद्धात्मतत्त्व—उसमें उत्पन्न हुआ, वह। उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है — ऐसे प्रकार का चित्तत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य हो अर्थात् यत्न से / ध्यान के अनुष्ठानादि से निर्वाण साधने योग्य नहीं रहता, क्योंकि नित्य शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव में सर्वदा ही आत्मा की निरुपाय (अयत्नसाध्य) मुक्ति प्रसिद्ध है।

अथवा (इस श्लोक में) अयत्न इत्यादि वचन हैं, वे निष्पन्न इतर योगियों की अपेक्षा से हैं। वहाँ निष्पन्न योगी की अपेक्षा से चित्तत्त्व यदि भूत हो अर्थात् स्वभाव ही हो, (यहाँ भूत शब्द को स्वभाव के अर्थ में समझना) अर्थात् मन, वाणी, काया, इन्द्रियों आदि से अविक्षिप्त आत्मस्वरूपभूत अर्थात् उसमें उत्पन्न हुआ हो अर्थात् उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है — ऐसे प्रकार का चित्तत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है क्योंकि वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले के कर्मबन्ध का अभाव होने से, निर्वाण बिना प्रयास के सिद्ध है।

अथवा अन्य प्रकार से प्रारब्ध योगी की अपेक्षा से भूत ही चित्तत्त्व न हो, तो

योग द्वारा स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्ति के निरोध के प्रकर्ष अभ्यास से निर्वाण होता है; इसलिए क्वचित् भी अवस्था विशेष में अर्थात् दुर्धर अनुष्ठान में अथवा छेदन-भेदनादि में योगियों को दुःख नहीं होता, क्योंकि आनन्दात्मक स्वरूप के संवेदन में उनको उनसे उत्पन्न होते दुःख के वेदन का अभाव है।

भावार्थ - चार्वाक मतानुसार जीवतत्त्व, भूत ही है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इस भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है। यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुए शरीर को ही आत्मा माना जाए तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानने का प्रसङ्ग आये और इससे मोक्ष अयत्न साध्य रहे अर्थात् निर्वाण के लिए अन्य किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता न रहे; इसलिए शरीर का नाश होने पर, आत्मा का अभाव मानना और आत्मा के अभाव को मोक्ष मानना—ऐसी चार्वाक की जीवात्मा सम्बन्धी कल्पना भ्रममूलक-मिथ्या है।

'सांख्यमतानुसार' आत्मा ही भूत अर्थात् सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्धस्वरूप ही है, वे उसको सर्व अवस्थाओं में शुद्ध ही मानते हैं। निर्वाण के लिए सम्यग्ज्ञान, ध्यान, तपादिरूप पुरुषार्थ की उनको आवश्यकता नहीं; उनके मत से मोक्ष अयत्नसाध्य है; इसलिए सांख्य की कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

'जैनमतानुसार' स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्ति के (विभाववृत्ति के) निरोध के दृढ़ अभ्यास द्वारा, सर्व विभावपरिणति को हटाकर, शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरतारूप निर्वाण 'यत्नसाध्य' है और वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को स्वयं कर्म का अभाव होने से, निर्वाण की सिद्धि, कर्म अपेक्षा से प्रयत्न बिना अर्थात् 'अयत्नसाध्य' होती है क्योंकि कर्म, पुद्‌गल है; जीव उनकी अवस्था नहीं कर सकता; इसलिए उनके अभाव के लिए जीव को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

योगीजनों को अति उग्रतप व ध्यानादि करते समय किसी भी प्रकार का खेद अथवा दुःख नहीं होता, परन्तु अपने लक्ष्य की सिद्धि होती देख, तप-ध्यानादि करने में आनन्द मानते हैं। वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं; इसलिए शरीर कृश होने पर वे खेद-खिन्न नहीं होते तथा उपसर्ग के समय अपने साम्यभाव की स्थिरता को नहीं छोड़ते। कहा भी है कि —

'जैसे - सुवर्ण, अग्नि से तपाये जाने पर भी, अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता; इसी तरह ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्त होने पर भी, वह अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता।[१]'॥१००॥

श्लोक - १०० पर प्रवचन

अब यहाँ कहते हैं १०० में। **आत्मा है — ऐसा सिद्ध हो तो उसे उस पद की प्राप्ति सम्भव है परन्तु...** आत्मा है, यह वस्तु का निश्चित नहीं। है, ऐसा चार्वाक की अपेक्षा रखी। आत्मा है, ऐसा सिद्ध हो तो उसे पद की प्राप्ति सम्भव है। **परन्तु वह आत्मा चार तत्त्वों के समूहरूप शरीर से भिन्न, अन्य तत्स्वरूप सिद्ध नहीं होता...** चार्वाक कहता है। चार तत्त्व जो है—पृथ्वी, पानी उनके मिलाप से यह अन्दर जीव दिखता है। वस्तु जीव भिन्न है, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। **ऐसा चार्वाक मानते हैं...** उसके सामने बात करेंगे। **और सर्वदा स्वरूप की उपलब्धि का सम्भव होने से,...** और दूसरे ऐसा मानते हैं कि सदा निर्मलानन्द ही मुक्त अनादि से पर्याय में सुखरूप है। अनादि मुक्त ही है। ऐसा माननेवाले को; **ऐसा सांख्यमत है। उनके प्रति कहते हैं—** वह बिल्कुल नहीं मानता, वह और बिल्कुल पवित्र ही है, अनादि से पर्याय में भी मुक्त ही है, उनके प्रति यह बात करते हैं।

मुमुक्षु : चार्वाक....

पूज्य गुरुदेवश्री : चार्वाक और वह सांख्यमत।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥ १००॥

पञ्चभूत से चेतना, यत्न-साध्य नहीं मोक्ष।
योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग॥ १००॥

टीका - चित्तत्त्व, अर्थात् चेतनास्वरूप... है न? चित्तत्व। चित्तत्व—चेतनपना।

---

१. श्री समयसार, गाथा-१८४

चेतनास्वरूप तत्त्व यदि भूत ही हों, अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुरूप भूतों में से उत्पन्न हुआ मानने में आवे तो निर्वाण अयत्न साध्य रहे... तो मोक्ष के लिये यत्न करना, यह है नहीं। वस्तु नहीं, फिर वहाँ किसका यत्न करे? आहाहा! क्योंकि पर्याय एक समय की दशा में वह पूर्ण स्वरूप है, वह तो नहीं, ऐसा हो गया है उसे। वह मानो पृथ्वी, पानी के कारण खड़ा होता है, यह आत्मा। जैसे इस द्राक्ष को... है न, फिर शराब उत्पन्न होती है न उसमें से? द्राक्ष-द्राक्ष। द्राक्ष है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसकी सड़ान करे तब नाश उत्पन्न होता है। ऐसा कहते हैं कि यह तो चार इकट्ठे होकर आत्मा उत्पन्न हुआ है। ऐई! फिर उस यत्नसाध्य से मुक्ति हो, ऐसा कुछ नहीं रहता। आहाहा! ऐसी यह अन्दर की बात है, हों! वास्तव में पर्याय जितना माने, वह बौद्धमति है। और पूरा तत्त्व है, उसे न माने तो वह नास्तिक है। आहाहा!

यह मद खड़ा होता है न नशे का? वह क्या कहलाता है यह? द्राक्ष-द्राक्ष। द्राक्ष होता है न। एक बार माल लेने गये थे वहाँ। बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९६५-६६ की। भरुच माल लेने मैं गया था। मैं वहाँ माल लेने जाता था। उसमें पारसी को मैंने कहा। पारसी की दुकान थी। वह हमारे सम्बन्धवाला था। मैंने कहा, एक द्राक्ष की पेटी पालेज भेजना। पेटी यह द्राक्ष की आती है न? पेटी डेढ़-दो मण की। द्राक्ष-द्राक्ष। क्या कहलाता है वह किसमिस कहलाता है? क्या कहलाता है? हाँ, वह किसमिस।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ... नहीं। यह तो हमारे हरिचन्दभाई के घर में। सागर के। हरिचन्दभाई! वह तुम्हारी द्राक्ष क्या कहलाती है वह? वह नहीं। बड़ी द्राक्ष आती है। सागर में इतनी बड़ी। उसका नाम ही दूसरा होता है। यह तो ऐसे व्यापार में थे, वह बात है। उसे कहकर आया तो पेटी भेजी।

मुमुक्षु : किसमिस कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसमिस कहते हैं। परन्तु ऐसी कि सड़ी सब लटें। जहाँ खोली वहाँ, तब तो लटें... लटें... लटें...। सब सड़ी हुई। अरेरे! हम बनिया, हमारे यह

नहीं होता। किसने भेजी ? तुमको ऐसा भेजने को कहा (था) ? यह पटिया चिपकाया हो न ? द्राक्ष दो मण द्राक्ष। पटिया चिपकाया। पटिया जहाँ ऊँचा किया, जरा वह छिद्र होता है, ऊँचा किया वहाँ तो अकेली लटें। अरेरे ! यह क्या ? तुम्हारे भरोसे कहा कि यह भेजना। भेज दो वापस। इसमें से शराब होती है। यह सड़ान करके शराब होती है।

इसी प्रकार कहते हैं कि सब चीज़ इकट्ठी होकर आत्मा होता है, ऐसा कहता है। समझ में आया ? अब ऐसा यदि आत्मा हो, तब तो फिर उसे यत्न करने की कोई आवश्यकता (नहीं रहती)। वस्तु नहीं, फिर यत्न करना किसलिए ? और दूसरे ऐसा कहते हैं कि आत्मा पर्याय में भी मुक्त ही है। अनादि शुद्ध स्वरूप है। ऐसा यदि कहे तो उसे यत्न से सिद्ध करना, यह भी नहीं रहता। आहाहा !

यह समाधितन्त्र है न ? इसलिए जितना स्वभाव उसका पूर्ण समाधि, आनन्दस्वरूप है, उस जब शक्ति की प्रतीति की, तब उसका ज्ञान किया, तब उसकी पर्याय में समाधि आती है। समाधि आती है कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय होती है कहो। तो उस समाधि में जितना जो राग रहता है, वह असमाधि है। समझ में आया ? ज्ञानी को भी जितना राग रहे... अपने पहले आ गया है इसमें कि समाधि वस्तु है आत्मा, उसकी शक्ति में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण से जो शक्ति की व्यक्तता हुई थोड़ी, वह तो समाधि है। इस समाधि (तन्त्र) शास्त्र का वाच्य वह है। और वह समाधि औषधि है। मोक्ष का मार्ग है, बन्ध को छोड़ने का। परन्तु उसमें जितना अभी राग बाकी रहता है, शुभ और अशुभ, वह असमाधि है। यह तो वह सवेरे की बात। वह दुःख है। अमरचन्दभाई ! आहाहा ! ज्ञानी को भी वह दुःख है। आहाहा !

मुमुक्षु : समाधि को दुःख, असमाधि को दुःख—दोनों में अन्तर क्या पड़ा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी को आनन्दसहित का दुःख वेदन है। आनन्द का भी है और दुःख का, दोनों का है। अज्ञानी को अकेले दुःख का वेदन है। अकेला असमाधि का वेदन है। केवली को अकेला समाधि का वेदन है। अज्ञानी को अकेला असमाधि—दुःख का वेदन है। साधकवाले को आनन्द और दुःख का दोनों का इकट्ठा मिश्र वेदन है। आहाहा ! वजुभाई ! ऐसी चीज़ जहाँ प्रत्यक्ष है। आहाहा ! उसे आनन्द का स्वाद आया हो

तो भी उसे आनन्द के साथ दुःख की तुलना (करे) कि यह दुःख है। तिर्यंचों को सम्यग्दृष्टि होने पर उन्हें इतना सब ज्ञान नहीं होता, परन्तु वह आत्मा के आनन्द की ओर ढलकर जो आनन्द का स्वाद आया, इसलिए उसे प्रतीति में आया कि यह आत्मा आनन्दमय है। वह उसका स्वाद आया और इसके अतिरिक्त जरा राग बाकी रहता है, वह आनन्द नहीं। इसलिए उससे विरुद्ध भले 'दुःख है' ऐसे शब्द नहीं उसे, परन्तु वह वाच्य उसको वेदता है। आहाहा! इसलिए आनन्द की ओर के प्रयत्न में तत्पर रहकर मुक्ति करना चाहता है—इच्छता है तिर्यंच भी। समझ में आया? यह आनन्द। इस ओर ढलकर जो आनन्द आया और यह दुःख भी अभी कुछ है यह। भले वह आनन्द और दुःख के शब्द न जाने, परन्तु उसके वेदन की खबर पड़ती है। तो उस वेदन में अन्तर में जितना आनन्द (आता है), उतनी समाधि है। और उससे थोड़ा दुःख है, और उसके साथ तुलना करके देखे तो यह नहीं। इससे इस आत्मा की ओर का घर्षण (लीनता) करके उस दुःख को मिटाना चाहता है। फिर भले संवेग और अमुक नाम ऐसे (न आते हों)। आहाहा! आनन्द का पर्वत अन्दर पड़ा है, उसे उसने पकड़ा है। आहाहा! जैसे बर्फ का पर्वत हो और फिर अन्दर से झरना बहे; उसी प्रकार आनन्द का पर्वत यह प्रभु आत्मा (है)।

इस प्रकार जिसने अन्तर्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान किये, उसे समाधि और आनन्द आये बिना नहीं रहता। उसे वह समाधि के साथ जरा 'यह राग है' ऐसा नाम न आवे भले, परन्तु यह जाति और यह जाति भिन्न है। इसलिए उसमें से हटकर स्वभाव सन्मुख ढलने लगा। ढलते... ढलते... राग का पूर्ण त्याग हो जाये और केवल(ज्ञान) होता है, वह तो मनुष्यपने में आवे तब करे। वहाँ तो कहीं केवल(ज्ञान) हो नहीं सकता। परन्तु उसकी प्रतीति में है कि इस स्वभाव के इस ओर ढलते-ढलते पूर्ण होगा। पूर्ण अर्थात् मोक्ष। समझ में आया? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

भूतों में से उत्पन्न हुआ मानने में आवे तो निर्वाण अयत्न साध्य रहे... आहाहा! है ही नहीं वस्तु, ऐसा माना जाये तो फिर यत्नसाध्य रहा कहाँ? उसे यत्न से साधकर प्रगट करना, शक्तिरूप सत्त्व है—ऐसा माने, तब तो उसे यत्नसाध्य से पर्याय में व्यक्तता प्रगट करने का प्रयत्न रहे। परन्तु वस्तु ही नहीं जहाँ,... देखो न! एकदम उठाया यहाँ

एकदम। एकदम पहले यहाँ ले लिया कि पूर्णानन्द का नाथ प्रभु पूर्ण है। उसकी जिसे सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान हुए और निरन्तर वहाँ प्रयत्न करता है, उसे परमपद की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अस्तिरूप से ऐसा भगवान है, उसकी पर्याय में उसके अस्तिपने का सत्त्व पूर्ण हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! लड़कों को यह समझ में आये ऐसा है, हों! यह कहीं न समझ में आये, ऐसा नहीं। ध्यान रखो। हम लड़के हैं, बालकबुद्धि हैं, ऐसा नहीं। रसिक आया है या नहीं? यह सब लड़के छोटे हैं, इन्हें नहीं समझ में आयेगा, ऐसा नहीं है। आठ वर्ष के लड़के केवल(ज्ञान) प्राप्त हुए हैं। आहाहा! चक्रवर्ती के पुत्र, तीर्थंकर के पुत्र।

मुमुक्षु : बनिया के पुत्रों का क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया के... यह तो बड़े भगवान के पुत्र, चक्रवर्ती के पुत्र आठ-आठ वर्ष में कितने ही चल निकले। आहाहा! मेरा नाथ यहाँ विराजता है। माता! एक बार आज्ञा दे, माँ! अरे.. पुत्र! तू क्या जाने इसमें? माता! मैं जानता नहीं कि कब देह छूटेगी? परन्तु देह छूटेगी, ऐसा मुझे ख्याल है। समझ में आया? देह छूट जायेगी और मैं अकेला रहूँगा। यह अकेला यदि देह छूटने के समय में पूर्ण आनन्द में रहूँगा न, वह देह छूटे, तब तो आनन्द में रहूँगा और देह छूटने के अवसर में आत्मा क्या है, उसके आनन्द का भान नहीं हुआ तो मैं दुःख में रहूँगा। आहाहा!

जिसने आत्मा के आनन्द का रस चखा है, वह इस अन्तर के रस में आगे जाने के लिये माता को ऐसा कहता है, माँ! आज्ञा दे माँ! जननी! तूने शरीर को जन्म दिया; मुझे नहीं। आता है न? प्रवचनसार में चरणानुयोग(सूचक चूलिका) में आता है। उसमें इस प्रकार आता है। माँ! जननी! तूने शरीर को जन्म दिया निमित्तरूप से। मैं तो आत्मा हूँ, मुझे जन्म कौन दे? मैं तो मेरे स्वरूप को साधने के लिये अन्तर के प्रयत्न के लिये—उग्ररूप से मेरा प्रयत्न काम करे, इसके लिये—मैं वनवास में जाऊँगा। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : टाईल्स हो, उसे मणिरत्न की टाईल्स हो। तुम्हारे पत्थर जैसी टाईल्स वहाँ नहीं होती। नीचे टाईल्स मणिरत्न की। अब यह तो साधारण धूल के

मकान। वे तो मणिरत्न के। दीवारें मणिरत्न की। नीलमणि की दीवारें और हीरा के दल, ऐसा उसे यहाँ नीचे क्या कहा? टाईल्स। उसमें से निकलकर मुझे जाना है, माँ! कहाँ जायेगा भाई? कि मैं जहाँ हूँ, वहाँ जाऊँगा। मैं जहाँ नहीं, वहाँ से निकलना चाहता हूँ। आहाहा! यह देखो न, उसे आठ वर्ष में अन्दर से रस पड़ता है। उसे वर्ष का कहाँ है? वह तो अनादि का है। आहाहा! और अकेला आनन्द के रस को देखा है न! वह आनन्द में उग्र प्रयत्न करने के लिये यह करता है। माँ रोती है। माँ! रोना हो तो रो ले एक बार। हम आत्मा के साधन में जायेंगे। दूसरी माँ नहीं बनायेंगे। आहाहा! अब हमारे दूसरी जननी नहीं। माँ! तेरे पुत्ररूप से अन्तिम अवतार। आहाहा! ऐसे अन्तर में प्रयत्न में तत्पर होकर जब उग्ररूप से राग का त्याग होता है, तब तत्पर से अन्दर में से केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो यह बात है, बापू! यहाँ तो स्वर्ग मिले, अमुक मिले, धूल मिले। ऐसे अनन्त बार मिले और अनन्त बार टले। वह क्या चीज़ है, भाई! शाश्वत् वस्तु मेरी है, उसे मैं साधने जाता हूँ। एक बात। और वह शाश्वत् वस्तु निर्मलरूप से है अनादि की पर्याय में, ऐसा नहीं है। इसलिए उसे मलिनता टालने और निर्मलता प्रगट करने के लिये मैं जाता हूँ। यह दो की बात है। एक व्यक्ति भूत से जीव मानता है—यह पृथ्वी आदि। एक व्यक्ति पवित्र ही है आत्मा मुक्त शिव। सदाशिव। सदाशिव कहते हैं न वे? उसे—सदाशिव को प्रयत्न नहीं रहता। दोनों मिथ्या है। आहाहा!

इस शरीर के परित्याग से, विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति-योग्य आत्मा का उनके मत में (चार्वाक के मत में) अभाव है... शरीर के त्याग के बाद आत्मा की प्राप्ति होती है, (परन्तु) आत्मा को तो पृथक् मानते नहीं, इसलिए आत्मा का उसे अभाव है। आहाहा! परन्तु जिसे वह सत्ता है, ऐसा स्वीकार हुआ है, उसे अन्दर प्रयत्न करने का अवसर रहता है। आहाहा! समझ में आया? समाधि है न? तन्त्र अर्थात् अन्तर समाधि देखी है। यह तो समाधिस्वरूप ही प्रभु है। आहाहा! अनाकुल आनन्द शान्ति का रस ही आत्मा तो है। ऐसी जिसे अन्तर प्रतीति और ज्ञान में भासित हुआ है, वह अन्दर प्रयत्न करने के लिये निरन्तर प्रयासरत है। प्रवीणभाई! यह प्रवीणता है। आहाहा!

वह आत्मा है न भाई चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में। मेरी अनुभूति के साथ

मैं रहना चाहता हूँ। ऐसा आता है। चरणानुयोग में। स्त्री को कहता है—हे इस शरीर को रमानेवाली स्त्री! शरीर को। मुझे नहीं। आहाहा! अब तो मेरी अनादि अनुभूति जो आनन्द का अनुभव, उस अनुभूति के निकट मैं जाना चाहता हूँ (मुझे) छोड़। आहाहा! समझ में आया? है न, अपने आज्ञा मानने के बहुत बोल हैं। (प्रवचनसार) चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में हैं। माता, पिता, भाई और पत्नी आदि के निकट जाता है, उन्हें ऐसा कहता है, हे पत्नी! शरीर को रमानेवाली रमणी, शरीर को रमाने में तेरा निमित्तपना, ऐसी रमणी। अब मैं मेरे आनन्द की अनुभूतिरूप रमणी में जाता हूँ। आहाहा! अब मुझे अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता। समझ में आया? मेरी वृत्ति कहीं अन्यत्र अब स्थिर नहीं होती। मेरा भगवान जहाँ है, वहाँ अब मैं जाना चाहता हूँ। उसे वन या देश और काल कुछ है नहीं, वह तो अपने स्वरूप को साधने के लिये फिर एकान्त लेता है। आहाहा! ऐसा तो कहा है न, ज्ञानी को साधकरूप से गृहस्थाश्रम में हो या वन हो। उसे कहीं वन में अधिक साधन हो, ऐसा कुछ नहीं है। बाहर क्षेत्र का कुछ नहीं है। आहाहा!

'सांख्यमत में भूत ही अर्थात् सहज भवन सो भूत / शुद्धात्मतत्त्व—उसमें उत्पन्न हुआ, वह। उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है—ऐसे प्रकार का चित्तत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य हो... अर्थात् भूत से उत्पन्न हुआ आत्मा हो तो अयत्नसाध्य मोक्ष अर्थात् मोक्ष उसे है नहीं। आहाहा! एक तो यह बात की है कि यह आत्मा, अन्दर है। वह नहीं, और मैंने माना है—ऐसा नहीं है। उससे उत्पन्न हुआ, (ऐसा नहीं), वह तो है ही अन्दर भगवान। आहाहा! चार्वाक तो कहते हैं कि शरीर छूटे तो फिर कहीं आत्मा रहता नहीं। परन्तु मैं तो शरीररहित अनादि का हूँ। शरीर हो तो भी पृथक् हूँ और शरीर न हो तो भी पृथक् हूँ। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

वह सिंह है न, भगवान का दसवाँ भव, देखो न! है न उतने में कहीं है। यहाँ नहीं उसमें है। ऊपर से साधु उतरते हैं। यहाँ हिरण को मारकर खाता है। देखो! पेट में माँस पड़ा है अभी। साधु ऊपर से उतरते हैं। उसके ख्याल में आ गया कि हमारे नजदीक हो, वह दूर भगते हैं, परन्तु यह दूर है और आकाश में से नीचे उतरते हैं। यह कौन है? इतनी तो विस्मयता सिंह को एकदम आ जाती है। हमारे नजदीक पशु हो या

मनुष्य हो, हमको देखकर भागता है। उसके बदले यह तो दूर तो कहीं आकाश में। अब उसके साथ... आहाहा! ऐसा जहाँ देखता है। ओहोहो! ऐसे हाथ करके कहते हैं अरे... आत्मा! तू दसवें भव में तो तीर्थंकर होनेवाला है, ऐसा हमें सन्तों ने, केवली ने कहा है। आहाहा! देखो न! कैसा मेल होता है? कौन जाने यह भाषा कैसे समझ गया होगा! अब यह उसकी कहाँ भाषा और यह मुनि कहाँ ऊपर जाते थे, उनकी कैसी भाषा! मिलान खाये वहाँ ऐसा मिलान हो जाता है! तुम दसवें भव में (होनेवाले) महावीर तीर्थंकर का जीव तुम हो। आहाहा! आँख में आँसू की धारा चलती है। अब अन्दर में उतरना चाहता है। आहाहा! अन्दर स्वरूप अन्दर। जातिस्मरण होता है। एकदम सम्यग्दर्शन हो जाता है। आहाहा! पेट में माँस के टुकड़े पड़े हैं। उसे कहाँ रोकते हैं? आहाहा! वापस ऐसे रखा हुआ। हरिभाई ने (चित्र) बनाया है न यह। दो हाथ ऐसे हैं। आहाहा! यह तो उसमें उतरना चाहता है अब। जहाँ (जिस भव में) मैं हूँ, उसे तीर्थंकरपने का अवतार वह मैं! तीर्थंकर होनेवाला जीव, वह मैं! आहाहा! यह क्या? अन्तर में उतरना चाहता है तो एकदम सम्यग्दर्शन की समाधि हो जाती है। सम्यग्दर्शन का आनन्द आता है, ऐसा कहना है। आहाहा! यह है, उसमें से आता है। है, वहाँ से (आता है)। तू अनादि का (तो है), परन्तु तेरा आत्मा तीर्थंकर होने की योग्यतावाला अनादि का है। भगवान के ज्ञान में तीर्थंकर होने की योग्यतावाला तू जीव है। आहाहा! ऐसा तेरा मांगलिक तीर्थ ही तू स्वयं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! जिसने ऐसा आत्मा स्वीकार नहीं किया वह तो भूत से उत्पन्न हुआ (मानता है)। उसे इस तत्त्व को प्रतीति करके यत्न से साधना, यह नहीं रहता।

सांख्यमत में भूत ही अर्थात् सहज भवन सो भूत / शुद्धात्मतत्त्व—उसमें उत्पन्न हुआ, वह। उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है... यह तो शिवस्वरूप ही है पर्याय में। अब सांख्यमतवाला कहता है। है न? **ऐसे प्रकार का चित्तत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य हो...** तो मुक्ति के लिये यत्न करना रहता नहीं। मुक्तस्वरूप ही है। सदाशिव, ऐसा कहते हैं न वे लोग? अनादि का सदाशिव स्वरूप ही है। पर्याय में, हों! जीवस्वरूप है, वह शक्ति तो बराबर है। पर्याय में भी मुक्त ही है। उसे बन्धन नहीं, मैल नहीं, कुछ नहीं। ऐसा माननेवाले को भी **यत्न से / ध्यान के अनुष्ठानादि**

से निर्वाण साधने योग्य नहीं रहता,... आहाहा! पूर्ण सदाशिव स्वरूप ही माने तो पूर्ण स्वरूप होने का जो यत्न करना, वह उसे नहीं रहता। आहाहा! परन्तु जो कुछ पूर्ण स्वरूप हूँ मेरी शक्ति से, उसे पर्याय में मुझे पूर्णता नहीं, तो प्रयत्न करे।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो आया है न कि स्वयं को प्रभुरूप से वस्तु से स्वीकार करता है, परन्तु जहाँ पर्याय में सम्यग्दृष्टि ऐसा देखता है, अरे! कहाँ मैं पामर! आहाहा! कहाँ केवलज्ञान की पर्याय! वह तो पूर्ण हो, ऐसी मेरी ताकत है और मैं यह कहाँ? स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में है। अरे! यह मेरी पर्याय पामर है। आहाहा! एक ओर प्रभु है (और एक ओर) प्रगट हुई पर्याय में पामरता देखता है। कहाँ केवलज्ञान की पर्याय और कहाँ यह दशा! इतने से उसे सन्तोष नहीं हो गया। सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ है, इसलिए वह सन्तुष्ट नहीं हो गया। है, इतना सन्तोष है। परन्तु मैं पूर्ण हो गया हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! मेरी पर्याय तो बहुत तुच्छ है। मैं बहुत पामर हूँ। आहाहा! ऐसा पर्याय में जो जाने, वह स्वरूप सन्मुख के प्रयत्न में तत्पर होता है। परन्तु पर्याय में इस प्रकार पामरता न जाने... समझ में आया? प्रभुत्व होने पर भी पर्याय में पामरता है। यह तो कहते हैं, पर्याय में पूर्ण है शिव-सदाशिव। ऐसा नहीं है, बापू! सदाशिव तो इसका स्वरूप है। परन्तु पर्याय में सदाशिव है, ऐसा नहीं। आहाहा! गजब बात करते हैं। अस्ति तत्त्व का स्वीकार कराने और उसकी ओर का प्रयत्न चालू रखने के लिये यह दृष्टान्त दिया है।

क्योंकि नित्य शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव में सर्वदा ही आत्मा की निरुपाय (अयत्नसाध्य) मुक्ति प्रसिद्ध है। उपाय बिना ही मुक्ति है। उसे उपाय करने का रहता नहीं। आहाहा! देखो! आचार्यों ने यह समाधिशास्त्र में एक यह बात रखी। बिल्कुल आत्मा ही नहीं। वास्तव में तो एक समय की पर्याय माननेवाला त्रिकाल आत्मा है, ऐसा नहीं मानता। वह बौद्ध है, बौद्ध भले जैन के वाडा में हों, परन्तु पर्याय की एक समय की दशा है, उतना मैं हूँ (ऐसा माना है), वह बौद्ध है... क्योंकि पर्याय में पूरा द्रव्य आया नहीं और एक समय की पर्याय के पीछे महाभगवान विराजता है, वह इसे नजर में आता नहीं। समझ में आया? इससे उसके अस्तित्व की प्रतीति इसे नहीं आती।

आहाहा! यह और पर्याय में पूरा ज्ञान और अन्दर परिपूर्ण कहाँ होगा यह वह? वह भी पर्याय को ही माननेवाला है। बौद्धमति है। आहाहा! समझ में आया?

तीन बातें ली हैं। एक भूत से उत्पन्न होता है आत्मा, उसे यत्न करने का रहता नहीं। क्योंकि आत्मा नहीं तो यत्न क्या? एक परिपूर्ण दशावाला ही अनादि से है, उसे यत्न रहता नहीं और एक समय की पर्याय जितना ही आत्मा है, ऐसा माने... आहाहा! समझ में आया? और पर्याय के पीछे-पीछे कहाँ होगी वस्तु? कहते हैं। बापू! पर्यायवान वस्तु है। यह तो एक समय की दशा है। राग की नहीं परन्तु जो क्षयोपशम के ज्ञान की भी एक समय की दशा है, वह तो नाशवान है। आहाहा!

ऐसा आवे न शुद्धभाव अधिकार में, नहीं? केवलज्ञानादि पर्यायें सब नाशवान हैं। अविनाशी तो त्रिकाल वस्तु, वह अविनाशी है। अपने नियमसार का वाँचन करना है। यह अधिकार वाँचन करना है शुद्ध (भाव अधिकार)। यह हिन्दी लोग आवे न, हिन्दी आयेंगे। शुद्धभाव अधिकार नियमसार। और आज प्रवचनसार, यह भी अधिकार मोक्ष का मार्ग है न! २३२ (गाथा)। वह भी वाँचन करना है इस शिक्षण शिविर में। मोक्षमार्ग आता है न २३२ (गाथा)? बहुत सरस है और यह शुद्धभाव अधिकार। ओहोहो! जिसमें क्षायिकभाव नहीं। तो एक समय की पर्याय माननेवाले को त्रिकाली द्रव्य है, यह बैठता नहीं। आहाहा! क्योंकि अनादि की रमणता एक समय की पर्याय में है इसे। एक समय का विकास-उघाड़ और उसमें ही इसका... पूरा तत्त्व अन्दर अस्तित्व पड़ा है बड़ा, मूल तो यह आत्मा है। वास्तविक आत्मा तो यह है। पर्याय वह वास्तविक आत्मा नहीं। वह व्यवहारिक आत्मा, अभूतार्थ आत्मा है। आहाहा! ऐसा भगवान सत्यार्थ आत्मा, ऐसी जिसे दृष्टि और ज्ञान हुए नहीं, वह उसकी सन्मुखता का प्रयत्न कैसे करेगा? समझ में आया? आहाहा! वह तो दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प में प्रयत्न करके मरेगा। मरने का है। आहाहा!

अथवा (इस श्लोक में) अयत्न इत्यादि वचन हैं, वे निष्पन्न इतर योगियों की अपेक्षा से हैं। वहाँ निष्पन्न योगी की अपेक्षा से चित्तत्त्व यदि भूत हो अर्थात् स्वभाव ही हो, (यहाँ भूत शब्द को स्वभाव के अर्थ में समझना) अर्थात् मन, वाणी, काया, इन्द्रियों आदि से अविक्षिप्त आत्मस्वरूपभूत अर्थात् उसमें उत्पन्न हुआ हो अर्थात् उसके

स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है — ऐसे प्रकार का चित्तत्त्व यदि हो... निर्मल परिणति की प्राप्ति है, ऐसा यदि आत्मा हो, ऐसा कहना है। भाषा जरा कठिन है। जिसकी पर्याय में निर्मलपने की प्राप्ति ही हो... आहाहा! **तो निर्वाण अयत्नसाध्य है...** तो फिर उसे मोक्ष का प्रयत्न करना रहता नहीं। मोक्ष है ही। वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

क्योंकि वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले के कर्मबन्ध का अभाव होने से, निर्वाण बिना प्रयास के सिद्ध है। अनादि से शिवस्वरूप ही है। आहाहा! उसमें आता है न २०० गाथा में? हम समकिती हैं, हमको बन्ध नहीं। १३७ कलश, समयसार। हमको सम्यक् है, हमारे बन्ध नहीं—ऐसा करके स्वच्छन्द में चढ़ जाये, उसे कहते हैं, खड़ा रह, बापू! भाई! समझ में आया? अब चाहे जो क्रिया करें, चाहे जो हम तो अबन्धस्वरूपी समकिती हैं। अरे! भाई! ऐसा रहने दे। आहाहा! हमको कुछ दुःख भी नहीं और हमारे कुछ राग भी नहीं। हम तो सम्यग्दृष्टि हैं, निर्मल और अबद्धस्वरूपी हैं। आहाहा! उसे वहाँ बहुत धिक्कारा है उस कलश में। १३७ कलश है, उसमें-२००वीं गाथा में। २०० गाथा का कलश है। वहाँ बहुत विस्तार किया है। पंच महाव्रत पाले, यह करे, उसमें से। आहाहा!

इसलिए सम्यग्दर्शन होने के बाद भी उसे पूर्ण यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक उसे प्रयत्न होता है। परन्तु ऐसा जो न माने और हम यह हो गये, हम परमात्मा पूर्ण, वह भी मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी है। वह भी वास्तविक आत्मा को... अपूर्ण में से पर्याय को पूर्ण करना, वह उसे रहता नहीं। वह भी नास्तिक है। इत्यादि कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ३, रविवार, दिनांक १०-०८-१९७५, श्लोक-१००, प्रवचन-११५

अथवा समाधितन्त्र अर्थात् समाधिरूप औषधि। भवसागर का नाश करने के लिये समाधिरूपी औषधि है। ब्रह्मचारीजी! समाधितन्त्र है न? आहाहा! संसार के दु:ख टालने के लिये और आत्मा के आनन्द की प्राप्ति के लिये यह समाधि एक औषधि है। यह समाधि अर्थात् आत्मा पूर्णानन्दस्वरूपी परमात्मस्वरूप ही है। परमात्मा हुए और इस आत्मा में वस्तु (रूप से) कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! ऐसा अस्तिवाला यह तत्त्व है। यह तो थोड़ा गुजराती चलता है। सवेरे से हिन्दी चलता है। कल सवेरे से। सवेरे, दोपहर। सवेरे प्रवचनसार और दोपहर में नियमसार। नियमसार में शुद्धभाव अधिकार है न? प्रवचनसार में अलिंगग्रहण चलता है। उसके चार बोल बाकी हैं। वे तो चल गये हैं परन्तु फिर से लिये हैं। चार बाकी हैं।

तो कहते हैं कि समाधिरूपी औषधि किसे होती है? कि एक तो आत्मा पूर्णानन्दरूपी शक्तिरूप हो, तो उसे प्रगट करने के लिये समाधिरूपी औषधि होती है। परन्तु यह आत्मा ही न माने। यह बोल आ गया है इसमें। चार्वाक तो आत्मा ही नहीं मानता। पाँच भूत सब इकट्ठे होकर फिर आत्मा हुआ है। ऐसा हो तो आत्मा में यत्नसाध्य करने का रहता नहीं। समझ में आया? अस्ति है, तत्त्व है। अनन्त-अनन्त आनन्द और ज्ञानरूपी स्वभाव से भरपूर परमात्मस्वरूप विराजमान आत्मा है। आहाहा! साक्षात् वस्तु परमात्मस्वरूपी है। आहाहा! ऐई... प्रवीणभाई! ऐसी चीज़ यदि न हो और पाँच भूत से उत्पन्न हुआ आत्मतत्त्व हो, तब तो उसे यत्नसाध्य करके समाधि-पूर्णानन्द है, उसका साधन करके प्राप्त होना—यह उसे नहीं रहता। एक बात।

दूसरी बात। कल हिन्दी चलेगा। और दूसरी बात कि सदा पवित्र ही यदि प्रगट सदा शिवरूप हो, अनादि से पवित्रता की पर्याय से परिपूर्ण ही हो, उसे यत्नसाध्य करने का नहीं रहता। बराबर है? आहाहा! जिसे आत्मा ही नहीं, उसे आत्मा को यत्नसाध्य समाधि और औषधि लागू नहीं पड़ती (क्योंकि) वह तो वस्तु नहीं। एक बात। दूसरी बात कि अनादि से, आत्मा जैसे वस्तु से शुद्ध परमात्मस्वरूप है, वैसे अनादि सदाशिव

है पर्याय में भी। पर्याय से भी सदा मुक्त है, आनन्दमय है। ऐसा हो तो उसे यत्नसाध्य—मुक्ति करने का रहता नहीं। समझ में आया?

तीसरा। इसमें तीन प्रकार वर्णन किये हैं कि आत्मा है परमात्मस्वरूप से, उसे अन्तर के यत्नसाध्य से प्रगट होता है, परन्तु कर्म के लिये अयत्नसाध्य है। अयत्नसाध्य शब्द पड़ा है न, भाई! यह तीनों को लागू किया है। समझ में आया? फिर से। कि यदि आत्मा वस्तु ही न हो और यह पाँच भूत से उत्पन्न हुआ तत्त्व हो तो शरीर के नाश से उसका भी नाश हो जायेगा। तो उसे यत्नसाध्य अर्थात् स्वभाव का साधन करके प्रगट करने का (रहता नहीं)। (जहाँ) वस्तु ही नहीं, वहाँ साधन करने का रहा कहाँ? समझ में आया? इस अयत्नसाध्य में तीन बोल निकले हैं। भाषा थोड़ी-थोड़ी ख्याल में लेना। पण्डितजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हो तो फिर आत्मा का अनुष्ठान, अन्दर आनन्द का अनुष्ठान करके स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तथा आनन्द की दशा करके मुक्ति होना, यह तो उसे नहीं रहता। और दूसरे बोल में—वह बिल्कुल नकार करता है, तो दूसरा ऐसा कहता है कि यह अनादि से पर्याय से शिवस्वरूप ही है। अनादि से मुक्त है-सदाशिव है। यह भी झूठी बात है। यदि सदाशिवरूप हो पर्याय से—अवस्था से, तो उसे शक्ति में से प्रगट करने की व्यक्ति का अनुष्ठान भाव रहता नहीं। समझ में आया?

तीसरा बोल। यह अयत्नसाध्य है। किस प्रकार? कर्म का नाश करने के लिये यत्नसाध्य नहीं है। वह कर सकता ही नहीं। अपना आत्मस्वरूप शुद्ध अखण्डानन्द परमात्मस्वरूप है, शक्तिरूप से पूर्णानन्द ही है। साक्षात् परमात्मा है। आहाहा! स्वभाव से, शक्ति से—उसके सामर्थ्य के बल से वह पूर्ण परमात्मस्वरूप ही है। परन्तु उसे प्रयत्न करके प्रगट करना, वह यत्नसाध्य है। परन्तु कर्म का नाश करना, वह यत्नसाध्य नहीं। वह अयत्नसाध्य है। वह तो उसके कारण से नाश होते हैं। प्रवीणभाई! समझ में आया इसमें? यह तीन बोल यहाँ सिद्ध किये हैं इसमें। आहाहा!

भगवान! तू पूर्णानन्दस्वरूप, पूर्ण आनन्द परमात्मा साक्षात् परमात्मा, वस्तु से तो

साक्षात् परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा! उसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का उस चीज़ में तो अभाव है। मलिनता की दशा का भी वस्तुस्वभाव में तो अभाव है। कर्म और शरीर, दो और भावकर्म, इन तीनों का वस्तु है, उसमें तो अभाव है। क्योंकि वह आत्मा तो अबद्धस्पृष्ट है। कर्म और राग से बँधी हुई चीज़ नहीं। समझ में आया? दूसरे प्रकार से कहें तो वह अबद्धस्पृष्ट है अर्थात् मुक्तस्वरूप ही है वह। वस्तु तो मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा! ब्रह्मचारीजी! वस्तु है, वह तो मुक्त ही है। वस्तु कहाँ बँधी है? वह तो पर्याय में राग का सम्बन्ध और राग में रुकना, ऐसा बन्धपना तो पर्याय में है; वस्तु में नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी जो आत्मचीज़ प्रभु... आहाहा! जिसे विश्वास की धार में चढ़ाकर। सराण समझते हो? छुरी या चाकू होता है न? चाकू? फिर निकालते हैं न? धार निकालने के लिये। हमारे सराण कहते हैं–सराणीयुं।

यहाँ आत्मा के आनन्दस्वरूप भगवान को धार पर चढ़ाना है। अन्तर के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय उसके अवलम्बन से प्रगट होती है। समझ में आया? वह कहीं व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से प्रगट हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प जो है, उसका तो स्वरूप में अभाव है, वह स्वभाव में है नहीं। स्वभाव में नहीं, फिर वह स्वभाव को प्रगट करने में मदद करे? यह व्यवहाररत्नत्रय उड़ जाता है।

मुमुक्षु : व्यवहार भी सिद्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार सिद्ध होता है (कि) वह इसमें नहीं। आहाहा!

भावार्थ लो वहाँ से। वह अथवा शब्द है, वह तीसरा अयत्नसाध्य को सिद्ध किया है। परन्तु भाषा थोड़ी अटपटी है।

भावार्थ - चार्वाक मतानुसार जीवतत्त्व, भूत ही है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इस भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है। ऐसा चार्वाक मानता है। दूसरे प्रकार से कहें तो अनादि की एक समय की पर्याय पर इसकी दृष्टि है। प्रगट अवस्था के अंश पर उसकी रुचि और दृष्टि है। इससे एक समय की पर्याय के अतिरिक्त पूरा पदार्थ है, उसे दृष्टि में नहीं बैठता। क्योंकि पर्याय की ही रमणता अनादि की है। एक समय की जो

प्रगट अवस्था व्यक्त और प्रभु तो अव्यक्त है—ऐसा कहा है न? ४९ गाथा। समयसार। कि छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, वह व्यक्त है। भगवान आत्मा उससे भिन्न वह अव्यक्त है। वह इस पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त है, ऐसा कहा। क्या कहा, समझ में आया?

४९ गाथा, समयसार। उसका पहला बोल। अव्यक्त के छह बोल हैं। अव्यक्त के छह बोल। उसका पहला बोल यह है कि भगवान आत्मा सब परवस्तु वह परज्ञेय है, व्यक्त है। परवस्तु वह ज्ञेय है, और वह वस्तु व्यक्त प्रगट है। उससे आत्मा अन्य है, इसलिए अव्यक्त है। आहाहा! वहाँ तो धर्मदास क्षुल्लक ने तो ऐसा लिया है कि पर्याय की और बाहर की जो व्यक्तता है, उससे (मेरी) चीज़ भिन्न है, ऐसा भान हुआ, तब वह सप्तम (द्रव्य) हो जाता है। क्या कहा? सातवाँ तत्त्व हो जाता है वह। क्योंकि एक ओर छह द्रव्य का ज्ञेयपना भिन्न। आहाहा! और उससे यहाँ तो ऐसा ही कहा है कि छह द्रव्य जो व्यक्त है, ज्ञेय है, उनसे यह अव्यक्त है, उनसे यह भिन्न है। अमरचन्दभाई! आहाहा! अर्थात् कि वह सप्तम हो जाता है। एक ओर ज्ञायकभाव तथा एक ओर छह द्रव्य ज्ञेय और प्रगटपना। एक ओर भगवान आत्मा, कि जिसकी पर्याय में छह द्रव्य का जानना होता है, ऐसी पर्याय से भी वह भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? यह तो परमात्मा की क्रीड़ा है। आहाहा! परमात्मस्वरूप समाधिस्वरूप, समाधि अर्थात् आनन्दस्वरूप, परम वीतराग अविकारी वीतरागी निजानन्द के समरस से भरपूर भगवान है। ऐसा जो तत्त्व है, वह तत्त्व न माने और भूत से माने, (तो) ऐसा तत्त्व स्वभाव है, उसका प्रयत्न करूँ तो पर्याय में आनन्द आवे, यह चार्वाक को रहता नहीं। यह कहा, देखो!

यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुए शरीर को ही आत्मा माना जाए तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानने का प्रसङ्ग आये... शरीर का नाश हो तो मोक्ष हो गया, ऐसा। आहाहा! **और इससे मोक्ष अयत्न साध्य रहे...** इसलिए मोक्ष करना, वह अयत्नसाध्य रहता है, यत्नसाध्य नहीं रहा। समझ में आया? यह तो लॉजिक से बात की है न? जब शरीर का नाश होता है, तब आत्मा का मोक्ष हुआ। छूट गया, ऐसा। परन्तु उसे यत्नसाध्यपना नहीं रहा, अर्थात् अयत्नसाध्य हुआ उसे तो। जरा अटपटे शब्द हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : रहा नहीं कुछ। है नहीं फिर। हो, उसे प्रगट करना हो, परन्तु न हो उसे प्रगट करना, यह कहाँ रहा उसे? यहाँ विश्वास की बड़ी बात पहले कही है। समझ में आया? आहाहा! एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में—एक समय में एक समय की पर्याय के पीछे पूरा तत्त्व मौजूद पड़ा है। आहाहा! जिसमें अनन्त सिद्ध की एक सिद्ध की एक पर्याय, ऐसी अनन्त पर्यायें जिसके गुण में, शक्ति में, स्वभाव में पड़ी है। आहाहा! उसका जिसे विश्वास आवे, वह ज्ञान की पर्याय उसे झेल सकती है, श्रद्धा की पर्याय उसे झेल सकती है, पचा सकती है। समझ में आया?

दृष्टान्त दिया था न अग्नि का? अग्नि में पाचक, दाहक और प्रकाशक। अग्नि—तीन शक्ति मुख्य-मुख्य। अनन्त शक्तियाँ हैं। ऐसे भगवान आत्मा में, पाचक, प्रकाशक, दाहक, ऐसी तीन शक्तियाँ हैं। अर्थात् समकित, वह पाचक है; ज्ञान, वह प्रकाशक है; चारित्र, वह दाहक है। अमरचन्दभाई! आहाहा! यहाँ इतना उठाना है इस बात में कि जिसे समाधि प्रगट करनी है, वह समाधि करनी है, वह तत्त्व क्या है? वह पूर्ण तत्त्व और पूर्ण स्वभाव से भरपूर न हो तो उसे यत्न से शक्ति में से व्यक्तता करने का रहता नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन की पर्याय में उस पूर्ण को पचाने की शक्ति है। जैसे अग्नि में अनाज को पकाने की शक्ति है। अनाज को। आहाहा! इसी तरह सम्यग्दर्शन की पर्याय में वह पूरा द्रव्य आता नहीं। पर्याय में द्रव्य नहीं आता, परन्तु द्रव्य की सामर्थ्य—शक्ति की प्रतीति उसकी पर्याय में आ जाती है। आहाहा! धन्नालालजी! आहाहा! इस पर्याय का इतना सामर्थ्य है कि जो पूरी चीज़ पूर्ण परमात्मा है, वह परमात्मस्वरूप पर्याय में आता नहीं। पर्याय में कहाँ से आवे पूरी चीज़? परन्तु पर्याय में पाचनशक्ति है कि यह पूर्ण है, ऐसी प्रतीति करने की उसकी पाचन शक्ति है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! थोड़ा-थोड़ा गुजराती समझते हो न? तुम्हारे भाई अमरचन्दभाई। गये थे न तुम्हारे घर में? वहाँ दूध पिया था न, खबर है न! गाँव में नहीं? आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! एकबार मुद्दे की रकम की बात है यहाँ तो। समाधि है सही न? समाधि-औषधि किसे लागू पड़ती है? कि जिसे रोग हो और वस्तु हो, तो यह औषध

लागू पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा है और मलिन की पर्याय है। ऐसा हो तो उसे समाधि की औषध लागू पड़ती है। तो कहते हैं कि चार्वाक जो कहता है कि (जीवतत्त्व) नहीं, भूत(तत्त्व) है—उसे यह लागू नहीं पड़ता। नास्तिक है। परन्तु जो आस्तिक है, आहाहा! वह भी अपनी पर्याय में... पर्याय अर्थात् अवस्था, हालत-हालत, दशा। उसमें पूर्ण-पूर्ण वस्तु परमात्मा साक्षात्। ऐसी सम्यग्दर्शन में पचाने की शक्ति है। आहाहा! इतना अस्तित्व है ऐसा, उसकी सत्ता की मौजूदगी ऐसी पूर्ण है, वह श्रद्धा की पर्याय उसे स्पर्श किये बिना। पर्याय कोई द्रव्य में स्पर्श नहीं करती, छूती नहीं। पर्याय पर्याय में रहकर... आहाहा! उसे यह समाधि कहा जाता है उसका नाम। सम्यग्दर्शनरूपी समाधि। धन्नालालजी! आहाहा!

करना हो तो यह है। सब लाख बात की बात निश्चय उर लाओ। आता है न छहढाला में। लाख बात क्या, अनन्त बात की बात निश्चय उर लाओ। 'छोड़ी जगत द्वंद्व -फंद निज आतम उर ध्याओ।' निज आत्म। भगवान नहीं। भगवान भगवान के घर में रहे। भगवान को आराधना नहीं यहाँ तो। यहाँ तो इस भगवान को आराधने की बात है। आहाहा! ऐसा बड़ा आत्मा महा परमात्मस्वरूप, उसे वहाँ अव्यक्त कहा। अर्थात् मानो सप्तम द्रव्य है। क्योंकि दुनिया का पूरा तत्त्व ज्ञेय और वह व्यक्त है, अर्थात् बाहर है। तब भगवान आत्मा उससे भिन्न अव्यक्त है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! प्रथम सम्यग्दर्शन की पर्याय में इतनी ताकत है, यह बात बैठना, पचना... आहाहा! फिर शुरु होता है सम्यग्ज्ञान और चारित्र बाद में। आहाहा!

अन्य किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता न रहे;... उसे। क्योंकि वस्तु ही जहाँ नहीं और शरीर के संयोग से उत्पन्न हुई, उसका नाश होने से नाश हो जाये, तो अयत्नसाध्य रहती है। **निर्वाण के लिए अन्य किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता न रहे; इसलिए शरीर का नाश होने पर, आत्मा का अभाव मानना और आत्मा के अभाव को मोक्ष मानना — ऐसी चार्वाक की जीवात्मा सम्बन्धी कल्पना भ्रममूलक-मिथ्या है।** आहाहा! वास्तव में तो वह तो नहीं ही, ऐसा कहते हैं। परन्तु एक समय की पर्याय को माननेवाला, वह भी वस्तु नहीं, ऐसा उसे कहते हैं। एक समय की पर्याय जैसे बौद्ध। परन्तु वह बौद्ध अर्थात् जो एक समय की पर्याय को आत्मा माने, वह सब बौद्ध है।

आहाहा! क्योंकि वर्तमान वर्तती प्रत्यक्ष जो चीज़ है, उसे—पर्याय को ही आत्मा मानता है, परन्तु पर्याय से किससे खड़ी, किसके ऊपर हुई? यह पर्याय खड़ी-ऊभी किसके आधार से हुई? अध्धर हुई? कोई चीज़ दल है, चैतन्यदल धातु पूर्णानन्द का नाथ वज्र जैसा, उसके आधार से उत्पन्न हुई है। इसलिए जो क्षणिक पर्याय को ही माननेवाले हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि क्षणिक, वे भी बौद्ध की भाँति नास्तिक है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि वह (जीव) नहीं माननेवाले वे भ्रम में पड़े हैं। दूसरी बात। **'सांख्यमतानुसार' आत्मा ही भूत अर्थात् सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्धस्वरूप ही है,...** ऐसा माने। यह दूसरा बोल। है इस ओर पीछे है। वह आत्मा तो सदाशिव है। उसने इनकार किया, तब यह कहे, पवित्र और सदा शुद्ध ही है पर्याय से। वह कहे, आत्मा ही नहीं। यह कहे कि आत्मा को साधन करना का है ही नहीं। है अवश्य। परन्तु वह पूर्णानन्दस्वरूप पर्याय में, हों! सदा शिवस्वरूप है। ऐसे माननेवाले को भी **वे उसको सर्व अवस्थाओं में शुद्ध ही मानते हैं।** है? सभी अवस्थाओं में भी वह पर्याय को शुद्ध ही मानता है।

निर्वाण के लिए सम्यग्ज्ञान, ध्यान, तपादिरूप पुरुषार्थ की उनको आवश्यकता ज्ञात नहीं; होने से... आहाहा! जब अवस्था भी... ऐसा तो कहा है नहीं? श्रीमद् में आया है न कि दिगम्बर के आचार्यों ने आत्मा को मुक्तस्वरूप ही जाना है। मोक्षस्वरूप कहो (या) मुक्तस्वरूप ही है। उसे मोक्ष करना पर्याय में, वह तो पर्याय की बात है। वस्तु तो मोक्षस्वरूप ही है। मात्र माना था कि राग के सम्बन्धवाला हूँ। सम्बन्ध कहो या बन्ध कहो। विकल्प की वृत्ति है, उसके साथ सम्बन्ध कहो या बन्ध कहो। यह माना था, उस विचार में से छूट गया कि मैं राग के सम्बन्ध में-बन्ध में हूँ ही नहीं। वस्तु उसके सम्बन्ध में और बन्ध में कैसे हो सकती है? ऐसी जो धारणा मिथ्या थी, वह छूट गयी, वह जो है, वह है। वह तो मोक्षस्वरूप ही है। समझ में आया? परन्तु उस शुद्धनय के अनुसार की बात है। पर्यायनय के अनुसरण करनेवाले इस प्रकार माने तो भटक मरें। पर्याय में भी तत्प्रमाण अशुद्धता नहीं और (त्रिकाल) शुद्धता है, ऐसा माने तो अन्दर शुद्धता की ओर प्रयत्न करके शुद्धता प्रगट करना, यह उसे नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई! यह सब समझने जैसी बात है। टाईल्स में सब कितने वर्ष गँवाये, लो! बहुत वर्ष। आहाहा!

दूसरे को देखने को जो नजरें तूने की हैं, उन्हें बन्द कर। दूसरे को देखने के लिये तू अन्धा हो, ऐसा कहते हैं। है ? अनुभवप्रकाश में। और अपने को देखने के लिये हजार आँखें प्रगट कर। हजार नेत्र। दूसरों को देखने के लिये अन्ध हो जा, क्योंकि दूसरी चीज़ तुझमें नहीं, उसे देखकर तुझे क्या काम है ? आहाहा! अपने को देखने के लिये... पोताने समझे न ? अपने को। अपने को देखने के लिये हजार नेत्र खोल। जैसे भगवान के शरीर को देखने के लिये इन्द्र ने हजार नेत्र किये थे। शरीर का रूप इन्द्र ने देखा न ? एक आँख से तृप्ति नहीं हुई। हजार आँखें बनायीं। वह तो पर को-उनके शरीर की सुन्दरता को देखने के लिये हजार नेत्र किये। परन्तु भगवान आत्मा सुन्दर पवित्र कैसा है, उसके लिये तुझे हजार नेत्र खोलना पड़ेंगे। समझ में आया ? ऐसी बातें भारी कठिन।

मुमुक्षु : मोक्ष का यत्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अन्दर है।

ज्ञान की पर्याय में द्रव्य को ज्ञेय बनाकर, वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ध्यान का विषय, उसे ध्येय बनाकर। ध्येय बनाकर कहो, ज्ञेय बनाकर कहो, उस पर्याय का अन्दर में ध्यान जब स्व में जाता है, तब उसे हाथ आता है कि यह आत्मा। समझ में आया ? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। सांख्यमत तो सर्वथा शुद्ध मानता है। सर्वथा शुद्ध है। शुद्ध है, उसे फिर शुद्ध करने का रहता नहीं। वह अयत्नसाध्य हो गया उसे।

सम्यग्ज्ञान, ध्यान, तपादिरूप पुरुषार्थ की उनको आवश्यकता ज्ञात नहीं होने से; उनके मत से मोक्ष अयत्नसाध्य है;... अयत्नसाध्य है अर्थात् कि मोक्ष करना है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में... आहाहा! वह अनन्त प्रयत्न है। सम्यग्दर्शन, वह पर्याय में है। वह पर की ओर के झुकाव से श्रद्धा जो रुकती है, उसे अन्तर में झुकाने में अनन्त पुरुषार्थ है। उसके पुरुषार्थ में उस श्रद्धा की पर्याय में पूरा भगवान पाचन हो जाता है। ओहो! वाणी से नहीं, विकल्प से नहीं, स्वभाव की श्रद्धा द्वारा पूरा स्वभाव श्रद्धा में आ जाता है, तब उसे पाचनशक्ति प्रगट हुई। पूरा आत्मा पाचन कर दिया, और ज्ञान का स्वभाव प्रकाशक है। सम्यग्दर्शन का स्वभाव पाचक है, पूर्णानन्द को पचाता है।

मुमुक्षु : यह बात तो अनोखी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनोखी है। आहाहा!

इसीलिए तो यह चलता है, इस बात को ऐसा हुआ है न? कि भाई! सम्यग्दर्शन है, वह तो निर्विकल्प है। और उसका विषय भी निर्विकल्प है। उसमें उसका विषय पर्याय नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय पर्याय नहीं। परन्तु जो सम्यग्दर्शन हुआ, पूर्णानन्द को पाचन करके प्रतीति जो निर्विकल्प उत्पन्न हुई। आहाहा! और सुख के स्वाद लेती हुई उत्पन्न हुई दशा। समझ में आया? उसके साथ जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का तो स्वपरप्रकाशक दोनों को जानने का स्वभाव है। श्रद्धा को तो स्वयं कौन है, उसे जानने का स्वभाव नहीं। यह ज्ञान जो हुआ, उसे तो त्रिकाली द्रव्य की भी प्रतीति है, ख्याल है और पर्याय में अपूर्णता है और मलिनता है, उसका भी उसे ज्ञान में ख्याल है। समझ में आया? ज्ञान दोनों पहलुओं को जानता है। आहाहा! प्रकाशक है न?

त्रिकाली शुद्ध द्रव्य जो समकित का विषय है, उसे वह निश्चयनय से जानता है और उसी नय का ज्ञान का एक व्यवहार भाग वर्तमान में पर्याय की अपूर्णता, मलिनता और दुःख है, उसे भी जानता है। तब उस द्रव्य और पर्याय का सच्चा ज्ञान इकट्ठा हुआ। समझ में आया? उस ज्ञान में प्रकाश का स्वभाव है। द्रव्य है ऐसा जाने, पर्याय अपूर्ण और मलिनता, उसे भी जाने। जब तक पूर्ण परमात्मा नहीं हुआ, तब तक पर्याय में मलिनता है, दुःख है, तब तक दुःख है। साधक है तो बाधकपने का भाव उसे हुआ है न? वह बाधकपना है, वह दुःख है। साधकस्वभाव में त्रिकाली के आश्रय से प्रतीति होकर जो रमणता आदि अंश हुआ, वह तो निर्मलता का अंश है। परन्तु अभी बाकी पूर्ण नहीं हुआ, इससे उसका मलिनता का भाग एक दुःखरूप है। समझ में आया? आहाहा!

यह प्रश्न आया है अभी दो दिन पहले। सेठिया से। दीपचन्द सेठिया है न? सरदारशहर। वह पहले दृष्टि में बहुत अन्तर है न? बहुत अन्तर है। यह तो वह उनकी पुत्री है। पुत्री की पुत्री। पुत्री की पुत्री। उससे लिखाया है। है पत्र कहीं। किसमें है? परमात्मप्रकाश में है। बारह दिन पहले। विनय वन्दन, सरदारशहर। 'बहुत दिनों से मेरी तुच्छ बुद्धि में यह आ रहा है।' लड़की लिखती है। परन्तु भाव उनका है न? 'कि ज्ञानी दोष को दोष जानकर दोष से हटता है, यह तो आगम प्रमाण है। या ज्ञानी दोष कर्ता-भोक्ता बनकर दुःखी बनता है, यह आगम प्रमाण है?' ऐसा प्रश्न किया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह स्वयं प्रश्न। यह तो लड़की लिखती है। ऐसा करके यहाँ समाधान चाहते हैं। ऐसा कि मेरी तुच्छ बुद्धि अनुसार सत्य यह है। ऐसा। कि ज्ञानी को दुःख का कर्तापना, भोक्तापना, दुःख का वेदन नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा यह आगम प्रमाण है, ऐसा। परन्तु ज्ञानी को दुःख का रागादि का कर्ता, उसका भोक्ता और वह दुःखी—ऐसा कोई आगमप्रमाण है? परन्तु यही आया आगमप्रमाण में। दोष से हटता है, ऐसा तो आया न? ज्ञानी दोष से हटता है, ऐसा। उस ओर का झुकाव है न? तो हटता है, वह है, उसमें से हटता है या नहीं उसमें से हटता है? तो है या नहीं वह? राग और द्वेष का अंश उसे कर्तारूप से ज्ञानी को भी है। कर्तव्यरूप से नहीं, करनेयोग्य है, इसरूप से नहीं। परन्तु परिणमन करता है तो छठवें गुणस्थानवाले गणधर को भी महाव्रत का विकल्प उठता है, (तो) कर्तारूप से परिणमन है। आहाहा! ब्रह्मचारीजी! ऐसी बातें हैं!

भोक्तापने राग है। धर्मी राग को करता है और राग को भोगता है और वह उसे दुःख का वेदन है। आहाहा! राग है, वह तो दुःख है। यह आया है न छहढाला में नहीं? 'राग आग दाह दहे सदा...' यह छहढाला में आता है न? 'राग आग दाह दहे सदा, तातै समामृत सेईये।' धन्नालालजी! धर्मात्मा गणधर को, अरे... तीर्थंकर स्वयं जब मुनि हों छद्मस्थ में, उन्हें भी जो विकल्प उठता है, वह दुःख है। वह दुःख का वेदन है। आनन्द का वेदन स्वभाव के आश्रय से है, वह तो चारित्र का कहा न कि दाहक है। स्वरूप में रमणता करने से वह राग का नाश करता है, दाहक है। जैसे अग्नि लकड़ी को जलाती है, वैसे चारित्र राग को जलाता है, नाश करता है। परन्तु नाश करता है, वह है उसका नाश करता है न? परन्तु जब तक है, तब तक सुख कहाँ से है? जहाँ तक राग है... यह आगम प्रमाण है? यह आगम प्रमाण नहीं, ऐसा उसके ख्याल में है। यह है न।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है न। यह प्रश्न पहले बहुत चला था। परन्तु उसमें कहा कि दोष से हटता है, यह आगमप्रमाण है। परन्तु हटता है, ऐसा जहाँ शब्द है, वहाँ

'है'—ऐसा तो हो गया। अभी दोष है। तो है वह क्या चीज़ है?

धर्मात्मा सन्त को और मुनियों को तथा श्रावक और समकिती को। है राग वह क्या चीज़ है? दु:ख है। दु:ख का वेदन है। दु:ख का वेदन न हो तो पूर्ण आनन्द का वेदन होना चाहिए। मिथ्यादृष्टि को पूर्ण दु:ख का वेदन है। केवली को पूर्ण आनन्द का वेदन है। साधक को आनन्द के साथ थोड़ा दु:ख का वेदन है। धन्नालालजी! कल तो बहुत स्पष्टीकरण आया था। कल का व्याख्यान जिन्दगी में नहीं किया था, ऐसा था कल। परन्तु वह तो आया था जरा वह यह। प्रत्येक कर्म के ऊपर उतारा था।

भाई! चौथे गुणस्थान में कुछ कर्मबन्धन है या नहीं? या सर्वथा अबन्ध है? तब जो चौथे गुणस्थान में जो कर्म बँधते हैं, उसका निमित्तपना, वह क्या चीज़ है?

मुमुक्षु : विभावभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विभावभाव है, दु:ख है। वह उसे नहीं बैठता। क्योंकि वह भाई निहालभाई ने ऐसा कहा है न कि हमको तो विकल्प भट्टी जैसा लगता है। वह उसे ऐसा हो गया यह क्या? ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा। आहाहा! परन्तु राग दाह अग्नि है, चाहे तो शुभराग पंच महाव्रत का विकल्प हो, वह अग्नि है। 'राग आग दहे सदा...' शान्ति को जलाता है, राग जलाता है। आहाहा! 'तातैं समामृत सेईये।' समामृत समभाव, (अर्थात्) राग से हटकर समामृत—वीतरागभावरूपी अमृत का सेवन कर। छहढाला में आता है न!

यह कहते हैं कि वह ज्ञान प्रकाशित हो, वह तो स्वद्रव्य को जानता है और पर्याय में जितना कर्म का बन्ध हो तो उसके कारण से होता है, परन्तु उसे निमित्तपने जो भाव होता है, वह जीव की पर्याय का भाव है। चौथे, पाँचवें, छठवें में कर्म है या नहीं? बँधते हैं या नहीं? या बिल्कुल कर्मबन्धन बिना की वह चीज़ है पर्याय में? द्रव्य में बन्ध बिना की चीज़ है। शशीभाई! यह तुम्हारे वे लेख पुस्तक में से यह सब निकाला है, उसका विरोध किया है, लो! लालभाई और इन दोनों ने इकट्ठे होकर लिखा है या नहीं? पुस्तक। सोगानी का द्रव्यदृष्टिप्रकाश। दिया न? दिया है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश, इन दोनों ने इकट्ठे होकर किया है। यह और लालभाई—लालचन्दभाई। अभी रह गये, छह दिन रह गये हैं। मुम्बई। ऐसा यह पढ़कर उन्हें धक्का लगा। यह और कौन निकला?

कहे और कहे, हमको दु:ख लगता है, भट्टी लगता है, यह अब क्या?

बापू! जब तक पर्याय में (पूर्ण) वीतरागता नहीं, तब तक वीतरागी पर्याय का अंश भी है और राग का अंश भी है। एक पर्याय के दो भाग हैं, इसलिए दु:ख को वेदन करता है। क्योंकि बन्धन के निमित्तरूप भाव वह राग और दोष हो सकता है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी दु:खरूप है।

मुमुक्षु : बन्धरूप है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का कारण होता है न! बन्ध का कारण होता है न? बन्ध का कारण, वह धर्म होगा? निर्दोषदशा बन्ध का कारण होगी? आहाहा!

कहते हैं कि ज्ञान तो दोनों को जानता है और स्वरूप की रमणता—चारित्र, वह राग को जलाता है। जैसे अग्नि दूसरे को दाहक लकड़ी को जलाकर राख करे, उसी प्रकार भगवान आत्मा, प्रतीति की पर्याय में पाचक, ज्ञान की पर्याय में स्व और पर्याय का प्रकाशक, चारित्र की पर्याय में राग की अनुत्पत्तिरूपी दाहक। ओहोहो! ऐसा वस्तुस्वरूप है वहाँ... आहाहा! यह यहाँ कहा, देखो! कि यदि यह आत्मा अत्यन्त पवित्र ही हो तो उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-ध्यान आदि पुरुषार्थ की उसको आवश्यकता नहीं रहती। आहाहा! **उनके मत से मोक्ष अयत्नसाध्य है;...** उसे अयत्नसाध्य है ही, ऐसा कहते हैं। अनादि शुद्ध ही है, यह बात भी खोटी है। **इसलिए सांख्य की कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है।**

अब तीसरा। **जैनमतानुसार...** वास्तविक वीतराग परमात्मा के अभिप्राय के अनुसार **स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्ति के निरोध के...** स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्ति के निरोध के **दृढ़ अभ्यास द्वारा, सर्व विभावपरिणति को हटाकर,...** आहाहा! **शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरतारूप निर्वाण 'यत्नसाध्य' है...** वीतराग के अभिप्राय अनुसार स्वरूप संवेदनस्वरूप ऐसी ज्ञान की परिणति का निरोध के दृढ़ अभ्यास द्वारा। अर्थात् कि चित्तवृत्ति अस्थिरता के निरोध द्वारा **दृढ अभ्यास द्वारा सर्व विभाव परिणति को हटाकर शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरतारूप निर्वाण यत्नसाध्य है।** आहाहा!

कलश टीका में तो ऐसा कहा है, यत्नसाध्य नहीं। आता है न? वह कलश। वहाँ उन्होंने काल पर जरा वजन दिया है। यहाँ तो यत्नसाध्य है। क्योंकि काललब्धि के

समय प्राप्त होता है, परन्तु उस काललब्धि का ज्ञान होता किसे है ?—या धार लेनी है बात अकेली काललब्धि... काललब्धि ? काललब्धि का ज्ञान उसे यथार्थ होता है कि जिसने स्वभाव सन्मुख प्रयत्न करके निर्मलदशा प्रगट की है, उसे काललब्धि का ज्ञान उसके ज्ञान में होता है। आहाहा! वस्तु ऐसी है। पाँचों समवाय वहाँ सिद्ध होते हैं। जिसने भगवान आत्मा में प्रयत्न से जहाँ पुरुषार्थ से साधन खड़ा किया, वहाँ पुरुषार्थ आया, स्वभाव आया, उस उसी काल में प्रगट होने का था—काललब्धि, उसका ज्ञान हुआ और उस काल में वही भाव होने का था, (यह) भवितव्यता भी हुई, और उस काल में कर्म के निमित्त का जितना अभाव है, वह भी सिद्ध हो गया, यह निमित्त का अभाव। आहाहा! समझ में आया ? कलशटीका में है वह यत्नसाध्य और सहजसाध्य। यह अपेक्षा से बात की है।

यहाँ कहा कि यत्नसाध्य है। क्योंकि वह इस काल में होगा, ऐसा जाना किसने ? ज्ञान में उसे आया कब ? समझ में आया ? कि जब उसने यह पुरुषार्थ से यत्नसाध्य से—यत्न से जिसने स्वभाव को साधा। आहाहा! पुरुषार्थ द्वारा जिसने शक्ति में से व्यक्तता प्रगट की, तब उसे स्वभाव की श्रद्धा हुई, पुरुषार्थ की हुई, काललब्धि की हुई, भवितव्यता की हुई और उतना कर्म का अभाव है, ऐसा भी उसकी श्रद्धा में आ गया। पाँचों समवाय की श्रद्धा। आहाहा! एक कारण हो और दूसरा कारण न हो, उसे कारण नहीं कहते। है ? कहाँ ? मोक्षमार्गप्रकाशक। एक कारण हो और दूसरे कारण (न हो) यह वस्तु ही नहीं। एक कारण हो, वहाँ सब कारण साथ में होते ही हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक। समझ में आया ? मोक्षार्गप्रकाशक में तो बहुत काम किया है, बहुत काम किया है।

मुमुक्षु : आपने स्पष्टीकरण किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ही यह है न! वस्तु ही ऐसी है वहाँ... आहाहा!

यह हमारे तो बहुत चर्चा चलती थी न सम्प्रदाय की ? एक दामोदर सेठ थे। यहाँ गृहस्थ थे। उस समय ६० वर्ष पहल तो पैसे बहुत नहीं थे न बाहर में! उसे दस लाख रुपये थे। ६०-७० वर्ष पहले। दामनगर। उसकी श्रद्धा पुरुषार्थ से होता है, ऐसी उसकी श्रद्धा नहीं थी। जिस काल में होना होगा, तब होगा। भगवान ने देखा तब। और वह तो

वहाँ तक कहता था कि भगवान जब सर्वज्ञ हैं, उन्हें तो दिखा है, (तो) यह पुरुषार्थ करने का कैसे कहे? अरे... इस समय ऐसा होगा, यह तो देखा है न! पुरुषार्थ करने का भगवान ने कहा है कि तू पूर्णानन्द का नाथ है, ऐसी दृष्टि कर, वह पुरुषार्थ है। वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ बाहर में कूदना है?

बड़ी चर्चा हुई थी। वह काललब्धि को देते। परन्त कहा, काललब्धि का ज्ञान किसे होता है? कि काललब्धि है, इतना बस धार रखना है? काललब्धि (अर्थात्) यह प्राप्ति उसी काल में हुई, उसका ज्ञान किसे होता है? आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बातें हैं। यह यत्नसाध्य है पुरुषार्थ किया स्वभाव सन्मुख, तब स्वभाव का ज्ञान, पुरुषार्थ का ज्ञान, काललब्धि का ज्ञान, भवितव्यता का ज्ञान और निमित्त के अभाव का ज्ञान। आहाहा! पाँचों ही कारणों का ज्ञान एक समय में होता है। आहाहा!

पश्चात् तो उसके साथ बात चलती थी, भाई! एक बात चलती थी। एक शब्द है। आचारांग में पहले श्रुतस्कन्ध में। '**आणाणाए जे सोवठाणा, आणाए जे निरुवठाणा एवं ते मा होउ**' ऐसा शब्द है पहले श्रुतस्कन्ध का। हे गौतम! वहाँ तो ऐसा बोलते न वे लोग। '**आणाणाए जे सोवठाणा**' एक-एक जीव ज्ञान में पुरुषार्थ आज्ञा प्रमाण करते नहीं और एक '**आणाए जे**' वह आज्ञा बाहर का पुरुषार्थ करते हैं। '**एवं ते मा होउ**' ऐसा शब्द है भाई आचारांग में। उन लोगों को बराबर बैठता नहीं था। हमारे गुरु थे बेचारे वे भी भद्रिक थे। शान्त, प्रसिद्ध बहुत थे, परन्तु इस जाति का नहीं था तो वह... फिर मैं करता वहाँ। ७१ के वर्ष, हों! देखो, क्या कहते हैं यह?

'**आणाणाए जे सोवठाणा, आणाए जे निरुवठाणा**' आज्ञा में पुरुषार्थ नहीं करते और आज्ञा बाहर में पुरुषार्थ करते हैं, वह शिष्य हमें न होओ। भाई! समझ में आया? '**मा होउ**' तब व्याख्यान चलता था न! यहाँ तो ५८ वर्ष से यह चलता है। व्याख्यान हजारों लोगों में ५८ वर्ष हुए। ७४ के वर्ष से धारावाही व्याख्यान चलता है। सम्प्रदाय में से। हजारों लोग। हे शिष्य! भगवान ऐसा कहते हैं। वहाँ इस प्रकार से बोल है न! उन्हें तो कहाँ वाणी है भगवान को ऐसी? वह तो दिव्यध्वनि। एक व्यक्ति को लक्ष्यकर नहीं। परन्तु उन लोगों में यह बात है उनमें। हे शिष्य! '**आणाए जे निरुवठाणा**' वीतराग की

आज्ञा में पुरुषार्थ नहीं करता और आज्ञा बाहर में पुरुषार्थ करता है, हे शिष्य! **'एवं ते मा होउ'** यह थोड़ा-थोड़ा आता था ८२ में। थे या नहीं तुम? थोड़ा-थोड़ा? वजुभाई थे वजुभाई। कहो, वजुभाई! ८२ का वर्ष। वढवाण-वढवाण चातुर्मास में। १८ और ३१ = ४९ वर्ष हुए। भाई थे, वहाँ नौकरी थी। नहीं नौकरी थी या नहीं? नहीं थी। नहीं थी।

मुमुक्षु : नौकरी नहीं थी परन्तु....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह फिर उन्होंने डाला न वह? वीर वाक्य। यह व्याख्यान में से निकालकर। (संवत्) १९८२ के वर्ष में। स्थानकवासी में आते थे। आहाहा! तब ऐसा कहते, हों! हे शिष्य! सर्वज्ञ की आज्ञा में पुरुषार्थ नहीं और आज्ञा बाहर का तुझे पुरुषार्थ है, न होओ। कहा, यह क्या कहा यह? यह पुरुषार्थ करने का कहा या नहीं? परन्तु ऐसा कि वह तो ऐसा कहा उन्होंने कि आज्ञा में पुरुषार्थ नहीं, वह करना और अणागम... इतनी बात उन्होंने की। परन्तु उसमें क्या आया? कहा। आहाहा!

आज्ञा बाहर का पुरुषार्थ तुझे वर्तता है और आज्ञा में पुरुषार्थ, भगवान की आज्ञा का पुरुषार्थ नहीं। शिष्य वह न होओ तुम। अर्थात् कि आज्ञा प्रमाण पुरुषार्थ करना। आज्ञा बाहर पुरुषार्थ करना नहीं। यह यत्नसाध्य। आहाहा!

कहते हैं, **और वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को स्वयं कर्म का अभाव होने से, निर्वाण की सिद्धि, कर्म अपेक्षा से प्रयत्न बिना...** कर्म का अभाव प्रयत्न बिना होता है, ऐसा जड़ तो जड़ है, उसे कहाँ प्रयत्न से नाश करना है? वह तो उसके कारण से नाश होने की योग्यता से नाश होता है। क्योंकि **'अयत्नसाध्य' होती है क्योंकि कर्म, पुद्गल है;...** यह मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। **जीव उनकी अवस्था नहीं कर सकता;...** कर्म को बाँधने की अवस्था करे और तोड़ने की, वह आत्मा नहीं कर सकता। वह तो पुरुषार्थ स्वभाव में लगाया और उस काल में वह कर्म की पर्याय अकर्मरूप होने की योग्यता से वह हुई, उसका नाम कर्म का नाश... कर्म का नाश... अर्थात् क्या? कर्म की पर्यायरूप से परमाणु का परिणमन था, वह अकर्मरूप हुआ, वह उसके कारण से हुआ है। यत्न से अकर्मरूप हुआ है, (ऐसा नहीं है)। समझ में आया?

उनके अभाव के लिए जीव को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अयत्नसाध्य सिद्ध किया। अयत्नसाध्य तीन प्रकार से सिद्ध किया। कि जो आत्मा को चार्वाक की भाँति मानता नहीं, उसे भी यत्नसाध्यपना नहीं रहता, अयत्नसाध्य हो गया उसे। जिसे पूर्णानन्द की प्राप्ति ही है, शिवस्वरूप ही है, सिद्ध समान अनादि से, उसे मुक्ति करने के लिये यत्नसाध्य नहीं, उसे अयत्नसाध्य है। और तीसरा यह कि अपने पुरुषार्थ से जब साधन यत्नसाध्य करता है, तब कर्म अयत्नसाध्य अपने आप नाश होते हैं। समझ में आया? यह इत्यादि-इत्यादि बात है तीन की... विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

समाधितन्त्र गाथा 101 से 105 तक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन सी.डी. में अनुपलब्ध हैं। इसलिए ग्रन्थ पूर्ति हेतु इन गाथाओं पर संकलित प्रवचन यहाँ दिये जा रहे हैं। इन प्रवचनों को मात्र पढ़ा जा सकेगा।

— ***अनुवादक***

श्लोक - १०१

नन्वात्मना मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह -

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः॥ १०१॥

स्वप्ने स्वप्नावस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि जागरे जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति। ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिविशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं। न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रांतो मन्यते। तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो विपर्यासाविशेषात्। यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि॥१०१॥

मरणरूप विनाश से उत्तरकाल में (विनाश के पश्चात्) आत्मा का अभाव सिद्ध होवे तो उसका सर्वदा अस्तित्व किस प्रकार सिद्ध हो? ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं —

देह-नाश के स्वप्न में, यथा न निज का नाश।
जागृत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश॥ १०१॥

अन्वयार्थ - (स्वप्ने) स्वप्न की अवस्था में (दृष्टे विनष्टे अपि) प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादि के विनाश होने पर भी, (यथा) जिस प्रकार (आत्मनः) आत्मा का (नाशः न अस्ति) नाश नहीं होता है; (तथा) उसी प्रकार (जागरदृष्टे अपि) जाग्रत अवस्था में भी दृष्ट शरीरादि का विनाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता है (विपर्यासाविशेषतः) क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है।

टीका - स्वप्न में अर्थात् स्वप्न-अवस्था में देखने में आए हुए शरीरादि का नाश होने पर भी, जैसे - आत्मा का नाश नहीं होता; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी देखने में आते हुए शरीरादि का नाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता।

स्वप्न-अवस्था में भ्रान्ति के कारण, आत्मा का विनाश प्रतिभासित होता है — ऐसी शङ्का की जावे तो अन्यत्र भी (जागृत-अवस्था में भी) वह समान है। भ्रान्तिरहित मनुष्य, शरीर का विनाश होने पर, आत्मा का विनाश वास्तव में नहीं मानता; इसलिए दोनों में (स्वप्न-अवस्था में और जागृत-अवस्था में) भी विपर्यास में (भ्रान्ति में) अन्तर नहीं होने से (भ्रान्ति, समान होने से), आत्मा का विनाश नहीं होने पर भी, (उसका) विनाश प्रतिभासित होता है; उसी प्रकार ऐसी भ्रान्ति जागृत-अवस्था में भी होती है।

भावार्थ - स्वप्न में शरीर का नाश देखने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता, तो भी आत्मा के नाश का भ्रम (विपरीत प्रतिभास) होता है; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी शरीर का विनाश देखने पर भी, आत्मा के विनाश का भ्रम होता है; दोनों अवस्थाओं में जो भ्रम होता है, वह समान है; उसमें कोई अन्तर नहीं है।

परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो स्वप्न में मनुष्य के शरीर का और उनके आत्मा का नाश नहीं होता; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी मरण से मनुष्य के शरीर का और उसमें रहनेवाले आत्मा का नाश नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सत् है। सत् का नाश कभी नहीं होता; मात्र उसकी पर्याय में परिवर्तन होता है। एक पर्याय का व्यय, दूसरी पर्याय का उत्पाद और उन दोनों में द्रव्य का ध्रौव्यरूप से कायम रहना — ऐसी वस्तुस्थिति है।

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा, एक चेतन, अमूर्तिक, अविनाशी पदार्थ है। उसके विनाश की कल्पना करना, वह नितान्त भ्रम है। संसार-अवस्था में शरीर के साथ आत्मा का परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है परन्तु अज्ञानी को उन दोनों का भेदविज्ञान नहीं होने से, दोनों को एकरूप मानता है; इसलिए शरीररूप पुद्गलपर्याय का व्यय देखकर, उसमें संयोगरूप से रहनेवाले आत्मा का भी, भ्रम से विनाश मानता है परन्तु जैसे, झोपड़ी के जल जाने पर उसमें स्थित आकाश नहीं जल जाता; इसी तरह शरीर का नाश होने पर, उसमें स्थित आत्मा का नाश नहीं होता॥१०१॥

श्लोक - १०१ पर प्रवचन

देह से भिन्न निजस्वरूप में उपयोग को लगानेवाले मुनियों को कदापि दुःख नहीं है, यह बात बतलायी, और आत्मा, पृथ्वी आदि से उत्पन्न हुआ पदार्थ नहीं है परन्तु असंयोगी स्वयंसिद्ध वस्तु है—ऐसा बतलाया। अब, मरणपर्यन्त अर्थात् देह का विलय हो जाने पर भी, आत्मा का अस्तित्व बना रहता है—यह बात दृष्टान्त रूप से १०१ वीं गाथा में कहते हैं—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः॥१०१॥

देह-नाश के स्वप्न में, यथा न निज का नाश।
जागृत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश॥१०१॥

जैसे किसी ने स्वप्न में देखा कि मेरा नाश हो गया है, मेरा शरीर मिट गया है परन्तु स्वप्न में देखी हुई वह बात सत्य नहीं है, क्योंकि जागृत होते ही अपने को जीवन्त ज्यों का त्यों देखता है। स्वप्न में जो नाश देखा, वह तो विपर्यास और भ्रमणा है किन्तु अज्ञानी, जागृतदशा में भी देह के नाश से अपना नाश मानता है, वास्तव में यह भी स्वप्नदशा की तरह ही विपर्यास और भ्रमणा है क्योंकि वास्तव में आत्मा का कभी नाश नहीं होता। जैसे जागृत अवस्था में स्वयं जैसा है वैसा ही है वैसे मोहनिद्रा छोड़कर देह से भिन्न चैतन्यदृष्टि से देखे तो आत्मा दूसरे भव में या शरीररहित सिद्ध अवस्था में ज्यों का त्यों नित्य बिराजमान है। देह के संयोग-वियोग से आत्मा की उत्पत्ति-मरण मानना यह भ्रमणा है। आत्मा, देह से भिन्न उपयोग-लक्षणवाला है, देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति नहीं, उसी प्रकार देह के वियोग से आत्मा का मरण नहीं होता। आत्मा, जन्म-मरण से रहित सत्स्वरूप है।

आत्मा स्वतन्त्र सत् वस्तु है। सत् का सर्वथा नाश नहीं होता और सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होता परन्तु सत् सदा सत्रूप रहता है और उसकी पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप

परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे-किसी ने स्वप्न में देखा कि मैं मर गया, और जागृत होने पर लोगों से कहे कि भाई! मैं तो मर गया हूँ—तो लोग उसे मूर्ख ही कहेंगे अरे! तू जीता-जागता खड़ा है और कहता है कि मैं मर गया? जैसे स्वप्न की उसकी बात भ्रमणा है; उसी प्रकार देह छूटने से आत्मा का मरण मानना, भ्रमणा है। ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूर्ख! चेतनलक्षण आत्मा कभी मरता होगा!! तू आत्मा का नाश मानता है, यह तो देह-बुद्धि के कारण तेरी भ्रमणा ही है। जैसे स्वप्न की बात सत्य नहीं; उसी प्रकार तेरी बात भी सत्य नहीं। आत्मा अपने द्वारा किये हुए परिणामों से स्वर्ग या नरक में जाकर उनका फल प्राप्त करता है और वीतरागता द्वारा मोक्ष प्राप्त होने पर सादि-अनन्त सिद्धदशा में रहकर मोक्ष के परम सुख को भोगता है।

आत्मा, देह से भिन्न अविनाशी तत्त्व है। देह के साथ आत्मा का नाश नहीं होता। जिस प्रकार निद्रा में-स्वप्न में यह देखा कि 'मैं मर गया' लेकिन जब जागा, तब अनुभव करता है कि मैं मरण को प्राप्त नहीं हुआ; जो स्वप्न में था, वही मैं हूँ। इसी प्रकार अज्ञानदशा में भ्रम से देहात्मबुद्धि के कारण, देह के नाश से आत्मा का नाश होना भासित होता है, किन्तु वास्तव में आत्मा नाश को प्राप्त नहीं होता। आत्मा दूसरे शरीर में या सिद्धदशा में ज्यों का त्यों रहता है, अर्थात् आत्मा सत् है, मोक्ष में भी आत्मा सत् है। नास्तिक लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में आत्मा का अभाव है।—यदि ऐसा हो तो मोक्ष की इच्छा कौन करे?—अपने अभाव को कौन चाहे? कोई भी अपने अभाव की इच्छा नहीं रखता। सर्व प्राणी मोक्ष को तो चाहते हैं, क्योंकि उसमें आत्मा सदैव परम शुद्ध आनन्ददशा सहित बिराजमान है। किसी भी अवस्था में आत्मा के अभाव की कल्पना करना, वह मिथ्या है। जैसे स्वप्न में आत्मा का नाश दिखायी देता है, वह मिथ्या है; उसी प्रकार जागृत अवस्था में जो आत्मा का मरण दिखायी देता है, वह अज्ञानी का भ्रम है। दोनों में विपर्यास की समानता है।

इस देह का नाश होने पर भी, आत्मा का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसे सत् आत्मा की मुक्ति प्रयत्न द्वारा सिद्ध होती है। जो देह से भिन्न आत्मा का शाश्वतपना जो जानते हैं, उन्हें मरण का भय नहीं रहता। 'हमारा नाश हो जायेगा'—

ऐसा भी सन्देह उन्हें नहीं होता। किसी भी परिस्थिति में-देह छूटते समय भी, धर्मी जीव अपने भिन्न अस्तित्व का अनुभव करते हैं और आत्मा की ऐसी भावनासहित देह छोड़ते हैं... देह छोड़ते समय भी उनके समाधि होती है। ●

श्लोक - १०२

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्धरानुष्ठानक्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह -

***अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।**
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ १०२॥

अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण भावितमेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपपरिज्ञानं क्षीयते अपकृष्यते। कस्मिन्? दुःखसन्निधौ दुःखोपनिपाते सति। यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनतिक्रमेण मुनिर्योगी आत्मानं दुःखैर्भावयेत् कायक्लेशादिकष्टैः सहाऽऽत्म-स्वरूपं भावयेत्। कष्टसहोभवन् आत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः॥१०२॥

अनादि-निधन आत्मा प्रसिद्ध होने पर भी, उसकी मुक्ति के लिए दुर्धर तपश्चरणरूप क्लेश करना व्यर्थ है क्योंकि ज्ञानभावनामात्र से ही मुक्ति की सिद्धि है — ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —

दुख-सन्निधि में नहीं टिके, अदुःख भावित ज्ञान।
दृढ़तर भेद-विज्ञान का, अतः नहीं अवसान॥ १०२॥

अन्वयार्थ **- (अदुःखभावितं ज्ञानं) जो ज्ञान, अदुःख-सुख में भाया जाता है, वह (दुःखसन्निधौ) उपसर्गादि दुःखों के उपस्थित होने पर, (क्षीयते) नष्ट हो जाता है।(तस्मात्) इसलिए (मुनिः) मुनि को — अन्तरात्मा योगी को (यथाबलं) अपनी शक्ति के अनुसार (दुःखैः) कायक्लेशादिरूप दुःखों से (आत्मानं भावयेत्) आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।**

टीका - दुःख बिना अर्थात् कायक्लेशादि के कष्ट बिना, सुकुमार उपक्रम से भाने में आया हुआ अर्थात् एकाग्रता से मन में बारम्बार चिन्तन किया हुआ ज्ञान अर्थात् शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का परिज्ञान, क्षय पाता है — क्षीण होता है। कब ? दुःख की सन्निधि में (उपस्थिति में)-दुःख आ पड़ने पर। इसलिए यथाशक्ति अर्थात् अपनी शक्ति का उल्लंघन किए बिना, मुनि को-योगी को दुःख से आत्मा की भावना भाना अर्थात् कायक्लेशादिरूप कष्टों से, आत्मस्वरूप की भावना करना — कष्ट सहकर, सदा आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना — ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - जिनको शरीरादि की अनुकूलता में व साताशीलपने में ज्ञानभावना करने की आदत पड़ी है, उनको उपसर्गादि आने पर, ज्ञानभावना अचल नहीं रह सकती, क्योंकि वे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की थोड़ी भी बाधा सहन नहीं कर सकते। वे न जीने (मरण) की शङ्का आ पड़ने पर घबरा जाते हैं और ज्ञानभावना से चलित हो जाते हैं; इसलिए आचार्यदेव ने इस श्लोक में कहा है कि ज्ञानभावना के अभ्यासी को उचित है कि वह अनेक कष्ट सहन करने की ऐसी आदत डाले कि कष्ट आ पड़े तो भी वह ज्ञानभावना से चलायमान न हो॥१०२॥

श्लोक - १०२ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि—प्रयत्नपूर्वक आत्मा के भेदज्ञान की भावना करना चाहिए... असह्य दुःख और किसी भी प्रतिकूलता में आत्मा की भावना नहीं छोड़ना। आत्मा को भिन्न जानकर अति उग्र प्रयत्नपूर्वक उसकी भावना भाते रहना चाहिए। क्योंकि—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥१०२॥

दुःख-सन्निधि में नहीं टिके, अदुःख भावित ज्ञान।
दृढ़तर भेद-विज्ञान का, अतः नहीं अवसान॥१०२॥

दुःख बिना भाया हुआ ज्ञान, उपसर्गादि दुःख के प्रसङ्गों में नष्ट हो जाता है; इसलिए अपनी शक्ति-अनुसार कायक्लेशादिपूर्वक आत्मा की दृढ़ भावना करनी चाहिए।

किसी भी प्रतिकूलता में मुमुक्षु को जागृत रहने का यह उपदेश है। जिसने संसार में बाह्य सुखों की अभिलाषा छोड़कर आत्मभावना भायी है, उन्हें कष्टदायक प्रसङ्गों पर भी आत्मा की ऐसी भावना बनी रहेगी और यह भावना, तीव्र वैराग्य का रूप धारण कर लेगी। साताशील या प्रमादी न हो जायें; इसलिए यह जागृति का उपदेश है क्योंकि यदि आत्मा की भावना भूलकर बाह्य सुख-साता में मग्न हो जायें तो ज्ञान का नाश हो जाता है।

आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ऐसी भावना भाना कि किसी भी प्रतिकूलता में वह उत्तर दे! किसी भी प्रसङ्ग पर वह भेदज्ञान की भावना उपस्थित रहे। जहाँ अन्य कोई उपाय नहीं है, वहाँ अन्तर के भेदज्ञान की भावनासहित सहनशीलता, वह अमोघ उपाय है। जहाँ ज्ञान की भावना जागृत है, वहाँ कोई भी प्रतिकूलता साधक को आत्मभावना से विचलित नहीं कर सकती।

अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ऐसी दृढ़ भावना करनी चाहिए कि समाधि के समय किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता के सन्मुख टिका जा सके और मृत्यु -काल में भी आत्मा किसी प्रतिकूलता में दब न जाये; आनन्द की उग्र भावनासहित समाधिमरण हो। जिसने सातापूर्वक मात्र भेदज्ञान की बात की, किन्तु अन्तर्मुख होने का प्रयत्न नहीं किया है, उसे प्रतिकूलता के समय भेदज्ञान की भावना नहीं रहेगी। जिसने आत्मा के आश्रय से अन्तर्मुख होने का प्रयत्न किया है, उसे किसी भी प्रसङ्ग पर आत्मा की भावना रहेगी। अनुकूल संयोगों में जो मग्न है, और अन्तर के अनुभव का प्रयत्न नहीं करता, वह प्रतिकूल संयोगों के समक्ष कैसे टिक सकेगा? उस समय उसका ज्ञान उसे जवाब नहीं देगा।

प्रभो! अपने चैतन्य की संयोग से भिन्न ऐसी भावना भाना कि वह भावना किसी भी प्रतिकूलता में टिक सके। 'देह से आत्मा भिन्न है'—ऐसी साधारण जानकारी में मत रुक जाना, परन्तु अन्तर में प्रयत्न द्वारा आत्मा का अनुभव और उसकी भावना करना।

आत्म-अनुभव से रहित मात्र धारणा तुझे शरणरूप नहीं होगी। अन्तर में भेदज्ञान की भावना से निर्विकल्प आनन्द-रस के पान का ऐसा प्रयत्न करना कि समाधिमरण के

समय प्यास से गला सूख जाये और पानी अन्दर न उतरे, तब भी अन्तर के अनुभव से आत्मा तृप्त रहे।

अष्टप्राभृत की ६२ वीं गाथा में भी कष्टसहनपूर्वक आत्मा की भावना करने का उपदेश है—

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेदि भावए॥६२॥

सुख से भाने में आया हुआ ज्ञान, दुःख में नष्ट हो जाता है; अतः यथाशक्ति बलपूर्वक प्रयत्न द्वरा कायक्लेश सहन करके आत्मा का अनुभव करना—ऐसा उपदेश है। आहार-आसन-निद्रा आदि प्रमाद को जीतकर, जिनवर के मत-अनुसार गुरुप्रसाद से आत्मा को जानकर उसे ध्याना।

देहादि से भिन्न आत्मा की भावना करनेवाले मुमुक्षु जीव के अन्तर परिणामों में तीव्र उदासीनता, वैराग्य, प्रतिकूलता में सहनशीलता, धैर्य आदि होते हैं। इससे कहते हैं कि हे जीव! तपश्चरणादि वैराग्यभावनापूर्वक तू ज्ञान को भा। ऐसी भावना भा कि चाहे जैसी प्रतिकूलता में वह छूटे नहीं, अखण्ड आराधना में भङ्ग न पड़े। जो मात्र बाह्य सुखसाता में पड़े हैं और ज्ञान की मात्र बातें करते हैं, उन्हें प्रतिकूलता के समय ज्ञानभावना कहाँ से रहेगी? अज्ञानी तो मरण या प्रतिकूलता के प्रसङ्गों पर भड़क उठते हैं और अपने से भिन्न ज्ञान को भूल जाते हैं। जिसने ज्ञानभावना की, उस ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता; प्रतिकूलता में ज्ञानभावना नहीं छूटती। देखो! सुदर्शन सेठ, सीताजी पर कैसे सङ्कट आये, फिर भी वे उन प्रसङ्गों पर अपनी ज्ञानभावना को भूले नहीं थे; जिन्होंने बार-बार आत्मा के अनुभव का प्रयोग किया है और स्वभाव में रहने का प्रयत्न किया है, उन्हें किसी भी अवसर पर ज्ञानभावना जागृत रहती है। इसलिए दुःख में सहनशीलता के प्रयत्नसहित ज्ञानस्वभाव की भावना करने का उपदेश दिया है।

समयसार में भी कहते हैं कि—हे जीव! तू मरकर भी तत्त्व का जिज्ञासु हो... मरण-समान कष्ट सहन करके भी, देह से भिन्न आत्मा को अनुभव में ले.... अन्तर में उसके अनुभव की अभिलाषा जागृत कर, चैतन्य की रुचि के समक्ष दुनिया की किसी भी प्रतिकूलता को न देख।

मैं आत्मा हूँ, शरीर से पृथक् हूँ—ऐसी सामान्य धारणा की हो, किन्तु जिसने अन्तर में आत्मा की सच्ची रुचि से भेदज्ञान करके उसकी भावना नहीं भायी, उसे जब तक शरीरादि की अनुकूलता हो, तब तक तो ऐसा लगता है कि ज्ञान है परन्तु जहाँ शरीर में कष्ट हो, मरण का अवसर आये या कोई दूसरे निन्दा-अपमान आदि प्रतिकूलता के प्रसङ्ग आयें, तब उसकी धारणा नहीं रहेगी और प्रतिकूलता के वेदन में फँस जायेगा। इसलिए यहाँ पर ऐसा उपेदश है कि अभी से देहादि के प्रति उदासीनता की भावनापूर्वक तू ज्ञान का अभ्यास कर।

जिसे अनुकूलता का जितना प्रेम होता है, उसे प्रतिकूलता में उतना ही द्वेष हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानी तो आत्मा को दोनों से पृथक् जानकर पल-पल उसी की भावना करते हैं। ज्ञान की सच्ची भावना भायी होगी तो वह विशेष प्रसङ्ग पर उपस्थित होगी और आत्मा को समाधि-समाधान-शान्ति प्रदान करेगी। जीवन में जिसने आत्मा की दरकार नहीं की, उसकी भावना नहीं की और कहे कि मैं मरण समय समाधि रखूँगा, तो वह समाधि कहाँ से रखेगा? जैसे किसी ने अपने जीवन में बन्दूक हाथ में न ली हो और न निशाना लगाना जानता हो, वह लड़ाई में दुश्मन के समक्ष किस प्रकार खड़ा रहेगा? जिन्दगी में अभ्यास किया होगा, उसे समय पर काम आयेगा। इसलिए हे भाई! प्रमाद छोड़कर दृढ़ वैराग्यपूर्वक आत्मा की भावना भा!

जिस प्रकार दीक्षा के समय संसार-भोगों को तुच्छ जानकर अत्यन्त वैराग्य पैदा होता है; उसी प्रकार किसी तीव्र रोग या मृत्यु की सम्भावना के प्रसङ्ग पर जागृत हुई उत्तम भावना का स्मरण करके विशुद्धभाव से उत्तम बोध का सेवन करना... ऐसी दृढ़ भावना करना कि केवलज्ञान तक अखण्ड रहे। अरे जीव! भेदज्ञान करके अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करना... बारम्बार ज्ञान को अन्तर में एकाग्र करने का अभ्यास करना! रोम-रोम में अर्थात् आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में ज्ञान का परिणाम हो जाये—ऐसा दृढ़ अभ्यास करना... विषयों के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर चैतन्य का रस इतना बढ़ाना कि स्वप्न में भी, अथवा प्राण जायें तो भी शिथिलता न आये और ज्ञान, धारावाहीरूप से टिका रहे—ऐसे दृढ़ ज्ञानभाव का उपदेश है। ●

श्लोक - १०३

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति नियमेन तत् तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह -

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥ १०३॥

आत्मनः सम्बन्धिनः प्रयत्नाद्वायुः शरीरे समुच्चलति कथम्भूतात् प्रयत्नात् ? इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् रागद्वेषाभ्यां जनितात्। तत्र समुच्चलिताच्च वायोः शरीरयंत्राणि शरीराण्येव यंत्राणि। किं पुनः शरीराणां यंत्रैः साधर्म्यं यस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते? इति चेत् उच्यते यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियायां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता। तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते। केषु? कर्मसु क्रियासु कथम्भूतेषु? स्वेषु स्वसाध्येषु॥१०३॥

यदि आत्मा, शरीर से सर्वथा भिन्न होवे तो उसके चलने से शरीर नियम से क्यों चलता है और उसके खड़े रहने से वह (शरीर) नियम से क्यों खड़ा रहता है? — ऐसी शङ्का करनेवाले के प्रति कहते हैं —

राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु सञ्चार।
वायु है तनयन्त्र की, सञ्चालन आधार॥ १०३॥

अन्वयार्थ - (आत्मनः) आत्मा के (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्) राग और द्वेष की प्रवृत्ति से होनेवाले प्रयत्न से, (वायुः) वायु उत्पन्न होती है-वायु का संचार होता है, (वायोः) वायु के संचार से (शरीरयंत्राणि) शरीररूपी यन्त्र, (स्वेषु कर्मसु) अपने -अपने कार्य करने में (वर्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं।

टीका - आत्मा के प्रयत्न से वायु का शरीर में सञ्चार होता है। कैसे प्रयत्न से ? इच्छा - द्वेष से प्रवर्तते हुए-राग-द्वेष से उत्पन्न हुए (प्रयत्न से)। उसमें (शरीर में) सञ्चारित वायु से शरीरयन्त्र—शरीर, वही यन्त्र, वे शरीरयन्त्र (स्वकार्य में प्रवर्तते हैं।)

क्या शरीरों को यन्त्रों के साथ समान धर्म है कि जिससे वे (शरीर) यन्त्र

कहलाते हैं ? ऐसा पूछो तो कहना है कि जैसे - लकड़ी आदि से बने हुए सिंह-व्याघ्रादि, यन्त्र परप्रेरित होकर अपने-अपने साधनेयोग्य विविध क्रियाओं में प्रवर्तते हैं; इसी प्रकार शरीर भी (प्रवर्तते हैं)। इस प्रकार दोनों में (शरीर और यन्त्रों में) समानता है। वे शरीरयन्त्र वायु द्वारा प्रवर्तते हैं। किसमें ? कार्यों में-क्रियाओं में। कैसे कार्यों में ? अपने-अपने साधनेयोग्य कार्यों में।

भावार्थ - जब जीव को शरीर की क्रिया करने की इच्छा होती है, तब उसके (इच्छा के) निमित्त से, वायु अपनी योग्यता से शरीर में उत्पन्न होती है। उस वायु के संचार के निमित्त से शरीरयन्त्र अर्थात् शरीर की क्रियाएँ अपनी-अपनी योग्यता से अपना काम करती हैं।

इस प्रकार जीव की इच्छा और शरीर की क्रिया के सीधा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है परन्तु जीव की इच्छा और वायु के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध हैं और वायु तथा शरीर की क्रिया के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध हैं।

विशेष स्पष्टीकरण -

स्थूलदृष्टि से (व्यवहारनय से) जीव की इच्छा से शरीर चलता है — ऐसा कहा जाता है, इसका अर्थ यह है कि जीव की इच्छा अथवा वायु से शरीर की क्रियाएँ वास्तव में नहीं होतीं, परन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए उपचार से ऐसा कहा जाता है।

योग, (अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का चलन) और उपयोग (अशुद्ध उपयोग — ज्ञान का कषायों के साथ जुड़ना) — इन दोनों का कर्ता तो आत्मा कदाचित् भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो वह निमित्तरूप से भी कभी नहीं है। अज्ञान-अवस्था में ही आत्मा को योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है परन्तु शरीरादि परद्रव्यों का कर्ता तो वह निमित्तरूप भी कभी नहीं है।

इससे ऐसा समझना कि यदि जीव, वास्तव में पुद्‌गलकर्म का कर्ता नहीं है, तो शरीरादि की किसी क्रिया का कर्ता वह कैसे हो सकता है? जरा भी नहीं, परन्तु अज्ञानदशा में जीव का योग और उपयोग, शरीर की क्रिया में निमित्त होता है।

द्रव्यदृष्टि से तो 'कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है', परन्तु पर्यायदृष्टि से

किसी द्रव्य की पर्याय, किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है; इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम, अन्य द्रव्य के परिणाम का निमित्तकर्ता कहलाता है। परमार्थ से द्रव्य, अपने ही परिणाम का (शुद्ध-अशुद्धपरिणाम का) कर्ता है; वह अन्य द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं है।[१]

'अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुण की (पर्याय की) उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इसलिए (यह सिद्धान्त है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।[२]*'*

'सर्व द्रव्य, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभाव से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है — ऐसा होने से सर्व द्रव्यों को, निमित्तभूत अन्य द्रव्य, अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणाम के उत्पादक हैं ही नहीं।[३]*'*

'...तथा पर्याय में जीव-पुद्‌गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन सबको दो द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है परन्तु यह जीव की क्रिया है और पुद्‌गल इसमें निमित्त है तथा यह पुद्‌गल की क्रिया है और जीव उसमें निमित्त है — ऐसा भिन्न-भिन्न भाव (अज्ञानी को) भासित नहीं होता।[४]*'*

इसलिए जीव की क्रिया से, शरीर के चलने की तथा खड़े रहने इत्यादि की क्रिया होना मानना, भ्रम है॥१०३॥

---

१. श्री समयसार, गाथा-१०० व भावार्थ
२. श्री समयसार, गाथा-३७२
३. श्री समयसार, गाथा-३७२ की टीका
४. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२२५-२२६

श्लोक - १०४

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुरुत इत्याह -

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान प्राप्नोति परमं पदम्॥ १०४॥

तानि शरीरयंत्राणि साक्षाणि इंद्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो बहिरात्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते। विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं? तत्परमं पदं मोक्षं। किं कृत्वा? त्यक्त्वा? कं? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम्॥१०४॥

उन शरीर यन्त्रों का आत्मा में आरोप और अनारोप करके जड़ (अज्ञानी) और विवेकी पुरुष क्या करते हैं?—यह कहते हैं —

मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख सन्ताप।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप॥ १०४॥

_अन्वयार्थ_ - (जड़) मूर्ख / बहिरात्मा, (साक्षाणि) इन्द्रियोंसहित(तानि) उन औदारिकादि शरीरयन्त्रों को (आत्मनि समारोप्य) आत्मा में आरोपण करके 'मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ' इत्यादिरूप से उनकी आत्मत्व की कल्पना करके (असुखं आस्ते) दुःख भोगता रहता है, (पुनः) किन्तु (विद्वान) ज्ञानी/अन्तरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) शरीरादि में आत्मा की कल्पना को छोड़कर, (परमं पदं) परमपदरूप मोक्ष को (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

_टीका_ - उन अक्षसहित शरीरयन्त्रों को आत्मा में आरोपित करके (शरीरयन्त्रों को आत्मा मानकर) अर्थात् 'मैं गोरा हूँ, सुन्दर आँखवाला हूँ, मैं मोटा (हूँ)' इत्यादि अभेदरूपपने (एकत्वबुद्धि से) आत्मा में आरोपित कर; जड़-बहिरात्मा, जैसे - असुख-सुख हो, वैसे वर्तता है परन्तु विद्वान-अन्तरात्मा प्राप्त करता है। क्या? उस परमपद को-मोक्ष को। क्या करके? तजकर। क्या (तजकर)? शरीरादि का आत्मा में जो आरोप-अध्यवसाय है, उसका (तजकर)।

भावार्थ - मैं गोरा, मैं सुन्दर, मैं मोटा — इत्यादिरूप शरीरादि में आत्मा की अभेद कल्पना करके (आत्मबुद्धि करके), अज्ञानी बहिरात्मा, सुख-दुःख मानता है परन्तु ज्ञानी अन्तरात्मा, आत्मा में शरीरादि का मिथ्या-अभेद अध्यवसाय का त्याग करके, परमपद को -मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अनादि से शरीर और आत्मा के संयोग सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण, शरीर के अङ्गोपाङ्ग की क्रिया देखकर, अज्ञानी को भ्रम होता है कि ये सब क्रियाएँ आत्मा की हैं परन्तु वास्तव में आत्मा और शरीर के लक्षण एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। एक चेतन और अरूपी है तथा दूसरा अचेतन-जड़ और रूपी है। दोनों के मध्य, मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है परन्तु अज्ञानी, भ्रम से निमित्त नैमित्तिकसम्बन्ध के बदले कर्ता-कर्मसम्बन्ध समझकर, अपने को सुखी-दुःखी मानता है।

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है, वह शरीर की क्रियाओं को आत्मा की क्रिया नहीं मानता; उसको शरीर में आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि नहीं है; इसलिए उसको शरीर की क्रिया में कर्ताबुद्धि नहीं है। शरीरादि में कर्ताबुद्धि नहीं होने से, उसको हर्ष-शोक अथवा राग-द्वेष भी नहीं है; उनके अभाव में ज्ञानी को कर्म का नया बन्ध नहीं होता। भेदविज्ञान के बल से जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पुराने कर्म भी उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं। अन्त में कर्मों का सम्पूर्णरूप से अभाव होने पर, परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है॥१०४॥

श्लोक - १०३-१०४ पर प्रवचन

आत्मा और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण अनेकबार जीवों को इच्छानुसार देहादि क्रिया होती देखकर ऐसा भ्रम न करना चाहिए कि आत्मा के कारण शरीर का यन्त्र चलता है! परन्तु आत्मा को देह से भिन्न ही जानना चाहिए। आत्मा में देह का आरोप नहीं करना चाहिए। देह से भिन्न आत्मा की भावना करके एकाग्र होना चाहिए—जिससे परमपद की प्राप्ति हो—ऐसा दो गाथाओं में कहते हैं।

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥१०३॥
तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान प्राप्नोति परमं पदम्॥१०४॥

राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु सञ्चार।
वायु है तनयन्त्र की, सञ्चालन आधार॥१०३॥
मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख सन्ताप।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप॥१०४॥

आत्मा में राग-द्वेषरूप इच्छा का प्रयत्न होने पर, उसके निमित्त से एक तरह की वायु शरीर में उत्पन्न होती है और उस वायु के सञ्चार से शरीररूपी यन्त्र अपने कार्य में प्रवर्तता है। वहाँ उस देह के कार्यों में आत्मा का आरोप करके अज्ञानी उसे आत्मा ही की क्रिया मानता है... परन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि देह की क्रिया में आत्मा का आरोप करना, वह तो मूर्ख-बहिरात्मा का कार्य है। ज्ञानी तो शरीर की क्रिया में आत्मा की कल्पना छोड़कर, देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा की भावना भाकर परमपद को प्राप्त होता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रिया मानों मैं ही करता हूँ—इस प्रकार अज्ञानी जीव, भ्रम से जड़ की क्रियाओं को आत्मा की ही क्रियाएँ मानता है; अतः वह जड़बुद्धि बहिरात्मा इन्द्रिय-विषयों के जाल में ही फँसा रहता है, और दुःखी होता है। देह की क्रिया में राग-द्वेष करता हुआ दुःखी होता है और चैतन्य में स्थिरता नहीं करता। ज्ञानी-विवेकी-अन्तरात्मा तो शरीर और इन्द्रियों की क्रिया से अपने को स्पष्ट भिन्न जानकर, चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में एकाग्र होकर परमपद को प्राप्त होता है - महान सुख को प्राप्त करता है।

अज्ञानी, पर विषयों से अपने को सुख-दुःख मानकर उन्हीं में लीन रहता है। ज्ञानी तो जानता है कि सर्व द्रव्य दूसरे से असहाय हैं, कोई किसी को राग-द्वेष में प्रेरित नहीं करता। छहों द्रव्य सदा अपने-अपने स्वरूप में प्रवर्तन कर रहे हैं।

जीव की इच्छा हो और गमन करे, तब वहाँ शरीर भी साथ चलता है, जीव की इच्छा हो, भाषा भी कई बार वैसी ही निकले—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु दोनों की क्रिया भिन्न है, दोनों के लक्षण भिन्न हैं। ऐसा नहीं जाननेवाला अज्ञानी 'मैं ही शरीर को चलाता हूँ—मैं ही भाषा बोलता हूँ' इस प्रकार देह में अपना आरोप करता है, और इसलिए देह सम्बन्धी विषयों में वह सुख मानता है, परन्तु भिन्न आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी तो उस आरोप को झूठा समझकर, देह से भिन्न अन्तरात्मा को अनुभवता है और आत्मा में देह का आरोप छोड़कर, परम पद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा भिन्न लक्षण की पहिचानपूर्वक शरीर और आत्मा का एक-दूसरे में आरोप छोड़कर, और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का भी लक्ष्य छोड़कर; देह से भिन्न आत्मा के अनुभव में एकाग्रता करना, वही आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है, वही समाधि है। ●

श्लोक - १०५

कथमसौ तं त्यजतीत्याह अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्त्वेत्याह -

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्॥ १०५॥

उपैति प्राप्नोति। किं तत्? सुखं कथम्भूतं? ज्योतिर्मयं ज्ञानात्मकं। किं विशिष्टः सन्नसौ तदुपैति? जननाद्विमुक्तः संसाराद्विशेषेण मुक्तः। ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतं सम्भवति? परमात्मनिष्ठः परमात्मस्वरूपसंवेदकः किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात्? मुक्त्वा। कां? परबुद्धिं अहं धियं च स्वात्मबुद्धिं च। क्व? परत्र शरीरादौ। कथम्भूतां ताम्? संसारदुःखजननीं चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां। यतस्तथाभूतां तां त्यजेत्। किं कृत्वा? अधिगम्य। किं तत्? समाधितंत्रं समाधेः परमात्मस्वरूप-संवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनतया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं। कथम्भूतं तत्? तन्मार्ग तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति॥१०५॥

वह उसे किस प्रकार तजता है? — वह कहते हैं अथवा अपने रचित ग्रन्थ का उपसंहार, फल दर्शाते हुए 'मुक्त्वा' — ऐसा कहकर कहते हैं —

करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान॥ १०५॥

अन्वयार्थ - (तन्मार्ग) उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले (एतत् समाधितंत्रम्) इस समाधितन्त्र नामक शास्त्र का (अधिगम्य) अध्ययन करके — अनुभव करके, (परात्मनिष्ठः) परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा, (संसारदुःखजननीं) चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली, (परत्र) शरीरादि परपदार्थों में (अहं धियं परबुद्धिं च) जो अहंबुद्धि तथा परबुद्धि को (पर, वह मैं हूँ - ऐसी बुद्धि को) (मुक्त्वा) छोड़कर, (जननाद्विमुक्तः) संसार से मुक्त होता हुआ, (ज्योतिर्मयं) ज्ञानात्मक सुख को (उपैति) प्राप्त कर लेता है।

टीका - पाता है अर्थात् प्राप्त करता है। वह क्या ? सुख। कैसा (सुख) ? ज्योतिर्मय अर्थात् ज्ञानात्मक (सुख)। कैसे प्रकार का होकर वह उसे (सुख को) प्राप्त करता है ? जन्म से मुक्त (अर्थात्), मुख्य करके संसार से मुक्त होकर (सुख प्राप्त करता है।) उससे (संसार से) मुक्त होने पर भी वह कैसे सम्भव है ? (वह) परमात्मनिष्ठ-परमात्मस्वरूप का संवेदक (होता है)। क्या करके वह तन्निष्ठ (अर्थात् परमात्मनिष्ठ) बनता है ? छोड़कर। क्या (छोड़कर) ? परबुद्धि और अहंबुद्धि अर्थात् स्वात्मबुद्धि (छोड़कर)। किसमें (छोड़कर) ? पर में-शरीरादि में। कैसी उस (बुद्धि को) ? संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली चतुर्गति के दुःखों की कारणभूत (बुद्धि को)। इसलिए उस प्रकार की उस बुद्धि का त्याग करना। क्या करके ? जानकर। क्या (जानकर) ? समाधितन्त्र को। समाधि का अर्थात् परमात्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता को अथवा परम उदासीनता के तन्त्र को अर्थात् प्रतिपादक शास्त्र को। वह कैसा है ? उसके मार्गरूप है। उसके अर्थात् ज्योतिर्मय सुख के मार्गरूप अर्थात् उपायरूप (शास्त्र) है।

भावार्थ - श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित यह 'समाधितन्त्र' शास्त्र, परमात्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता जो समाधि है अर्थात् परमपद की प्राप्ति का उपाय है-उसका प्रतिपादन करता है।

इस 'समाधितन्त्र' का अच्छी तरह अभ्यास करके, जो अन्तरात्मा, शरीरादि पदार्थों में अहंबुद्धि और परबुद्धि का त्याग करता है और परमात्मा की भावना में चित्त स्थिर करता है, वह संसार के दुःखों से मुक्त होकर, केवलज्ञानमय परमसुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आचार्यदेव ने प्रस्तुत 'समाधितन्त्र' की भव्यता दर्शाकर, परमपद की प्राप्ति का उपाय बताया है।

जब तक स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तब तक जीव, अज्ञानी रहता है और वह अज्ञानजनित भ्रम के कारण, शरीरादि परपदार्थों में अहंबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है अर्थात् उनमें अपने आत्मा की कल्पना करके, कर्ताबुद्धि का सेवन करता है। वह मानता है कि शरीर की क्रिया अथवा पर के कार्य मैं करता हूँ तथा उसको

शरीर और परपदार्थों के प्रति ममकारबुद्धि होती है अर्थात् शरीर मेरा, स्त्री-पुत्र-मकानादि मेरे — ऐसी भ्रमजनित मान्यता वह करता है।

इस अज्ञानमूलक मान्यता के कारण, जीव को राग-द्वेषादि कषायभाव होते हैं, जो चतुर्गतिरूप संसारभ्रमण के मूलकारण हैं। स्वसन्मुख होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होने की भावना करना ही संसार के दुःखों से मुक्ति का और परमपद की प्राप्ति का उपाय है॥१०५॥

श्लोक - १०५ पर प्रवचन

परमात्म पद की प्राप्ति का मार्ग बतानेवाले इस समाधितन्त्र को जानकर परमात्मनिष्ठ जीव, परम सुख को पाता है-ऐसा अन्तिम श्लोक में शास्त्र का फल बताकर अन्त मङ्गल करते हैं:—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्॥१०५॥

करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान॥१०५॥

भेदज्ञान द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है—ऐसे परमपद की प्राप्ति का मार्ग यह समाधितन्त्र बतलाता है। जिससे समाधि, अर्थात् परमसुख प्राप्त हो—ऐसा उपदेश इस समाधितन्त्र में है। उसको जानकर क्या करना? तो कहते हैं कि संसार-दुःख की जननी ऐसी जो स्व-पर में एकत्वबुद्धि है, उसको छोड़ना और उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में स्थिर होना। देह में आत्मबुद्धि और आत्मा में देहबुद्धि—ऐसी जो स्व-पर की एकत्वबुद्धि है, वह संसार के दुःख की जननी है। मिथ्याबुद्धि ही संसार का मूल है। इस शास्त्र के उपदेशानुसार, उस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, देह से भिन्न आत्मा को जानकर, उसमें जो

स्थिर होता है, वह अन्तरात्मा इस संसार के जन्म-मरण से मुक्त होकर, परम केवलज्ञान-ज्योतिमय सुख को पाता है। ऐसा इस शास्त्र का उत्तम फल है—वही मङ्गल है।

'केवलज्ञान तथा मोक्षसुख के अभिलाषी जीवों के लिये मैं इस शास्त्र में भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा'—ऐसा कहकर शुरुआत की थी, तदनुसार पूज्यपादस्वामी ने बहुत प्रकार से भेदज्ञान कराकर आत्मा का स्वरूप बतलाया और बारम्बार उसकी भावना करायी। ऐसी भावना के फल में मुमुक्षु जीव, परमज्ञान और सुखमय परमात्मदशा को प्राप्त करता है।

'समाधितन्त्र' अर्थात् चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता द्वारा परम उदासीनता का उपदेश। अनेक प्रकार के दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट करके देह और आत्मा की अत्यन्त भिन्नता बतायी है—ऐसी भिन्नता जानकर, देहबुद्धि छोड़कर, परम आत्मस्वरूप में जो स्थिर होता है, वह परमसुख को अनुभवता है। देखो! ऐसा भेदज्ञान करके स्वरूप में स्थिर रहना, वह शास्त्र पढ़ने का फल है। ऐसा जिसने किया है, उसी ने वास्तव में शास्त्र पढ़ा है। अपने में भाव प्रगट किये बिना मात्र पढ़ जाने से ही शास्त्र का फल नहीं आता। शास्त्र का फल तो परम वीतरागता और सुख है। उसे हे जीवो! तुम प्राप्त करो।

समयसार के अन्त में उत्तम फल बताते हुए श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

जो समयपाहुडमिणं पठिहूणं अत्थतच्चओ णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं॥

इस समयप्राभृत को पढ़कर तथा इसके अर्थरूप परम आनन्दमय शुद्धात्मतत्त्व को जानकर, जो उसमें स्थिर होगा, वह जीव स्वयं उत्तम सुखरूप से परिणमित होगा।

आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, परमसुख की अनुभूति होती है-यही सर्व शास्त्रों का सार है। यहाँ भी आत्मस्वरूप में स्थिरता से सुख होता है—ऐसा इस शास्त्र का फल बताकर मङ्गलपूर्वक शास्त्र पूर्ण होता है।

इस शास्त्र के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी महासमर्थ दिगम्बर सन्त थे। वे विक्रम

संवत् की छठवीं शताब्दी में (आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व) इस भारतभूमि को शोभायमान करते थे। अपनी अगाध बुद्धि के कारण वे 'जिनेन्द्रबुद्धि' ऐसे नाम से भी लोक में प्रसिद्ध थे। उनका मूल नाम 'देवनन्दि' था और देवों द्वारा भी उनके चारण (पाद) पूजित (पूज्य-पाद) थे। 'श्रवणबेलगोल' के पहाड़ पर उनकी महिमा सम्बन्धी अनेक शिलालेख हैं। 'तत्वार्थसूत्र' की सबसे प्रसिद्ध 'सर्वार्थसिद्धि' नामक महान टीका भी उन्हीं ने रची है। तदुपरान्त 'जैनेन्द्र व्याकरण' नामक महान शब्दशास्त्र भी उन्हीं ने रचा है। इसलिए 'शब्दाब्धीन्दु...' अर्थात् शब्दरूप समुद्र को उछालने में चन्द्रसमान-ऐसा विशेषण देकर श्री पद्मप्रभ मुनिराज ने 'नियमसार' की टीका के मङ्गलाचरण में उनको वन्दन किया है। 'आदिपुराण' में जिनसेनस्वामी ने तथा ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने भी उनका स्मरण करके नमस्कार किया है। उन्होंने 'इष्टोपदेश' नामक शास्त्र भी रचा है। उनके द्वारा रचित 'सिद्धभक्ति' - जो कि मात्र नौ श्लोक की है, वह भी बहुत गम्भीर अर्थों से भरपूर है; और सिद्ध का सुख आदि का स्वरूप तथा सिद्धि की प्राप्ति का मार्ग सुन्दर शैली से बताया है, यह उनके संक्षेप में गागर में सागर भर देने की अगाध शक्ति को सूचित करता है। तदुपरान्त उनको अनेक ऋद्धि-लब्धियाँ होने का भी माना जाता है। ऐसे समर्थ अध्यात्म -मस्त सन्त द्वारा यह समाधि-शतक रचा गया है। श्री प्रभाचन्द्र स्वामी ने इसकी संस्कृत में सुगम टीका की है। शास्त्र में बराबर भेदज्ञान की भावना घूंटी है, और आत्मा को समाधि-सुख हो, ऐसा उपदेश दिया है।

इस शास्त्र पर ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ हुए प्रवचन आज श्रावण शुक्ला पूर्णिमा (वीर संवत् २४८२) वात्सल्य दिन को पूर्ण होते हैं। ये भव्य जीवों को आत्मिक-सुखरूप परम समाधि प्रदान करें।

जिनके भक्ति प्रसाद से, पूर्ण हुआ व्याख्यान,
सबके उर मन्दिर वसो, पूज्यपाद भगवान।
पढ़ो सुनो सब ग्रंथ यह, सेवो अति हित-मान,
आत्म-समुन्नति बीज जो, करो जगत कल्याण॥

●

Vitragvani
www.vitragvani.com